भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके विषयमें उल्लेख

वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कौण्डकुन्दः
कुन्द-प्रभा-प्रणयि-कीर्ति-विभूषिताशः ।
यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीक—
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥

[चन्द्रगिरि-शिलालेख]

अर्थः—कुन्दपुष्पकी प्रभाको धारण करनेवाली जिनकी कीर्तिके द्वारा दिशाएँ विभूषित हुई हैं. जो चरणोंके—चारण-ऋद्धिधारी महामुनिओंके—करकमलोंके भ्रमर थे और जिन पवित्रात्माने भरतक्षेत्रमें श्रुतकी प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किससे वंद्य नही हैं?

* * *

...............कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ॥
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्त-
र्बाह्येपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय
चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥

[विंध्यगिरि-शिलालेख]

अर्थः—यतीश्वर (श्री कुन्दकुन्द स्वामी) रजःस्थान—भूमितलको छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करते थे, उससे मुझे ऐसा ज्ञात होता है कि वे प्रभु अन्तरमें, वैसे ही बाह्यमें, रजसे (अपनी) अत्यंत अस्पृष्टता व्यक्त करते थे। (अन्तरंगमें वे रागादिक मलसे अस्पृष्ट थे और बाह्यमें धूलसे अस्पृष्ट थे।)

*　　*　　*

जइ पउमणंदिणाहो सीमन्धरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति॥

[दर्शनसार]

अर्थः—(महाविदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर देव) श्री सीमंधर स्वामीसे प्राप्त किये हुए दिव्यज्ञानके द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव) ने बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्गको कैसे जानते?

*　　*　　*

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानके विषयमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं। उसके लिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूँ।

[श्रीमद् राजचन्द्र]

प्रकाशकीय

आज ग्रन्थाधिराज श्री समयसार-प्रवचनको पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे बहुत ही हर्ष हो रहा है। यह ग्रन्थाधिराज मोक्षमार्गकी प्रथम सीढ़ी है, इसके द्वारा तत्त्वलाभ करके अनेक भव्यात्मा मोक्षमार्गको प्राप्त कर चुके हैं, और आगामी भी प्राप्त करेंगे। अनेक आत्माओंको मोक्षमार्गमें लगानेके मूल कारणभूत इस ग्रन्थराजकी विस्तृत व्याख्याका प्रकाशन करनेका सुअवसर मुझे प्राप्त हुआ है यह मेरें बड़े सौभाग्यकी बात है।

इस ग्रन्थराजके विषयमें कुछ भी कहना सूर्यको दीपक दिखानेके समान है। इस समयसारके स्मरण मात्रसे ही मुमुक्षु जीवोंके हृदयरूपी वीणाके तार आनन्दसे झनझनाने लगते हैं। इसका विस्तृत परिचय प्रस्तावनामें दिया हुआ है, इसलिये यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि द्वादशांगका निचोड़-स्वरूप मोक्षमार्गका प्रयोजनभूत तत्त्व इस समयसारमें कूट-कूटकर भरा गया है, एवं यह ग्रन्थराज भगवानकी साक्षात् दिव्यध्वनिसे सीधा संबन्धित होनेके कारण अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका हमारे ऊपर महान उपकार है कि जिन्होंने महाविदेह क्षेत्र पधारकर १००८ श्री सीमन्धर भगवानके पादमूलमें आठ दिवस तक रहकर भगवानकी दिव्यध्वनिरूप अमृतका पेट भरकर साक्षात् पान किया; और भरतक्षेत्र पधारकर हम भव्य जीवोंके लिये उस अमृतको श्री समयसार, श्री प्रवचनसार, श्री पञ्चास्तिकाय, श्री नियमसार, श्री अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थोंके रूपसे परोसा, जिसका पान कर अनेक जीव मोक्षमार्गमें लग रहे हैं एवम् भविष्यमें भी लगेंगे।

इसीप्रकार समयसारके अत्यन्त गंभीर एवम् गूढ़ रहस्योंका प्रकाशन करने वाले श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने भी भगवानके गणधर (जो ॐकाररूप ध्वनिको द्वादशांगरूपमें विस्तृत कर देते हैं)के समान इस ग्रन्थके गंभीर रहस्योंको खोलनेका कार्य किया है, इसलिये उनका भी हमारे ऊपर उतना ही महान् उपकार है ।

लेकिन आज क्षयोपशम एवम् रुचिकी मंदताके कारण हम लोग उस टीकाको भी यथार्थरूपमें नहीं समझ पाते और अपनी बुद्धि एवम् रुचि अनुसार यद्वातद्वा अर्थ लगाकर तत्त्वकी जगह अतत्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्वको और भी दृढ़ करते जाते हैं। ऐसी अवस्था देखकर कितने ही हीन पुरुषार्थी समयसारके अभ्यासका ही निषेध कर बैठते हैं। ऐसे समयमें हमारे सद्भाग्यसे समयसारके मर्मज्ञ एवम् अनुभवी सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामीके सत् समागमका महान लाभ हम मुमुक्षुओं-को प्राप्त हुआ। जैसे रुई धुनने वाला धुनिया रुईके बँधे पिंडको धुन-धुनाकर एक-एक तार अलग-अलग करके विस्तृत कर देता है उसीप्रकार आपने भी समयसारके एवम् उसकी टीकाके गंभीरसे गंभीर एवम् गूढ़ रहस्योंको इतनी सरल एवम् सादी भाषामें खोल-खोलकर समझाया है कि साधारण बुद्धि वाला भी, इसको यथार्थ रुचिके साथ ग्रहण कर लेनेसे, अनन्तकालमें नहीं प्राप्त किया ऐसे मोक्षमार्गको सहज ही प्राप्त कर सकता है। इसलिये हम मंद बुद्धि वाले जीवों पर तो श्री कानजी महाराजका महान् २ उपकार है, क्योंकि यदि आपने इतना सरल करके इस ग्रन्थराजको नहीं समझाया होता तो हमको मोक्षमार्गकी प्राप्ति कैसे होती ? इसलिये हमारे पास आपके उपकारका वर्णन करनेके लिये कोई शब्द ही नहीं हैं । मात्र श्रद्धाके साथ आपको प्रणाम करते हैं ।

भगवान महावीर स्वामीके समयमें दिव्यध्वनि द्वारा संक्षेपमें ही मोक्षमार्गका प्रकाशन होता था और उसीसे पात्र जीव अपना कल्याण कर लेते थे । उसके बाद धीरे-धीरे जीवोंकी रुचि, आयु, बल और

क्षयोपशम क्षीण होता गया तो भगवानका निर्वाण होनेके करीव पांचसौ वर्ष वाद ही मोक्षमार्गके मूल प्रयोजनभूत तत्वका श्री कुन्दकुन्ददेव द्वारा ग्रन्थरूपमें संकलन हुआ, उसके वाद और भी क्षीणता वढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष वाद श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव द्वारा उनकी और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या होगई, और जव अधिक क्षीणता वढ़ी तो उनके एक हजार वर्ष वाद इस पर और भी विस्तृत एवम् सरल व्याख्या श्री कानजीस्वामी द्वारा हो रही है। यह सव इस वातके द्योतक हैं कि यथार्थ जिनेन्द्र भगवानका मार्ग कालके अन्त तक अक्षुण्ण वना ही रहेगा और उसके पालन करने वाले सच्चे धर्मात्मा भी अन्त तक अवश्य ही रहेंगे।

पूज्य कानजी स्वामी द्वारा समयसार पर प्रवचन कव, कहाँ और कैसे हुए तथा उनकी सङ्कलना किसप्रकार किसके द्वारा और क्यों की गई, यह सव प्रस्तावनामें खुलासा किया गया है।

इसके अनुवादक श्रीमान् पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ धन्यवादके पात्र हैं जिन्होंने अति उत्साहसे यह अनुवाद-कार्य किया।

अन्तमें पूज्य उपकारी गुरु श्री कानजीस्वामीको मेरा अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार है कि जिनके द्वारा मुझको अनादि संसारको नष्ट कर देने वाले सत्धर्मकी प्राप्ति हुई।

कार्तिक शुक्ला १
वीर नि० सं २४७५

भवदीय—
नेमीचन्द पाटनी, आगरा

इस आवृत्तिका निवेदन

श्री समयसारजी शास्त्र पर पूज्य गुरुदेव श्री कानजीस्वामीके द्वारा दिये गये इन प्रवचनोंसे अनेक मुमुक्षुओंको इस अध्यात्म-शास्त्रका सूक्ष्म रहस्य सरलतापूर्वक समझनेमें तथा आत्महितकी साधनामें बहुत सहायता मिली है, अतः जैन समाजकी विशेष मांग होने पर यह आवृत्ति प्रसिद्ध करनेमें आई है।

वीर सं. २४९७
वैशाख शुक्ला-२

साहित्य प्रकाशन समिति
श्री दि. जैन स्वाध्याय मंदिर, ट्रस्ट
सोनगढ (सौराष्ट्र)

ॐ

श्री वीतरागाय नमः

प्रस्तावना

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलं ॥

भरतक्षेत्रकी पुण्यभूमिमें आजसे २४७४ वर्ष पूर्व जगत-पूज्य परम-भट्टारक भगवान श्री महावीर स्वामी मोक्षमार्गका प्रकाश करनेके लिये अपनी सातिशय दिव्यध्वनि द्वारा समस्त पदार्थोंका स्वरूप प्रगट कर रहे थे। उनके निर्वाणके उपरांत कालदोषसे क्रमशः अपार ज्ञानसिंधुका अधिकांश भाग तो विच्छेद होगया, और अल्प तथापि बीजभूत ज्ञानका प्रवाह आचार्योंकी परंपरा द्वारा उत्तरोत्तर प्रवाहित होता रहा, जिसमेंसे आकाश-स्तम्भकी भाँति कितने ही आचार्योंने शास्त्र गूँथे। उन्हीं आचार्योंमेंसे एक भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव थे, जिन्होंने सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामीसे प्रवर्तित ज्ञानको गुरु-परंपरासे प्राप्त करके, उसमें-से पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, नियमसार, अष्टपाहुड आदि शास्त्रोंकी रचना की और संसार-नाशक श्रुतज्ञानको चिरजीवी बनाया।

सर्वोत्कृष्ट आगम श्री समयसारके कर्ता भगवान कुन्दकुन्दाचार्य-देव विक्रम संवत्के प्रारम्भमें होगये हैं, दिगम्बर जैन परम्परामें उनका स्थान सर्वोत्कृष्ट है। सर्वज्ञ भगवान श्री महावीर स्वामी और गणधर भगवान श्री गौतमस्वामीके पश्चात् भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवका ही स्थान आता है। दिगम्बर जैन साधु अपनेको कुन्दकुन्दाचार्यकी परम्मपराका कहनेमें गौरव मानते हैं। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके

शास्त्र साक्षात् गणधरदेवके वचनोंके बराबर ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके पश्चात् होने वाले ग्रन्थकार आचार्य अपने कथनको सिद्ध करनेके लिये कुन्दकुन्दाचार्यदेवके शास्त्रोंका प्रमाण देते हैं, इसलिये यह कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। वास्तवमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देवने अपने परमागमोंमें तीर्थंकर देवोंके द्वारा प्ररूपित उत्तमोत्तम सिद्धान्तोंको सुरक्षित रखा है, और मोक्षमार्गको स्थापित किया है। विक्रम संवत् ९९०में विद्यमान श्री देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रन्थमें कहते हैं कि—" विदेह क्षेत्रके वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामीके समवसरणमें जाकर श्री पद्मनन्दिनाथने (कुन्दकुन्दाचार्यदेवने) स्वतः प्राप्त किये हुए ज्ञानके द्वारा बोध न दिया होता तो मुनिजन यथार्थ मार्गको कैसे जानते ?" एक दूसरा उल्लेख देखिये, जिसमें कुन्दकुन्दाचार्यदेवको कलिकालसर्वज्ञ कहा गया है। 'पद्मनन्दि, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य गृद्धपिच्छाचार्य इन पाँच नामोंसे विभूषित, चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी जिनके ऋद्धि थी, जिन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर सीमन्धर भगवानकी वन्दना की थी और उनके पाससे मिले हुए श्रुतज्ञानके द्वारा जिन्होंने भारतवर्षके भव्य जीवोंको प्रतिबोध दिया है ऐसे श्री जिनचन्द्रसूरि भट्टारकके उत्तराधिकारी रूप कलिकालसर्वज्ञ (भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव) के रचे हुए इस षट्प्राभृत ग्रन्थमें...सूरीश्वर श्री श्रुतसागरकी रची हुई मोक्षप्राभृतकी टीका समाप्त हुई।' इसप्रकार षट्प्राभृतकी श्री श्रुतसागरसूरि कृत टीकाके अन्तमें लिखा है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य देवकी महत्ताको दर्शाने वाले ऐसे अनेकानेक उल्लेख जैन साहित्यमें मिलते हैं, अनेक शिलालेख भी इसका प्रमाण देते हैं। इससे ज्ञात होता है कि सनातन जैन संप्रदायमें कलिकालसर्वज्ञ भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवका अपूर्व स्थान है।

भगवानश्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके रचे हुए अनेक शास्त्र हैं, जिनमेंसे कुछ इस समय भी विद्यमान हैं। त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञदेवके मुखसे प्रवाहित श्रुतामृतकी सरितामेंसे भरे हुए वे अमृतभाजन वर्तमानमें भी

अनेक आत्मार्थियोंको आत्मजीवन देते हैं। उनके समस्त शास्त्रोंमें श्रीसमयसार महा अलौकिक शास्त्र है। जगतके जीवों पर परम करुणा करके आचार्य भगवानने इस शास्त्रकी रचना की है, इसमें मोक्षमार्गका यथार्थ स्वरूप जैसा है वैसा ही कहा गया है। अनन्तकालसे परिभ्रमण करने वाले जीवोंको जो कुछ समझना शेष रह गया है वह इस परमागममें समझाया है। परम कृपालु आचार्य भगवान श्री समयसार शास्त्रके प्रारंभमें कहते हैं:—'काम-भोग-बन्धकी कथा सभीने सुनी है, परिचय एवं अनुभवन किया है, किन्तु मात्र परसे भिन्न एकत्वकी प्राप्ति ही दुर्लभ है। उस एकत्वकी-परसे भिन्न आत्माकी बात इस शास्त्रमें मैं निजविभवसे (आगम, युक्ति, परम्परा और अनुभवसे) कहूँगा।' इस प्रतिज्ञाके अनुसार समयसारमें आचार्यदेवने आत्माका एकत्व, परद्रव्यसे और परभावोंसे भिन्नत्वको समझाया है। आत्मस्वरूपकी यथार्थ प्रतीति कराना ही समयसारका मुख्य उद्देश्य है। उस उद्देश्यको पूर्ण करनेके लिये आचार्य भगवानने उसमें अनेक विषयोंका निरूपण किया है। आत्माका शुद्धस्वभाव, जीव और पुद्गलकी निमित्त-नैमित्तिकता होने पर भी दोनोंका बिल्कुल स्वतंत्र परिणमन, नवतत्त्वोंका भूतार्थ स्वरूप, ज्ञानीके राग-द्वेषका अकर्तृत्व-अभोक्तृत्व, अज्ञानीके राग-द्वेषका कर्तृत्व-भोक्तृत्व, सांख्यदर्शनकी ऐकान्तिकता, गुणस्थान-आरोहणमें भावकी और द्रव्यकी निमित्त-नैमित्तिकता, विकाररूप परिणमित होनेमें अज्ञानियोंका अपना ही दोष, मिथ्यात्व आदिकी जड़ता उसीप्रकार चेतनता, पुण्य-पाप दोनोंकी बन्धनस्वरूपता, मोक्षमार्गमें चरणानुयोगका स्थान आदि अनेक विषयोंका प्ररूपण श्री समयसारजीमें किया गया है। इन सबका हेतु जीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलाना है। श्री समयसारजीकी महत्ताको देखकर उल्लसित होकर श्री जयसेन आचार्य कहते हैं कि 'जयवन्त हों वे पद्मनन्दि आचार्य अर्थात् कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने महान तत्वोंसे परिपूर्ण प्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धिरूपी मस्तक पर उठाकर भव्यजीवोंको समर्पित किया है। वास्तवमें इस कालमें

श्री समयसार शास्त्र मुमुक्षु भव्यजीवोंका परम आधार है। ऐसे दुषमकालमें भी ऐसा अद्भुत, अनन्यशरणभूत शास्त्र तीर्थंकरदेवके मुखारविंदसे प्रगट हुआ अमृत विद्यमान है. यह अपना महान् सद्भाग्य है। निश्चय–व्यवहारकी संधिपूर्वक यथार्थ मोक्षमार्गकी ऐसी संकलनबद्ध प्ररूपणा अन्य किसी भी ग्रंथमें नहीं है। यदि पूज्य श्री कानजी स्वामीके शब्दोंमें कहा जाय तो 'यह समयसार शास्त्र आगमोंका भी आगम है; लाखों शास्त्रोंका सार इसमें विद्यमान है, जैनशासनका यह स्तम्भ है, साधकोंके लिये कामधेनु कल्पवृक्ष है, चौदह पूर्वका रहस्य इसमें भरा हुआ है। इसकी प्रत्येक गाथा छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें झूलते हुए महामुनिके आत्म-अनुभवसे प्रगट हुई है।"

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवकी प्राकृत गाथाओं पर आत्मख्याति नामक संस्कृत टीकाके लेखक (लगभग विक्रम संवत् की १० वीं शताब्दीमें हो गये) श्रीमान् अमृतचन्द्राचार्यदेव हैं। जिसप्रकार श्री समयसारके मूल-कर्त्ता अलौकिक पुरुष हैं, वैसे ही इसके टीकाकार भी महा समर्थ आचार्य हैं। आत्मख्यातिके समान टीका आजतक किसी भी जैनग्रन्थकी नहीं लिखी गई। उन्होंने पंचास्तिकाय और प्रवचनसारकी टीका भी लिखी है एवं तत्त्वसार, पुरुषार्थसिद्धयुपाय आदि स्वतंत्र ग्रंथ भी लिखे हैं। उनकी एकमात्र आत्मख्याति टीकाका स्वाध्याय करने वालेको ही उनकी अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभव, प्रखरविद्वत्ता, वस्तु-स्वरूपको न्यायसे सिद्ध करनेकी उनकी असाधारण शक्तिका भलीभाँति अनुभव हो जाता है। संक्षेपमें ही गंभीर-गूढ़ रहस्योंको भर देने वाली उनकी अनोखी शक्ति विद्वानोंको आश्चर्यचकित कर देती है। उनकी यह दैवी टीका श्रुतकेवलीके वचनोंके समान है। जैसे मूल शास्त्रकर्ता-ने समयसारजी शास्त्रको समस्त निज-वैभवसे रचा है, वैसे ही टीकाकारने भी अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पूर्ण निज-वैभवसे टीकाकी रचना की है; टीकाके पढ़ने वालेको सहज ही ऐसा अनुभव हुए विना नहीं रहता। शासनमान्य भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने इस कलिकालमें

जगद्गुरु तीर्थंकरदेव जैसा काम किया है और श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने मानों जैसे वे भगवान कुन्दकुन्दके हृदयमें ही प्रवेश कर गये हों इसप्रकार उसके गम्भीर आशयको यथार्थरूपसे व्यक्त करके उनके गणधर जैसा काम किया है। आत्मख्यातिमें विद्यमान काव्य (कलश) अध्यात्मरस और आत्मानुभवकी तरङ्गोंसे परिपूर्ण हैं। श्री पद्मप्रभदेव जैसे समर्थ मुनिओं पर उन कलशोंने गहरा प्रभाव जमाया है और आज भी वे तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मरससे परिपूर्ण कलश अध्यात्मरसिकोंकी हृदतंत्रीको झंकृत कर देते हैं। अध्यात्म कविके रूपमें श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवका स्थान जैन साहित्यमें अद्वितीय है।

श्री समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेवने ४१५ गाथाओंकी रचना प्राकृतमें की है। उसपर श्री अमृतचन्द्राचार्यदेवने आत्मख्याति नामक तथा श्री जयसेनाचार्यदेवने तात्पर्यवृत्ति नामकी संस्कृत टीकाएँ लिखी हैं। उन आचार्य भगवंतों द्वारा किये गये अनन्त उपकारके स्मरणमें उन्हें अत्यन्त भक्तिभावसे वन्दन करते हैं।

कुछ वर्ष पहले पंडित जयचन्द्रजीने मूल गाथाओंका और आत्मख्यातिका हिन्दीमें अनुवाद किया और स्वतः भी उसमें कुछ भावार्थ लिखा। यह शास्त्र 'समयप्राभृत' के नामसे विक्रम संवत् १९६४में प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् पंडित मनोहरलालजीने उसको प्रचलित हिंदीभाषामें परिवर्तित किया और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा 'समयसार' के नामसे विक्रम संवत् १९७५में प्रकाशित किया गया। इसप्रकार पण्डित जयचन्द्रजी, पंडित मनोहरलालजीका और श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डलका मुमुक्षु समाज पर उपकार है।

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल द्वारा प्रकाशित हिन्दी समयसारका अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी पर परम उपकार हुआ। विक्रम संवत् १९७८में उन महात्माके करकमलोंमें यह परमपावन चिंतामणि आते ही उन कुशल जौहरीने इसे परख लिया। सर्वरीतिसे स्पष्ट देखने पर उनके हृदयमें परम उल्लास जागृत हुआ, आत्मभगवानने विस्मृत

हुई अनन्त गुणगम्भीर निजशक्तिको संभाला और अनादिकालसे परके प्रति उत्साहपूर्वक दौड़ती हुई वृत्ति शिथिल होगई; तथा परसम्बन्धसे छूटकर स्वरूपमें लीन होगई। इसप्रकार ग्रन्थाधिराज समयसारकी असीम कृपासे बाल-ब्रह्मचारी श्री कानजीस्वामीने चैतन्यमूर्ति भगवान समयसारके दर्शन किये।

जैसे-जैसे वे समयसारमें गहराई तक उतरते गये वैसे ही वैसे उन्होंने देखा कि केवलज्ञानी पितासे उत्तराधिकारमें आई हुई अद्भुत निधियोंको उनके सुपुत्र भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने रुचिपूर्वक संग्रह करके रखा है। कई वर्ष तक श्री समयसारजीका गंभीरतापूर्वक गहरा मनन करनेके पश्चात् "किसी भी प्रकार जगतके जीव सर्वज्ञ पिताकी इस अमूल्य सम्पत्तिको समझलें तथा अनादिकालीन दीनताका नाश कर दें!" ऐसी करुणाबुद्धि करके उन्होंने समयसारजी पर अपूर्व प्रवचनोंका प्रारम्भ किया और यथाशक्ति आत्मलाभ लिया। आजतक पूज्य श्री कानजीस्वामीने सात बार श्री समयसारजी पर प्रवचन पूर्ण किये हैं और इस समय भी सोनगढ़में आठवीं बार वह अमृतवर्षा होरही है। संवत् १९९९-२००० की सालमें जिस समय उनकी राजकोटमें ९ महीनेकी स्थिति थी उस समय श्री समयसारके कितने ही अधिकारों पर उनके (छठवीं बार) प्रवचन हुए थे। इस समय श्री जैन स्वाध्याय-मन्दिर ट्रस्टको ऐसा लगा कि 'यह अमूल्य मुक्ताफल खिरे जाते हैं, यदि इन्हें झेल लिया जाये तो यह अनेक मुमुक्षुओंकी दरिद्रता दूर करके उन्हें स्वरूपलक्ष्मीकी प्राप्ति करा दें।' ऐसा विचार करके ट्रस्टने उन प्रवचनोंको पुस्तकाकार प्रकाशित करानेके हेतुसे उनको नोट कर लेने (लिख लेने) का प्रबन्ध किया था। उन्हीं लेखोंसे श्री समयसार प्रवचन गुजराती भाषामें पाँच भागोंमें पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुका है और उन्हींका हिन्दी अनुवाद कराके श्री समयसार-प्रवचन प्रथम भाग (हिन्दी) को हमें मुमुक्षुओंके हाथमें देते हुए हर्ष होरहा है।

इस अनुवादमें कोई न्यायविरुद्ध भाव न आजाये इस बातका पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है।

जैसे श्री समयसार शास्त्रके मूल-कर्त्ता और टीकाकार अत्यंत आत्मस्थित आचार्य भगवान थे वैसे ही उनके प्रवचनकार भी स्वरूपानुभवी, वीतरागके परम भक्त, अनेक शास्त्रोंके पारगामी एवं आश्चर्यकारी प्रभावना-उदयके धारी युगप्रधान महापुरुष हैं। उनका यह समयसार-प्रवचन पढ़ते ही पाठकोंको उनके आत्म-अनुभव, गाढ़ अध्यात्म-प्रेम स्वरूपोन्मुख परिणति, वीतराग भक्तिके रंगमें रंगा हुआ उनका चित्त अगाध श्रुतज्ञान और परम कल्याणकारी वचनयोगका अनुभव हुए बिना नहीं रहता। उसका संक्षिप्त जीवन परिचय अन्यत्र दिया गया है, इसलिये उनके गुणोंके विषयमें यहाँ विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है। उनके अत्यन्त आश्चर्यजनक प्रभावनाका उदय होनेके कारण गत चौदह वर्षोंमें समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, षट्खण्डागम पद्मनन्दिपंचविंशतिका तत्वार्थसार, इष्टोपदेश, पंचाध्यायी, मोक्षमार्गप्रकाशक, अनुभवप्रकाश, आत्मसिद्धि शास्त्र, आत्मानुशासन इत्यादि शास्त्रों पर आगमरहस्यप्रकाशक स्वानुभव-मुद्रित अपूर्व प्रवचन करके सौराष्ट्रमें आत्मविद्याका अतिप्रबल आन्दोलन किया है। मात्र सौराष्ट्रमें ही नहीं, किन्तु धीरे-धीरे उनका पवित्र उपदेश पुस्तकों और 'आत्मधर्म' नामक मासिकपत्रके द्वारा प्रकाशित होनेके कारण समस्त भारतवर्षमें अध्यात्मविद्याका आन्दोलन वेगपूर्वक विस्तृत होरहा है। इसप्रकार, स्वभावसे सुगम तथापि गुरुगम की लुप्तप्रायताके कारण और अनादि अज्ञानको लेकर अतिशय दुर्गम होगये जिनागमके गम्भीर आशयको यथार्थरूपसे स्पष्ट प्रगट करके उन्होंने वीतराग-विज्ञानकी बुझती हुई ज्योतिको प्रज्वलित किया है। परम पवित्र जिनागम तो अपार निधानोंसे परिपूर्ण है, किन्तु उन्हें देखने की दृष्टि गुरुदेवके समागम और उनके करुणापूर्वक दिये हुए प्रवचन-अंजनके बिना हम अल्पबुद्धिओंको वह कैसे प्राप्त होता? पंचमकाल-में चतुर्थकालकी झलक दिखाने वाले शासनप्रभावक गुरुदेव श्री कानजी

स्वामीने आगमके रहस्योंको खोलकर हमारे जैसे हजारों जीवों पर जो अपार करुणा की है उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता।

जिसप्रकार गुरुदेवका प्रत्यक्ष समागम अनेक जीवोंका अपार उपकार कर रहा है, उसीप्रकार उनके यह पवित्र प्रवचन भी वर्तमान और भविष्यकालके हजारों जीवोंको यथार्थ मोक्षमार्ग बतलानेके लिये उपकारी सिद्ध होंगे। इस दुषमकालमें जीव प्रायः बन्धमार्गको ही मोक्षमार्ग मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं। जिस स्वावलम्बी पुरुषार्थके बिना-निश्चयनयके आश्रयके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं होता उस पुरुषार्थकी जीवोंको गन्ध भी नहीं आई है, किन्तु मात्र परावलम्बी भावोंको-व्यवहाराभासके आश्रयको ही मोक्षमार्ग मानकर उसका सेवन कर रहे हैं। स्वावलम्बी पुरुषार्थका उपदेश देने वाले ज्ञानी पुरुषोंकी दुर्लभता है एवं समयसार परमागमका अभ्यास भी अति न्यून है; कदाचित् कोई-कोई जीव उसका अभ्यास करते भी हैं किन्तु गुरुगमके बिना उनके मात्र अक्षरज्ञान ही होता है। श्री समयसार-के पुरुषार्थमूलक गहन सत्य मिथ्यात्वमूढ़ हीनवीर्य जीवोंको अनादि अपरिचित होनेके कारण, ज्ञानी पुरुषोंके प्रत्यक्ष समागमके बिना अथवा उनके द्वारा किये गये विस्तृत विवेचनोंके बिना समझना अत्यंत कठिन है। श्री समयसारजीकी प्राथमिक भूमिकाकी बातोंको ही सत्वहीन जीव उच्चभूमिकाकी कल्पित कर लेते हैं, चतुर्थ गुणस्थानके भावोंको तेरहवें गुणस्थानका मान लेते हैं तथा निरालम्बी (स्वावलम्बी) पुरुषार्थ तो कथनमात्रकी ही वस्तु है, इसप्रकार उसकी उपेक्षा करके सालम्बी (परावलम्बी) भावोंके प्रति जो आग्रह है उसे नहीं छोड़ते। ऐसी करुणाजनक परिस्थितिमें जबकि सम्यक्-उपदेष्टाओंकी अधिकांश न्यूनताके कारण मोक्षमार्गका प्रायः लोप हो गया है तब युगप्रधान सत्पुरुष श्री कानजीस्वामीने श्री समयसारजीके विस्तृत विवेचनात्मक प्रवचनोंके द्वारा जिनागमोंका मर्म खोलकर मोक्षमार्गको अनावृत करके वीतराग दर्शनका पुनरुद्धार किया है, मोक्षके महामन्त्र समान

समयसारजीकी प्रत्येक गाथाको पूर्णतया शोधकर इन संक्षिप्त सूत्रोंके विराट अर्थको प्रवचनरूपसे प्रगट किया है। सभीने जिनका अनुभव किया हो ऐसे घरेलू प्रसंगोंके अनेक उदाहरणों द्वारा, अतिशय प्रभावक तथापि सुगम ऐसे अनेक न्यायों द्वारा और अनेक यथोचित दृष्टान्तों द्वारा कुन्दकुन्द भगवानके परमभक्त श्री कानजीस्वामीने समयसारजीके अत्यन्त अर्थ-गम्भीर सूक्ष्म सिद्धान्तोंको अतिशय स्पष्ट और सरल बनाया है। जीवके कैसे भाव रहें तब जीव-पुद्गलका स्वतन्त्र परिणमन, तथा कैसे भाव रहें तब नवतत्वोंका भूतार्थ स्वरूप समझमें आया कहलाता है। कैसे-कैसे भाव रहें तब निरावलम्बी पुरुषार्थका आदर, सम्यग्दर्शन, चारित्र, तप, वीर्यादिककी प्राप्ति हुई कहलाती है-आदि विषयोंका मनुष्यके जीवनमें आने वाले सैकड़ों प्रसंगोंके प्रमाण देकर ऐसा स्पष्टीकरण किया है कि मुमुक्षुओंको उन-उन विषयोंका स्पष्ट सूक्ष्म ज्ञान होकर अपूर्व गम्भीर अर्थ दृष्टिगोचर हो और वे बन्धमार्गमें मोक्षमार्गकी कल्पनाको छोड़कर यथार्थ मोक्षमार्गको समझकर सम्यक्-पुरुषार्थमें लीन होजायें। इसप्रकार श्री समयसारजीके मोक्षदायक भावोंको अतिशय मधुर, नित्य-नवीन, वैविध्यपूर्ण शैली द्वारा प्रभावक भाषामें अत्यन्त स्पष्टसे समझाकर जगतका अपार उपकार किया है। समयसारमें भरे हुए अनमोल तत्व-रत्नोंका मूल्य ज्ञानिओंके हृदयमें छुपा रहा था उसे उन्होंने जगतको बतलाया है।

किसी परम मंगलयोगमें दिव्यध्वनिके नवनीतस्वरूप श्री समयसार परमागमकी रचना हुई। इस रचानाके पश्चात् एकहजार वर्षमें जगतके महाभाग्योदयसे श्री समयसारजीके गहन तत्वोंको विकसित करने वाली भगवती आत्मख्यातिकी रचना हुई और उनके उपरन्त एकहजार वर्ष पश्चात् जगतमें पुनः महापुण्योदयसे मन्दबुद्धियोंको भी समयसारके मोक्षदायक तत्व ग्रहण करने वाले परम कल्याणकारी समयसार-प्रवचन हुए। जीवोंकी बुद्धि क्रमशः मन्द होती जारही है

तथापि पंचमकालके अन्ततक स्वानुभूतिका मार्ग अविच्छिन्न रहना है, इसीलिये स्वानुभूतिके उत्कृष्ट निमित्तभूत श्री समयसारजीके गम्भीर आशय विशेष-विशेष स्पष्ट होनेके लिये परमपवित्र योग बनते रहते हैं। अन्तर्बाह्य परमपवित्र योगोंमें प्रगट हुए जगतके तीन महादीपक श्री समयसार, श्री आत्मख्याति और श्री समयसार-प्रवचन सदा जयवन्त रहें! और स्वानुभूतिके पंथको प्रकाशित करें।

यह परम पुनीत प्रवचन स्वानुभूतिके पन्थको अत्यन्त स्पष्टरूपसे प्रकाशित करते हैं, इतना ही नहीं किन्तु साथ ही मुमुक्षु जीवोंके हृदयमें स्वानुभवकी रुचि और पुरुषार्थ जाग्रत करके अंशतः सत्पुरुषके प्रत्यक्ष उपदेश जैसा ही चमत्कारिक कार्य करते हैं। प्रवचनोंकी वाणी इतनी सहज, भावार्द्र, सजीव है कि चैतन्यमूर्ति पूज्य श्री कानजीस्वामीके चैतन्यभाव ही मूर्तिमान होकर वाणी-प्रवाहरूप वह रहे हों। ऐसी अत्यन्त भाववाहिनी अन्तर-वेदनको उग्ररूपसे व्यक्त करती, शुद्धात्माके प्रति अपार प्रेमसे उभराती, हृदयस्पर्शी वाणी सुपात्र पाठकके हृदयको हर्पित कर देती है और उसकी विपरीत रुचिको क्षीण करके शुद्धात्म-रुचि जागृत करती है। प्रवचनोंके प्रत्येक पृष्ठमें शुद्धात्म महिमाका अत्यन्त भक्तिमय वातावरण गुंजित होरहा है, और प्रत्येक शब्दमेंसे मधुर अनुभव-रस झर रहा है। इस शुद्धात्म भक्तिरससे और अनुभवरससे मुमुक्षुका हृदय भीग जाता है और वह शुद्धात्माकी लयमें मग्न होजाता है, शुद्धात्माके अतिरिक्त समस्त भाव उसे तुच्छ भासित होते हैं और पुरुपार्थ उभरने लगता है। ऐसी अपूर्व चमत्कारिक शक्ति पुस्तकाकार वाणीमें क्वचित् ही देखनेमें आती है।

इसप्रकार दिव्य तत्वज्ञानके गहन रहस्य अमृतझरती वाणी द्वारा समझाकर और साथ ही शुद्धात्म रुचिको जाग्रत करके पुरुषार्थका आह्वान, प्रत्यक्ष सत्समागमकी झाँकी दिखलाने वाले यह प्रवचन जैन-साहित्यमें अनुपम हैं। जो मुमुक्षु प्रत्यक्ष सत्पुरुपसे विलग हैं एवं

जिन्हें उनकी निरन्तर संगति दुष्प्राप्य है ऐसे मुमुक्षुओंको यह प्रवचन अनन्य-आधारभूत हैं। निरावलम्बी पुरुषार्थको समझाना और उसके लिये प्रेरणा देना ही इस शास्त्रका प्रधान उद्देश्य होने पर भी उनका सर्वांग स्पष्टीकरण करते हुए समस्त शास्त्रोंके सर्व प्रयोजनभूत तत्वोंका स्पष्टीकरण भी इन प्रवचनोंमें आगया है, जैसे श्रुतामृतका परम आह्लाद-जनक महासागर इनमें हिलोरें ले रहा हो। यह प्रवचन-ग्रन्थ हजारों प्रश्नोंके सुलझानेके लिये महाकोष है। शुद्धात्माकी रुचि उत्पन्न करके, परके प्रति जो रुचि है उसे नष्ट करनेकी परम औषधि है। स्वानुभूतिका सुगम पथ है तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके समस्त आत्मार्थिओंके लिये यह अत्यन्त उपकारी है। परमपूज्य कानजीस्वामीने इन अमृतसागरके समान प्रवचनोंकी भेंट देकर भारतवर्षके मुमुक्षुओंको उपकृत किया है।

स्वरूप-सुधाकी प्राप्तिके इच्छुक जीवोंको इन परम पवित्र प्रवचनोंका वारम्बार मनन करना योग्य है। संसार-विषवृक्षको नष्ट करनेके लिये यह अमोघ शस्त्र हैं। इस अल्पायुषी मनुष्य भवमें जीवका सर्वप्रथम यदि कोई कर्तव्य हो तो वह शुद्धात्माका बहुमान, प्रतीति और अनुभव है। उन बहुमानादिके करानेमें यह प्रवचन परम निमित्तभूत हैं। हे मुमुक्षुओ ! अतिशय उल्लासपूर्वक इनका अभ्यास करके उग्र पुरुषार्थसे इसमें भरे हुए भावोंको भलीभाँति हृदयमें उतारकर, शुद्धात्माकी रुचि, प्रतीति और अनुभव करके शाश्वत परमानन्दको प्राप्त करो!

अगहन वदी १२
वीर संवत् २४७५

रामजी माणेकचन्द दोशी
प्रमुख,
श्री दि० जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अनुक्रमणिका

* नमः समयसाराय *

समयसार प्रवचन

प्रथम भाग

❀ मंगलाचरण ❀

ओंकारं विन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥

श्री पंच परमेष्ठिको नमस्कार!

प्रथम '‌ॐ' शब्द है। जब आत्मा सर्वज्ञ वीतराग भगवान अरहंत परमात्मा होते हैं, तब पूर्वबद्ध तीर्थंकर नामकर्म प्रकृतिके पुण्यप्रारब्धके कारण दिव्यवाणीका योग होनेसे ओष्ठ बन्द होने पर भी आत्माके सर्व प्रदेशोंसे ॐकार एकाक्षरी (अनक्षरी) दिव्यवाणी खिरती है। (उसे वचन-ईश्वरी अर्थात् वागेश्वरी कहा जाता है, वह शब्दब्रह्मरूप है) अरहन्त भगवान सर्वथा अकषाय शुद्ध भावसे परिणमित हैं, इसलिए उनका निमित्त होनेसे वाणी भी एकाक्षरी हो जाती है। और वह वाणी ॐकार रूपमें विना ही इच्छाके खिरती है। इस प्रकारकी ॐकार दिव्यध्वनि-सरस्वतीके रूपमें तीर्थंकरकी वाणी सहज भावसे खिरती है।

+ॐकारमय ध्वनि—तीर्थंकर भगवानकी अखण्ड देशनाको सुननेवाला जीव अंतरंगसे अपूर्व भावसे उल्लसित होकर स्वाभाविक 'हाँ' कहे कि मैं पूर्ण कृतकृत्य अविनाशी शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा-इतना ही हूँ। ऐसी सहज 'हाँ' कहनेवाला सुयोग्य जीव अविनाशी मंगल पर्यायको प्राप्त करता है। जो जीव नित्य स्वभावभावसे, नित्य मंगल पर्यायसे परिणमित हुआ है, वह भव्य जीव नैगम नयसे परमार्थका आश्रयवाला हो चुका है। पूर्णताके लक्ष्यसे पुरुषार्थ करके वह अल्प कालमें ही उस पूर्ण पवित्र परमात्मदशाको प्रगट कर लेता है, जो शक्ति रूपमें विद्यमान है।

यहाँ ॐकारसे शुद्ध स्वरूपको नमस्कार किया है। उत्कृष्ट आत्म-स्वभाव पूर्ण वीतराग स्वभावमय शुद्ध सिद्ध दशा जिसे प्रकट हो गई है, उसे पहचान कर नमस्कार करना सो व्यवहार भावस्तुति है। उससे हटकर स्वरूपमें लीन होना सो निश्चय भावस्तुति है। परमात्माको नमस्कार करनेवाला अपने भावसे अपने इष्ट स्वभावको नमस्कार करता है, वह उसीकी ओर झुक जाता है।

स्वाध्याय प्रारंभ करनेसे पूर्व भगवानकी दिव्यवाणीके नमस्कार-के रूपमें मंगलाचरण किया है।

स्वाध्यायका अर्थ है-स्वके सम्मुख जाना; स्वभावके अभ्यासमें ही परिणमित होना। अधि-सन्मुख; आय-युक्त होना। स्वरूपमें युक्त होना सो स्वाध्याय है। जो पापको गाले और पवित्रताको प्राप्त करावे, सो मंगल है। पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ स्वभाव प्रकट है, ऐसे त्रिलोकी-नाथ तीर्थंकरदेवकी अखण्ड देशनाको जो भव्य जीव अंतरंगमें उतार-कर, अरिहन्तके द्रव्य-गुण-पर्यायको निश्चयसे जानकर, 'मैं भी

+ अ=अरिहन्त, अ=अशरीरी, सिद्धपरमात्मा, आ=आचार्य उ=उपाध्याय, म=मुनि अ+अ+आ+उ+म=ॐ (ओम्)

इस महामन्त्रमें पंचपरमेष्ठी पद, सर्व शास्त्रोंका सार, सर्वगुणसम्पन्न शुद्ध आत्मस्वरूपका भाव अन्तर्हित है।

ऐसा ही हूँ' इस प्रकार पूर्ण स्वाधीन स्वभावकी दृष्टिसे अभेदको लक्ष्य करता है, वह स्वयं अविनाशी मांगलिक होकर पुण्य-पाप उपाधिमय सर्व कर्मोंका नाश करता है।

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव ॐकाराय नमोनमः ॥ १ ॥

भावार्थः—ओम्कार वाचक है, उसका वाच्य भाव ओम्कार शुद्ध आत्मा है। उस शुद्ध आत्मस्वरूपकी पहिचान और रुचि परमात्म पद-रूप पूर्ण पवित्र इष्टको देनेवाली है। योगी पुरुष उस शुद्धात्माका नित्य ध्यान करते हैं और उसके फलस्वरूप मोक्षको प्राप्त करते हैं। यदि किसी अंशमें दशा अपूर्ण हो तो स्वर्ग प्राप्त करके, फिर मनुष्य होकर, मोक्षको प्राप्त करते हैं। ऐसे 'ओम्'को वारम्वार नमस्कार हो!

अविरलशब्दघनौघप्रक्षालितसकलभूतलमलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २ ॥

भावार्थः—अविरल संबंधरूप शब्दमेघ ऐसी एकाक्षरी 'ॐकार' दिव्यध्वनिकी दिव्यधारारूपी तीर्थंकर भगवानकी अखण्ड देशना, सद्बोध सरस्वती उस सम्यग्ज्ञानको कहनेवाली है। वह कैसी है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि जैसे मेघ-वर्षा पृथ्वीके मैलको धो डालती है, उसी प्रकार वीतराग भगवानकी दिव्यध्वनि रूपी सरस्वती अखण्ड ज्ञानधाराके द्वारा ग्रहण करके भव्य जीवोंने दोष-दुःखरूप मल-मैल-पापको धो डाला है; अशुद्ध परिणतिका नाश कर दिया है, जिसके तीर्थकी मुनीश्वरों द्वारा उपासना की गई है। ऐसी सरस्वती हमारे दोषोंको हरो।

दूसरे मंगलमें श्री गुरुदेवको नमस्कार किया है—

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ३ ॥

भावार्थः—जिन्होंने अज्ञानरूपी घोर अन्धकारमें अन्ध बने हुओं-की आखोंको ज्ञानाञ्जन रूपी शलाकासे खोल दिया है उन श्री गुरु-देवको नमस्कार करता हूँ।

वे श्री गुरुदेव स्वरूपभ्रांति, राग-द्वेष और मोहका नाश करके शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले हैं तथा सत्पुण्यके देनेवाले हैं। ज्ञानीका वचन सुयोग्य जीवको प्रतिबोध प्राप्त कराता है। उसकी निर्दोष वाणीको सावधान होकर श्रवण करो और मोहका नाश करके स्वरूपमें सावधान रहो तथा नित्य स्वाध्याय करो।

शुद्ध साध्यकी यथार्थ निश्चयरूप शुद्ध तत्त्वदृष्टिके द्वारा असंग, निर्मल, ज्ञायकस्वभावको जानकर उसमें स्थिर होना ही इस परमागम-का सार है।

श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत मंगलाचरण

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे॥

अर्थः—समयसार=शुद्ध आत्मा सर्व पदार्थोंमें साररूप है। सार=द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्मसे रहित है। ऐसे परमार्थस्वरूप शुद्ध आत्माको नमस्कार हो। शुद्ध स्वरूपको पहचानकर भावसे नमस्कार करके अंतःस्वरूपमें झुककर शुद्ध निर्मल स्वरूपका आदर करता हूँ।

द्रव्यकर्म=रजकण, सूक्ष्म धूल, ज्ञानावरणादिक आठ कर्म। यह जड़ रूपी कर्मप्रकृति है।

भावकर्म=राग-द्वेष विकाररूप विभावादिक शक्तिका परिणमन; द्रव्यकर्मका निमित्त प्राप्त करके जीवमें विकार होता है, वह अशुद्ध उपादानके आश्रित है, किन्तु स्वभावमें नहीं है।

भाव=अवस्था; परिणाम। रागरूप कार्य चिद्विकार है; यह भाव भूलरूप नहीं है-क्षणिक विकारी भाव हैं। कर्म=कार्य।

विभावरूप = शुभाशुभ कर्मभावके रूपमें अशुद्ध-विकारी अवस्था।

नोकर्म = शरीर, ५ इन्द्रिय इत्यादि स्थूल पुद्गल पिण्ड।

भावाय = सत्‌रूप; अस्तिरूप, अविनाशी वस्तु। जो 'है' वह पर निमित्त रहित, परके आधारसे रहित त्रैकालिक. सहजस्वभावरूप, स्वाधीन पदार्थ है, परसे असंयोगी वस्तु है। उसे सत् अर्थात् त्रिकाली स्थिर रहने वाला शुद्ध पदार्थ कहा गया है। उसका आदि-अन्त नहीं है, वह स्वतंत्र शुद्ध है। जो 'है' उसे नामरूप संज्ञाके द्वारा गुण-गुणी अभेद स्वतंत्र पदार्थका लक्ष्य करके (वाचक शब्दसे उसके वाच्य—पदार्थको) ज्ञानने जाना है। त्रैकालिक अखण्ड ज्ञायकस्वरूप असंग-निर्मल स्वभाव है। उसकी ज्ञानके द्वारा पहचान करके, परसे पृथक सम्यग्ज्ञानके द्वारा समझकर उसे नमस्कार करता हूँ।

पदार्थ किसी अपेक्षासे भावरूप है और किसी अपेक्षासे अभावरूप है। वह इस प्रकार है कि आत्मा अपनेपनसे भावरूप है, स्वद्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्वकाल, स्वभावपनसे है; और परकी अपेक्षासे नहीं है; अतः उस अपेक्षासे अभावरूप है।

स्वाधीनपनसे भावरूप होना अर्थात् परिणमन करना। साधक भावमें आंशिक निर्मल पर्याय प्रकट हुई है, वह भावरूप है और पूर्ण नहीं खुली है, उतने अंशमें अभावरूप है। नित्य द्रव्यस्वभावसे भावरूप है।

(द्रव्य = वस्तु) क्षणवर्ती पर्यायका व्यय होना सो अभावरूप है। (पर्याय = अवस्था) 'भावाय' शुद्ध सत्तास्वरूप शाश्वत वस्तु है। मैं सहज चिदानंद त्रिकाल ज्ञायक हूँ, ऐसे असली स्वभावको भूलकर मैं रागी-द्वेषी हूँ, क्षणिक कषाय वेगकी वृत्तियां ठीक हैं, पुण्यादिक देहादिमें सुखबुद्धिके द्वारा ठीक रहें, स्थिर रहें; ऐसी बहिरात्म दृष्टिवाले अपने स्वाधीन एकत्व-विभक्त भावका अस्वीकार करते हैं, इसलिए वे नास्तिक हैं। जब आस्तिक्य गुणवाला स्वाधीन भावसे अविनाशी सहज स्वभावकी 'हाँ' कहता है, पूर्ण कृतकृत्य स्वभावको अपने अनुभवसे निश्चयके

द्वारा स्वीकार करके इस प्रकार पर-भावका निषेध करता है कि द्रव्य-कर्म, भावकर्म और नोकर्म मैं नहीं हूँ, तथा असंयोगी अखण्ड ज्ञायक-स्वभावमें एकत्वभावसे स्थिर होता है अर्थात् स्वभावमें परिणमन करता है, नमता है या उस ओर ढलता है, तब नास्तिक मतरूप विपरीत दशाका (विकारी पर्यायका) अभाव हो जाता है।

चित्स्वभावाय=ज्ञानचेतना जिसका मुख्य गुण है, उससे पूर्ण चैतन्यस्वभाव त्रिकाल स्वाधीनरूप है। जो 'है' उसीको पहचाननेसे भेद-विकल्प (राग)का लक्ष्य छूट जाता है, इसलिए उस अखण्ड गुणमें एकाग्र स्थिरता होनेपर शुद्धस्वभावकी प्राप्ति होती है। ज्ञानचेतना-की अनुभूतिके द्वारा प्राप्तकी प्राप्ति होती है। पर निमित्त रहित अन्तरमें, स्थिर स्वभावमें स्थिर होनेसे वह प्रकट होता है। बाह्य लक्ष्यसे वह स्वरूप प्रकट नहीं होता। 'मैं' अखण्डित चैतन्यरूप अपार अनन्त सामर्थ्यसे पूर्ण हूँ। परसे भिन्न अकेला पूर्ण और स्वाधीन हूं। इस प्रकारकी श्रद्धा अंतरंग एकाग्रतासे प्रकट होती है। अपना गुण किसी वाह्य निमित्तसे नहीं आता, किन्तु अपने स्वभावमें-से ही प्रकट होता है।

अधूरी अवस्था समस्त द्रव्यको एक ही साथ प्रत्यक्ष लक्ष्यमें नहीं ले सकती, किन्तु अपने त्रैकालिक अखण्ड द्रव्यको पहिचाननेके लिए गुण-गुणीमें व्यवहारदृष्टिसे भेद करके अभेदके लक्ष्यसे प्रत्येक गुणको लक्ष्यमें लेकर निर्णय किया जा सकता है। उससे कहीं वस्तु-स्वभावमें सर्वथा भेद नहीं होता। वर्तमान मतिश्रुतज्ञानसे त्रैकालिक पूर्ण आत्मस्वभावका स्वाधीनतया निर्णय किया जा सकता है। वह असली स्वभाव क्योंकर प्रकट होता है? "स्वानुभूत्या चकासते" अर्थात् अपने ही अनुभवसे प्रकट होता है। परसे भिन्न शुद्ध चैतन्य-स्वरूपका अनन्त ज्ञानी सर्वज्ञदेवने जैसा निर्णय किया है, वैसा ही निश्चय करनेसे स्वाधीन अनुभूतिरूप शुद्ध निर्मल अवस्था अन्तरंग परिणतिरूप ज्ञानक्रियाके द्वारा प्रकट होती है। उससे शुद्धस्वभावकी प्राप्ति होती है अर्थात् शुद्धस्वभाव दशा प्रकट होती है। (अन्तरंग-

स्थितिके लिए आभ्यंतर ज्ञानक्रियामें सक्रिय है और परसे अक्रिय है।) पुण्यादि विकारी भावसे, राग (विकल्प)से अविकारी स्वभाव प्रकट नहीं होता।

निश्चयसे अर्थात् यथार्थ दृष्टिसे स्वयं निजको अपनेसे ही जानता है, उसमें किसी निमित्तका आधार नहीं है। अपनी सहज शक्तिसे ही स्वयं परिणमन करता है, जानता है और प्रकट प्रकाश करता है। ज्ञान स्व-पर प्रकाशक है। स्वाधीन सत्ताके भानमें स्वयं प्रत्यक्ष है, परोक्ष नहीं। अज्ञानी भी निजको ही जानता है, किन्तु वह वैसा न मानकर विपरीत रूपसे मानता है। वास्तवमें तो आत्मा ही प्रत्यक्ष है। 'मैं हूँ' इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष जानते हैं। जिनका आत्मअभिप्राय पराश्रित है वे मानते हैं कि मेरा ज्ञान निमित्ताधीन है। मन, इन्द्रिय, पुस्तक, प्रकाश इत्यादि निमित्तका साथ हो तो ही उसके आधार पर मैं जानता हूँ, यों मानने वाले निजको ही नहीं मानते। और फिर कोई यह माने कि पहले भवका स्मरण हो तो जान सकूँ, वर्तमान सीधी बातको मैं नहीं जान सकता, तो भी वह झूठा है। वर्तमान पुरुषार्थके द्वारा त्रिकाल अखण्ड ज्ञानस्वरूपका लक्ष्य किया जा सकता है। अपने आधार पर वर्तमानमें ज्ञानकी निर्मलतासे स्पष्ट ज्ञात होता है। और कोई यह मानता है कि यदि पहलेका भाग्य हो तो धर्म हो, उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि तू अभी जाग और उन्हें देख। अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख और अनन्त बलस्वरूप धर्म तो आत्माके स्वभावमें ही है; किन्तु जब प्रतीति करता है तब वर्तमान पुरुषार्थसे त्रिकाल स्वभावको जाना जा सकता है। यदि पुरुषार्थके लिए पूर्व-भवका स्मरण तथा किसी निमित्तके आधार पर ज्ञान-धर्म होता हो तो एक गुणके लिए दूसरे पर-गुणका आधार तथा अन्य पर-पदार्थका आधार चाहिए और उसके लिए तीसरा आधार चाहिए। इस परं-परासे पराश्रितपनका बहुत बड़ा दोष आता है। पराश्रित सत्ताको नित्य स्वभाव नहीं माना जा सकता, इसलिए गुण सर्वथा भिन्न नहीं हैं। वे त्रिकाल एकरूप हैं। अवस्थामें शक्ति-व्यक्तिका भेद है, किन्तु

वस्तुमें–गुणमें खण्ड–भेद नहीं है। गुणीके आधारसे त्रिकाल गुण साथ ही रहते हैं। वस्तु त्रिकाल एकरूप ही है। उसे वर्तमान निर्मलतासे, पुरुषार्थसे, स्वानुभवसे प्रत्यक्षतया जाना जा सकता है। अपने आधारसे स्वयं निजको ही जानता है, इसलिये प्रत्यक्ष है।

सर्वभावान्तरच्छिदे–अपनेको तथा समस्त जीव–अजीव चराचर विश्वमें स्थित त्रैकालिक सर्व वस्तुओंको एक ही साथ जाननेकी स्वाधीन शक्ति प्रत्येक जीवमें है। ऐसा चैतन्यस्वरूप समयसार आत्मा है। उसे पहिचानकर नमस्कार करता हूँ। ऐसा, इतना पूर्णस्वभाववान ही आत्मा है। उसकी हाँ कहनेवाला ज्ञायक स्वयं अकेला महिमावान है, बड़ा है, पूर्ण स्वभावमें त्रिकाल स्थिर रहनेवाला है। अनन्त, अपार के ज्ञाता तथा अपार और अनन्तताको ध्यानमें लेनेवालेकी थैली (ज्ञान–समझशक्तिरूपी थैली) भावदृष्टिसे (गंभीरतामें) अमाप है; अनन्त गम्भीर भावयुक्त है। इसप्रकारका माप करनेवाला स्वयं ही शक्ति रूपमें पूर्ण परमात्मस्वरूप, सर्वज्ञ स्वभावको पहिचानकर नमस्कार करनेवाला स्वयं ही परमात्मा है। वह शुद्ध साध्यके लक्ष्यसे प्रकट परमात्मा हो जाता है। जिसका बहुमान है, रुचि है वह उस रूप हो जाता है।

पूर्ण स्वाधीन स्वरूपकी प्रतीतिके विना परमात्माकी भक्ति नहीं हो सकती। परमात्माकी पहचानके विना रागका–विकारका–संसार-पक्षका बहुमान करेगा। स्वरूपकी प्रतीति वाला निःशंकतया पूर्ण को (साध्यको) नमस्कार करता हुआ अखण्डतासे, अखण्ड सत्के बहुमान द्वारा पूर्णको प्राप्त हो जाता है। प्रत्येक आत्मामें एक समयमें तीन काल और तीन लोकको जाननेकी शक्ति विद्यमान है। ऐसे आत्मा अनन्त हैं। प्रत्येक आत्मा परसे भिन्न अकेला पूर्ण सर्वज्ञ है। त्रैकालिक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमय अनन्त पदार्थको सर्वरीत्या जाननेकी शक्ति प्रत्येक जीवद्रव्यमें विद्यमान है। प्रत्येक समयमें तीनोंकाल और तीनोंलोक केवलज्ञानमें सहज दिखाई देते हैं। अनन्तके वाच्यरूप भावको भव्य जीव श्रवण करके एक क्षण भरमें

अनन्तका विचार कर लेते हैं। अनन्त ज्ञानकी शक्ति और सर्वज्ञ स्वभावकी 'हाँ' कहनेवाले समस्त जीव शक्तितः सर्वज्ञ हैं। ना कहनेवाला नास्तिक भी शक्तितः सर्वज्ञ है। ना कहने वाला भी अपार अनंत को ध्यानमें लेनेवाला तो है ही, इसलिए ना कहने पर भी उसमें हाँ गर्भित है। अतः प्रत्येक देहधारी आत्मा पूर्ण पवित्र सर्वज्ञ ही है। निश्चयसे मैं पूर्ण अखण्ड आनन्दघन त्रिकाल हूँ, सर्वज्ञ हूँ, इस प्रकार स्वतः हाँ कहकर 'सर्वोत्कृष्ट अनुपम स्वभावको पहचानकर अपनी अपूर्व महिमाको प्राप्त करके अपनेको देखनेवाला अपूर्व महिमाको लाकर नम्रीभूत होता हुआ वह वैसा ही है। पूर्ण स्वभावको माना-जाना और उसमें नत होता हुआ, वह श्रद्धासे पूर्ण ही है। वह बीचमें पुरुषार्थके कालके अन्तरको भावसे पृथक् कर देता है। और पूर्ण परमात्माको देखता हुआ पूर्ण स्वभावकी महिमाको गाता है। वह संसारकी महिमाको नहीं देखता। बाह्य इन्द्रियोंके आधीन बाह्य दृष्टि करनेवाला, अपनेको भूलकर दूसरेके बड़प्पनको आँकता है। किन्तु पूर्ण शक्तिको बतानेवाली जो दिव्यदृष्टि है उस पर वह विश्वास नहीं ला सकता और वर्तमानको ही मानता है।

अधूरी दशा होने पर भी मेरेमें शक्तिकी अपेक्षासे तीनकाल और तीनलोकको जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। यद्यपि वह सीधा दिखाई नहीं देता तथापि उसका यथार्थ निर्णय निजसे हो सकता है। जिसमें तीनकाल और तीनलोक एक ही समयमें दिखाई देते हैं, ऐसे अपने त्रैकालिक ज्ञानको ही मैं जानता हूँ। इस प्रकार सर्वज्ञ स्वभावकी 'हाँ' कहनेवाला वर्तमान अपूर्ण ज्ञानसे सम्पूर्णका निर्णय निःसंदेह तत्त्वमेंसे लाता है।

मैं परको जानूँ तभी मैं बड़ा हूँ, यह बात नहीं है; किन्तु मेरी अपार सामर्थ्य अनन्तज्ञान ऐश्वर्यके रूपमें होनेसे मैं पूर्ण ज्ञानघन आत्मा हूँ। इस प्रकार पूर्ण साध्यका निश्चय करके उसीमें एकत्व-विभक्त, भिन्न एकाकार (परसे भिन्न, अपनेसे अभिन्न) परिणतिको

युक्त करके 'आत्मख्याति टीका'के द्वारा प्रथम मंगलाचरण किया है।

पूर्ण उत्कृष्ट आत्मशक्तिको जानकर जो निश्चयसे नमता है वही अपनी शुद्ध परिणतिरूप होकर स्वाधीन स्वभावरूपसे नत हुआ है। वही परमात्माका भक्त है। प्रतीतिहीन जीव ही रागके प्रति नत होता है।

भूत, भविष्य और वर्तमान काल सम्बन्धी पर्याय सहित अनंत गुण युक्त समस्त जीव-अजीवादि पदार्थोंको एक समयमें एक ही साथ प्रगटरूपसे जाननेवाला शुद्ध आत्मा ही साररूप है। उसको मेरा नमस्कार हो। शुद्ध स्वभावमें तन्मय अस्तिरूप परिणमित हुआ और नत हुआ इसलिए असारभूत संसारके रूपमें नहीं हुआ। अब राग-द्वेषरूप संसारका आदर कभी नहीं करूँगा इस प्रकारकी सौगन्ध-विधि सहित भाववन्दना की है।

सर्वज्ञ वीतरागस्वरूप शुद्ध आत्मा इष्ट है, उपादेय है। उसीकी श्रद्धा, रुचि और प्रतीतिके द्वारा सर्वज्ञके न्यायसे जिसने त्रिकाल ज्ञायकस्वभावको स्वीकार किया वह सर्व पदार्थ, त्रिकालकी अवस्था-को प्रतीतिके द्वारा जाननेवाला हुआ। अब यदि वह उसी भावसे स्थिर रहे तो उसे राग-द्वेष हर्ष-शोक उत्पन्न न हो। 'मैं जाननेवाला ही हूँ' इस भावसे अशान्ति और असमता नहीं होती। जैसे सुन्दर रूप वाली अवस्थाको लिये हुए आम (आम नामका पुद्गल पिण्ड) पहले विष्टाके खातमें से उत्पन्न होकर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें सुन्दर दिखाई देता है। स्मरण रहे कि वह पुनः विष्टारूप परिणमित होनेवाला है। इस प्रकार त्रिकालकी अवस्थाको देखनेवालेको सुन्दर असुन्दर दिखाई देनेवाले किसी भी पदार्थके प्रति राग-द्वेष या हर्ष-विषाद नहीं होता, और इस प्रकार किसीके प्रति मोह नहीं होता। नारकीके शरीरको छोड़कर बहुत बड़ी महारानीके पद पर उत्पन्न हुआ जीव पुनः नरकमें उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार पुद्गल-की विचित्रताको देखनेवालेको, त्रिकाल लगातार जाननेवालेको राग-द्वेष अथवा मोहरूपमें अटकना नहीं होता। देहादिक अशुचि-

मय–दुःखमय क्षणिक अवस्था वाले पदार्थ वर्तमानमें कदाचित् पुण्य वाले, सुन्दररूप वाले दिखाई दें अथवा कुरूप या रोगरूप दिखाई दें तो भी उनमें मोह नहीं करता। क्योंकि त्रिकालके ज्ञानको जानने वाला यह वीतरागदृष्टि है और वह सर्वज्ञदृष्टि धर्मात्मा है।

प्रश्नः—यहां इष्टदेवका नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया? और शुद्ध आत्माको क्यों नमस्कार किया है?

उत्तरः—आत्मा अनेकान्त धर्मस्वरूप है। उसे पहचानने वाला अनेक अपेक्षित धर्मोंको जानकर (समझकर) उसे गुण–वाचक इत्यादि चाहे जिस नामसे सम्वोधित करता है।

जैनधर्म राग-द्वेष, अज्ञानको जीतने वाला आत्मस्वभाव है। इस प्रकार शुद्धस्वभावको मानने वाला धर्मात्मा जहाँ देखता है वहाँ गुणको ही देखता है, गुणको ही प्रधानता देता है व्यक्तिको नहीं। जैसे पंचपरमेष्ठीमें पहले णमो अरिहंताणं कहकर गुण–वाचक पदकी ही वन्दना की है। 'णमो महावीराणं' इस प्रकार एक नाम लेकर किसी व्यक्ति विशेषकी वन्दना नहीं की है। वह जो जैसा होता है, उस व्यक्तिको वैसा ही जानता है। व्यक्तिभेद करने पर राग होता है। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है। धर्मात्मा किसी एक भगवानका नाम लेकर भी वन्दना करता है, किन्तु धर्मात्माका लक्ष्य तो गुणीके गुणों-के प्रति ही होता है। व्यक्ति विशेषके प्रति नहीं होता। इसलिए गुण–पूजा प्रधान है।

ब्रह्मा = अपने सहज आनन्द गुणको ब्रह्म (ज्ञानस्वरूप आत्मा) भोगता है अथवा ब्रह्मा = स्रष्टा, अपनी स्वाधीन सुखमय अवस्थाको उत्पन्न करने वाला। प्रत्येक समय नयी नयी पर्यायको उत्पन्न करता है, इसलिए वह स्वस्वभाव परिणमनरूप सृष्टिका कर्त्ता जीव है। इस दृष्टिसे प्रत्येक जीव स्वयं स्वतंत्र ब्रह्मा है।

विष्णु = राग-द्वेष मोहरूप विकारसे रहित अपने शुद्ध स्वभावको स्थिर रखने वाला अथवा विभावसे निजको बचाने वाला और निज-

गुणकी रक्षा करने वाला विष्णु हूं। प्रत्येक समय अपने अनन्त गुणकी शक्तिकी सत्तासे निज ध्रुवशक्ति (सदृश अंश)को लगातार स्थिर रखनेके कारण प्रत्येक आत्मा स्वभावसे विष्णु है।

महेश = जो राग-द्वेष और अज्ञानका नाश करता है अथवा पूर्ववर्ती क्षणिक पर्यायका नाश करता है, वह महेश है। जो अनुपम है अर्थात् जिसे किसी औरकी उपमा नहीं दी जा सकती, जो स्वयं ही समस्त पदार्थोंको जानने वाला है और ज्ञानके द्वारा माप करने वाला तथा अपार ज्ञान एवं ऐश्वर्य वाला है, इसलिये वह अनुपमेय है। तथापि कथनमें वह सिद्ध परमात्माके समान कहा जा सकता है। जैसे शुद्ध आत्मा कैसा है? जो शुद्ध बुद्ध मुक्त प्रगट सिद्ध परमात्मा हुए हैं, वैसा है। जैसा है वैसा (शाश्वत् टंकोत्कीर्ण) पर सत्तासे भिन्न स्वसत्तामें निश्चल है।

पुरुष = जो अखंड ज्ञान-दर्शन-उपयोगमें एकत्व मानता और जानता हुआ उपयोगपूर्वक स्वरूपमें एकाकार होकर पूर्ण पवित्र दशाको प्राप्त करके उत्कृष्ट आनन्दरसरूपी 'शिव-रमणी'के साथ रमण करता है, तथा शुद्ध 'चेतना सखी'के साथ निराकुलता सहित निजानन्द पूर्वक केलि करता है, वह पुरुष है।.........

पुरुष = आत्मा।

सत्य आत्मा = अपने पूर्ण स्वरूपको पहिचानने वाला तथा शुद्ध-स्वरूपमें सुनिश्चित भावसे रहने वाला, स्थिर होने वाला, एवं परमात्मदशाको प्राप्त सत्य आत्मा है और राग-द्वेष-अज्ञान भावको प्राप्त मूढ़ आत्मा मिथ्यादृष्टि है, अनात्मा है।

अरहंत = पूज्य = त्रिकालके इन्द्रोंके द्वारा पूजाके योग्य त्रिलोक-पूज्य हैं, तीनों लोकोंमें सबके लिये वन्दनीय हैं सभी गुण निर्मल प्रगट हो गये हैं और जिनमें परम पूज्य गुणकी मुख्यता प्रगट है, वे पूज्य हैं।

जिन = राग-द्वेष और अज्ञानको स्वरूपकी स्थिरताके द्वारा जीत लिया है ऐसे पूर्ण पवित्र वीतरागको जिन कहते हैं।

आप्त = अठारह दोषोंसे रहित परम हितोपदेशक सर्वज्ञ आप्त हैं।

भगवान् = महिमावान्। सहज आनंद = पर निमित्तसे रहित निरुपाधिक स्वाभाविक आनन्द।

हरि = जो अपने पूर्ण स्वरूपकी प्रतीतिसे मिथ्यात्व और पुण्य-पापके रोगको हर लेता है सो हरि है। जो पराधीनताका, रागादि मलका, कर्म कलंकका नाश करके पूर्ण पवित्र स्वाधीनता प्रगट करता है, पुण्य-पापकी उपाधिको हरता है और पवित्रताको प्राप्त करता है, वह हरि है। इस प्रकार जो-जो गुणनिष्पन्न नाम हैं, उन गुणोंको लक्ष्यमें रखकर उस अपेक्षासे आत्माका कथन करनेमें कोई विरोध नहीं है (एकान्त पक्ष वालेको नामादिमें विरोध होता है।) यदि कोई 'पापी' नाम रखे तो पापी अर्थात् पा + पी = दूसरेको सत्बोधरूपी धर्म अथवा अमृतरूपी उपदेशको पिलाने वाला और स्वयं पीने वाला अर्थात् स्वयं अपने ही सहज समता आनंदगुणको धारण करने वाला सिद्ध हुआ। इस प्रकार गुणकी दृष्टिको ही मुख्य करने वाले, अनेक अपेक्षाओंको समझने वाले अर्थात् इस प्रकार विशाल बुद्धि द्वारा सम्यक् अपेक्षारूप स्याद्वादसे वस्तुस्वभावको समझनेवालेका राग-द्वेष विलीन-हो जाता है।

इस समयसारमें आत्माकी शुद्धिका अधिकार है।

आत्मा देहादि-रागादिसे पृथक् है। जबतक आत्मा ऐसी वास्तविकताको नहीं जानता तबतक मोह कम नहीं होता। जब यथार्थता जानी जाती है, तभी अन्तरंगसे पर पदार्थकी महिमा दूर होती है और निजका माहात्म्य प्रगट होता है। सर्वज्ञ भगवानने आत्माको जैसा देखा, वैसा ही आत्मस्वभाव इस समयसार शास्त्रमें वर्णित है।

दूसरे कलशका प्रारंभ

अनंत धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकांतमयी: मूर्ति र्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

अर्थः—जिसमें अनेक अंत-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उसमई मूर्ति नित्य सदा ही प्रकाशतां अर्थात् प्रकाशरूप हो। वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं, ऐसा और प्रत्येक-परद्रव्योंसे, परद्रव्यके गुण-पर्यायोंसे भिन्न तथा पर द्रव्यके निमित्तसे हुए अपने विकारोंसे कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्वको अर्थात् असाधारण सजातीय-विजातीय द्रव्योंसे विलक्षण निजस्वरूपको पश्यंती-अवलोकन करती (देखती) है।

यहाँ पर सरस्वतीको नमस्कार किया है। वह कैसी है-अनन्त धर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती। उसमें कहा है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है। उसके स्वभावरूप अनन्त धर्म एक-दूसरेसे भिन्न हैं। ऐसे सर्व पदार्थोंके स्वरूपको सरस्वतीरूप सम्यग्ज्ञान यथार्थ प्रकाशित करता है। आत्मामें अनन्त धर्म स्वाधीनतया भरे हुए हैं। वे आत्माकी पहिचान और स्थिरताके द्वारा आत्मासे प्रगट होवे हैं।

कोई कहता है—'अभी यह समझमें नहीं आ सकता' किन्तु आत्मा कब नहीं है? देह, इन्द्रियादिक तो कोई जानता नहीं है। जो जानता है वही स्वयं है, इसलिये अवश्य समझा जा सकता है। अपनेको सर्वज्ञके न्यायानुसार जाने तो उसमें स्थिर हो और अतीन्द्रिय आनन्द आवे।

अनन्तगुण = अपार गुण। प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थमें स्वतंत्रतया अनन्त धर्म हैं। देह-मंदिरमें भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान-आनन्द स्वरूपमें अनन्त गुणरूप तत्त्व है, उसे पहिचानकर स्थिरता करे तो शुद्धस्वरूप प्रगट हो। इसका नाम है धर्म।

सर्वज्ञ भगवानने आत्मा, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश इन प्रत्येकमें शाश्वत् अनन्त गुण देखे हैं। किसीके गुण किसीके आधीन नहीं हैं। पर-वस्तु किसीके लिए मददगार नहीं है, इसलिए वस्तु अर्थात् पदार्थके कोई गुण किसीके आधीन नहीं होते।

कुछ गुणोंका कथन

[१] प्रत्येक पदार्थमें सत् (अस्तित्व) गुण अनादि-अनन्त है, इसलिये प्रत्येक वस्तु नाश रहित है, अपनी अपेक्षासे सत् है, किसीके आधीन नहीं है। यह समझनेसे स्वाधीन सुखरूप धर्म अपने आपसे प्रगट होजाता है। इस प्रकार परसे भिन्न ज्ञान हो जाये तो अपने सुखको स्वतः प्राप्त करले।

[२] प्रत्येक पदार्थमें वस्तुत्व नामका गुण है। प्रत्येक पदार्थ अपने आप प्रयोजनभूत क्रिया स्वयं ही कर सकता है। इसलिये अन्य कर्त्ताकी उसकी क्रियामें अपेक्षा नहीं है। आत्मा परसे भिन्न है। और मन, वाणी, देहादि सर्व संयोग आत्मासे त्रिकाल भिन्न है। इसलिए आत्मधर्ममें किसी अन्य पदार्थकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है।

(यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म वात मेरी समझमें नहीं आती, तब उसे अनन्त कालमें जो महा दुर्लभ मनुष्यभव मिला वह किस कामका? आत्मप्रतीतिके बिना जगत्में अनन्त कुत्ते, बिल्ली, कीड़े-मकोड़े उत्पन्न होते हैं और मरते हैं उनका क्या महत्त्व है? इसी प्रकार अनन्त कालमें अनन्त प्रकारसे महान् दुर्लभ मनुष्य-भव प्राप्त करके अपूर्व आत्मस्वभावको सत्समागमके द्वारा न जाना तो उसकी कोई कीमत नहीं है। और यदि पात्रताके द्वारा आत्मस्वभावको जान ले तो उसकी महिमा अपार है।)

वस्तुत्वगुणका अर्थ प्रयोजनभूत अपनी क्रियाका करना है। प्रत्येक वस्तु अपनी प्रवृत्ति अपने आप करती है, तदनुसार आत्माकी प्रत्येक प्रवृत्ति आत्मा करता है। जड़-परमाणु इत्यादि अपनी क्रिया अपने आप करते हैं, उसमें किसीकी सहायता नहीं होती। इसलिए देह-की क्रिया जीवकी सहायताके बिना देह स्वतंत्रतया करती है। देहकी क्रिया देहमें रहने वाला प्रत्येक परमाणु स्वतंत्रतया करता है। उसमें आत्मा कारण नहीं है। इसी प्रकार आत्माकी क्रिया आत्मा और जड़

देहादिकी क्रिया जड़ करता है, किन्तु अज्ञानी मानता है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ। यह कर्तृत्वका अज्ञान है। पर वस्तुकी क्रिया तीन काल और तीन लोकमें कोई आत्मा नहीं कर सकता।

[३] प्रत्येक पदार्थमें 'प्रमेयत्व' (अर्थात् किसी भी ज्ञानका विषय होना विद्यमान है। उसमें बतानेकी योग्यता है। ज्ञेय अथवा प्रमेयका अर्थ है-ज्ञानमें किसी न किसी ज्ञानमें ज्ञात होने योग्यपना-अपनेको जनानेकी योग्यता। यह योग्यता जिसमें न हो वह वस्तु नहीं कही जा सकती।

प्रश्नः—क्या वह आंखोंसे दिखाई देता है ?

उत्तरः—नहीं, वह ज्ञानके द्वारा ही दिखाई देता है—ज्ञात होता है। आंख तो अनन्त रजकणका पिण्ड है। उसे खबर ही नहीं कि मैं कौन हूँ। किन्तु उसे जानने वाला अलग रहकर जानता रहता है। ज्ञानके द्वारा ठंडा-गरम मालूम होता है। ज्ञान, ज्ञानमें जाननेकी क्रिया करता है। उस ज्ञानकी क्रियामें ज्ञान अर्थात् आत्मा स्वयं अपनेको जानता है। और ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि पर उसमें भिन्नरूपसे ज्ञात होता है। वह प्रत्येक आत्माका गुण है। स्वयं अपनेको ज्ञेय बनाने पर सब धर्म समझमें आजाते हैं।

इस देहमें रहनेवाला आत्मा देहसे भिन्न है। यदि यह न जाने तो अंतरंगमें पृथक्त्वके ज्ञानका कार्य जो शान्ति है वह न हो, किन्तु अज्ञानका कार्य जो अशान्ति है, जिसे जीव अनादि कालसे कर रहा है वही बनी रहेगी। आत्माका त्रिकाल ज्ञानस्वभाव है, उसमें अनन्त पदार्थोंको युगपत् जाननेकी शक्ति विद्यमान है। किन्तु अनादिसे देह-इन्द्रियोंमें दृष्टिपात करके अपनेको भूलकर रागके द्वारा परको जानता रहता है। दृष्टिपात करने वाला तो स्वयं है किन्तु मोल दूसरेको चुकाता है। अपने भीतर अनन्त गुणका मूलधन किस प्रकार विद्यमान है यह तो नहीं जानता किन्तु यह बराबर जानता

है कि घर पर नलियाँ, खिड़कियाँ, दरवाजे कितने हैं और कैसे हैं। इसीप्रकार सबको जाननेवाला यह नहीं जानता कि वह स्वयं कैसा है। देह, इन्द्रियाँ स्वयं कुछ नहीं जानतीं, किन्तु ये चैतन्य पदार्थके ज्ञानमें ज्ञेयरूप हैं। जड़ नहीं जानता, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं है, किन्तु वह ज्ञेय है।

(४) चौथा गुण है प्रदेशत्व।

प्रत्येक पदार्थ सदा अपने आकारवाला होता है पर क्षेत्रके सम्बन्धसे रहित अपने स्वक्षेत्रमें स्वगुणरूप प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल अपने स्वरूपमें है। *कोई पदार्थ असंख्य प्रदेशी है। कालाणु और परमाणु एकप्रदेशी हैं। बहुतसे परमाणु मिलकर स्कन्धरूप होनेपर संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशी हो जाते हैं।

(५) चैतन्य–आत्माका जानने देखनेरूप गुण है।

देहके किसी भागमें किसी वस्तुका संयोग होनेपर आत्मा उसे चेतनागुणके द्वारा जान लेता है। देह जड़में ज्ञातृत्व शक्ति नहीं है; क्योंकि जड़में सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता। चैतन्यघन आत्मा देहसे भिन्न देहाकार है। वह स्वयं स्व आकारवाला है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदिको जाननेवाला आत्मा है। जबतक वह स्व और परका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, तबतक उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता।

निरंजन = राग-द्वेष और रूप रहित।

निराकार = जड़ पुद्गलके आकारसे रहित। आत्मा निरंजन निराकार है। वह शरीरके समस्त भागमें विद्यमान है। अपने अनन्त गुणोंका पिण्ड है तथा देहाकार और देहसे भिन्न है।

---

* प्रत्येक जीव, धर्मास्तिकाय, और अधर्मास्तिकाय लोक प्रमाण असंख्यात प्रदेशी है। वह उनके स्वक्षेत्र–प्रदेशमय आकार है।

(६) 'अचेतनत्व'—आत्माके अतिरिक्त पाँच द्रव्य अचेतन पदार्थ हैं। उसका गुण अचेतनत्व (जड़ता) है।

(७) 'मूर्तिकत्व'—स्पर्श, रस, गंध और वर्ण पुद्गलके गुण हैं। पुद्गलमें रूपित्व (मूर्तिकत्व) है। उसके अतिरिक्त पाँच वस्तुएँ अरूपी (अमूर्तिक) हैं।

(८) 'अमूर्तिकत्व' = स्पर्श, रस, गंध, वर्ण रहित।

उन उन गुणोंमें समय-समय पर परिणमन होना सो पर्याय है, जो कि अनन्त हैं।

(९) प्रत्येक वस्तुमें एकत्व है। अपना-अपना अनन्त स्वभाव अर्थात् गुण वस्तुरूपमें एक है, इसलिए एकत्व है।

(१०) अनंतगुणके लक्षण, संख्यादि भेदसे देखा जाये तो प्रत्येक वस्तुमें अनेकत्व भी है।

(११) वस्तुमें त्रिकाल स्थिर रहनेकी अपेक्षासे नित्यत्व भी है।

(१२) प्रतिक्षण अवस्थाका बदलना और नई अवस्थाका उत्पन्न होना; इस प्रकारका अनित्यत्व भी है।

यह जाननेकी इसलिये आवश्यकता है कि प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, त्रिकालमें परसे भिन्नरूप है। यदि ऐसा न माना जाये तो राग-द्वेष और अज्ञानको दूर करके स्वभावको नहीं पहचाना जा सकता।

(१३) 'भेदत्व' प्रत्येक वस्तुमें है। वस्तु अनन्तगुण स्वरूपसे अभिन्न है। तथापि गुण-गुणीके भेदसे नाम, संख्या, लक्षण, प्रयोजनसे भेद है। जैसे गुड़ नामका पदार्थ है, उसमें मिठास, गंध, वर्ण इत्यादि अनेक गुण हैं, उसी प्रकार आत्मा एक वस्तु है। उसमें ज्ञान, दर्शन; इत्यादि अनन्तगुण हैं। गुण-गुणीके नामसे जो भेद होता है सो संज्ञाभेद है। गुणोंकी संख्या अनन्त है और आत्मा एक है, यह संख्याभेद है।

लक्षण भेद

आत्माका लक्षण चैतन्य आदि गुणोंका धारण करना है। ज्ञान-गुणका लक्षण स्वपरको जानना है। चारित्रगुणका लक्षण स्थिर होना है। श्रद्धागुणका लक्षण प्रतीति करना है। श्रद्धान

इस प्रकार गुण-गुणीमें लक्षण भेद है।

(१४) 'अभेदत्व'-सभी गुण एक वस्तुरूप हैं, इसलिये अभेदत्व है।

अपने स्वाधीन स्वभावको समझनेकी यह बात है। समझके साथ सब सरल है और बिना समझे सब मुश्किल है। अन्धकारको दूर करनेके लिए मूसल अथवा सूपाकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु प्रकाशकी ही आवश्यकता होती है, इसी प्रकार अनंतकालका अज्ञान दूर करनेके लिए यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता है। जैसे अंधकारमें देखने पर कोयला, सोना, कपड़ा इत्यादि तमाम वस्तुएँ एकसी दिखाई देती हैं और यदि प्रकाश लेकर देखा जाये तो वे जैसी भिन्न भिन्न हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसी प्रकार देह, मन, वाणीको राग-द्वेषसे देखने पर अज्ञानके कारण सब एक सी दिखाई देती हैं। रागादि तथा देहादिके साथ आत्मा एक सा दिखाई देता है। उसे सम्यग्ज्ञानसे देखने पर वह पृथक् दिखाई देता है। यथार्थ ज्ञानके अतिरिक्त अन्य उपाय करे तो शुद्ध स्वरूपका भान नहीं होता, इसलिए सच्चे ज्ञानके द्वारा अनेक अपेक्षाओंसे अनेक धर्मोंको बराबर समझना चाहिए।

(१५) शुद्धत्व-द्रव्यदृष्टिसे स्वभावकी अपेक्षासे जीवके शुद्धत्व है। वर्तमानमें पाई जाने वाली प्रत्येक अवस्थामें अशुद्धताका अंश है। उसे देखनेकी दृष्टिको गौण करके त्रिकाल निर्मल स्वभावकी दृष्टिसे देखें तो आत्माका स्वभाव शुद्ध ही है। शुद्ध-अशुद्ध दोनों धर्म एक आत्मामें एक ही साथ विद्यमान हैं। जैसे पानी स्वभावसे शीतल है, किन्तु वर्तमान अग्निके निमित्तसे उष्ण अवस्था होने पर

भी वर्तमान निमित्ताधीन उष्ण अवस्थाको न देखकर त्रैकालिक शीतल स्वभावको देखें, तो जल स्वभावसे शीतल ही है। इसी प्रकार द्रव्य-दृष्टिसे आत्मामें सदा शुद्धत्व ही है।

(१६) अशुद्धत्व—काम-क्रोध-मोहकी वृत्ति वर्तमान अवस्थामें क्षणिक है। उस (अशुद्धि)का नाश हो सकता है और स्वभावमें जो निर्मलतादिरूपमें अनन्त गुण हैं वे रह सकते हैं। वर्तमान अशुद्ध अवस्था भी है और द्रव्य स्वभावमें पूर्ण शुद्धता भी है। इन दोनों पहलुओंको जानना चाहिए। यदि आत्मा वर्तमान अवस्थामें भी शुद्ध ही हो तो समझ और पुरुषार्थ करके अशुद्धताको दूर करनेका प्रयोजन न रहे।

ऊपर कुछ धर्म कहे गये हैं। उनमेंसे सामान्य धर्म तो वचन द्वारा कहे जा सकते हैं और कुछ ऐसे भी धर्म हैं, जो वचनसे नहीं कहे जा सकते, किन्तु ज्ञानमें जाने जा सकते हैं। ज्ञानमें प्रत्येक वस्तुके धर्म भली भांति जाने जा सकते हैं। प्रत्येक वस्तुमें अनंत धर्म हैं, उसी प्रकार आत्मामें भी अनंत धर्म हैं। उसमें चेतनता असाधारण गुण है। यह गुण अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं है। और फिर दूसरी सूक्ष्म बात यह है कि आत्मामें ज्ञानके अतिरिक्त अन्य अनन्त धर्म हैं, जो सब निर्विकल्प हैं। ज्ञातृत्वका लक्षण उन धर्मोंमें नहीं है। एक ज्ञान-गुण ही सविकल्प अर्थात् स्वपरको जानने वाला है। ज्ञानगुण अपने को स्वके रूपमें जानता है और परको परके रूपमें जानता है। शेष गुण भी स्वतंत्र हैं। वे अपनेको नहीं जानते तथापि प्रत्येक गुण स्वतंत्र रूपमें अपनी प्रयोजनभूत क्रियाको कर सकता है। उन समस्त गुणोंको एक ज्ञानगुण जानता है। वह ज्ञातृत्व अन्य अनन्त अचेतन द्रव्योंमें नहीं है। सजातीय चेतन अर्थात् जीवद्रव्य अनन्त हैं तथापि सबका चेतनत्व भिन्न भिन्न है। क्योंकि प्रत्येक आत्माके अनन्त धर्म अपने अपने स्वतंत्र हैं। वे दूसरे चेतन द्रव्योंमें नहीं हैं। प्रत्येक द्रव्यके प्रदेश भिन्न हैं, इसलिए कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें नहीं

मिल सकता। यह चेतनत्व अपने अनन्त धर्मोंमें व्यापक है, इसलिए उसे आत्माका तत्त्व कहा है।

कर्मोंके निमित्तकी क्षणिक उपाधि वाली स्थिति वर्तमान समय मात्र की है उसे जो अपना स्वरूप मानता है उस जीवको स्वतन्त्र स्वतत्त्वकी प्रतीति नहीं है। किन्तु परसे भिन्न जैसा है ठीक वैसा ही अपनेको जाने तथा रागादि रहित पूर्ण शुद्ध ज्ञान-आनन्दमय जैसा है वैसा अपना स्वरूप जाने तो वह अपने स्वाधीन सुखगुणको प्रगट कर सकता है। इसलिए आत्माका अनन्त गुण ही आत्माका तत्त्व है। राग-द्वेष मन, वाणी और देहकी प्रवृत्ति आत्माका तत्त्व नहीं है।

आत्मा सदा परसे भिन्न रहकर अपने अनन्त गुणोंसे अभिन्न होनेके कारण अपनेमें व्यापक है और इसलिए अनन्त गुणोंमें फैला हुआ है। उसे तत्त्व रूपमें-जैसा है वैसा ही इस सरस्वतीकी मूर्ति देखती है और दिखाती है और यदि इस प्रकार समझे तो इससे (इस सम्यग्ज्ञानकी मूर्तिसे-सरस्वतीसे) सर्व प्राणियोंका कल्याण होता है। इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकारका आशीर्वाद-रूप वचन मात्र परको नहीं किन्तु अपने परम कल्याण स्वरूपको लक्ष्यमें रखकर कहा है।

समयसारजीमें अपूर्व सत्श्रुतकी स्थापनाकी है। यह समयसार शास्त्र परमागम है। यह परम विशुद्धताको प्रकट करनेवाला है। यह अजोड़ सम्यग्ज्ञानरूपी दीपक (अद्वितीय जगत चक्षु) परमात्मदशाको प्राप्त करनेके लिए है। यह सम्यग्ज्ञानके द्वारा दी गई अपूर्व भेंट है। आचार्य महाराज कहते हैं कि 'इसकी टीकाके द्वारा मैं इसका स्पष्टी-करण करूंगा। इसकी टीका करनेका फल अपनी वर्तमान दशाकी निर्मलताके रूपमें चाहता हूँ। पूजा सत्कार आदि नहीं चाहता।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा-
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।

मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते-
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूते ॥ ३ ॥

महा–महिमावंत् भगवान अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं कि मेरा ज्ञान व्यापार निर्मल हो, मेरा पूर्ण वीतरागभाव प्रगट हो। दूसरी कोई आकांक्षा नहीं है। 'इस समयसार अर्थात् शुद्धात्माकी कथनी तथा टीकासे ही मेरी अनुभूतिरूप परिणतिकी परम विशुद्धि हो' ऐसी भावना भाई है।

शुद्ध आत्माको जाननेवाले ज्ञान अभ्यासकी दृढ़तासे रागादि कलुषित भावका अनुभव दूर होकर उत्कृष्ट निर्मल दशा प्रगट हो, ऐसी भावना करते हैं। ऐसा परमागम मेरे हाथ आया है और उसकी टीका करनेका महा सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसलिए उसके विश्वास-के वल पर टीकाकार स्पष्ट घोषित करते हैं कि 'इस टीकासे मेरी परिणति पूर्णतया निर्मल हो जायगी।'

जैसे पैसेकी प्रीतिवाला व्यक्ति धनवानके गुण गाता है वह वास्तवमें धनवानके नहीं किन्तु अपने ही गीत गाता है। क्योंकि उसे धनकी रुचि है। वह उस रुचिके ही गीत गाता है। इसी प्रकार जिसे अपने आत्माके अनन्त गुण रुचिकर प्रतीत हुए हैं वह निमित्तमें आरोपित करके अपने ही गुण गाता है। वाणी तो जड़ है, परमाणु है। किन्तु उसके पीछे जो अपना शुद्धभाव है वही हितकर है।

आचार्य महाराज अपनी परिणतिको सुधारनेकी भावना करते हैं। मेरी वर्तमानदशा मोहके द्वारा किंचित् मैली है किन्तु मेरा त्रिकाल स्वभाव द्रव्यदृष्टिसे मलिन नहीं है इसलिये पूर्ण शुद्ध चिदानन्द अपार सुखरूप है। उसकी प्रतीतिके वल पर 'वर्तमान अशुद्धताका अंश दूर हो जायगा' आचार्य महाराज इसका विश्वास दिलाते हैं। इसप्रकार जो कोई योग्य जीव सत्समागमके द्वारा समझेगा वह भी अपनी उत्कृष्ट पवित्र दशाको प्राप्त होगा।

सर्वज्ञ भगवानने प्रत्यक्ष ज्ञानसे जैसा जाना है, वैसा आत्मस्वभाव कहा है। पूर्ण पवित्र स्वतंत्र स्वरूप जैसा है वैसा कहा है। वह परम हितोपदेशक सर्वज्ञ वीतराग हैं। उनके इच्छा नहीं है। सहज दिव्यध्वनि खिरती है। वह सर्वज्ञ कथित परमतत्त्व (आत्माका सच्चा स्वरूप) यहाँ कहा जा रहा है। जीव यदि उस यथार्थताको न जाने तो कदापि बंधनसे मुक्ति अर्थात् स्वतन्त्रता और उसका उपाय प्रगट नहीं हो सकता। उसे समझे विना यह जीव अनन्तवार पुण्य, क्रियाकाण्ड इत्यादि कर चुका; किन्तु पराश्रय दृष्टिके कारण आत्म-धर्म नहीं हुआ।

आत्मा परसे निराला, निर्मल, पूर्ण ज्ञानानन्दघन है। मन, वाणी और देहादिके सम्बन्धसे रहित त्रिकाल तत्त्व है। आचार्य महाराज इस समयसार शास्त्रकी टीका करते हुए कहते हैं कि 'इस टीकाके फलस्वरूप मेरी वर्तमान दशाकी परम विशुद्धि हो, यही चाहता हूँ।'

आचार्य महाराजने महान् गम्भीर अर्थवाली स्पष्ट भाषा लिखी है। जैसे एक तार (टेलीग्राम) की डेढ़ पंक्तिमें यह लिखा हो कि 'रुई की पाँच हजार गांठें चारसौ पचासके भावमें खरीदो' इसे पढ़ने वाला उस डेढ़ पंक्तिमें समाविष्ट सारा भाव और तार देनेवाले व्यापारीका साहस इत्यादि सब (जो कि उस डेढ़ पंक्तिमें लिखा हुआ नहीं है) जान लेता है। बाजार भावसे अधिक भावमें खरीद करने वाला और खरीद कराने वाला दोनों कैसे हैं? कैसी हिम्मत वाले हैं? इसका परस्पर दोनोंको भरोसा है। किन्तु जो अपढ़ होता है, अजान होता है, उसे इसकी खबर नहीं होती। लेकिन जो जाननेवाला, जो पढ़ा लिखा और विचक्षण दृष्टि रखकर पढ़ने वाला होता है, वह दोनों तरफकी दोनों पेढ़ीके सभी भावोंको जान लेता है। ४४० का तो भाव चल रहा है, तथापि ४५० के भावसे इतनी बड़ी खरीद करने को लिखा है, इसमें किंचित् मात्र भी शंका नहीं उठती। यदि कोई अजान पढ़े तो वह उस बातको न माने। दुकान तो छोटीसी लेकर बैठा हो, और सब कुछ लेकर न बैठा हो, तथापि उसमें सारा वैभव

समाविष्ट है। इस प्रकार यदि पढ़ा-लिखा हो तो देख सकता है। इसी प्रकार सर्वज्ञके अनन्त आगमका रहस्य डेढ़ पंक्तिमें हो तो भी सम्यग्ज्ञानी उसे बराबर जान लेता है। आचार्य कहते हैं कि सर्वज्ञ भगवानकी वाणीके द्वारा आगत शुद्धात्मतत्वका उपदेश, उसकी व्याख्या करते हुए शुद्ध आत्मा ऐसा है, इस प्रकार ही है, यों शुद्ध आत्माकी सच्ची श्रद्धाकी दृढ़ताके द्वारा मेरी स्वरूपरमणता अर्थात् एकाग्रता होगी, परम विशुद्धि होगी, इसके लिए मेरी टीका (तत्वकी व्याख्या) है। उसके द्वारा स्वयं (आचार्य) अपना परम आनन्द प्रगट करना चाहते हैं।

यथार्थ वक्ताकी पहचान करके श्रोताओंको भरोसा रखकर खूब श्रवण-मनन करना चाहिए। समझनेकी पात्रता पहले चाहिए। कोई किसीको कुछ नहीं दे सकता। किन्तु विनयसे उपचारदृष्टिसे दिया हुआ कहा जाता है। आचार्य कहते हैं कि वस्तुस्वरूप द्रव्यस्वभावसे देखने पर त्रिकाल शुद्ध ही है। किन्तु वर्तमानमें चलने वाली प्रत्येक अवस्था चारित्रमोहके द्वारा निरन्तर मलिन हो रही है। वर्तमान अवस्थामें पूर्ण आनन्द नहीं है। (पूर्णदशा कृतकृत्य होनेके बाद पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं रहती) कर्मके निमित्तमें युक्त होनेसे जितना परवस्तुकी ओर जुड़नेका लक्ष करता है उतनी वर्तमान अवस्था मलिन दिखाई देती है। वर्तमानमें चलनेवाली अवस्थामें क्षण क्षण करके अनन्त काल व्यतीत होगया तथापि वह अशुद्धता अनन्तगुनी नहीं हुई है, जैसे पानी अनन्त काल तक गरम हुआ इसलिए त्रिकालके लिए गरम नहीं हो गया है, इसी प्रकार आत्मा द्रव्य-स्वभावसे नित्य शुद्ध ही है। उसमें वर्तमान अवस्थामें क्रोध-मान आदि वृत्तियां उठती हैं। आत्मा उतना नहीं है, इसलिए वह क्षणिक अशुद्धता-का रक्षक नहीं है प्रत्युत नाशक ही है और अनन्त गुणका स्वभावतः ही रक्षक है। उसे भूलकर जीव यह मानता है कि 'मैं रागी, द्वेषी, ममतावाला हूं, देहादि संयोगवाला हूं' किन्तु इससे वैसा पूर्ण नहीं हो गया है। वर्तमान अवस्थामें अग्निके निमित्तसे पानी गरम हुआ

दिखाई देता है, किन्तु वह स्वभावतः (उसका नित्य शीतलका भाव) उष्ण नहीं हुआ है। क्योंकि वह बहुत कालसे गरम है तथापि उसी समय उसमें शीतल होनेका स्वभाव है इसलिये उष्णताका नाश करके शीतल हो सकता है। इसी प्रकार आत्मा स्वयं अपनी भूलसे अपने को देहवान और उपाधिवान मानता है, फिर भी वह एकक्षणमें शुद्ध हो सकता है।

आत्माका स्वरूप किस प्रकार है, स्वभाव-विभाव क्या है, पुण्य—पापका भाव होता है वह क्या है, मेरा एकरूप स्वभाव क्या है? इत्यादि समझमें नहीं आता, इसलिए यह कठिन मालूम होता है। किंतु वह सब यहाँ पर बहुत सरल रीतिसे कहा जाता है। पानीका दृष्टांत सरल है। किन्तु आत्माका सिद्धान्त आत्मामें अनुभव रूपमें बिठाना आवश्यक है। कच्चे चनेमें मिठास भरी होती है। यदि उसे भूना जाय तो उसके भीतर जो मिठास भरी हुई है वह प्रगट होती है। उसमें जो मिठास थी वह प्रगट दशामें आई है। यदि भाड़के कड़ाहे, करछी और रेतीसे स्वाद आता हो तो कंकड़ोंको भूनो, उनमें से भी मिठास आनी चाहिए। कच्चे चनेमें अम्लता विद्यमान है, इसलिये उसका स्वाद नहीं मिलता और वह उग सकता है। किन्तु यदि उसे भून डाला जाय तो वह उग नहीं सकता और उसमें स्वाद भी आता है। इसी प्रकार आत्मामें शक्तिरूपसे पूर्ण आनन्द भरा हुआ है। उसमें वर्तमान अवस्थामें निमित्ताधीन होकर अज्ञानके कारणसे अम्लता रूपी आकुलताका स्वाद आत्माको आता है। जैसे चनेके भूनने से उसकी कचाईका नाश हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानाभ्यासके द्वारा स्वरूपकी दृढ़तासे अज्ञानका नाश हो जाता है। अपनी अप्रतीति ही वास्तवमें बंधन है। 'मैं कर्मोंसे बद्ध हूँ, पर-वस्तु मुझे बाधा पहुंचाती है,' यह माननेसे 'मैं स्वयं स्वाधीन हूँ' इस प्रकार मान-कर पुरुषार्थ करनेका अवकाश नहीं रहता।

आत्मा स्वयं ही अपने अबन्धक भावको भूलकर बन्धन-भाव करता है और स्वयं ही निजको पहिचान कर अन्तरंग स्थिरताके द्वारा

अशुद्धताको दूर करता है। जैसे वस्त्रका मूल स्वभाव मैला नहीं है, किन्तु पर-संयोगसे वर्तमान अवस्थामें मैल दिखाई देता है। यदि वस्त्र-के उज्ज्वल स्वभावका ज्ञान हो जाय तो उस मैलके संयोगका अभाव हो सकता है। इसी प्रकार पहले शुद्ध आत्माका पूर्ण-पवित्र मुक्तस्वरूप जाने, तो अशुद्धता दूरकी जा सकती है। इसलिए यहाँ टीकामें मुख्यतया शुद्ध आत्माका कथन किया गया है। और यों तो इसमें अचिन्त्य आत्मस्वरूपका गुण-गान किया गया है।

आचार्य महाराज कहते हैं कि-परके आश्रय, अवलम्बनसे रहित जैसा मेरा शुद्ध स्वरूप पूर्ण सिद्ध समान है, उसका दृढ़निश्चय करके और अब तुम्हारी पूर्णशक्तिको देखकर तुम्हें पूर्णका निश्चय कराता हूँ, उसकी स्पष्ट महिमा गाता हूँ। संसारमें प्रशंसा करने वालेकी दृष्टि और उसकी कीमत कितनी है यह जाननेके बाद उसकी प्रशंसा की कीमत करनी चाहिए। कोई किसीकी प्रशंसा वास्तवमें नहीं करता, किन्तु जो जिसके अनुकूल बैठता है, वह उसीकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार निन्दा करनेवाला भी अपने बुरे भावको प्रगट करता है। उसमें हर्ष या विषाद कैसा? सब अपनी अपनी भावना का फल पाते हैं। उसमें दूसरोंको क्या है?

जामें जितनी बुद्धि है उतनो देय बताय।
वाको बुरो न मानिये और कहाँसे लाय॥

अपनी भूलसे आत्मा स्वयं दुःखी होता है। आत्मा क्या है, इस-की खबर न होनेसे, अज्ञानी अज्ञान भावसे निन्दा करता है, उस व्यक्तिका उसमें कोई दोष नहीं है। वह व्यक्ति अर्थात् वह आत्मा क्षणभरमें बदल भी सकता है।

आचार्य कहते हैं कि—'मैं अपने अविनाशी शुद्धस्वरूपकी शुद्ध-दशाको प्रगट करना चाहता हूँ, जगतकी पूजा-ख्याति नहीं चाहता, क्योंकि कोई किसीको कुछ नहीं दे सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी सर्वशक्तिसे पूर्ण है। उस पूर्णके लक्ष्यसे धर्मका प्रारंभ होता है।'

अब मूल ग्रन्थकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए मंगलसूत्र कहते हैं—

वन्दित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइंपत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

अर्थः—आचार्य कहते हैं कि मैं ध्रुव, अचल और अनुपम इन तीन विशेषणोंसे युक्त गतिको प्राप्त सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलियोंके द्वारा कथित इस समयप्राभृतको कहूँगा।

यह महामंत्र है। जैसे बीनके नादसे सर्प डोलने लगता है, उसी प्रकार शुद्ध आत्माकी महिमाको कहनें वाला जो समयसार है, उसके कथनसे 'मैं शुद्ध हूँ' इस प्रकारके आनन्दमें आत्मा डोलने लगता है।

देह, मन और वाणी रूपी गुफामें छुपा हुआ यह आत्मा परमार्थ स्वरूप सर्वज्ञकी दिव्यवाणीका बोध और माधुर्य जानकर अपनी महिमा को ज्ञात करके निजस्वरूपको सुनने और सम्हालनेके लिए जागृत होता है। जैसे मंत्रके द्वारा सर्पका विष उतर जाता है, उसी प्रकार आत्मा परसे भिन्न रागादि सर्व उपाधि रहित, मुक्त है। ऐसी प्रतीतिके द्वारा अर्थात् सम्यग्ज्ञानरूपी मंत्रके द्वारा अज्ञानरूपी विष उतर जाता है।

संसारकी चार अध्रुवगतियाँ हैं। सिद्धगति पूर्ण पवित्र आत्मदशा है। वह ध्रुव है, अचल है, अनुपम है, इस प्रकारकी आत्माकी निर्मल दशाको प्राप्त जो सिद्ध परमात्मा हैं, उनके लिए जगत्के किसी भी पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती। उपरोक्त तीन विशेषणोंसे युक्त उत्कृष्टगतिको प्राप्त सर्व सिद्धोंको नमस्कार करके श्रुतकेवलियोंके द्वारा कहे गये इस शुद्धात्माके अधिकारको कहूँगा, ऐसा आचार्य महाराज कहते हैं। 'सर्व' 'अनन्त सिद्ध भगवान हो चुके हैं, यह कहनेसे सब मिलकर एक आत्मा हो गया मानना मिथ्या ठहरा।

'मैं उनको नमस्कार करता हूँ' इसका अर्थ यह है कि "मैं पूर्ण पवित्रदशाको ही नमस्कार करता हूँ, अन्य भावोंकी ओर नहीं जाता, संसारकी ओर किसी भी भावसे नहीं देखता" इस प्रकार

अपने पूर्ण साध्यको नमस्कार करके पूण शुद्धस्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय जो सर्वज्ञ भगवानके द्वारा बताया गया है उसीको कहना चाहते हैं।

श्रुत-केवली = भीतरके भावज्ञानमें पूर्ण सर्व अर्थ सहित आगमको जानने वाले। 'समय' = पदार्थ अर्थात् आत्मा। प्राभृत = भेंट। जैसे राजासे मिलनेके लिए जाने पर उसे भेंट देनी होती है, उसी प्रकार शुद्ध आत्माको अंतरंगमें मिलनेके लिए सम्यग्ज्ञानकी भेंट देनी होती है। टीकामें 'अथ' शब्द मंगलसूचक है। 'अथ' साधकताका द्योतक है। पूर्णताके लक्ष्यसे अपूर्व प्रारम्भ बताया है अर्थात् पहले अनन्तबार बाह्य साधनोंसे जो कुछ कर चुका है यदि वही हो तो वह अपूर्व प्रारम्भ नहीं है। यहां पर अपूर्व साधक दशाको प्रगट करनेकी बात है। संस्कृतमें 'अथ' का अर्थ 'अब' होता है। अनन्तकालसे जो मानता चला आ रहा है और जो कुछ भाव करता आ रहा है वह नहीं, किन्तु सर्वज्ञ भगवानने जो कहा है वही अब कहता हूँ। 'अथ' शब्द इसीका द्योतक है।

इसी अपूर्व प्रारम्भको समझे बिना यह जीव पुण्यके फलसे अनंतबार नवमें ग्रैवेयक तक गया। मैं स्वाधीन स्वरूप हूँ, परके आश्रयसे रहित हूँ, यह भूलकर जैनके महाव्रतादि भी धारण किये। वस्त्रके एक सूतसे भी रहित नग्न दिगम्बरदशा धारण करके उग्र शुभभाव सहित अनंतबार पंच महाव्रत पालन किये, उत्कृष्ट तप किया। किसीने अग्निमें जला दिया, तो भी किंचित् मात्र क्रोध नहीं किया। तथापि, सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि "ऐसा अनन्तवार करने पर भी धर्म प्राप्त नहीं हुआ। मात्र वह उच्च पुण्य करके स्वर्ग में गया। उसे स्वरूपकी पूर्ण स्वाधीनताकी यह बात नहीं जम पाई कि आत्मा परसे निराला है और पुण्य-पापकी उद्भूतवृत्तिसे परमार्थतः मैं भिन्न ही हूँ। मैं मनकी सहायतासे शुद्धदशाको प्रगट नहीं कर सकता।"

शास्त्रके प्रारम्भमें सर्वसिद्धोंको भावस्तुति और द्रव्यस्तुति

करके अपने तथा परके आत्माको सिद्ध समान स्थापित करके उसका विवेचन करते हैं। मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्तिसे मैं भिन्न हूँ, इस प्रकार शुद्धात्माकी ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्तिसे हट कर अन्तरंगमें स्थिर होना सो भाव-स्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है। इसमेंसे पहले अपना आत्मा सिद्ध परमात्माके समान है, इस प्रकार अपनेको स्थापित करके कहे कि मुझमें सिद्धत्व-पूर्णता है। किसीको भले ही यह छोटे मुँह बड़ी बात मालूम हो किंतु पूर्ण स्वरूपको स्वीकार किये बिना पूर्णका प्रारम्भ कैसे होगा ?

ज्ञानी कहते हैं कि 'तू प्रभु है'। इसे सुनते ही लोग बिचक जाते हैं और कहते हैं कि अरे! आत्माको प्रभु कैसे कहा! ज्ञानी कहते हैं—'सभी आत्मा प्रभु हैं।' बाह्य विषय कषायमें जिनकी दृष्टि है वे आत्माको प्रभु माननेसे इन्कार करते हैं। किन्तु यहाँ तो कहते हैं कि मैं सिद्ध हूँ, इस प्रकार विश्वास करके 'हाँ' कहो! पूर्णताके लक्ष्यके बिना वास्तविक प्रारम्भ नहीं होता। मैं पामर हूँ, मैं हीन हूँ, यह मानकर जो कुछ करता है उसके परमार्थतः कोई प्रारंभ नहीं होती। 'मैं प्रभु नहीं हूँ' यह कहनेसे 'ना' में से 'हां' प्राप्त नहीं होता। यदि कोई केंचुएको दूध-शक्कर पिलाये तो वह नाग नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई पहलेसे ही अपनेको हीन मानकर पुरुषार्थ करना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। नागका बच्चा केंचुएके बराबर होने पर भी फुफकारता हुआ नाग ही है। वह शक्तिशाली होता है। छोटा नाग भी फणिधर है। इसी प्रकार आत्मा वर्तमान अवस्थामें भले ही शक्तिहीन दिखाई दे तथापि स्वभावसे तो वह सिद्ध समान पूर्णदशा वाला है, इसलिए आचार्य महाराज पहलेसे ही पूर्ण सिद्ध, साध्यभावसे बातको प्रारंभ करते हैं। उन्हें कितनी उमंग है!

लोग भी पूर्णकी भावनाके गान गाते हैं। शादीके समय ममताभावसे गीत गाये जाते हैं कि 'मोतियन चौक पुराये' अथवा 'मोतियन थाल भराये'। भले ही घरमें एक भी मोती न हो किन्तु ऐसी भावना भाते हैं। इसी प्रकार कहते हैं कि 'हाथी झूमे द्वार पर।'

भले ही घरमें एक गाय भी न हो। बात यह है कि संसारी जीवोंके गीत अपनी ममता, स्नेह और अनुकूलताको लेकर होते हैं। इसी न्यायके अनुसार आत्मा स्वयं परसे भिन्न परिपूर्ण अखण्ड है। इसलिए वह पूर्णकी भावना प्रगट करता है। बाह्यमें कुलांट खाकर विकार में खड़ा है, इसलिए विकारमें पूर्णकी तृष्णा प्रगट करता है। 'मोतियन चौक पुराये, मोतियन थाल भराये' अथवा 'हाथी झूमे द्वार पर' इत्यादि अनन्त तृष्णाका भाव भीतरसे आया है। स्वयं अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है। उससे कुलाँट खाकर ऐसे अनन्त तृष्णा-के विपरीत भाव करता है।

कभी २ कहा जाता है कि 'आज तो सोनेका सूर्य उगा है।' भला यह प्रतिदिन नहीं और आज क्यों? जिस बातकी महिमाको जाना, उसीकी महिमाके गीत गाता है। उस संसारकी वृत्तिको बदलवाकर यहाँ पर पूर्ण पवित्रताकी भावना है! आचार्य देव कहते हैं कि जो अपूर्व आत्मधर्मको चाहता है, उसे 'मैं सिद्ध परमात्मा हूं' इस प्रकारकी दृढ़ता की स्थापना अपने आत्मामें करनी होगी। स्वयं पात्र होकर पूर्णकी वात सुनते ही 'हाँ' कहनी होगी। किन्तु जिसका सुंघनी, जर्दा या बीड़ीके विना काम नहीं चलता, उससे कहा जाय कि तू परमात्मा है तो वह इस बातको किस मनसे विठायेगा? 'पुण्य-का संयोग भी मुझे नहीं चाहिए, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, राग-द्वेष उपाधि मेरा स्वरूप नहीं है' इस प्रकार पूर्ण आत्माके निर्णयके द्वारा अपने आत्मामें और पर आत्मामें सिद्धत्वकी स्थापना करके कहते हैं कि मैं जिन्हें सुनाता हूँ वे सब प्रभु हैं। यह देखकर प्रभुत्वका उपदेश देता हूँ। आचार्य देव घोषणा करते हैं कि मैं पूर्ण पवित्र सिद्ध पर-मात्मा हूँ और तुम भी स्वभावतः पूर्ण ही हो, यह बात तुम्हे निस्सन्देह समझ लेनी चाहिए। प्रत्येक आत्मामें पूर्ण प्रभुत्व शक्ति भरी हुई है। ज्ञानी कहते हैं कि उसकी 'हाँ' कह। उससे इन्कार करने वाला प्रभुत्वदशाको कैसे प्रगट कर सकता है?

प्रश्नः—बहुतसे लोग कहते हैं कि हम परमात्मा हैं, तब इस

सम्बन्धमें आप क्या कहते हैं?

उत्तरः—ऐसी बातें करनेसे अन्तरंग अनुभवके साथ मेल नहीं बंठता। मनके पहाड़ेमें यह धारण कर रखा हो कि सात पंचे पेंतीस होते हैं, किन्तु ठीक मौका पर पहाड़ेका हिसाब न जमा सके तो उसका निश्चय किया हुआ ज्ञान किस कामका? इसी प्रकारमें राग-द्वेष मोहसे रहित पूर्ण प्रभु हूँ, इस प्रकार निरंतर अखण्ड स्वभावको प्रतीति न रहे तो मनका धारण किया हुआ विचार किस कामका?

आचार्य देव कहते हैं कि 'मैं प्रभु हूँ, पूर्ण हूँ' इस प्रकार निश्चय करके तुम भी प्रभुत्वको मानो और उस पूर्ण पवित्र दशाको प्रगट करनेका उपाय जिस प्रकार यहाँ कहा गया है उसी प्रकार उसे यथार्थ ग्रहण करो। कहा जाता है कि पूतके लक्षण पालनेमें मालूम होजाते हैं। यहाँ पर आचार्य देव कहते हैं कि हम प्रभु हैं और तुम भी प्रभु हो, पहले इस बातकी स्वीकृति जमती है या नहीं। कोई कहता है कि छोटी थैलीमें बड़ी थैलीके रुपये कैसे समा सकते हैं? किन्तु भाई! तू अनन्त ज्ञान-आनन्दरूप है, इसलिए तू इतना वड़ा 'प्रभु स्वरूप' है। ऐसी बात सुनकर समझकर और उसे जमाकर, अन्तरंगसे स्वीकार कर। यदि कोई भाग्यशाली पिता पुत्रसे कहे कि तू इतनी रकम लेकर अमुक व्यापार कर, तो वह 'हां' ही कहेगा। इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान और अनन्तज्ञानी आचार्योंने सभी आत्माओंको पूर्णतया देखा है। तू भी पूर्ण है, परमात्माके समान है। ज्ञानी स्वभावको देखकर कहते हैं कि तू प्रभु है, क्योंकि भूल और अशुद्धि तेरा स्वरूप नहीं है। हम भूलको नहीं देखते, क्योंकि हम भूल रहित पूर्ण आत्मस्वभावको देखने वाले हैं और ऐसे पूर्ण स्वभावको स्वीकार करके उसमें स्थिरताके द्वारा अनन्तजीव परमात्म दशा रूप हो चुके हैं, इसलिए जो तुमसे हो सकता है, वही कहा जा रहा है।

भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य पहले सिद्धोंको नमस्कार करके पहली

गाथाका प्रारंभ करते हैं। प्रत्येक आत्मा स्वभावसे सिद्ध समान है। अपने आत्मामें ऐसा निर्णय करके समयसारका स्वरूप कहते हैं। परमात्मस्वरूप सिद्ध पदको अपने आत्मामें और परके आत्मामें स्थापित करके कहूँगा, ऐसा अर्थ 'वन्दित्तु सव्वसिद्ध' में से निकलता है।

प्रत्येक प्राणी स्वतंत्र सुख लेना चाहता है। उसमें कोई बाधा उपाधि नहीं चाहता। आत्मा स्वभावसे शुद्ध है। उसमें मन, वचन-काय अथवा राग-द्वेष नहीं है। मुक्त स्वभाव वाले आत्माकी पहिचान-के साथ महिमा गाई जाती है। निर्धन आदमी धनवानकी प्रशंसा करता है। वहांपर धनवानके बड़प्पनका भाव उसके हृदयमें बैठा हुआ है। लक्ष्मीकी मिठास अनुकूल मालूम होती है, इसलिए उस अनुकूलताके गाने गाता है। अन्तरंगमें जो तृष्णा जमी है, उसके गीत गाया करता है। सामने वाले व्यक्तिकी तारीफ कोई नहीं करता। कहीं कहीं राजाको ईश्वरका अवतार कहा जाता है; किन्तु यह उपमा राजा कहे जानेवाले आदमीके लिए नहीं है, किन्तु उसके (प्रशंसकके) हृदयमें राजाके वैभवका प्रभाव है, इसलिए उसकी प्रशंसा करता है। इसी प्रकार जिसे सहजानन्द पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वभाव-के प्रति आदर है, वह सिद्ध भगवानके गीत गाता है। अर्थात् अपने आत्मामें जो पूर्ण सिद्ध स्वभाव जमा लिया है—स्थापित कर रखा है उसीके गीत गाता है।

आचार्यदेवने अद्भूत मंगलाचरण किया है। अखण्ड जिनशासन को जीवित रखा है। जो स्वतंत्रता लेना चाहता है, वह ऐसा पद चाहता है जो किसीके आश्रित न हो। सिद्धको वही वन्दना कर सकता है जिसके स्वाधीन परमात्मदशा जम गई है। जिसके हृदय-में यह बात जम गई है, वही भाव-वन्दना कर सकता है। 'मैं सिद्ध-स्वभाव पूर्ण पवित्र परमात्मा हूँ' ऐसी बात सुनते ही जिसके अन्तरंग-में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई है और जो जीव धर्मको समझना चाहता है, उसीकी यह बात है। शंकामें फँस जाने वालेके लिए नहीं है। वस्तुके स्वभावको धर्म कहा है। यहां वस्तुका अर्थ

आत्मा है। आत्माका स्वभाव, मन, वाणी, देह तथा रागादि–उपाधिसे रहित है। ऐसा शुद्ध चैतन्य आत्माका जो स्वभाव है सो धर्म है। जिसे यह स्वभाव प्रगट करना है वह सिद्धको पहिचानकर वन्दना करता है अर्थात् रागसे किंचित् मुक्त होकर एकाग्र हो जाता है।

प्रश्नः—सिद्ध किसे कहते हैं ?

उत्तरः—जिसके पूर्ण कृतकृत्य परमात्मदशा प्रगट हुई है, उसे सिद्ध कहते हैं।

भाव-वन्दना—'मैं पूर्ण ज्ञानघन एवं स्वभावसे निर्मल हूँ' ऐसे भाव सहित रागादिको विस्मरण करके अपने लक्षमें रागरहित अन्तरंगमें स्थिर होना सो अन्तरंग एकाग्रता अर्थात् भाव-वन्दना है। शुभलक्षी भक्ति-भाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्य वंदना है। उस द्रव्यस्तुतिमें यद्यपि अल्प रागका भाव है तथापि वह गौण है। पहले अपने और दूसरेके आत्मामें भी सिद्धत्व स्थापित करके सबको प्रभुके रूपमें स्थापित किया है। यही सर्वज्ञ वीतरागका प्रसिद्ध मार्ग है। अहा! कैसी अद्भुत बात है और कैसा अपूर्व उपदेश है। जिसकी पात्रता हो वह 'हाँ' कहे। जो दूसरेमें अर्थात् पुण्य-पापमें रुक जाये और परका अवलम्बन ले तथा इस प्रकार परकी ओर देखनेमें लग जाये, उसका सच्चा हित नहीं हो सकता। जो अच्छा करना चाहता है अथवा भला करना चाहता है वह सम्पूर्ण अच्छा करना चाहेगा या अपूर्ण ? सब सम्पूर्ण ही अच्छा करना चाहेंगे। इसलिए आत्माको पूर्ण माने बिना काम नहीं चल सकता। आत्माको पूर्ण मानने पर ही वह पूर्ण प्रगट होगा। अच्छा, ठीक, परमार्थ, कल्याण और आनन्द इत्यादि सब निर्मल निरुपाधिक दशा है जो कि अपनेमें विद्यमान है। जो सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्मदशाको याद करते हैं, उसका आदर करते हैं, उनकी आंतरिक दशा परमात्माके बराबर ही है। मुझे पूर्ण परमात्मस्वभाव ही आदरणीय है। दूसरे पुण्य-पापका अंश मुझे नहीं चाहिए। नित्य, निरावलम्बी, पूर्ण स्वभावकी श्रद्धा होनेके बाद शुद्धदृष्टिके द्वारा वह

सब मार्ग बना लेना। दृष्टि खुलनेके बाद अल्प राग रहेगा, किन्तु गुणको रोकने वाला वैसा राग नहीं रहेगा। यह विश्वास और रुचि वही कर सकता है जिसका शरीर, वाणी और मनकी प्रवृत्तिसे अहंकार उठ गया है। 'मैं पुण्य-पाप, उपाधि रहित, असंग ही हूं, ज्ञाता ही हूं,' जिसे ऐसा ज्ञान है वह सत्‌के प्रति अपनी रुचि प्रगट करता है। जिसे अन्तरंगमें—आत्मामें, परमात्माकी वात जम गई है, वह भविष्यकी अपेक्षासे साक्षात् सिद्ध ही है। जिन्हें मुक्तिकी वात सुनते ही पसीना आ जाता है और प्रभु कहते ही जो हाय-तोबा मचा देते हैं, उनके लिये ज्ञानी कहते हैं कि हम सबको प्रभुके रूपमें देखकर कह रहे हैं। क्षणिक उपाधिके भेदको सुनकर रुक मत जाओ। मैं तुमसे कहता हूं कि तुम सिद्ध समान प्रभु हो। जबतक हमको ऐसा विश्वास अपने आप नहीं हो जाता, तबतक सर्वज्ञ परमात्माके द्वारा कही गई वातें तुम्हारे अन्तरंगमें नहीं जम सकतीं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि मैं तुझे परम-सत्य सुनाऊँगा। उसे श्रवण करते हुए तू एक वार अंतरंगमें इतना स्वीकार कर कि श्रवण सम्बन्धी राग मेरा नहीं है। मैं अरागी, अखण्ड, ज्ञायक प्रभु ही हूं। दूसरी वात यह है कि जैसे सिद्धको सुनने इत्यादिकी इच्छा नहीं है, उसी प्रकार मुझे भी नहीं है। सिद्ध भगवानका आत्मा जितना वड़ा है, उतना मेरा भी है। ऐसा निर्णय कर। इस प्रकार यह-समयसार शास्त्र (आत्मस्वभावका) कथन है। इस शास्त्रको भाव वचनसे अर्थात् अन्तरंग एकाग्रतासे और द्रव्य वचनसे अर्थात् शुभभावसे कहूंगा। इसके वाद कहते हैं कि मैं अनुभव प्रमाणसे कहूंगा, उसे अवश्य स्वीकार कर लेना, कल्पना मत करना।

यहां एक दृष्टान्त देते हैं:—

पूर्वभवमें द्रोपदीका एक वनिक सेठके यहां विषकन्याके रूपमें जन्म हुआ था। उसमें यह विशेषता थी कि जो भी उसे पत्नीके भावसे स्पर्श करेगा, उसके शरीरमें विषैला दाह उत्पन्न हो जायगा। इसीलिए उस

विषकन्याका धनाढय पिता विचार करने लगा कि इस कन्याके साथ कौन विवाह करेगा? अपनी जातिका कोई भी व्यक्ति तो ग्रहण करेगा नहीं।

एक दिन मार्गमें एक पुण्य-हीन भिखारी जा रहा था। उसके वस्त्र फटे हुए, लकड़ी टूटी हुई और भिक्षा-पात्र फूटा हुआ था। तथा उसके शरीर पर मक्खियाँ भिनभिना रही थीं। उसे देखकर सेठने विचार किया कि इस भिखारीको अपने घर रखकर अच्छे कपड़े पहनाऊँगा, इसका श्रृंगार करूँगा और इसे धन देकर अपनी पुत्रीके साथ विवाह कर दूंगा। ऐसा विचार करके उसने अपने नौकरको वैसा करनेकी आज्ञा दी।

नौकर उस भिखारीको घरमें ले आया और उसे नये वस्त्राभूषण पहनानेके लिये उसके फटे–पुराने कपड़ोंको उतारने लगा, तब वह भिखारी बड़े जोरसे चिल्लाने लगा। उस भिखारीके जो वस्त्र और भिक्षा–पात्र इत्यादि फेंक देने लायक थे, उन्हें नौकर फेंकने लगा कि— वह अज्ञानी भिखारी और अधिक रोने–चिल्लाने लगा। सेठने उसके रोनेका कारण पूछा, तो नौकरने कहा कि मैं इसका पुराना वेश उतारता हूँ इसलिये यह चिल्लाता है। उसके पुण्य नहीं है, इसलिए वह पहलेसे ही घरमें प्रवेश करनेसे ही इन्कार कर रहा है और चिल्ला रहा है कि मेरे कपड़े इत्यादि उतारे जा रहे हैं; किन्तु वह यह नहीं सोच सकता कि भले आदमीके घरमें बुलाया है तो इसमें कोई कारण तो होगा!

सेठने जान लिया कि भिखारी पुण्य-हीन और अज्ञानी है, तथापि विश्वास उत्पन्न करनेके लिये उसका पुराना वेष-भूषा बाहर न फिकवाकर वहीं एक कौनेमें रख देनेको कहा। पश्चात् उसे स्नान करवाकर और अच्छे वस्त्राभूषणादि पहनाकर लग्न–मण्डपमें बिठाया। ज्यों ही उसका विष-कन्याके साथ हस्तमिलाप कराया गया ज्यों ही उसके शरीरमें विष-कन्याके विषका दाह उत्पन्न हो गया

भिखारीके पुण्य तो था नहीं, इसलिए उसने विचार किया कि मैं

इस कन्याको नहीं रख सकूंगा, इसलिए वह मध्यरात्रिमें उठकर उन तमाम नवीन वस्त्राभूषणोंको उतारकर और कोनेमें रखे हुए अपने उन फटे-पुराने वस्त्रोंको पहनकर वहांसे ऐसा भागा जैसे कसाईके हाथसे छूटकर कोई जानवर भागता है।

इस दृष्टान्तसे यह सिद्धान्त निकलता है कि संसारकी चौरासी-लाख योनियोंमें परिभ्रमण करनेवाले भिखारियोंको देख कर (जैसे उस सेठने नौकरको आज्ञा दी थी उसी प्रकार) केवलज्ञानी भगवानने धर्मसभास्थित मुनियोंको आज्ञा दी कि जगत्के जीवोंको यह सुनाओ कि सभी आत्मा प्रभु हैं, सिद्धस्वरूप हैं; तुम पूर्ण हो, प्रभु हो, इसलिए तुम्हारा ऐसा स्वरूप नहीं है कि जिससे तुम्हें पर की कोई इच्छा करनी पड़े। पर-पदार्थकी इच्छा करना भिखारीपन है। अधिक मांगे सो बड़ा भिखारी और थोड़ा मांगे सो छोटा भिखारी है। इसी प्रकार सभी जीव परवस्तुओंके छोटे बड़े भिखारी हैं।

लोग जबतक संसारकी प्रतिष्ठा देखते हैं, धन, घर इत्यादिका संयोग चाहते हैं, तबतक वे सब उस भिखारीके समान हैं। वे बाहरसे ऐसे बड़प्पनको ढूंढ़ते हैं कि जिससे कोई हमारी प्रतिष्ठाके गीत गाये, प्रशंसा करे और हम गण्यमान्य लोगोंमें गिने जाने लगें। ऐसे जो चौरासीके चक्करमें परिभ्रमण करने वाले भिखारी हैं, उनके लिए शाश्वत् उद्धारका उपाय बतानेके लिये तीर्थंकर प्रभुने संतोंसे कहा कि जगत्के लोगोंसे कहो कि तुम प्रभु हो। तुम अपनी पूर्ण स्वाधीन शक्तिकी महिमाको सम्हालो। हम तुम्हारा, तुम्हारी शुद्ध परिणतिके साथ लग्न (लीनता) कराये देते हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने मुनियोंसे कहा कि इन चौरासीके भिखा-रियोंको बुलाकर उनके हृदयमें उनका सिद्धत्व स्थापित करो और कहो कि तुम प्रत्येक आत्मा प्रभु हो, अनन्त पुरुषार्थ अनंतज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप हो। ऐसी पूर्ण स्वतंत्राकी बात सुनते ही जो आत्मार्थी हैं, पुरुषार्थी हैं, उन्हें तो सबसे पहले पूर्णके प्रति श्रद्धा हो जाती

है और वे पूर्णके प्रति अपूर्व रुचि दिखाकर विशेष समझनेका उत्साह दिखाते हैं। और उनका जो विश्वास करते हैं वे स्वाधीन-निज घरमें प्रवेश करते हैं। पश्चात् अल्प-रागरूप अस्थिरता रह जाती है, उसे कैसे टाला जाय ? उस पुरुषार्थको वह सम्हाल लेगा और निरन्तर अपने पूर्ण साध्यके गीत गायेगा। ज्ञानीके पाससे सुनकर स्वीकार करके और आत्मामें निर्णय करके कहेगा कि मैं पूर्ण सिद्ध समान परमात्मा हूँ, प्रभु हूँ। उसके पूर्ण सिद्धपद शक्तिरूपमें विद्यमान है। उसकी निर्मलताकी परिणति प्रगट करके वह मुक्तदशाके साथ परिणमन करेगा, अखंड आनंद प्राप्त करेगा, किन्तु भिखारीको अनादिकालसे परिभ्रमण करनेकी रुचि है। यदि उससे ज्ञानी कहे कि आत्मा पुण्य-पाप रहित प्रभु है, उसे शुभ विकल्पकी सहायताकी आवश्यकता नहीं है, तो वह इसे सुनकर चिल्लपों मचायेगा कि हाय ! हाय ! यह कैसे हो सकता है ?

किंतु एकवार तो श्रद्धा पूर्वक कह कि मुझे पुण्यादि कुछ भी नहीं चाहिए, क्योंकि सिद्ध परमात्मामें किसी उपाधिका अंश नहीं है, और मेरा स्वरूप भी वैसा ही है।

परके लिए जो चाह उत्पन्न होती है वह भी विकारीभाव है, मेरा स्वभाव नहीं है। इस प्रकार अन्तरंगसे एकबार स्वीकार करना चाहिए। किन्तु जो सुनते ही इन्कार कर देता है और चिल्लाता है, उसे संसारमें पुण्यादि पराश्रयकी मिठाससे भटकना अच्छा लगता है। उसे मुक्त होनेकी वात नहीं जमती। इसलिए कहता है कि इतने लम्बे समयसे हमारा जो किया कराया है, उस सब पर पानी फिरता है। इसलिए हमारे कृतपुण्यकी रक्षा करते हुए यदि कोई वात हो तो कहो ! किन्तु जो जैसा मार्ग हो उससे विरुद्ध कैसे कहा जा सकता है ? आत्मा तो परसे भिन्न चिदानन्द स्वरूप है। पुण्य-पापकी वृत्ति अथवा दया, हिंसाकी वृत्ति तेरा स्वरूप नहीं है। पहले ऐसा विश्वास कर, फिर शुभ वृत्ति भी आयेगी। किन्तु इसे सुनते ही

जो चिल्लाता है, इन्कार करता है, उसके मनमें भगवान्पनेकी मान्यता नहीं जमती।

जैसे पहले भिखारीके पूर्व-पुण्य नहीं था, इसलिए उसके मनमें सेठकी बात नहीं जमी, उसी प्रकार ज्ञानीने अनन्त दुःखसे छूटकर अनन्त सुखका उपाय बताया कि वहां वह सबसे पहले इन्कार कर बैठता है। क्योंकि उसे अपनी महत्ताका और पूर्णताका विश्वास नहीं है। अंतरंगमें पुरुषार्थ दिखाई नहीं देता, इसलिए वह भविष्यमें अनंत संसारका भिखारी रहना चाहता है। जितना वीर्य पुण्य-पापरूप बन्धन-भावमें लगा रहता है वह आत्माका स्वभाव नहीं है। जैसे हिंसा, झूठ, अव्रत आदि अशुभ भावसे पाप-बन्ध होता है उसी प्रकार दया, सत्य, व्रत आदि शुभ भावसे पुण्य-बंध होता है, धर्म नहीं। मात्र आत्माके शुभभावसे ही धर्म होता है। इस प्रकार पहली बातके सुनते ही अज्ञानी चिल्लाहट और घबराहट मचा देता है तथा कहता है कि इससे तो स्वर्ग या पुण्य भी नहीं रहा; हमें यह प्रारम्भमें तो चाहिए ही है; उसके बाद भले ही छोड़नेको कहो! किन्तु ज्ञानी कहता है कि उसे श्रद्धामें पहलेसे ही छोड़ दे। मैं सिद्ध समान हूं, मुझे कुछ नहीं चाहिए, इस प्रकार एक बार तो स्वीकार कर, फिर तू रागको दूर करनेका उपाय समझे बिना न रहेगा! तू मोक्षस्वरूप है, इसे एकबार स्वीकार कर।

आचार्यदेव मोक्षका मंडप तानकर तुझमें मोक्षपद स्थापित करते हैं। एकबार धर्म अर्थात् स्वभावका निश्चय कर, तो तुझे ऐसी महिमा स्वतः प्रगट हो जायगी कि मैं पूर्ण परमात्मा हूं। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं वैसा ही तू है। वर्तमान क्षणिक अपूर्णताको न देखकर अपने अविनाशी पूर्ण स्वभावको देख। यदि ऐसा विश्वास अन्तरंगमें लाये और उसकी महिमाको समझे तो वह सिद्ध परमात्मा हुए बिना न रहे। किन्तु जिसे पहलेसे ही यह विश्वास जमा हुआ है कि यहाँ न तो प्रभुता है और न पुण्यके बिना अकेला आत्मा रह सकता है, वह केवलीके पास रहकर भी कोराका कोरा ही रहा! वह क्रियाकाण्ड करके थक गया और पुण्यके भावमें चक्कर लगाता रहा। पुण्य तो

क्षणिक संयोग देकर छूट जायेगा। उससे आत्माको क्या मिलनेवाला है? मैं परसे भिन्न हूँ, पुण्यादिकी सहायताके विना अकेला पूर्ण प्रभु हूँ, इस विश्वाससे जिसने अन्तरंगमें काम नहीं लिया, वह पुण्यादिमें मिठास मानकर वाह्यमें संतुष्ट होकर रुक रहा है। मुक्तिकी श्रद्धाके विना पुण्य-वंध किया, किन्तु अवसर आने पर सत्यको सुनते ही चिल्लाता है कि ऐसा नहीं हो सकता। उसके मनमें यह वात नहीं जमती कि पुण्यादि अथवा परावलम्वन इष्ट नहीं है, अथवा कोई पर-वस्तु इष्ट नहीं है।

जिसकी रुचि होती है, उसकी भावनाकी हद नहीं होती। तू अखण्डानन्द अकेला परमात्मा प्रभु ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि सुनो! त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देवकी यह आज्ञा है कि पूर्णकी रुचि और अपार स्वभावको स्वतंत्ररूपमें घोषित करो। भाव और द्रव्यस्तुतिसे मोक्षके उपायका प्रारंभ होता है। परम कल्याण स्वयं ही अपने पूर्ण पदको मानने-जाननेसे और उसमें एकाग्र होने से ही होता है।

यह अद्भुत वात कही है। यह वात जिसके जम जाती है, उसके सव झगड़े दूर हो जाते हैं। सभी आत्मा सिद्ध समान प्रभु हैं और स्वतंत्र हैं। यह जाननेमें विरोध कहाँ है? जिसने सिद्ध परमात्माके साथ अपना मेल किया उसने यह जान लिया कि वह स्वयं सिद्ध समान है। तव फिर वह किसके साथ विरोध करेगा? सिद्धमें जो नहीं है वह मेरा स्वरूप नहीं है, और सिद्धमें जो कुछ है वह मेरा स्वरूप है। ऐसा परमात्मभाव दिखाई देने पर उससे विरुद्ध जो शुभाशुभ परिणाम दिखाई देते हैं, उन्हें निकाल देनेसे मात्र पूर्णस्वरूप रह जायगा। जिस-जिसने अपने पूर्ण परमात्मपदको पहिचानकर अपनेमें उसकी दृढ़ताकी स्थापना की है, वह पुण्य-पापादि अन्य किसीको स्थापना नहीं करेगा। लोकोत्तर-स्वरूपके माहात्म्यके लिये सिद्ध हमारे इष्ट हैं, उन्हें हम अपने आत्मामें स्थापित करते हैं, अखण्ड ज्ञायकरूप, निर्मल, निर्विकल्प, सिद्धत्व मेरा स्वरूप है और वह सदा रहेगा। इसके अति-

रिक्त जो शुभ-अशुभ रागकी वृत्ति उठती है वह पर है। यह जानकर जिसने यह स्थापित किया कि मैं सिद्धात्मा अशरीरी हूं, उसने अपनेमें महा-मांगलिक मोक्षका प्रारंभ किया है। और अपनेको भूलकर पूजा, व्रत, दान इत्यादिमें शुभभावके द्वारा जो कुछ पुण्य किया वह स्वामी-भावसे किया है, इसलिये वह परका बन्धन और अभिमान करता है।

आत्मा शुद्ध ज्ञाता है। उसमें पूर्ण प्रभुत्वको स्थापित किये बिना मुक्तिके लिए तीन काल और तीन लोकमें दूसरा कोई उपाय नहीं है।

भाव-वचनका अर्थ है-अन्तरंग एकाग्रता। द्रव्य-वचनका अर्थ है शुभभाव और शुभ विकल्प। इन दोनोंके द्वारा शुद्धात्माका कथन किया जायेगा।

आचार्य कहते हैं कि यह सिद्ध भगवान, साध्य जो शुद्ध आत्मा है, उसके प्रतिच्छन्दके स्थान पर है। साध्यका अर्थ है-साधन करने योग्य। जो पूर्ण निर्मलदशा है वह स्वरूप-साध्य है। धर्मीका ध्येय हितस्वरूप आत्माका सिद्ध स्वरूप है। अशरीरी शुद्ध आत्मा उसका लक्ष्य है। ध्येयका अर्थ है-निशान, साध्य। पूर्ण पवित्र सिद्ध स्वरूप आत्माका ध्येय आत्मा स्वयं ही है। जिसने यह निश्चय किया, वह सिद्ध भगवन्त सिद्धत्वके कारण, शुद्ध आत्माके प्रतिच्छन्दके स्थानमें है। मैं शुद्ध, चिदानन्द, पूर्ण, कृतकृत्य, परमात्मा हूं। इसी प्रकार ज्ञानमें उठता हुआ ज्ञानभाव स्वभावकी घोषणाके द्वारा कहता है कि हे सिद्धभगवान! आप परमेश्वर हैं। और उधर सामनेसे आवाज आती है कि आप परमेश्वर हैं। इस प्रकार मानों प्रतिध्वनित होकर उत्तर आता है। इसी प्रकार सिद्धभगवान प्रतिच्छन्दके स्थान पर हैं।

हे सिद्धभगवान्! आप मेरे स्वभाव स्वरूप हैं। हे सिद्ध परमात्मन्! मैं आपकी वन्दना करता हूं। इसी प्रकारकी प्रतिध्वनि ज्ञानमें प्रतिच्छन्दके रूपमें स्थापित हो जाती है।

सिद्ध तो कृतकृत्य होते हैं। उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं होता। मैं द्रव्यस्वभावसे सर्व जीवोंको सिद्ध परमात्माके समान देखता हूं।

सर्वज्ञ वीतराग जगत्के सभी प्राणियोंके लिए स्वतंत्रताकी घोषणा करते हैं। जो सिद्ध भगवानमें नहीं है, वह मुझमें नहीं है और जो सिद्ध भगवानमें है वह मुझमें है। इस प्रकारकी निःशंक दृढ़ता किसीके साथ बातचीत करते हुए अथवा किसी भी प्रसंग पर दूर नहीं होनी चाहिए। किसी भी क्षेत्रमें, किसी भी कालमें आत्माका विश्वास आत्मासे पृथक् अर्थात् विस्मरणरूप नहीं होता, ऐसी रुचि निरंतर रहनी चाहिए। धर्मी अपनेको निश्चयसे ऐसा ही मानता है कि जैसे सिद्ध परमात्माके संकल्प-विकल्प अथवा रागादिक कोई उपाधि नहीं होती, वैसे ही मेरे भी नहीं है। मैं अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, अनन्त गुण और अनन्त बलके द्वारा स्वाभाविक तत्त्व हूँ, क्योंकि मैं सिद्ध परमात्माकी जातिका हूँ। वे अनन्त ज्ञान-आनन्दके रसकन्द हैं, वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार पहिचान कर उनका चिन्तवन करके उन्हींके समान अपने स्वरूपका ध्यान करके योग्य संसारी जीव उन्हीं जैसे हो जाते हैं।

ध्यान करके अर्थात् त्रैकालिक निज शक्तिमेंसे खींचकर अंतरंग एकाग्रताके द्वारा अपनी पूर्ण पवित्र दशाको प्रगट करते हैं।

परसे भिन्न अपने परमार्थ स्वरूपकी जो प्रतीति है, सो निश्चय है और पुरुषार्थके द्वारा मोक्षमार्गको सिद्ध करना सो व्यवहार है। यहां पर-इसमें दोनों कहे गये हैं। पहले मैं सिद्धस्वरूप हूँ, परमात्माके समान ही हूँ, ऐसी जो द्रव्यदृष्टि है सो निश्चय है और उसमें भाव-वन्दनारूप स्वभावमें एकाग्र होकर अनन्त जीव सिद्ध भगवानके समान हो गये हैं सो मोक्षका उपाय है। उसे व्यवहार कहा जाता है।

यह अन्तरंगमें स्थिर होनेकी (एकाग्र होनेकी) ज्ञानकी क्रिया कही है। देहादि बाह्यकी प्रवृत्ति आत्माकी क्रिया नहीं है क्योंकि, जहाँ गुण हो, वहाँ अवगुण [दोष] दशा हो सकती है और वह परावलम्बी, क्षणिक विकारीभाव है। स्वभावकी स्थिरतासे उसे दूर किया जा सकता है। तीनों कालमें एक ही उपाय और एक ही रीति

है। अहो! कितनी विशाल दृष्टि है! प्रभु होनेका उपाय अपनेमें ही है! यथा:—

चलते फिरते प्रगट प्रभु देखूँ रे!
मेरा जीवन सफल तव लेखूँ रे!
मुक्तानन्दके नाथ विहारी रे!
शुद्धजीवन डोरी हमारी रे!

पुण्य-पाप इत्यादि जो पर हैं वे मेरे हैं। मैं परका कुछ कर सकता हूँ, इस प्रकारकी मान्यता पाप है। उसे जो हरता है सो हरि है, (हरि=आत्मा)। विशाल दृष्टिका अर्थ है स्वतंत्र स्वभावको देखने की सच्ची दृष्टि। मैं भी प्रभु हूँ, तुम भी प्रभु हो। कोई एक दूसरेके आधीन नहीं है। इस प्रकार जहाँ स्वतंत्र प्रभुत्व स्थापित किया, वहाँ किसके साथ वैर-विरोध रह सकता है? सबको पवित्र प्रभुके रूपमें देखनेवाला आत्माके निर्विकारी स्वभावको देखता है। वह उसमें छुटाई-बड़ाईका भेद नहीं करता। जगत्में कोई शत्रु उत्पन्न नहीं हुआ है; वैर-विरोध तो अज्ञानभावसे-कल्पनासे मान लिया गया है।

त्रैकालिक ज्ञानस्वभावमें जाननेरूप क्रिया होती है। उसे भूलकर परको अच्छा या बुरा मानकर आकुलता क्यों करता है? हे भाई! इस अनन्तकालमें दुर्लभ मानव-जीवन और उसमें भी महामूल्य सत्समागम तथा उनकी वाणीका श्रवण प्राप्त होता है, तथापि अपने स्वतंत्र स्वभावको न माने, यह कैसे चल सकता है?

बाप बेटेसे कहे कि 'बेटा! यह कमाईके दिन हैं। यदि अभी न कमायेगा तो फिर कब कमायेगा। अभी दो महिने परिश्रमसे बारह महीनेकी रोटियाँ निकल सकती हैं।' सो यह तो धूल समान है, किन्तु यहाँ त्रिलोकीनाथ वीतराग भगवान कहते हैं कि मनुष्य-जीवन और सत्यको सुननेका सुयोग प्राप्त हुआ है। मोक्षका मंडप तैयार है; तेरा सिद्ध-मुक्त स्वभाव है; उसमें तुझे स्थापित किया जाता है। उसमें कहीं भी वैर-विरोध नहीं है। चैतन्य आत्माके स्वभावमें विरोध

नहीं है, इसलिए मेरा स्वभाव भी वैर–विरोध रखना नहीं; है किंतु विरोध–दोषका नाशक है, क्योंकि सिद्धमें दोष नहीं हैं। पूर्ण होने से पूर्व पूर्णके गीत गाये हैं। जहाँ शंका है, वहीं रोना है। ज्ञानी तो प्रभुताको ही देखता है।

आत्माका पूर्ण अविकारी स्वरूप लक्ष्यमें लेना निर्मल परिणामी की डोरीका साध्य (लक्ष्य–ध्येय) शुद्धात्मा ही है। दूसरेके प्रति लक्ष्य नहीं करना है। ऐसे निर्णयके वाद जो अल्प अस्थिरता रह जाती है, उससे गुणका नाश नहीं होने देगा। संसारी योग्य जीवको सिद्धके समान स्थापित किया है। उसका आश्रय लेने वालेको बादमें उसमें यह सन्देह नहीं रहता कि मैं एकाग्रताके द्वारा निर्मलभाव प्रगट करके अल्पकालमें साक्षात् सिद्ध होऊँगा।

संकल्प-विकल्प और इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। मैं परसे भिन्न हूँ। इसप्रकार स्वतंत्र स्वभावको प्रगट करके जाग्रत होता है। उसमें कोई काल और कर्म वाधक नहीं होते। कर्म तो जड़-मूर्तिक हैं। वे स्वभावमें प्रविष्ट नहीं हुए हैं। क्योंकि आत्मा सदा अपने रूपमें है, पर रूपमें नहीं है। जो तुझमें नहीं है, वह तुझे तीन काल और तीन लोकमें हानि नहीं पहुँचा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपेक्षासे है, परकी अपेक्षासे नहीं है। इसलिए कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके हानि लाभका कारण नहीं है। तथापि विपरीत कल्पना करके विपरीत मान्यताने घर कर लिया है। जो यह कहता है कि मेरे लिए कर्म बाधक हैं, जड़–कर्मोंने मुझे मार डाला, उन्हें सुधरना नहीं है। तेरी भूलके कारण ही राग-द्वेष और विकाररूप संसार है। अपने बड़प्पनको भूलकर दूसरेको बड़प्पन देता है, मानों तुझमें पानी —(बल) ही नहीं। तू मानता है कि पर तुझे हैरान करता है या कुछ तुझे दे देता है, किन्तु ऐसा कभी नहीं होता। अपनेको पूर्ण और स्वतंत्र प्रभु न माने तो भी स्वयं वैसा ही है। अपने स्वभावसे विपरीत मानने पर भी स्वभाव कहीं बदल नहीं जाता। जो अपने आत्माको परमार्थतः सिद्ध समान जानकर निरन्तर ध्याता है, वह उन्हीं जैसा हो जाता है।

त्रिकालके ज्ञानी प्रथम ही शुद्ध आत्माकी स्थापनाका उपदेश देते हैं। जो साहूकार होता है, वह सोलहों आना चुकाता है; आठ आने वालेकी आड़ नहीं लेता। वह अशक्तकी बातको याद नहीं करता। वैसे ही मैं पूर्ण निर्मल सिद्ध समान हूँ और वैसा ही होने वाला हूँ। उसमें तीन काल और तीन लोकमें कोई विघ्न नहीं देखता। आत्माके लिए कर्म बाधक हैं, इस प्रकार चिल्लाहट मचाने वालेको भी याद नहीं करता, और जानता है कि इस प्रकार सिद्ध-स्वरूपका ध्यान करके अनन्त जीव सिद्ध होते हैं।

सिद्धगति कैसी है?= संसारकी चारों गतियोंसे विलक्षण (विपरीत लक्षण) पंचमगति अर्थात् मोक्ष है, उसे अनन्त जीवोंने प्राप्त किया है। जिसकी जैसी रुचि होती है वह उसीके गीत गाता है। इसी प्रकार ज्ञानी (धर्मात्मा) जगत्‌के सुपात्र जीवोंको अपने समान-सिद्ध समान बनाते हैं और कहते हैं कि ऐसे त्रिकाल अखण्ड स्वाधीनता-के आन्तरिक स्वभावमें से 'हाँ' कहकर उस बातको श्रवण करने वाले, तथा श्रवण कराने वाले सभी मोक्षके मोती हैं, तीर्थंकर भगवानने भी हमारा-तुम्हारा और सबका सिद्धत्व स्थापित किया है।

इस टीकामें परम अद्‌भुत अलौकिक बातें भरी पड़ी हैं। अपूर्व सत्‌की स्थापना करके सर्व प्रथम मोक्षका मंगलगान गाया है और यही सर्वोत्कृष्ट मंत्र है। उसकी घोषणा करके आचार्य महाराज संसार में सोये हुए प्राणियोंको जगाते हैं। जैसे बीनके नादसे सर्प जाग्रत होकर आनन्दसे डोलने लगता है, उसी प्रकार इस देह रूपी गुफामें त्रिलोकीनाथ आत्मा विराजमान है और तेरी महिमाके गीत गाये जा रहे हैं, तब फिर तू क्यों न नाच उठेगा? तू पूर्ण है, प्रभु है; इसे उमंगपूर्वक सुनकर एकबार मत्तहोकर कहदे कि मुझे इस पूर्ण स्वभाव-के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिए। सर्वज्ञ वीतराग भगवानने तो तेरी स्वतंत्राके विज्ञापनकी घोषणाकी है। जैसे राजा डोंडो पिटवा-कर घोषित करता है कि अब यहाँ मेरा राज्य है, इसी प्रकार ज्ञानी होकर और आत्मलीन होकर तू घोषित करदे कि मेरा सिद्धपदका

राज्य है और इसमें संसारपदका नाश है। हम पहले गद्दी पर बैठे हैं और घोषणाकी है; तू भी ऐसा ही कर।

अहा! पंचम कालमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने और श्री अमृतचन्द्राचार्यने अमृत वर्षाकी है। उसके श्रवणकी मिठास और माधुर्यका क्या कहना? जिसे सुनते ही तत्त्वके प्रति बहुमान उत्पन्न होता है कि अहो! ऐसी बात तो कभी सुनी ही न थी। कैसी स्पष्ट बात है! जिसके आत्मा में ऐसी निर्मल-स्पष्ट बात जम गई वह कभी पीछे नहीं रह सकता। मैं देख भाल कर कहता हूं कि यह स्वीकार कर कि मैं सिद्ध हूं और तू भी सिद्ध है। ऐसे सुपात्र जीवको ही यह रहस्य सुनाया है।

सिद्धगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है। उसे किसी बाह्य आश्रय या अवलम्बनकी आवश्यकता नहीं है। जो पराश्रयसे उत्पन्न होता है वह स्वाभाविक अर्थात् स्वाधीन नहीं कहलाता। इसलिये पर निमित्तके विना स्वभावसे उत्पन्न सिद्धगति ध्रुव और निश्चल है; चारों गतियां पर निमित्तसे अर्थात् पुण्य–पापमें, विकारके कारण संयोगसे उत्पन्न होती हैं, इसलिए देव, इन्द्र आदि पद मिले तो भी वह ध्रुव नहीं है। इसलिए चारों गतियाँ नाशवान हैं। और इसलिए इस पंचम गतिमें विनाशीकताका अभाव है।

और फिर वह गति अचल है। चैतन्य उपयोगमें अशुद्धता, चलता जो कि पर निमित्तसे अपनी भूलसे थी वह अपने स्वभावकी प्रतीति और पुरुषार्थसे सर्वथा नष्ट कर दी गई है। इसलिए अचल गति प्राप्त हुई है : पुनः अशुद्धता आने वाली नहीं है, इसलिए वह गति अचल है। जीव पहले परमात्मदशामें था, पश्चात् अशुद्ध हुआ है सो बात नहीं है। किन्तु अनादिकालसे अपनी ही भूलके कारण आत्मामें संसार दशा थी, उसका आत्मस्वभाव प्रतीतिसे सर्वथा नाश करके सिद्धगति प्रगट की है। वह कभी पलट नहीं सकेगी, इसलिए अचल है। प्रत्येक आत्माका स्वभाव ध्रुव, अचल और शुद्ध है, इसलिए यदि स्वभावके प्रति लक्ष हो तो अशुद्धता नहीं हो सकती। किन्तु यह जीव पर लक्षसे विकार करके चारों गतियोंमें अनादिकालसे

भ्रमण कर रहा है। यदि वह एकवार सिद्ध-ध्रुवस्वभावका आश्रय ले तो विश्रांति मिले। पुण्य-पापकी ओर का जो पर भाव है उसके निमित्तसे चौरासीमें परिभ्रमण हो रहा था। अब यदि वह स्वभावके घरमें आये तो शांति मिले। अज्ञानी जीव भी अपने द्वारा माने गये कल्पित घरमें आकर शांतिका अनुभव करते हैं।

जैसे एक आदमी धन कमानेके लिए परदेश गया। वहाँ वह एक नगर से दूसरे नगरमें और दूसरे नगरसे तीसरे नगरमें गया, वहाँ उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पश्चात् वह द्रव्य कमाकर अपने घर आया जहाँ उसे विश्रांतिका अनुभव हुआ और वह वहाँ पर जम गया, तथा विचार करने लगा कि इस जगह बंगला बनाना चाहिए. क्योंकि मुझे जीवन-पर्यन्त यहीं रहना है, किन्तु उसे यह खबर नहीं है कि उसकी आयु कब पूर्ण हो जायेगी और वह यहांसे कब, कहां चला जायेगा! ज्ञानी कहते हैं कि वह अपनी रुचि विचार और प्रवृत्तिके अनुसार दूसरे भवमें जायगा। यदि इस समय भवके अभावका निर्णय न किया तो यह जीवन किस कामका? विपुल द्रव्य कमाया और कदाचित् देवपद प्राप्त किया, तो भी किस कामका? जो सिद्ध भगवान ऐसी गति को प्राप्त हुए हैं, उस सिद्धपदको पहिचानकर उसे हृदयमें स्थापित कर वन्दना करते हैं। पहचाने विना कोरी वन्दना किस कामकी?

समय-सार अर्थात् आत्मा शुद्धस्वरूप है परनिमित्ताधीन जो शुभाशुभ वृत्तियां उठती हैं वे मूलस्वभाव नहीं हैं। जैसे—पानीका मूलस्वभाव निर्मल है, उसी प्रकार आत्माका मूलस्वभाव पवित्र, ज्ञान आनंद स्वरूप है। भूल और आकुलता आत्माका स्वरूप नहीं है। ज्ञाता, दृष्टा और स्वतंत्रताका भाव क्या है, यह बतलानेके लिये इस शास्त्रकी व्याख्याकी गई है। पहले "वन्दित्तु सव्वसिद्धे" कहकर प्रारंभ किया है। जिसकी पूर्ण पवित्र स्वभावदशा प्रगट हो गई है, उसे मुक्तदशा अर्थात् परमात्मभाव कहा जाता है। उसका अन्तरंगसे आत्मामें आदर होना चाहिए। जैसा परमात्माका स्वरूप है वैसा ही मेरा है। मैं उसका आदर करता हूँ। पुण्य-पाप आदिका आदर नहीं करता।

इस प्रकार अन्तरंगसे निर्णय होना ही प्रारंभिक धर्म है।

मैं बन्ध–विकार रहित हूँ। यह निश्चय करते ही मैं परमात्मा–सिद्ध समान हूँ, यह स्थापित किया अर्थात् सिद्धपरमात्माको भावसे अपने आत्मामें स्थापित किया, उसीका आदर करके 'मैं ही वैसा आत्मा हूँ, इस प्रकारका दृढ़ निश्चय करना सर्व प्रथम उपाय है, अथवा बंधन-से मुक्त होनेका मार्ग है। सिद्धभगवान नीचे नहीं आते; किन्तु जिसके अंतःकरणमें, ज्ञानमें ऐसी दृढ़ता हो गई कि मैं सिद्ध परमात्माके समान हूँ, उसके विरुद्धभावका नाश होकर ही रहता है।

श्रद्धासे मैं पूर्ण, परमात्मा, अशरीरी, अवन्ध हूँ; इस प्रकार मोक्ष स्वभावका निर्णय करनेके बाद अल्प राग–द्वेष और अस्थिरता रह सकती है। किन्तु वह उसे दूर करना चाहता है, इसलिए वह रहेगी नहीं; लेकिन दूर हो जायगी। उसके बाद मात्र पूर्ण आनंद रह जायेगा। यह समझकर ध्रुव, अचल, अनुपम गतिको अपनेमें देखकर भावमें एकाग्ररूप वन्दना करता है। जिस मोक्ष गतिको सिद्ध भग-वानने प्राप्त किया है वह अनुपम है, अर्थात् जगत्में जितने पदार्थ हैं, उसकी उपमासे रहित हैं। इसलिए जैसे उनमें कोई उपाधि अथवा कभी नहीं है वैसा ही मैं हूँ। इस प्रकार समझ कर परमात्माकी वन्दना करता है। इसलिए वह अपरमात्मत्व–विरोधभाव, राग–द्वेष और अज्ञानभावको आदर नहीं देना चाहता। एक पदार्थको दूसरे पदार्थ के साथ मिलाने पर किंचित् उपमा मिल सकती है, किन्तु भगवान आत्मा को जगत्की किसी भी वस्तुकी उपमा नहीं दी जा सकती। यह ऐसा परम अनुपम पद है।

अज्ञानीने जड़में आनन्द मान रखा है, किन्तु कहीं जड़में से सुख नहीं आता। मात्र कल्पनासे मान रखा है। उस कल्पनासे भिन्न अपना शुद्ध चिदानन्दरूप ज्ञातृस्वभाव है। उसीका आदर करे और उस स्वरूपमें स्थिरता करे तभी अनुपम मोक्षदशा प्रगट होती है। संसारके किसी पदार्थकी कोई उपमा उस दशाको नहीं दी जा सकती। जैसे–गायका ताजा घी कैसा है? यह पूछने पर उस

घी को दूसरे पदार्थकी उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उसकी ताजगी और उसकी मिठासकी उपमाके योग्य दूसरा पदार्थ नहीं मिलता। प्राय: सभीको घी प्रारम्भसे प्राप्त है। उसे कई बार चखा है, तथापि उसका स्वाद वाणीमें पूरा नहीं कहा जा सकता। तब फिर जो आत्मा परमानन्दस्वरूप, अतीन्द्रिय है, वह वाणीमें कैसे आ सकता है ?

आत्माका स्वरूप अनुपम है, इसलिए उसकी प्राप्ति और उसका उपाय बाह्य साधनसे नहीं हो सकता। 'पुण्यकी प्रवृत्ति अथवा मन' वाणी और देहकी प्रवृत्ति इत्यादि कोई मेरी वस्तु नहीं है, इसलिये मेरे लिए सहायक नहीं है। हित-अहितका कारण मैं ही हूँ। इस प्रकार धर्मात्मा अपने शुद्धस्वरूपको पहिचानकर वन्दना करता है, आदर करता है।

अज्ञानी जीव आमरस और पूरी तथा गुलाबजामुन इत्यादि खाता है, तब खाते खाते चप-चप आवाज होती है, उसमें वह लीन होकर स्वाद मानकर हर्षित होता है। किंतु वह आमरस, पूरी अथवा गुलाब-जामुन मुँहमें डालकर और चबाकर गलेमें उतारनेसे पूर्व दर्पणमें देखे तो मालूम हो कि मैं क्या खा रहा हूँ ? वह कुत्ते की कै (वमन) जैसा दृश्य मालूम होगा ! किन्तु रसका लोलुपी स्वाद मानता है और यह नहीं देखता कि मैं गलेमें क्या उतार रहा हूँ। मिठासकी उपमा देकर वह गद्गद् हो जाता है, किंतु यह नहीं सोचता कि धूल जैसे पर-माणुओंकी अवस्थाका वह रूपान्तर मात्र है। क्षणभरमें मिठाई, क्षणभरमें जूठा और क्षणभरमें विष्ठा हो जाता है। इसप्रकार परमाणु की त्रैकालिक वस्तुस्थितिको देखे, तो उसको परमें सुख बुद्धि न हो। और फिर परमें सुख है, ऐसी अपनी मानी हुई कल्पना किसी अन्य वस्तु में से नहीं आती; किन्तु अपने शुभ गुणको विकृत करके स्वयं हर्ष-विषाद मानता है और अच्छे बुरेकी कल्पना करता है। यदि उस विकारको दूर करदे तो पूर्ण आनन्दरूप मोक्षगति आत्मामें से ही प्रगट होती है। उसके लिए कोई उपमा नहीं मिलती। विकार अथवा उपाधिरूपमें नहीं हूँ, इस प्रकार पहले श्रद्धासे विकारका त्याग करना चाहिए।

जैसे गुड़ और शक्कर दोनोंकी मिठासका अनुभव होता है और उन दोनोंकी मिठासका पृथक्-पृथक् अन्तर भी ज्ञानमें जाना जाता है, किन्तु वाणी द्वारा सन्तोषकारक वर्णन नहीं किया जा सकता। -इसीप्रकार सिद्धपद ज्ञानमें जाना जाता है, किन्तु वह कहा नहीं जा सकता। सबसे अनुपम, आत्माका पवित्र स्वरूप वह अचिन्त्य पद सबसे विलक्षण है। इस विशेषणसे यह बताया गया है कि चारों गतियों में जो परस्पर किसीप्रकार समानता दिखाई देती है, वैसा कोई प्रकार इस पंचमगतिमें नहीं है। मोक्षमें

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नारकी; ये चारों गतियाँ सदा विद्यमान हैं, कल्पित नहीं हैं। वे जीवोंके परिणामका फल हैं। जिसने दूसरेको मार डालनेके क्रूर भाव किये उसने अपनी अनुकूलताके साधनके लिए बीचमें विघ्न करनेवाले न जाने कितने जीव मार डाले, उनकी संख्याकी कोई सीमा नहीं है। तथा मैं कितने काल तक मारता रहूँगा, इसकी भी सीमा नहीं है। इसलिए उसका फल असीम–अनन्त दुःख भोगना ही है। और उसका स्थान है नरक। यह कहीं वृथालाप नहीं है। जो भी प्रतिकूलताको दूर करना चाहता है वह अपने तमाम बाधक-विरोधियोंको मारना चाहता है। भले ही मरने वाले अथवा बाधा डालने वाले दो चार हों या बहुत हों, वह सबको नाश करनेकी भावना करता है। उसके फलस्वरूप नरक–गति प्राप्त होती है। यह कोरी गप्प नहीं है। देह, मकान, लक्ष्मी, प्रतिष्ठा इत्यादि सब मेरे हैं, इसप्रकार जो मानता है, वह पर में ममत्ववान होता हुआ महा हिंसाके भावको सेवन करता है। क्योंकि उसके अभिप्रायसे अनन्त काल तक अनन्त भव धारण करनेके भाव विद्यमान हैं। उन भावोंकी अनन्त संख्यामें अनंत जीवोंको मारनेका उनके संहार करनेका भाव है। इसप्रकार अनन्त काल तक अनन्त जीवोंको मारनेके और उनके बीच बाधक होनेके भावोंका सेवन किया है। जिसके फलस्वरूप तीव्र दुःखके संयोगकी प्राप्ति होती है और वह नरकगति है। लाखों हत्यायें करने वालेको लाखों बार फाँसी होना इस मनुष्यलोकमें संभव नहीं है। यहाँ उसे अपने क्रूर भावोंके अनुसार

पूरा फल नहीं मिलता; इसलिए वहुत काल तक अनंत दुःख भोगनेका क्षेत्र नरक स्थान शाश्वत् विद्यमान है। युक्ति पूर्वक उसे सिद्ध किया जा सकता है। तिर्यंचोंके वक्र शरीर होते हैं। उन्होंने पहले कपट या वक्रता वहुतकी थी; वे मध्यम पाप करके पशु हुए हैं। मनुष्योंके भी मध्यम पुण्य है। देवोंको वहुतसे पुण्यका फल प्राप्त है, इसलिए मनुष्यों के साथ आंशिक पुण्यकी उपमा मिलती है। किंतु पुण्य, पाप और विकार भावसे रहित मोक्षगति अनुपम है। इसलिये उस पंचमगतिसे विरोधी भाव-पुण्य पाप, देहादिकी जो क्रिया है उससे मुक्ति नहीं मिलती। क्योंकि जिस भावसे वंधन मिलता है उसी भावसे मुक्ति नहीं मिल सकती। और उससे प्रारंभ भी नहीं हो सकता। जिस भावसे मुक्ति होती है, धर्मका प्रारम्भ होता है, उससे किंचित् मात्र वन्धन नहीं होता। इसलिए मोक्षके मार्गको भी किसी पुण्यादिककी उपमा नहीं मिलती, क्योंकि पुण्य-पापकी सहायताके विना वह आंतरिक मार्ग है। वह वाह्य क्रियाकाण्डका मार्ग नहीं है। अतः आत्मस्वभाव में धर्म-साधनके लिए प्रारंभमें ही पुण्य-पापकी उपाधिसे रहित पराश्रय-हीन स्वतंत्र सिद्ध परमात्माका स्वभाव ही एक उपादेय है, ऐसा मानना होगा। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसके स्वरूपमें स्थिरता करनेरूप अन्तरंग क्रिया ही स्वतंत्र उपाय है। यह समझकर अंतरंगमें स्थिर हो जाना चाहिए। यह अन्तरंग स्वभाविक क्रिया है। निर्णयमें पूर्ण स्थिरता उपादेय है, किन्तु साधक एक साथ सारी स्थिरता नहीं कर सकता, इसलिए क्रम होता है। मोक्षमार्गकी भी वाह्य शुभप्रवृत्ति के साथ कोई समानता नहीं है। इसलिए मोक्ष और मोक्षमार्गको कोई उपमा नहीं दी जा सकती; क्योंकि दोनों स्वरूप और आत्माके परिणाम आत्मामें ही हैं। मोक्ष और मोक्षका उपाय दोनों पराश्रयरहित स्वतंत्र हैं। परसे भिन्न जो मुक्तिस्वरूप अपनेमें निश्चय किया, उसमें मन, इन्द्रिय इत्यादि कोई वाह्य वस्तु साधन नहीं है। इसी प्रकार उसके चारित्रमें भी समझना चाहिए। इसलिए मोक्षके साधनरूपमें, अंतरंग में तू है और साध्य-पूर्ण पदमें भी तू है। उसकी श्रद्धा, उसका

साधक

अन्तर्ज्ञान और उसरूप स्थिरताका चारित्र एवं उसकी एकता और उसके फल इत्यादिके लिए कोई उपमा लागू नहीं होती।

मोक्षगतिका नाम अपवर्ग है। धर्म, अर्थ और काम वर्ग हैं। उससे रहित अपवर्ग कहलाता है।

यहाँ पर धर्म, आत्माके स्वभावके अर्थमें नहीं किन्तु पुण्यके अर्थमें है। दया, दान, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं। मोक्षगति और उसके प्रारम्भका मार्ग पुण्यादि शुभसे परे हैं। हिंसादि पापोंको छोड़नेके लिये शुभभावके द्वारा पुण्य होता है। वह भी आंतरिक धर्ममें सहायक नहीं है। अर्थात् रुपया पैसा भी ममताका वर्ग है।

काम अर्थात् पुण्यादिकी इच्छा भी एक वर्ग है। यह सभी वर्ग संसार सम्बन्धी हैं। काम भोगकी वासनासे मोक्षगति भिन्न है। ऐसे वर्गसे भिन्न मोक्षरूप शुद्ध, सिद्ध कृतकृत्य पंचमगति है। इसप्रकार अन्तरंगमें निश्चय करके स्थिर होनेवाले अनन्त आत्मा उस गतिको प्राप्त हुए हैं। इसलिए तुम भी अन्तःकरणमें अर्थात् ज्ञानस्वरूपसे सिद्ध परमात्मदशाको पहिचान कर उसका आदर करो, तो उसमें स्थिरताके द्वारा मोक्षदशा प्रगट होगी। रुपये–पैसेसे, पुण्यसे, अथवा परके आश्रयसे अविकारी आत्माका स्वभाव नहीं मिलता। किन्तु यदि कोई आत्माको समझे तो उससे मिलता है। सम्पूर्ण स्वतंत्रताकी यह कैसी सुन्दर बात कही है।

ऐसे सिद्ध परमात्माकी पहिचान कराके, स्व-परके आत्मामें सिद्धत्व-को स्थापित करके, पुण्य-पापसे रहित-पराश्रय रहित, शुद्ध आत्माका ही आदर करनेको कहा है। यहाँ पर प्रथम निर्णय या श्रद्धा करनेकी बात है। पश्चात् राग-द्वेष घटानेका कार्य और अंतरंग स्थिरता अर्थात् चारित्र क्या है यह स्वमेव समझमें आजायेगा; और उससे रागको दूर करनेवाले ज्ञानकी क्रिया अवश्य होगी। किंतु आत्माकी सत्ता कैसी होती है यह ज्ञात न हो तो उपयोग अन्यत्र चक्कर लगाता रहता है। और मानता है कि मैंने इतनी क्रिया की है इसलिये मुझे धर्मलाभ

होता है। किन्तु ज्ञानी इसे नहीं मानता और कहता है कि हे भाई! पहले तू अपनेको समझ। आचार्यदेवने ग्रंथका वहुत ही अद्भुत प्रारंभ किया है। और कहा है कि पहले सच्ची समझको पाकर अपनी स्वतंत्रताका निर्णय कर। इससे तुझमें पूर्णताका स्थापन किया है।

कोई कहता है कि यह तो छोटे मुँह वड़ी वात हुई। अभी मुझमें कोई पात्रता नहीं है और मुझे भगवान वना देना चाहते हैं? किंतु अभी 'हाँ' कह कर उसका आदर तो कर। तू परम शुद्धस्वरूप है। थोड़ी सी वातमें (अच्छे-बुरेसे) अटक जानेमें तुझे शुद्ध आत्माका प्रेम कहाँसे हो सकता है? जिसे देहादिमें अत्यधिक आसक्ति है, उसे ऐसा पवित्र ज्ञाताद्दष्टा पूर्ण आनन्दस्वरूप कैसे जमेगा? किन्तु एकवार तो इस ओर कुलाँट लगा! यदि सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये सत्यको सुनना चाहता है तो वह स्वीकार कर कि जैसे परमात्मा पूर्ण पवित्र हैं वैसा ही तू भी है। इसे स्वीकार कर; इन्कार मत कर! पूर्णका आदर करनेवाला पूर्ण हो जायगा। मैं विकार रहित हूँ और तू भी विकार या उपाधि रहित ज्ञानानन्द भगवान है। इसप्रकार अपने आत्मामें भगवत्ता स्थापित करके-निर्णय करके मोक्षगति कैसी है, यह सुनाते हुए आचार्यदेव मोक्ष-मंडलीका प्रारंभ करते हैं। और कहते हैं कि अव परमपूज्य सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे हुए तत्त्वको कहता हूँ, सो सुनो।

समयका प्रकाश अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थका वर्णन करनेवाला जो प्राभृत यानी अर्हत् प्रवचनका अवयव (सर्वज्ञ भगवानके प्रवचनका अंश) है उसका मैं अपने और तुम्हारे मोह तथा कालुष्य का नाश करनेके लिये विवेचन करता हूँ।

जिसमें राग-द्वेष, अज्ञान नहीं है वे पूर्ण ज्ञानी परमात्मा हैं। उनके मुखकमलसे (वाणीसे) साक्षात् या परम्परासे जो प्रमाणरूप मिला है उसे ही मैं कहूँगा; कुछ अपने घरका-मनमाना नहीं कहूँगा। जैसे कोई मकान खरीद कर दस्तावेज लिखवाता है, तो उसमें पूर्व, पश्चिम आदिकी निशानी लिखवाता है, और इसप्रकार तमाम प्रमाणको निश्चित

कर लेता है। उसमें चाहे जिस आदमीके दस्तखत नहीं चल सकते। इसीप्रकार आचार्यदेव यहाँ कहते हैं कि मैं सर्वज्ञके आगम-प्रमाण-से यह 'समयप्राभृत' शास्त्र कहूँगा। मुझे कुछ मनमानी, ऊपरी या व्यर्थ की बातें नहीं कहना है किंतु जो कहूँगा वह साक्षात् और परम्परासे आगत परमागमसे ही कहूँगा। उसमें सम्पूर्ण प्रमाणपूर्वक सम्पूर्ण सत्य बताऊँगा। जैसे दोजका चन्द्रमा तीन प्रकारोंको बताता है—दोज की आकृति, सम्पूर्ण चन्द्रमाकी आकृति और कितना विकास शेष है; इसीप्रकार यह परमागम आत्माकी पूर्णता, प्रारंभिक अंश और आवरणको बतलाता है। अनादि, अनन्त, शब्दब्रह्मसे प्रकाशित होने से, सर्व पदार्थोंको साक्षात् जाननेवाले सर्वज्ञके द्वारा प्रमाणित होनेसे, अर्हन्त भगवानके मुखसे निकले हुये पूर्ण द्वादशांग भागको प्रमाण करके अनुभव प्रमाण सहित कहते हैं; इसलिये वह परमागम सफल है। उसमें जगत्के सर्व पदार्थोंका विशाल वर्णन है। ऐसी वाणी साधारण अल्पज्ञ प्राणीके मुखसे नहीं निकल सकती।

जहाँ दो चार गाड़ी ही अनाज उत्पन्न होता है उसके रखवालेको अधिक अनाज नहीं मिलता, किन्तु जहाँ लाखों मन अनाज पैदा होता है उसके सेवकको बहुत सा अनाज मिल जाता है, इसीप्रकार जिसके पूर्ण केवलज्ञान दशा प्रगट नहीं है ऐसा अल्पज्ञ ज्ञानी थोड़ा ही कह सकता है, और उसके सेवक (श्रोता) को थोड़ा ही प्राप्त होता है, तथा दोनोंको एक सा ही प्राप्त होता है। इसीप्रकार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवके केवलज्ञानकी खेती हुई है, इसलिये वहाँ अनन्त भाव और महिमाको लेकर वाणीका बोध खिरता है। उसके सुनने वाले—सेवक गणधरदेव हैं। वे बहुत कुछ ग्रहण करके ले जाते हैं।

सर्वज्ञ भगवान, तीर्थंकर, देवाधिदेवका प्रवचन निर्दोष है। उनकी सहज वाणी खिरती है। मैं उपदेश दूँ, इसप्रकारकी इच्छा उनके नहीं होती। जैसे मेघकी गर्जना सहज ही होती है उसीप्रकार 'ॐ'कार की भी सहज ध्वनि उद्भूत होती है; वह द्वादशांग सूत्ररूपमें रची

जाती है। ऐसे जिनागम या जिनप्रवचन कहा जाता है। उस शास्त्रके फलस्वरूप हम अनादिकालसे उत्पन्न मोह, राग, द्वेष आदिका नाश होना कहेंगे। संसारमें पुण्य, देह, इन्द्रिय आदि मेरे हैं, यह अनादिकालीन अज्ञानभाव है। यह बात नहीं है कि जीव पहले शुद्ध आनंदरूप था और बादमें अशुद्धदशा वाला हो गया है। किन्तु मेरी वर्तमान प्रगट अवस्थामें अशुद्धता भी है, और त्रिकाल द्रव्यस्वभावमें पूर्ण शुद्धत्व भी है। इसका वर्णन आगे अनेक प्रकारसे आयगा। वह वर्णन स्व-परके मोहका नाश करनेके लिये है। इस शास्त्ररचनामें पुजवाने, मान-बड़ाई तथा मतमतांतरकी वाड़ बांधनेका अभिप्राय नहीं है।

परिभाषणका अर्थ है-यथास्थान अर्थके द्वारा वस्तुस्वरूपको सूचित करनेवाली शास्त्र रचना। पुरुषकी प्रामाणिकता पर वचनकी प्रामाणिकता निर्भर है। केवलज्ञानी निर्दोषस्वरूप निश्चित होने पर उनके वचनसे परमार्थ-सत्यस्वरूप जाना जा सकता है। शब्दसे अर्थ ज्ञात होता है। जैसे 'मिश्री' शब्दसे मिश्री नामक पदार्थका ज्ञान होता है उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवानकी वाणीसे वाच्य पदार्थका स्वरूप ज्ञात होता है। आगमका अर्थ है शास्त्र, ज्ञानकी मर्यादा है पूर्णस्वभाव सहित जानना। यह समयसार शास्त्र अनेक प्रकारसे सर्वोत्तम प्रमाणताको प्राप्त है।

किन्तु जिसकी बुद्धिमें दोष है उसे शास्त्रकी बात नहीं जमती, वह निषेध करता है। वादविवाद या तर्कसे वस्तुका पार नहीं आ सकता। पत्थरकी कसौटी हो तो सोनेकी कीमत हो, किन्तु कोयले पर सोनेकी परीक्षा नहीं हो सकती। उसीप्रकार सर्वज्ञके अपूर्व न्याय (वचन) पात्र जीवोंको हृदयकी परीक्षाके द्वारा निश्चय होते हैं। कदाग्रही अपात्रसे निश्चय नहीं हो सकता। आचार्यदेव इस शास्त्रकी महत्ता-प्रतिष्ठा करते हुये कहते हैं कि 'सर्वज्ञ भगवानने ऐसा कहा है और वह अनादि-अनन्त परमागम शास्त्र चला आ रहा है, उसीका यह भाग है।" मनुष्यकी समझमें नहीं आता तब वह कहता है कि-यह

नया है, यह मिथ्या है; इत्यादि। किन्तु किसीके कहनेसे कुछ मिथ्या नहीं हो जाता।

पहले अनन्त भव धारण किये हैं, उनमें यह बात अनन्त कालमें भी कभी सुननेको नहीं मिली कि आत्मा परसे निराला है। यदि कभी अच्छा समागम मिलता है, सत्य सुननेको मिलता है तो सबसे पहले इन्कार कर देता है। जैसे लक्ष्मी टीका करने आती है तो अभागा मुँह धोने चला जाता है, इसी प्रकार वह ऊँची बात सुनकर मोक्षकी बात सुनकर पहले ही इन्कार करता है कि हम तो पात्र नहीं हैं; किन्तु आचार्यदेव सबकी पात्रता बताते हुये कहते हैं कि तुम अनन्तज्ञानस्वरूप भगवान हो, स्वतंत्र हो।

जैसे बहुत समयसे पानी गरम किया हुआ रखा हो तथापि वह साराका सारा सत्व उष्णरूप नहीं हो गया है; अनित्य उष्ण अवस्था होने पर भी उसका शीतल स्वभाव विद्यमान है। यदि वह चाहे तो जिससे गरम हुआ है उसीको मिटा सकता है। अग्निको बुझानेकी शक्ति पानीमें कब नहीं थी? वह तो उष्ण होकर भी अग्निको बुझा सकता है; अपने स्वभावको व्यक्त कर सकता है। इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल पूर्णज्ञान-आनन्द स्वरूप है। देह, इन्द्रिय, राग-द्वेष और पुण्य-पापकी अनित्य उपाधिरूप नहीं है। जड़कर्मके निमित्ताधीन वर्तमान क्षणिक अवस्थामें रागकी तीव्रता-मंदता मालूम होती है, उसे नष्ट करनेकी शक्ति आत्मामें प्रतिक्षण स्वाधीनतया विद्यमान है। इसलिये यह बात स्पष्ट समझमें आ जायगी कि जैसे गर्म पानीका घड़ा यदि टेढ़ा होकर अग्निपर कुछ गर्म पानी गिर जाय तो अग्नि बुझ जाती है, और फिर शेष पानी ठण्डा हो जाता है; और तब पानीके स्वभाव पर विश्वास जम जाता है। कोई कहता है कि हम तो कर्मके संयोगके वशमें पड़े हुये हैं, क्या करें; कर्मोंका जोर बहुत है, कर्म हैरान करते हैं; किसे खबर है कि कल कर्मका कैसा उदय आयगा! इसलिये हमें तो रुपयों-पैसोंकी सम्हाल करनी चाहिये; इत्यादि।

इसप्रकार जो कर्म दिखाई नहीं देते उनका तो विश्वास है और सदा स्वयं सबको जाननेवाला होने पर भी अपना विश्वास नहीं करता ! भविष्यके फलकी कारणरूप अप्रगट शक्तिका विश्वास करता है, पर-का विश्वास करता है और इधर प्रगट अपनी सुध नहीं है ! इसलिये सत्की बात सुनते ही कह उठता है कि हम अभी पात्र नहीं हैं। अतः आचार्यदेव उन्हींको उपदेश देते हैं जो यह स्वीकार करें कि आत्मा त्रिकाल ज्ञायक है परसे भिन्न, और स्वरूपसे पूर्ण है, शक्तिमें सिद्ध भगवानने समान है। पहले श्रद्धासे पूर्णका आदर करनेकी बात है। अनन्त जीव इसे स्वकार करके मोक्ष गए हैं। शास्त्रमें कहा है कि 'कालका कठियारा अपूर्व प्रतीति करके ४८ मिनिटमें मोक्ष गया, इसी प्रकार और भी अनन्त जीव मोक्ष गए हैं; उन्हें तो याद नहीं करता और कर्मको यह कह कर याद किया करता है कि ढके-मुँदे कर्मोंकी किसे खबर है? ऐसे अपात्र जीवोंको यहां नहीं लिया है। जिन्होंने ज्ञानीसे सुनकर आत्म-प्रतिती की है कि अहो ! मैं ऐसा शुद्ध पूर्ण आत्मा हूँ, मेरी भूलसे अनन्त शक्ति रुकी हुई थी; ऐसी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरताके द्वारा ४८ मिनिटमें ही अनन्त जीव मोक्षको प्राप्त हुये हैं। उनके हजारों दृष्टांत शास्त्रोंमें विद्यमान हैं। उनका स्मरण करके मैं भी वैसा हो जाऊँ' इस प्रकार विश्वास लाना चाहिये। किन्तु अज्ञानी जीव उसका निर्णय नहीं करता और परका निर्णय करता है। जो बात जम गई है उसीके विश्वासके बलपर उसमें संभावित विघ्नको वह याद नहीं करता। परवस्तुका तो विश्वास है, किंतु तू उससे भिन्न, अखण्ड, ज्ञायकतत्व है यह सुनाने पर भी उसका विश्वास अथवा रुचि नहीं करता, और कहता है कि 'हम पात्र नहीं हैं!' छूटनेकी बात सुनकर हर्ष क्यों नहीं होता? योग्य जीव तो तत्वकी बात सुनकर उसका बहुमान करता है कि जितनी प्रशंसाके गीत शास्त्रमें गाये जाते हैं वह मेरे ही गीत गाये जाते हैं।

सूक्ष्मबुद्धिके बिना सर्वज्ञका कथन नहीं पकड़ा जाता, जैसे मोटो संसीसे मोती नहीं पकड़ा जाता। इसी प्रकार स्वयं जैसा है वैसा

जानेकी रीति भी सूक्ष्म है। वह भूलकर दूसरा सब कुछ करे, किन्तु उसका फल संसार ही है। इस अवतारको रोकनेके लिये अनन्त-तीर्थंकरोंने पुण्य-पाप रहितकी श्रद्धा, उसकी समझ तथा स्थिरताका उपाय कहा है। उसे तो नहीं समझता है और कहता है कि 'हमें यह कथन बारीक मालूम होता है, यह नहीं समझा जाता।' यह बात सज्जनके मुखसे शोभा नहीं देती; इसलिये मुक्तस्वभावका ही आदर कर। मुक्तस्वभावका आदर करने वाला कर्म अथवा कालका विघ्न नहीं गिनता। यह सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र है अर्थात् केवली भगवानके द्वारा यह शास्त्र कहा गया है और उनके पास रहने वाले साक्षात् श्रवण करने वाले संत-मुनियोंकी परम्परासे समागत है। तथा केवली के पास रहते हुये साक्षात् श्रवण करने वाले अथवा स्वयं ही अनुभव करने वाले श्रुतकेवली गणधरदेवोंसे कहा हुआ होनेसे (जैसा सर्वज्ञ भगवानने कहा वैसा ही सुना और उनसे आया हुआ परमागम शास्त्र होनेसे) यह आगम प्रमाणभूत है। इसलिये कई लोग जैसी निराधार पौराणिक बातें करते हैं; वैसी कल्पना वाला यह शास्त्र नहीं है।

इसप्रकार पहली गाथामें आत्मस्वभावका जो वर्णन किया है उसकी प्रमाणता बताई है। उसमें साध्य-साधकभाव तथा अनन्त आत्माओंमें से प्रत्येक आत्मा पूर्ण प्रभु है, स्वतन्त्र है, यह स्थापित किया है। यदि कोई कहे कि आत्मा मोक्ष जाकर वापिस आजाये तो क्या हो? उसकी यह शंका वृथा है। क्योंकि यहाँ पर भी अल्प-पुरुषार्थसे जितना राग छेदता है उसे फिर नहीं होने देता, तो फिर जिसने पूर्ण राग-द्वेषका नाश करके अनन्त-शक्ति प्रगट की है वह फिरसे राग क्यों उत्पन्न होने देगा? और जब राग नहीं होता तो फिर वापिस कैसे आयेगा? मोक्ष जाकर कोई वापिस नहीं आता। एकबार यथार्थ पुरुषार्थ किया कि फिर पुरुषार्थ नहीं करना होता। मक्खनका घी बन जाने पर फिर उसका मक्खन नहीं बन सकता। इसीप्रकार एकबार सर्व-उपाधि और आवरण का विनाश किया कि फिर संसारमें आना नहीं होता। इसलिये जिनने

ध्रुवगति प्राप्त की है उनमें चार गतियोंसे विलक्षणता कही गई है और उनकी अचलता कहकर संसारपरिभ्रमणका अभाव वताया गया है; तथा अनुपम कहकर उन्हें संसारकी उपमासे रहित वताया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी कल्पनासे कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु जो सर्वज्ञ वीतरागसे आया हुआ है उस मूलशास्त्रका रहस्य आचार्य परम्परासे चला आ रहा है, और जो सर्वज्ञ कथित है तथा जो अर्थको यथास्थान वताने वाला है; ऐसा परिभाषण-सूत्र कहूँगा।

आचार्यदेवने मंगलके लिये सिद्धोंको नमस्कार किया है।

मंगल (मंग+ल) मंग=पवित्रता, ल=लाये। अर्थात् जो पवित्रताको लाता है सो मंगल है। आत्माकी पूर्ण पवित्रता आत्मभावसे प्राप्त होती है, वह भाव मांगलिक है। आत्मा ज्ञानानन्द, अविकारी है, उसे भूलकर रागादिमें अहंभाव या ममकार करता है; उस ममतारूपी पापको आत्मस्वभावकी प्रतीतिसे टालकर जो पवित्रता लाता है सो मंगल है। सर्व उपाधियोंसे रहित, पूर्ण शुद्ध सिद्धको ही (पूर्ण साध्यको ही) नमस्कार करता हूँ। अर्थात् उसे वास्तविक स्वभावका ही आदर करता हूँ और उससे विरुद्ध भावका (पुण्य-पाप इत्यादिका) आदर नहीं करता।

इन्द्रोंके पास बहुत वैभव है तथापि वे वीतरागी और त्यागी मुनियोंका आदर करते हैं। इसके अर्थमें 'हमें जो संयोगी वस्तु मिली है उसका हमारे मनमें आदर नहीं है,' यह समझकर शुद्धात्माका आदर करता है वही यथार्थ वंदना है, शेष सव रूढ़िगत वंदना है। 'परके संवंधसे रहित, अखंड, ज्ञानानंद, पवित्र जो परमानंद वीतरागपना है सो सत्य है,' ऐसा निश्चय करके जो उसका आदर करता है तभी वह वंदना करने वाला, उस भावमें सच्ची वंदना करता है और शुभ-अशुभ विकार-विरोध भावका आदर नहीं करता। इसप्रकार अविरोधकी 'अस्तिमें विरोधभावकी 'नास्ति' आगई।

संसारमें-चौरासीमें परिभ्रमण करते हुये आत्माको शुद्ध-आत्मा ही साध्य है। स्त्री-पुत्रादिमें संसार नहीं है, किन्तु आत्माकी अज्ञान, राग-द्वेषरूप वर्तमान एक अवस्थामें संसार है। वह विपरीत अवस्था जीवमें होती है, वह विकारी अवस्था है। आत्मामें संसारदशा और सिद्ध-निर्मलदशा दोनों होती हैं।

जड़के संसार नहीं होता, क्योंकि उसे सुख-दुःखका संवेदन नहीं होता और उसमें ज्ञातृत्व भी नहीं है, इसलिये मैं देहादि, रागादिसे भिन्न हूँ, इसप्रकार स्वरूपको समझे बिना देह, इन्द्रिय, पुण्य-पाप इत्यादिमें जो अपनेपनकी दृष्टि होती है वही अज्ञानभाव है; और उसीको परमार्थसे संसार कहा है। संसारभाव कहाँ है यह निश्चय करो! जैसे मिश्री शब्दके द्वारा मिश्री पदार्थका ज्ञान होता है इसी प्रकार संसार शब्द भी वाचक है। उसका वाच्यभाव यह है कि परवस्तु मेरी है, पुण्य-पाप और देहादिकी क्रिया मेरी है, और इसप्रकार अपनेपनकी मान्यता ही संसार है।

इस विकार अवस्थामें शुद्ध आत्मा साध्य है। पानी अग्निके निमित्तसे उष्ण अवस्थारूप हुआ है। उस उष्ण अवस्थाके समय भी पानीकी शीतलता पानीमें रहती है। संसारी जीवको अज्ञान-आकुलतासे रहित निराकुल, शान्तस्वभाव साध्य है। जैसे तृषातुरको उष्ण जलमें से शीतल स्वभाव प्रगट करना साध्य है। इसीप्रकार यदि गरम पानीमें शीतलताके गुणको मानें तो फिर पानीको ठण्डा करनेका उपाय करके प्यास भी बुझा सकता है। इसीप्रकार वर्तमान पर्यायमें अशुद्धतारूप उष्णताके होने पर भी चैतन्यद्रव्य स्वभावसे शुद्ध-शीतल है, यह माने तो उष्णताको दूर करके शीतलताको भी प्रगट करनेका उपाय कर सकता है।

निमित्त पर दृष्टि न दे तो अशरीरी, अविकारी, अनादि-अनन्त पूर्णज्ञानानन्दघन है। उस शुद्धताका अपार सामर्थ्यरूप आत्मतत्त्व भरा हुआ है, वह शुद्ध आत्मा साध्य है। आत्मामें त्रिकाल शक्तिसे शुद्धता है।

और वर्तमानमें रहनेवाली प्रत्येक अवस्थामें निमित्तके अनुसरणसे विकार भी है। विकारके कहते ही अविकारीका ज्ञान हो जाता है, अन्दरकी ध्रुव शक्तिको देखना चाहिये। जैसे भैंस खूँटेके बल पर घूमती है, लोग उसे न देखकर भैंस की क्रियाका बल देखते हैं, किन्तु अक्रिय खूँटा जो वहाँ विद्यमान है उसके बलको नहीं देखते। इसी प्रकार लोग बाहरसे चालू क्रियाको ही देखते हैं अथवा पुण्य-पापकी वृत्तिरूप विकारको ही देखते हैं, किन्तु अक्रिय, शुद्ध, त्रिकाल ज्ञानमय आत्माको नहीं देखते। आत्मा त्रिकाल विकाररहित अक्रिय खूँटेकी तरह ज्ञातास्वभावरूपसे विद्यमान है, उसे न देखकर क्षणिक पराश्रित-वृत्तिकी क्रियाको देखते हैं, और जो त्रिकाली एकरूप आत्मा स्वयं है शुद्धशक्तिरूप विद्यमान है उसे नहीं देखते। राग-द्वेष और मोहके आधीन होनेवाला क्षणिक विकार नाशवान है और सर्व उपाधिरहित अबाधित ज्ञायकतत्त्व अविनाशी है; इसलिए वही आदरणीय है। जो उसे साध्य करता है वह सिद्ध होता है और जो राग-द्वेषकी क्षणिक वृत्तिके बराबर आत्माको मानता है वह वर्तमान सक्रियता पर अटक जाता है और संसारमें परिभ्रमण करता है। इसलिये प्रथम ही शुद्धता-की स्थापना करके उसीको साध्य बनानेका उपदेश है। यह बात अनन्त कालमें जीवोंने नहीं सुनी; वे बाह्यक्रिया या पुण्यकी क्रियामें संतुष्ट हो रहे हैं। धर्मके नाम पर बाह्यक्रिया तो अनन्तबार की है और उससे शरीरको सुखाया है, किन्तु शरीरके सूख जानेसे आत्मा-को क्या लाभ है? परके अवलम्बनसे तो धर्म माना, किन्तु यह नहीं माना कि मैं परसे भिन्न स्वतन्त्र हूँ। आत्मा असंयोगी तत्व है, अनादि-अनन्त है। जो है उसका भविष्यमें अन्त नहीं है। संसारकी विकारी अवस्था क्षणिक है। वर्तमान एक समयमात्रकी अवस्थामें परनिमित्ता-धीन भावसे युक्त होता है, वह क्षणिक अवस्था उत्पन्नध्वंसी है, उसके लक्षको छोड़कर त्रिकाल शुद्धस्वभावी परमात्मस्वरूपको साध्य बनाने-की आवश्यक्ता है; और यह सम्पूर्ण सुखस्वरूप होनेसे संसारी जीवोंके लिए ध्येयरूप है।

जैसे पानीमें उष्ण होनेकी योग्यताके कारण अग्निके निमित्तसे वर्तमान उष्णता है, उसी प्रकार संसारी जीवोंमें अपनी योग्यताके कारण क्षणिक अशुद्धता है, उसका अभाव करने वाला साध्यरूप जो शुद्धात्मा है वही ध्येय-करने योग्य है। और सिद्ध साक्षात् शुद्धात्मा हैं इसलिये उनको नमस्कार करना उचित है। आत्माकी पूर्ण निर्मलदशा-को जिनने प्राप्त किया है, उन्हें पहिचानकर उनको नमस्कार करना और उनका आदर करना उचित है। आत्मा अपने स्वरूपमें रहता है। यह कहना कि आकाशमें रहता है, केवल उपचार और कथनमात्र है। गुड़ मटकेमें नहीं, किन्तु गुड़ गुड़में है, और मटका मटकेमें है, दोनों भिन्न भिन्न हैं। कोई वस्तु किसी परवस्तुके आधारसे रहती है, यह कहना वैसा व्यवहार है जैसे पीतलके घड़ेको पानीका घड़ा कहना। उसी प्रकार भगवान आत्मा राग-द्वेष और कर्मोंके आवरणसे रहित हैं, उसे देह वाला, रागी, द्वेषी कहना सो व्यवहार है।

प्रश्नः—यदि पतेलीका आधार न हो तो घी कैसे रहेगा?

उत्तरः—घी और पतेली भिन्न ही हैं। घी, घी के आधारसे है, और पतेली, पतेलीके आधारसे है। घी के बिगड़ने पर पतेली नहीं बिगड़ जाती। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे अपनेरूपमें है, पररूपमें नहीं है। इसलिये सिद्धभगवान देहके आधारके बिना अपने आत्माके आधारसे ही हैं। सिद्धोंको 'सर्व' विशेषण दिया गया है, इसलिए सिद्ध अनंत हैं यह अभिप्राय व्यक्त किया है। अतः 'ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है, सभी आत्मा एक हैं अथवा शुद्धात्मा एक ही है,' यह कहनेवाले अन्य मतावलंबियोंका निषेध हो गया। क्योंकि जो संसारमें पराधीनतारूप सुख-दुःखको स्वतंत्रतया पृथक् रखकर सत्ताका अनुभव करता है वह किसीकी सत्तामें मिल नहीं जाता, वह उस विकारका नाश करके पूर्ण शुद्धोपयोगी होनेके बाद परसत्तामें एकमेक होकर स्वाधीन सत्ताका नाश कैसे होने देगा?

यहां भी पृथक् तत्त्व है। दुःख भोगनेमें तो अलग रहे और अनंतसुख, स्वाधीन, आनंददशा प्रगट करके परसत्तामें मिलकर पराधीन हो जाय यह कैसे हो सकता है? किसीको बिच्छू काटे तो उसकी वेदनाको दूसरा आदमी नहीं भोग सकता, इसी प्रकार प्रत्येक आत्माको दुःखका संवेदन देहकी प्रीतिके कारण स्वतंत्रतया होता है, परंतु उस राग-द्वेष, अज्ञानरूप संसारी-विकारी अवस्थाकी आत्मप्रतीति और स्थिरताके द्वारा नाश करने पर अनन्तकाल तक अव्याबाध, शाश्वत् सुखको भोगता रहता है। उसे सर्व सिद्ध स्वतंत्रतया भोगते हैं। इसलिए 'सब एक ही शुद्धात्मा हैं।' यह कहनेवाले अन्य मतावलंबियोंका व्यवच्छेद हो गया।

'श्रुतकेवली' शब्दके अर्थमें, श्रुतका अर्थ 'अनादि अनंत, प्रवाहरूप आगम' है। श्रुतकेवली अर्थात् 'सर्वज्ञ भगवानके श्रीमुखसे निकली हुई वाणी (समस्त द्वादशांग)को जाननेवाले।' गणधरदेव आदि जो श्रुतकेवली हैं उनसे इस समयसार शास्त्रकी उत्पत्ति हुई है। आचार्य कहते हैं कि मैंने यह कोई कल्पना नहीं की है, किन्तु अनादिसे शुद्ध आम्नायानुसार चला आया प्रवाहरूप आगम, जैसा है उसी प्रकार कहा है। इस परमागमको समझनेके लिये अन्तरंगका अनुभव चाहिए। वादविवादसे पार नहीं आ सकता। सूक्ष्मज्ञानका अभ्यास चाहिए, बाहरसे कहीं नहीं जाना जा सकता।

श्रुतका अर्थ है आगम शास्त्र; अर्थात् 'सर्वज्ञसे आई हुई वाणी, उस श्रुतसे गूंथे गये सूत्र।' एक व्यक्तिके द्वारा निमित्तरूपसे जो वाणी कही गई है उस अपेक्षासे वह आदि कहलाता है, और एक व्यक्तिके द्वारा कहनेसे पहले भी आगमरूप शास्त्रकी वाणी थी। इस अपेक्षासे अनादिके प्रवाहरूप आगम-वाणी हुई। केवलीके उपदेशसे विनिर्गत शास्त्र, अर्थात् उस केवलज्ञानीके द्वारा कथित आगम अनादिकालसे है। सर्वज्ञ अर्थात् निरावरण ज्ञानी। जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें नहीं जानना हो ही नहीं सकता। जो

आवरण (उपाधि) रहित, निर्मल अखण्ड ज्ञान प्रगट हुआ उसमें कुछ अज्ञात नहीं रहता। जिसका स्वभाव जानना है उसमें क्रम रहित, सीमातीत जानना होता है, इसलिये जिसके पूर्ण, निरावरण, ज्ञायक-स्वभाव प्रगट है वह सर्वज्ञ है। फिर श्रुतकेवलीसे जो सुना, आत्मासे अनुभव करके जाना, वह परम्परासे आचार्य द्वारा आया हुआ श्रुतज्ञान है, और जो उस सर्वश्रुतज्ञानमें पूर्ण है वह श्रुतकेवली है। सर्वज्ञ–वीतरागदशा प्रगट होनेके बाद जिसको वाणीका योग हो उसकी सर्व अर्थसहित वाणी होती है। उसको साक्षात् गणधरदेव द्वादशांग सूत्रमें गूँथते हैं। उसमें भी अन्तरंगमें भावज्ञान–भावशास्त्रज्ञानके तक की वहुलतासे पूर्ण छद्मस्थ ज्ञानी–द्वादशांगके जाननेवाले श्रुतकेवली कहलाते हैं। इसप्रकार शास्त्रकी प्रमाणता वताई है और अपनी वुद्धिसे कल्पित कहनेका निषेध किया है, और अन्यमती अपनी बुद्धिसे पदार्थका स्वरूप चाहे जिस प्रकारसे कहता है; उसका असत्यार्थपना बताया है।

प्रारंभमें कहा गया है कि इस शास्त्रमें 'अभिधेय' तथा 'संवन्ध' पूर्वक कहेंगे। अभिधेय अर्थात् कहने योग्य वाच्यभाव। पवित्र, निर्मल, असंयोगी, शुद्ध आत्मस्वभाव कहने योग्य है, वह वाच्य है और उसका वताने वाला शब्द वाचक है। जैसे 'मिश्री' शब्द वाचक है, और मिश्री पदार्थ वाच्य है। उस वाच्य–वाचक सम्बन्धसे आत्माका स्वरूप कहेंगे। उसमें आत्मा कैसा है? यह वतानेके लिए शब्द निमित्त है, इसलिये वस्तुको सर्वथा अवाच्य न कहकर जैसा त्रैकालिक वस्तुका स्वभाव है उसे उसी क्रमसे कहा जायगा ।। १ ।।

पहली गाथामें समयका सार कहनेकी प्रतिज्ञा की है। वहाँ शिष्यको ऐसी जिज्ञासा होती है कि "समय क्या है?" इसलिये अब पहले समय अर्थात् आत्माको ही कहना चाहिये। जिसको रुचि (आदर) है उसीके लिये कहते हैं। यदि आकांक्षा बलात् कराई जाय तो प्रस्तुत जीव पराधीन हुआ कहलायगा। किन्तु ऐसा नियम नहीं है। जिसे

अन्तरंगसे स्वरूपको समझनेकी चाह है वह पूछे और उसके लिये हम शुद्धात्मरूप समयको कहेंगे। इसलिये वह समय क्या है? यह समझनेकी जिज्ञासा जिस शिष्यको हुई है वही समझानेके योग्य है। जिस स्वाभाविक आनन्दमें परावलम्बनकी आवश्यकता नहीं है और जो पूर्ण प्रभु स्वाधीनस्वरूप है वह कैसा होगा? वैभवकी और कमाईकी बात सुनकर जैसे पुत्र पितासे पूछता है कि वह कैसे होगी? उसी प्रकार शिष्य प्रथम तत्त्वकी महिमाको सुनकर आदरपूर्वक पूछता है। जिसे सत्यकी चाह है उसे पराधीनताके दुःखकी प्रतीति होनी चाहिये। दुःखरहित क्या है? इसके विचार सहित जिसे पराधीनताका दुःख हुआ है कि अरे! मैं कौन हूँ, मेरा क्या होगा? कोई भी संयोगी वस्तु मेरी नहीं है, इसप्रकार प्रतीति होनी चाहिये; किन्तु यह कहाँसे सूझ सकता है? बाह्यविषयोंमें सुख मान रखा है, प्रतिष्ठा, पैसा और हलुवा, पुरीमें सुख मान रखा है, किन्तु उसमें सुख नहीं है। जितनी पराधीनता है वह सब दुःखरूप है। पराधीनताकी व्याख्या यह है कि एक अंश भी रागकी वृत्ति उत्पन्न हो, परका आश्रय लेना पड़े तो संपूर्ण स्वाधीनता नहीं है। सम्यग्दृष्टि भी वर्तमान पर्यायकी अशक्तिकी अपेक्षासे अस्थिरताके कारण संपूर्ण स्वाधीन नहीं है। परकी जितनी आवश्यक्ता होती है उतना ही दुःख है। इसलिये परके अवलंवनमें स्वाधीनता नहीं हो सकती। रात-दिन जीव पराधीनता भोगता है, किन्तु उस पर ध्यान नहीं देता।

सिद्ध भगवानका पराश्रयरहित, स्वाधीन सुख कैसा होता है, इसे कभी नहीं जाना। यदि उसे एकवार रुचिपूर्वक सुन ले तो संसारमें सर्वत्र आकुलतामय भयंकर दुःख ही दुःख दिखाई देगा। इस प्रकार पराधीनताका दुःख देखकर पूछनेवालेको ऐसी अपूर्व जिज्ञासा होगी कि हे प्रभु! सर्वदुःखरहित स्वाधीन समयका स्वरूप कैसा होगा? और वह इस समयसार शुद्धात्माको बराबर समझ लेगा। जिसे आकांक्षा नहीं है वह तो पहलेसे ही इन्कार करेगा कि जो यह शुद्ध, देह-इंद्रियरहित आत्मा कहते हो सो वह क्या है? जहाँ ज्ञानी 'शुद्ध आत्मा नित्य

है' इसके अस्तित्वको स्थापित करना चाहता है, वहाँ वह पहले ही शंका करके विरोधभावको प्रगट करता है। किन्तु जो सुयोग्य जीव है वह आदरसे बहुमानपूर्वक उछल उठता है कि अहो! यह अपूर्व बात है, और इसप्रकार स्वीकार करके प्रश्न करता है, 'न्याय'से बात करता है। न्याय शब्दमें 'नी' धातु है, 'नी' का अर्थ है ले जाना। जैसा वास्तविक स्वभाव है उस ओर ले जाना। जहाँ जिज्ञासा है वहाँ ऐसी अपूर्वरुचि वाली आकांक्षा होती है। 'है' इसप्रकार आदरवाली जिज्ञासा-से समझना चाहे तो वह संपूर्ण सत्यको समझ लेगा। किन्तु यदि पहले से ही इन्कार करे तो नास्तिमेंसे अस्ति कहाँसे आयगी? अस्तिमें से ही अस्ति आती है।

कोई कहे कि ज्ञानियोंने आत्माकी बहुत महिमा गाई है, लाओ, मैं भी देखूँ और आँखें बन्द करके, विचार करके देखने जायें तो मात्र अन्धकार या धुन्धला ही दिखाई देगा, और बाहर जड़ पदार्थका स्थूल-समूह दिखाई देगा। किन्तु उस अन्धेरेको, धुन्धलेको, तथा देह, इन्द्रिय इत्यादिको जानने वाला, नित्यस्थिर रहने वाला कैसा है? इसके विचारमें आगे नहीं बढ़ता; क्योंकि अतीन्द्रिय आत्मा इस देहसे भिन्न परमात्मा है, उसका विश्वास नहीं करता। परन्तु जिसने अंतरंग-से आदर किया है उस श्रोताकी पात्रतासे यहाँ बात कही गई है। हाँ कहने के बाद यदि वास्तविक शंकासे पूछे तो बात दूसरी है। अन्तरंग से आदरपूर्वक आकांक्षासे प्रश्न होनेपर उत्तर प्राप्त होता है।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे भव्य! जो जीव दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित हो रहा है उसे निश्चयसे स्वसमय जान, और जो जीव पुद्गलकर्मके प्रदेशों-में स्थित है उसे परसमय जान।

यहाँ यह नहीं कहा है कि 'अभी तू पात्र नहीं है, कर्म बाधक हैं,' किन्तु पात्रताका स्वीकार करके समझाते हैं कि पुण्य-पापका भाव विकार है, अपवित्र है, और आत्मभाव पवित्र है, इसलिये अपवित्र भाव के द्वारा सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं होता। चारित्रका अर्थ है अन्तरंग स्वरूपमें स्थिर होना, गुणकी एकाग्रताके स्वभावमें जम जाना। ऐसे शुद्धभावको भगवानने चारित्र कहा है। बाह्यमें अर्थात् क्रियाकांड, पुण्य-पाप, वस्त्र अथवा किसी वेष इत्यादिमें आत्माका चारित्र नहीं होता, बाह्यक्रियामें तप नहीं होता, किन्तु इच्छारहित अतीन्द्रिय ज्ञानमें लीन होने पर इच्छाके सहज निरोध होनेको भगवानने तप कहा है। ऐसी श्रद्धा होनेके बाद जितनी लीनता करता है उतनी ही इच्छा रुकती है। क्रमशः सर्व इच्छा दूर होकर पूर्ण आनन्द प्रगट होता है।

पानीमें वर्तमान अग्निके संबन्धसे उष्णता होने पर भी उसमें प्रतिक्षण अग्निको बुझानेकी शक्ति रहती है, इसीप्रकार आत्मा में प्रतिक्षण विकारका नाश करनेकी शक्ति विद्यमान है। जैसे अग्निके संयोगकी क्षणिक अवस्थाके लक्ष्यको छोड़े तो पानी शीतल स्वभावी ही दिखाई देगा, इसीप्रकार पुण्य-पाप और परके सम्बन्धका लक्ष्य छोड़े तो आत्माका शुद्धस्वभाव दिखाई देगा। चैतन्य-स्वभाव शुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है। हे शिष्य! तू उसे स्वसमयरूप जान। यही बात यहाँ कही गई है।

आचार्यदेव कहते हैं कि तुझमें शक्ति है यह देखकर आत्मा ऐसा है यह समझ। इसीलिये कहा है कि जो नित्य, शुद्ध, दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप है वह आत्मा है। जिसमें यह शक्ति देखते हैं उसीसे ज्ञानी कहते हैं, किसी पत्थर, जड़ अथवा भैंसेसे नहीं कहते कि तू इस बात को समझ। इसलिये यह कहकर इन्कार मत कर कि मैं समझता नहीं हूँ, और इसप्रकारका बहाना भी मत बना कि मैं अभी तैयार नहीं हूं, या मेरे लिये अच्छा अवसर अच्छा संयोग नहीं है। भली-भाँति न्याय, युक्ति और प्रमाणसे कहा जायगा, सो उसे उमंगपूर्वक स्वीकार कर। रणभेरी सुनकर शरीरके साढ़ेतीन करोड़ रोमोंमें

राजपूतका शौर्य उछलने लगता है। इसीप्रकार तत्त्वकी महिमाको सुनते ही आत्मचेतन्यकी शक्ति उछलने लगती है।

जो सिद्ध भगवान पूर्ण निर्मलदशाको प्राप्त हुये हैं उन्हींकी जातिका उत्तराधिकारी मैं हूँ। मैंने अपनी स्वतंत्रताकी रणभेरी सुनी है। इसप्रकार स्वतंत्रताकी वात सुनकर उसकी महिमाको समझ। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसारकी रणभेरी वजाकर गीत गाते हैं; उसे सुनकर तू न उछलने लगेगा, यह कैसे हो सकता है?

जो जीव अपने दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थिर हुआ उसके स्वसमय जान और जो पुद्गल कर्मप्रदेशमें स्थित हुआ उसके परसमय जान। जो जीव अपने गुणमें स्थिर न रहकर परद्रव्यके संयोगमें अर्थात् पुद्गलकर्मके प्रदेशमें स्थित हो रहा है उसे अज्ञानी कहा है।

प्रश्नः—क्या अल्पज्ञ जीव सूक्ष्म कर्मके प्रदेशोंको देखता है?

उत्तरः—नहीं, नहीं देखता; किन्तु मोहकर्मकी फलदायी शक्तिके उदयमें युक्त हो तो ही वह परसमय स्थित कहलाता है। अपनेमें युक्त होनेसे अर्थात् स्थिर रहनेसे विकार उत्पन्न नहीं होता, विकार तो परनिमित्त जुड़नेसे होता है। स्वयं निमित्ताधीन होने पर अपनी अवस्थामें विकारभाव दिखाई देता है। कर्म संयोगी-विकारी पुद्गलकी अवस्था है, उस ओर झुकनेवाला भाव विकारी जीवभाव है; वह पुद्गलकर्मप्रदेशमें युक्त होनेसे उत्पन्न होता है। जड़कर्म वलात् विकार नहीं करा सकते; किन्तु स्वयं अपनेको भूलकर पुद्गलप्रदेशोंमें स्थित हो रहा है। राग द्वारा स्वयं परावलम्बीभाव करता है। कर्मोंने जीवको नहीं विगाड़ा किन्तु जब जीव स्वयं अशुद्धता धारण करता है तब कर्मोंकी उपस्थितिको निमित्त कहा जाता है। इसलिये वँधना या मुक्त होना अपने भावोंके आधीन है, और यह अपनी शक्तिके विना नहीं हो सकता। पुद्गल कर्मप्रदेश की ओर स्वयं रुका, इसलिये उस विकारके द्वारा व्यवहारसे परसमयमें स्थित कहलाया। स्वभावसे अपनेमें ही स्थिर है, किन्तु यदि अवस्थामें स्वरूपस्थित हो तो यह प्रश्न ही नहीं

हो सकता कि आत्मा क्या है? इसीलिये अवस्थामें विकार हुआ है।

प्रश्नः—जब कि कर्म दिखाई नहीं देते तो उन्हें कैसे माना जाय? क्योंकि लोकव्यवहारमें भी किसीका देखा हुआ या अपनी आँखोंसे देखा हुआ ही माना जाता है?

उत्तरः—अज्ञानी जीवोंने बाह्य विषयोंमें सुख है यह परमें अपनी दृष्टिसे देखकर निश्चय नहीं किया है, किन्तु अपनी कल्पनासे मान रखा है। इसी प्रकार कर्म सूक्ष्म हैं, इसलिये वे आँखोंसे भले दिखाई नहीं देते, किन्तु उनका फल अनेकरूपसे बाहर दिखाई देता है। उस कार्यका कारण पूर्वकर्म है। जैसे यदि सोना मात्र अपने आप ही अशुद्ध होता तो वह शुद्ध नहीं किया जा सकता। वह स्वभावसे तो शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान अशुद्धतामें दूसरी वस्तुका संयोग है तथा आत्माकी वर्तमान अवस्थामें निमित्त होने वाली दूसरी वस्तु विकारमें विद्यमान है, उसे शास्त्रमें कर्म कहा है। दूसरी वस्तु है इसलिये दोनों वस्तुओंका यथार्थ ज्ञान कर; क्योंकि आत्माकी ज्ञान-सामर्थ्य स्वपरप्रकाशक है। जिसने इसे समझनेकी शक्तिका विकास किया है और जो आदरपूर्वक सुनता है उसे सुनाते हैं। वह यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करता है, किन्तु जिसकी परके ऊपर दृष्टि है; और जिसे मैं जुदा हूं यह प्रतीति नहीं है ऐसा जीव कर्मकी उपस्थितिकी जहाँ बात आई वहाँ निमित्तके पीछे ही पड़ता है और बाहरसे सुनकर कल्पना कर लेता है कि कर्म मुझे हैरान करते हैं। शास्त्रोंमें कर्म-को निमित्त मात्र कहा है, वह आत्मासे परवस्तु है। परवस्तु किसीका कुछ बिगाड़नेमें समर्थ नहीं है।

शास्त्र श्रवण करके खोटी कल्पना कर ली है कि कर्म मुझे अनादिकालसे बाधा पहुंचा रहे हैं, राग-द्वेष कर्म कराते हैं तथा देह, मन और वाणीकी प्रवृत्ति मुझसे होती है; इस प्रकारकी विपरीत हूं, या मेरे लियेउलभ गया सो परसमय है। और जो पराश्रय भाँति न्याय, युक्ति हेत, शुद्ध दर्शन, ज्ञान और स्वरूपस्थिरतासे आत्मा-स्वीकार कर। रणभमय है। अर्थात् वह स्व-सन्मुख है। परकी ओर

झुकाव होनेसे जिसने परके साथ सम्बन्ध मान रखा है, और जो पर-में अटक रहा है, वह पर–सन्मुख अर्थात् परसमय है।

जिसे स्वतः जिज्ञासा प्रगट हुई है वह विचार करता है कि यह क्या है? अनादिकालसे स्वरूपका विस्मरण क्यों हो रहा है? अनादिकालसे विकार और जड़का ही स्मरण क्यों हो रहा है? यदि वास्तविकतया अपना स्मरण हो तो परिभ्रमण न हो। जानने वालेको जाने बिना जो जानने वालेमें ज्ञात होता है उसे जीव अपना स्वरूप मान लेता है, इसलिये यहाँ यह बताते हैं कि जानने वाला परसे भिन्न कैसा है, जिससे पराधीनता न रहे। जो 'है' उसे यदि पराश्रयकी आवश्यकता हो तो वह जीवन सुखी कैसे कहला सकता है? जहाँ राग-का आश्रय लेना पड़ता है वह भी वास्तविक जीवन नहीं है। इसी प्रकार अन्तरंगमें जिसे जिज्ञासा उत्पन्न हुई है उसे गुरु मिले बिना नहीं रहते। जिसे अन्तरंगसे जिज्ञासा हो वह बराबर सुनता है। जिसके पात्रता होती है उसे गुरु ही मिलते हैं। जिसे ज्ञानमें शुद्ध-मुक्तस्वभावका आदर होता है उसे जिज्ञासा होती है, उसके व्यवहार-में श्रद्धा, ज्ञान और आचरण हो जाता है। पहले तो साधारणतया आर्य जीवके अनीति तथा क्रूरताका त्याग होता ही है, साधारण आर्यत्व, लौकिक सरलता, परस्त्री त्याग, अन्तरंगमें ब्रह्मचर्यका रंग, आजीविकाके लिये छल-कपट तथा ठगाईका त्याग, नीति और सत्य-वचन इत्यादि जीवनमें बुने हुये या एकमेक होना ही चाहिये। देहादिक परविषयोंमें तीव्र आसक्तिका त्याग इत्यादि तो साधारण नीतिमें होता ही है, उसके बाद लोकोत्तरधर्ममें प्रवेश हो सकता है।

दूसरी गाथा प्रारंभ करते हुये कहा है कि जो पुण्य-पापरहित आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणमें स्थिर हुआ वह स्वसमय है, और पर मेरे हैं, पुण्य-पाप आदि विकार मैं हूँ, इस प्रकार स्थिर होना सो परसमय है। इस प्रकार कहते हुये गुरुदेवने जाना है कि जिज्ञासु जीवके बाह्य साधारण नीतिका जीवन, मनके द्वारा बुना हुआ होना ही चाहिये। उसके सत्यको समझनेकी सच्ची आकांक्षा है, इसलिये

उसे सत्य ही समझमें आता है। जब कि क्रूरता, अनीति, असत्य आदि इष्ट नहीं हैं, तब जो सत्य है वही उसे इष्ट है! 'छोड़ना है' यह कहनेसे यह सिद्ध हुआ कि वह संयोग सम्बन्ध है और उससे अपना पृथक्त्व भी है। एक वस्तु बंधनमें हो तो वह दूसरी वस्तुके सम्बन्ध से है, इसलिये परवस्तु भी है, यह सिद्ध हुआ। जिस प्रकार अपना पारमार्थिक स्वभाव है, उसी प्रकार यदि अपने जाननेमें न आये तो स्वयं कहीं अपना अस्तित्व मानकर टिकेगा तो अवश्य। इस प्रकार मैं रागी-द्वेषी आदि हूँ, यह मानकर परमें अस्तित्व मानता हुआ जीव रुका हुआ है और इसीलिये अनेक गतियोंमें भवभ्रमण हो रहा है। यह सब दुःख ही है। समस्त प्रकारके दुःखोंसे मुझे छूटना है तो दुःखरहित क्या है? वही मुझे चाहिये है। ऐसा सामान्य भूमिकाका ज्ञान प्राथमिक शिष्यको होना ही चाहिये। पश्चात् विशेष स्पष्टीकरणके लिये पूछने पर कहा जाता है।

जिसे सत्यको समझनेका मूल्य है उसे तत्त्वका माहात्म्य सुनाते हैं। जिसे कुछ कमानेकी चाह है उसकी शक्तिको देखकर यदि कोई कमानेकी बात कहे तो उसे कमानेकी या धनवान होनेकी बात सुनकर कितना आनन्द होता है! जब उससे यह कहा जाय कि तुझे ५ हजार रुपया प्रतिमास मिलेंगे तो वह दोनों कान खोलकर आश्चर्य पूर्वक सुनता है; क्योंकि उसके मनमें वैभवकी महिमा है और उसके प्रति प्रीति भरी हुई है। इसी प्रकार अनंत जन्म-मरणके अनंत दुःखोंके नाशका उपाय शुद्धात्माको पहिचानकर और उसमें स्थिर होने से होता है, उससे अल्पकालमें अनंतसुख प्रगट होता है। इस-प्रकार श्रीगुरु सुनाते है और पात्र शिष्य बड़ी ही उमंगसे सुनता है। स्वरूपसे तू सिद्धभगवानके समान ही है अर्थात् आत्मा परसे निराला अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है, पुण्य-पाप उपाधिरूप नहीं है। विपरीतदशा-से, कल्पनासे परमें आनंद मानकर सुखगुणको आकुलतारूप किया था, उससे मुक्त होकर अनंतसुखरूप दशा प्रगट करनेके लिये श्रीगुरु करुणा करके शुद्धात्माकी बात सुनाते हैं। सुनने वाले और सुनाने

वाले दोनों योग्य होना चाहिए।

अत्र 'समय' शब्दका अर्थ कहते हैं:—'सम्' उपसर्ग है। समय = सम् + अय। सम् = एक साथ, एक कालमें 'अय गतौ' धातु है, उसका अर्थ गमन होता है, और ज्ञान भी होता है। गमन अर्थात् गमन करना या गमन होना। इसलिये सम् + अयका अर्थ यह हुआ कि एक साथ एकरूप रहकर जाने। एक अवस्थासे एक समयमें दूसरी अवस्थारूप होना सो समय है। किसी आत्मामें वर्तमान अवस्थारूपमें बदलनेका स्वभाव न हो तो कोई विशेषता नहीं हो सकती। यह कहना वृथा सिद्ध होगा कि दोषको दूर करके गुणको प्रगट कर। तीव्ररागमें से मंदराग होता है तथा विकारीभावका परिवर्तन अर्थात् बदलना होता है, उस विकारको निकाल दें तो ज्ञानगुण इत्यादिका निर्मलतया बदलना होता है। दूसरे पदार्थोंसे आत्माका लक्षण भिन्न है। इसलिये यह बताया है कि जो जीवके स्वरूपको एक समयमें जाने और परिणमे वह जीव चेतनारूप है।

जीवके अतिरिक्त पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल; यह पांचों पदार्थ अजीव-अचेतन पदार्थ हैं। उनकी भी अपने अपने कारणसे समय समय पर अवस्था बदलती रहती है, किन्तु उनमें ज्ञातृत्व नहीं है और जीवमें ज्ञातृत्व है, इसलिये यह जीव नामक पदार्थ एक ही समय जानता है और प्रतिक्षण नई नई अवस्थाके रूपमें अपनेपनसे बदलता है, इसलिये वह समय है। आत्मा

अब वह आत्मा कैसा है सो बताते हैं। उसकी दो दिशायें बतानी हैं। वह जिसे हितरूप और आदरणीय मानता है उसी ओर तो वह झुकेगा? जीवमें दो प्रकारकी अवस्थायें होती हैं-(१) अनादिकालीन अशुद्ध अवस्था, जो परकी ओर झुकी होती है, (२) राग-द्वेष-अज्ञान-रहित स्वाभाविक शुद्ध अवस्था, जो स्व-स्वभावरूप है। ऐसी दो अवस्थायें बताई हैं; क्योंकि आत्मा त्रिकाल है, उसकी संसार और मोक्ष यह दो दिशायें हैं। संसाररूप भी सारा आत्मा नहीं है और मोक्षरूप भी सारा आत्मा नहीं है; दोनों अवस्थायें मिलकर त्रैकालिक

आत्मा है। जो आत्मा वर्तमानमें है वह त्रिकाल है। उसकी दो अवस्थायें हैं। उनमेंसे अनादिकालीन अपनी कल्पनारूप, रागद्वेषरूप जो अशुद्धदशा है, वह संसारदशा है। परसे भिन्न अपना अशुद्धस्वरूप है उसकी प्रतीति करके उसमें स्थिरताके द्वारा एकाग्र होकर शुद्धता प्रगट करना सो शुद्धतारूप मोक्षअवस्था है। दोनों आत्माकी अवस्थायें हैं। यदि यह बात बहुत सूक्ष्म मालूम हो तो परिचय करना चाहिये; किन्तु पहले यह कहकर रुक नहीं जाना चाहिये कि मेरी समझमें ही नहीं आता। 'जिज्ञासु जीवको आत्मा समझमें न आये, यह नहीं हो सकता। जो काम अनंत आत्माओंने किया है वही यहाँ कहा जा रहा है। जो नहीं किया जा सकता, वह नहीं कहा जा रहा है। कम कर सकता है और कम जानता है, इसका कारण अपनी वर्तमान अशक्ति है, किन्तु यदि वह पराश्रित रहने वाली क्षणिक अवस्था स्वभावकी प्रतीतिसे दूर कर दी जाय तो जो परमानंद शुद्धस्वभाव है वह पूर्ण निर्मलतासे प्रगट हो जाता है। अर्थात् आत्मा जैसा स्वभावसे स्वतंत्र है, उसकी समझ और शुद्धदशा प्रगट करनेके लिये ही कहा जाता है।

पहले तो यह निश्चय होना चाहिये कि आत्मा है, वह अनादिअनन्त वस्तु है। जो है सो सत् है। जो है वह जा नहीं सकता, और जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं हो सकता। अर्थात् वस्तु नित्य है, उसकी अवस्था क्षण-क्षणमें बदलती है, किन्तु वस्तुका मूल वस्तुत्व नहीं बदलता; वह पराश्रित नहीं है, किन्तु अनादिकालसे परकी ओर रुचि और परकी ओर झुकाव होनेसे अज्ञानके कारण आत्मामें रागद्वेषरूप मलिनभाव भासता है। संसार आत्माकी विकारी अवस्था है। जो जड़-देहादिका संयोग है उसमें संसार नहीं है। जैसे पानीमें तरंगें होती हैं, उनमेंसे कुछ तरंगें मैली सी होती हैं और कुछ तरंगें निर्मल होती हैं किन्तु वे सब तरंगें मिलकर पानी हैं। इसीप्रकार जबतक आत्मा अज्ञानपूर्वक प्रवर्तमान अवस्था द्वारा कर्मोंके आधीन होते हैं तबतक वह मैली है, और राग-द्वेष विकारी अवस्थाका नाश

करनेसे सादिअनंत, प्रगट, निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट होती है, इन सभी अवस्थाओंके रूपमें आत्मा है; किन्तु यदि नित्य स्वभावको देखा जाय तो वह सभी अवस्थाओंके समय शुद्ध ही है। इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि आत्मा समझमें नहीं आ सकता। इस वातको समझनेकी योग्यता सभी जीवोंमें है, सभी केवलज्ञानके पात्र हैं।

अव, यह जीव पदार्थ कैसा है, यह सात प्रकारसे कहेंगे। वस्तुका अस्तित्व सिद्ध हुये विना उसमें वंधदशा और मोक्षदशा कैसे वताई जा सकती है ? इसलिये आत्माका स्वतंत्र वास्तविक स्वरूप कैसा है, यह पहले निश्चय कराते हैं।

जीवको पदार्थ कहा है, क्योंकि 'जीव' पदसे अर्थको जाना जा सकता है ('पद' के साथ पदार्थका व्यवहारसे वाच्य-वाचक सम्बन्ध है) जीवपदार्थ सदा परिणमनस्वभावयुक्त है। विकारका नाश करके पूर्ण, अनंत, अक्षय, आनंदस्वरूपको प्रगट करनेसे त्रिकाल-के सुखका अनुभव एक ही समयमें नहीं हो जाता। यदि एक समय-में सारा आनंद भोग लिया जाय तो दूसरे समयमें भोगनेको शेष क्या रहेगा ? किन्तु यह वात नहीं है। प्रत्येक समय परिणमन होता है, इसलिये अनंतकाल तक अनंतसुखका अनुभव होता है। आत्मा स्वयं अनुभवस्वरूप है।

प्रत्येक वात समझने योग्य है, अंतरंगमें खूव घोलने योग्य है। यदि अंतरंगके तत्त्वको सभी पहलुओंसे यथार्थरूपमें समझकर उसमें स्थिर हो तो स्वाधीन शुद्ध दशा प्रगट हो जाय। जिसे जिस विषय संवंधी (जिस साध्यमें) रुचि है, उस ओर रागके द्वारा माना गया प्रयोजन सिद्ध करनेका प्रयत्न किया करता है। इसीप्रकार लोग धर्मके नाम पर माने हुये प्रयोजनको सिद्ध करनेके लिये वहुत कुछ करते हैं, किन्तु वास्तविक पहचानके विना सच्चा उपाय हाथ नहीं आता। जैसे यदि राजाको उसकी समृद्धि और वड़प्पनके अनु-सार मानपूर्वक वुलाये तभी वह उत्तर देता है, उसीप्रकार भगवान

आत्माको जिस प्रकार जानना चाहिये उसीप्रकार मेल करके एकाग्रता-का सम्बन्ध करे तो उत्तर मिले, अर्थात् वह जाना जाय। आत्मा सदा परिणमनस्वभावी है; इसलिये जो आत्माको अवस्थाके द्वारा परि-णमन वाला नहीं मानते उनका निषेध हो गया। 'परिणमनस्वभावी है' यह कहने पर तू जिस भावमें उपस्थित है, उस भावको बदल सकता है। जो पहले कभी नहीं जाना था, उसे जान लिया और जाननेवाला नित्य रहा। इससे सिद्ध हुआ कि उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी अनुभूति जिसका लक्षण है वह सत्ता है। सत्ता लक्ष्य (जानने योग्य) है, और सत्ताका लक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। क्षणके असंख्यातवें भागमें प्रतिसमय अवस्था बदलती है। जैसे लोहेको घिसने पर उसकी जंगका व्यय हो जाता है, उज्ज्वलता अथवा प्रकाशका उत्पाद हो जाता है, और लोहा बराबर ध्रुव बना रहता है। इसीप्रकार प्रत्येक समयमें अपनी पूर्णदशाका व्यय होता है, नई अवस्था उत्पन्न होती है, और वस्तु वस्तुरूपमें स्थिर बनी रहती है। यह तीनों अवस्थाएँ एक ही समयमें होती हैं। उत्पन्न होना, व्यय होना, तथा स्थिर रहना, इनमें कालभेद नहीं है। तेरा नित्यस्वभाव प्रतिक्षण अवस्थारूपमें स्थिर रहकर बदलता रहता है; इस प्रकार परसे सर्वथा भिन्नत्वको जो न समझे और विरोध करे तो वह किसका विरोध करता है; यह जाने बिना ही विरोध करता है। जैसे बालकने किसी कारणसे रोना प्रारम्भ किया, फिर उसे चाहे जो वस्तु दो, तो भी वह रोता ही रहता है। यहाँ तक कि जिस वस्तुके लिये वह रो रहा था उस वस्तुके देने पर भी वह रोता ही रहता है; क्योंकि वह उस कारणको ही भूल जाता है, जिस कारणसे उसने रोना प्रारंभ किया था। इसलिये उसका समाधान कैसे हो सकता है? पहले उसकी इच्छा चूसनीकी थी, जिसे वह चूस रहा था, वह कोई ले गया है,–यह बात उसके जम नहीं पाई बस, वहीं से रोना शुरू हो गया। उसके बाद वह उस बातको भूल गया और रोना बराबर चालू रहा। इसी प्रकार ज्ञानी कहते हैं कि हे भाई! तूने अनादिकाल-

से अज्ञानभावसे (बालभावसे) रोना शुरू किया है, इसलिये तुझे कहीं भी शांति नहीं मिलती। ज्ञानी यदि सच्ची वस्तुको बताते हैं तो उसे भी तू ग्रहण नहीं करता और अपने अज्ञानके कारण रोता रहता है! जबतक सच्ची जिज्ञासासे समझने योग्य धीरज और मध्यस्थता नहीं लायगा, तबतक कोई उपाय नहीं है। तेरी रुचि होगी तो उस ओर तेरी भावनाकी उत्पत्ति होगी।

पहले स्वाधीन, निर्दोष सत्‌की रुचि कर तो अनादिकालीन परकी ओर झुकी हुई पुरानी अवस्थाका व्यय और स्वोन्मुखरूप नई अवस्थाकी उत्पत्ति तथा स्वभावरूपमें स्थिर रहनेवाला ध्रौव्य तू ही है, यह समझमें आ जायगा। तेरी अवस्थाका बदलना और उत्पन्न होना तेरे ही कारणसे है। पराश्रयके बिना स्थिर रहनेवाला भी तू है; इसलिये मेरे ही कारणसे मेरी भूल थी उसे ज्ञानस्वभावके द्वारा दूर करनेवाला मैं ही हूँ, यह जानकर खोटी मान्यतारूप असत्‌का त्याग, सच्ची समझका सद्भाव और मैं नित्य ज्ञानस्वभाव आत्मा ध्रुव हूँ, इस प्रकारका निश्चय कर। जैसे स्वर्ण सदा स्थिर रहता है, उसकी पूर्व अवस्थाका नाश होकर नई अवस्था (अंगूठी आदि) बनती है, उसमें सोना प्रत्येक दशामें ध्रुव रहता है, इसीप्रकार भगवान-आत्मा अनादि-अनंत, स्वतंत्र है, उसमें तीनों प्रकार (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) एक ही समयमें विद्यमान हैं। यह बात पहले कभी नहीं सुनी थी, किन्तु यह ज्ञातव्य है। 'है' यह सुनकर उसमें कुछ अच्छी दृष्टि करके उस ओर झुके कि उसमें यह तीनों प्रकार आ जाते हैं। प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूपमें निश्च है। जीव जैसा है वैसा अपना स्वरूप अनादिकालसे नहीं जाना। जैसे कडुवे स्वादसे मीठे स्वादकी ओर लग जाने पर कडुवे स्वादके लक्षका व्यय, और मिठासके लक्षकी उत्पत्ति होती है। किन्तु स्वयं ज्ञानमें स्वाद और रसको जाननेवाला अपने ध्रुवरूपमें स्थिर रहता है; इसी प्रकार प्रतिसमय निज ज्ञानकी अर्थक्रिया करनेका स्वाधीन लक्षण आत्मामें विद्यमान है।

आत्मा स्वयं उत्पन्न नहीं होता और स्वयं साराका सारा नहीं बदलता, किन्तु आत्मामें प्रत्येक क्षणकी अवस्था बदलती है और नई उत्पन्न होती है। अपनी और परकी होनेवाली प्रत्येक अवस्था बदलती है, किन्तु उस सबको जाननेवाला स्वयं एकरूप स्थिर रहता है। इसप्रकार अपने नित्य ज्ञानस्वरूपको जानने पर, परसे भिन्नत्वका निर्णय किया। उसमें सम्यग्दर्शनका उत्पाद, पूर्वकी अज्ञान-अवस्थाका व्यय और स्थिर रहनेवाला जीव ध्रुव है। इसप्रकार आत्मा उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यकी सत्तासे युक्त है। इस विशेषणसे जीवकी सत्ताको नहीं माननेवाले नास्तिकवादका खंडन हो गया। और परिणमनस्वभाव कहनेसे आत्माको अपरिणामी माननेवाले सांख्यवादीके मतका निषेध हो गया। सत्ता एकांत नित्य ही है, अथवा एकांत वस्तुमात्र अनित्य ही है; इसप्रकार माननेवाले एकांतवादियोंका भी निषेध हो गया। आत्मा है, यह कहनेसे उससे विरुद्ध आत्मा नहीं है, अथवा स्वतंत्र नहीं है, ऐसा कहने वाले परमत (अज्ञान) का खंडन हो गया।

कोई कहता है कि आत्मा है ही नहीं, किन्तु वह यह तो बताये कि आत्मा नहीं है यह किसने निश्चय किया है? पहले जिसने यही निश्चय नहीं किया कि आत्मा है, वह यह विचार ही कैसे कर सकता है कि आत्मा कैसा है? जो यह मानते हैं कि जो वर्तमानमें दृष्टिगोचर है उतना ही है, वे दृश्यको अदृश्य और अतीन्द्रिय आत्माको अदृश्य कैसे कह सकते हैं। सबको देखनेवाला स्वयं है, जानने-देखनेका कार्य, स्व-परका निर्णय, देखनेवाला तत्त्व अपनी सत्तामें होता है। देह और इन्द्रिय परको तथा अपनेको नहीं जानते, किन्तु जाननेवाला जानता ही रहता है।

पुद्गल नामक वस्तु नित्य है, उसमें स्पर्श, रस, गंध, वर्ण इत्यादि स्वतन्त्र गुण हैं। वह वस्तुकी शक्ति है। इसीप्रकार आत्मा सर्व परवस्तुसे भिन्न है उसमें ज्ञानादि शक्तिरूप अनन्त गुण हैं, इसलिये आत्माका लक्षण चैतन्य अर्थात् जागृतिस्वभाव है।

हे प्रभु ! तू चैतन्य जागृतिस्वरूप है। तेरे गुणकी उत्पत्ति मन, वाणी, देहादिसे नहीं है, उसमें अन्धेरा नहीं है, अजागृति और अजानपन नहीं है। अन्धेरा है, यह किसने निश्चय किया? आषाढ़ी अमावस्याकी मेघगर्जित घोर अन्धकारमय रात्रि हो, और रजाईसे सारा शरीर ढक रखा हो तथा आंखें बिल्कुल बंद हों तथापि अन्धकारका कौन निश्चय करता है? अन्धेरेका जाननेवाला तद्रूप नहीं हो जाता, किन्तु उस अन्धकारको जाननेवाला आत्मा उस अन्धकारसे भिन्न है।

आत्मा निर्मल, स्पष्ट, दर्शन-ज्ञानज्योतिस्वरूप है। भगवान आत्मा ज्ञानप्रकाशस्वरूप सदा प्रत्यक्ष है। ऐसा यथार्थ ज्ञान होनेसे जानता है कि मैं ज्ञाता-दृष्टा हूं, मैं ही जानने-देखने वाला हूं। मेरी सत्ता (भूमिका) में ही जानने-देखनेके भाव हुआ करते हैं, परमें घुसकर नहीं जानता, किन्तु अपनी सत्तामें रहकर स्व-परको जानता हूं।

दर्शन = किसी भी पदार्थको जाननेसे पूर्व सामान्य झुकता हुआ जो निर्विकल्प अन्तर व्यापार है सो दर्शन है, और उसके बाद विशेष जाननेका जो कार्य है सो ज्ञान व्यापार है। जैसे संसारकी बातें सरल हो गई हैं वैसे ही जीव इसका परिचय करे तो यह भी सरल हो जाय। जड़ देह, इन्द्रियोंके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श जड़स्वभाव हैं। वे कहीं आत्मामें घुस नहीं गये हैं।

ज्ञानका स्वभाव जानना है, इसलिये स्व-परको जानता ही रहता है। कोई कहता है कि मोक्ष हो जाने पर स्व-परका जानना मिट जाता है। जैसे दीपकके बुझने पर प्रकाशक्रिया बंद हो जाती है, उसी प्रकार निर्वाण होने पर जाननेकी क्रिया बन्द हो जाती है। किन्तु उसकी यह मान्यता मिथ्या है। क्योंकि जानना तो गुण है और गुणका कभी नाश नहीं हो सकता। जानना दुःखदायी नहीं है, किन्तु जाननेमें भूलना, झूठी कल्पना करना दुःख है। कोई कहता है कि अधिक जानना दुःख है, किन्तु क्या गुण कभी दोष अर्थात् दुःखका

कारण हो सकते हैं? कदापि नहीं। किसी बालकने लाठी मार दी, किन्तु बालकका स्वभाव जानने पर कि उसका भाव मात्र खेलकूद ही का था, उस ओर ध्यान ही नहीं जाता। यथार्थ ज्ञानका कार्य समाधान है। आत्माका स्वभाव जानना है, उसे रोका नहीं जा सकता। ज्ञानगुणका कार्य जानना अथवा ज्ञान करना है। राग-द्वेष करनेका कार्य तो विपरीत पुरुषार्थरूप विपरीतताका है, इसलिये पुण्य-पापके भेदसे रहित स्व-परका ज्ञाता अपने स्वभावरूप धर्म है, और उसमें स्थिर होना स्वसमय है।

"जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ" इस पदमें प्रथम शब्द 'जीवो' है। जिसने यह जान लिया हो कि आत्मा कैसा है, उसे संसारी अशुद्ध अवस्था और मोक्षकी निर्मल अवस्था—इन दोनोंको एकत्रित करके एक अखंड पूर्णरूप आत्माका निर्णय करना होगा। आत्मा मन-वाणी और देहसे भिन्न, अन्य जीव-अजीव आदि वस्तुओंसे त्रिकाल भिन्न, अनादि-अनंत पदार्थ है। अपनी विपरीत मान्यतासे राग-द्वेष, पुण्य पाप, देह इन्द्रिय इत्यादि परवस्तुको जीवने अपना मान रखा है, और यही संसार है। परवस्तुमें संसार नहीं है, संसार तो जीवका अव-गुण है। उसे जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि भव तथा राग-द्वेष रहित स्वतंत्र तत्त्व क्या है? जैसे मनुष्यकी बाल, युवा और वृद्ध यह तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार आत्माकी भी तीन अवस्थायें होती हैं। अज्ञान अवस्था बाल्यावस्था है, साधकभावरूप निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्र अवस्था धर्म अवस्था अर्थात् युवावस्था है, और अनुकूलतामें राग तथा प्रतिकूलतामें द्वेष होता है उसका नाश करनेके लिये मैं शुद्ध हूँ, परसे मुझे लाभ-हानि नहीं है, मैं पुण्य-पाप रहित अखण्ड ज्ञायक अलग ही हूँ, इस प्रकारकी प्रतीतिके द्वारा स्थिर होनेसे राग-द्वेषका नाश होकर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान तथा अनन्त आनन्द अवस्था प्रगट होती है, वह वृद्धावस्था है। आत्मा सदा अरूपी, ज्ञानानंदघन है, उसमें प्रतिसमय पूर्व पर्यायको बदलकर, नई अवस्थाको उत्पन्न करके, ध्रौव्यरूप तीन अवस्थाओंको लेकर सत्ता होती है। अस्तिरूपमें जो वस्तु है उसमें ज्ञाता-दृष्टापना है। पर-

को जानना उपाधि नहीं है किन्तु जानना-देखना आत्माका त्रिकाल स्वभाव है। स्व-परको जानना ज्ञानगुणका कार्य है, और राग-द्वेष करना दोषका कार्य है।

अनंत धर्मोंमें रहने वाला जो एक धर्मीपन है, उससे उसके द्रव्यत्व है और नित्यवस्तुत्व है। आत्माका स्वतंत्र स्वरूप परके आधारसे रहित और पुण्य-पापरहित है, इसलिये उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसका आचरण भी पुण्य-पापरहित है। ऐसी बात-को जीवने न तो कभी सुना है और न माना है। यदि एक क्षणमात्र को भी ऐसे आत्मधर्मका आदर किया होता तो फिर दूसरा भव नहीं होता। जिसे सत्को सुनते हुये अपूर्व आत्ममाहात्म्य ज्ञात होता है उसके उस ओर अपने वीर्यका रुख बदले बिना नहीं रहता, क्योंकि जिसकी रुचि जिधर होती है उसी ओर उसका रुख हुये बिना नहीं रहता, ऐसा नियम है। जहाँ आवश्यकता मालूम होती है वहाँ जीव अपने वीर्य (पुरुषार्थ) को प्रस्फुटित किये बिना नहीं रहता। जिसका मूल्य आंका गया या जिसकी आवश्यकता प्रतीत हुई उसका ज्ञानमें विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधीका आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना, उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत हुई, उसका ज्ञानमें विचार करके जीव उस ओर पुरुषार्थ किये बिना नहीं रहता। जिसकी जैसी रुचि और पहचान होती है उसका वैसा ही आदर होता है। उससे विरोधीका आदर नहीं हो सकता। इसलिये जिसमें जिसने माना उसमें उसे उसका मूल्य और आवश्यकता प्रतीत होने पर उस ओर उसके वीर्यकी गति हुये बिना नहीं रहती।

'जीव पदार्थ है' यह कहनेके बाद अब यह बतलाते हैं कि उसकी दो प्रकारकी अवस्थाएँ कैसी हैं? क्योंकि प्रथम 'अस्ति' अर्थात् 'है' इस प्रकार वस्तुत्वका निश्चय करनेके बाद वह वर्तमानमें किस अवस्थामें है यह बताया जा सकता है। 'वस्तु है' वह अनादि-अनंत

है, परसे भिन्न है, इसलिये किसीके आधारसे किसीका बदलना नहीं होता यह कहा गया है। और फिर, वस्तुमें अनन्त धर्म भी हैं। उनमें द्रव्यत्व, प्रभुत्व, प्रदेशत्व, अगुरुलघुत्व, वस्तुत्व, अस्तित्व, एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व आदि वस्तुके गुण उस वस्तुके आश्रित हैं परवस्तुके आश्रित नहीं हैं। जैसे स्वर्ण एक वस्तु है, वह अपने अनन्त गुणोंको धारण करता है। उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन इत्यादि शक्ति है, जिसे गुण कहा जाता है। इसीप्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व इत्यादि अनन्त गुण हैं। आत्मा अनन्त वस्तुओंके साथ रहने पर भी अनंत वस्तुओंसे भिन्न है। अनंत परपदार्थ होनेसे अनन्त अनोखापन नामक अनन्तगुण आत्मामें है।

'आत्मा क्या है?' यह जाने बिना आत्माका धर्म कहाँसे हो सकता है? जो सत्ता जिस क्षेत्रमें अवगुण कहलाती है वहीं वह गुण भी है। गुड़की मिठास गुड़में होती है या उसके बर्तनमें? इसी प्रकार देहरूपी बर्तनमें देहरहित-अरूपी ज्ञानघन आत्मा विद्यमान है, तब फिर उसमें उसके गुण होंगे कि देहादि परसंयोगमें? परसंयोगी वस्तुका वियोग होने पर आत्मा मन, वाणी, देह, इन्द्रिय इत्यादिमें दिखाई नहीं देता। इसलिये आत्मा परसे भिन्न ही है। आत्मा एक है वह अनादिकालसे शरीर तथा परवस्तुसे भिन्न है। आत्मा ऐसे अनन्त शरीरके रजकणोंसे तथा परवस्तुसे भिन्न रहता है। इसलिये अनन्त पररूपसे नहीं होता, उसमें अनन्त नास्तित्व तथा अनंत अन्यत्व नामक अनंत गुण हैं। आत्मा अनंतकालसे अनंत पुद्गलों, अनंत शरीरोंके साथ एकत्रित रहा, फिर भी वह उनके किसी भी गुण-पर्यायके रूपमें परिणत नहीं हुआ। किसीके साथ मिला-जुला नहीं है। इसप्रकार अनन्तके साथ एक नहीं हुआ, इसलिये अनन्त परसे भिन्न रहा। रजकणमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्शकी अवस्था बदलती है किन्तु रजकण बदलकर आत्मा नहीं हो जाते, और आत्मा बदलकर जड़ नहीं हो जाता।

अनन्त धर्मोंमें रहनेवाला जो एक धर्मीपन है उसके कारण

जीवके द्रव्यत्व प्रगट है। अनन्त गुणोंका एकत्व अनादिकालसे एकत्रित रहना सो द्रव्यत्व है। इस विशेषणसे वस्तुको धर्मसे रहित माननेवाले अभिप्रायका निषेध हुआ। जो यह नहीं मानते कि गुण आत्मासे प्रगट होते हैं उनका भी निषेध हुआ। वास्तवमें बाहरसे गुण नहीं आते, जो भीतर हैं वे ही प्रगट होते हैं, क्योंकि यदि अनन्त-गुण नहीं थे तो वे सिद्धोंमें कहाँसे आ गये? जो नहीं होता वह कहीं-से आ नहीं सकता, इसलिये प्रत्येक आत्मामें स्वतंत्रतया अनंतगुण स्वभावरूपमें विद्यमान हैं। आत्मा धर्मके नाम पर अनन्तवार दूसरा वहुत कुछ कर चुका है, किन्तु उसने आत्माको अनन्त धर्मस्वरूप स्वतन्त्र यथार्थरूपमें जैसा है वैसा कभी नहीं जाना। यह भी है कि—'जवतक आत्मतत्वको नहीं पहचाना तबतक सारी साधना वृथा है'। एक 'स्व' को जहाँ तक नहीं जाना है वहाँ तक कुछ नहीं जाना। एकके जाननेसे सव जाना जाता है।

जब लग एक न जानियो, सब जाने क्या होय।
इक जाने सब होत है, सबसे एक न होय॥

सभीको जानने वाला स्वयं ही है। इसप्रकार जाने विना किसको पहचानकर—मानकर उसमें स्थिर होगा? इसलिये पहले आत्माका यथार्थ स्वरूपमें निश्चय करना चाहिये। वस्तुका विचार किये विना किसमें अस्तित्व मानकर टिकेगा? जैसा देहानुसार देहसे भिन्न असंयोगी आत्मा सर्वज्ञ भगवानने जाना है मैं वैसा ही पूर्ण हूँ, यह स्वीकार करने पर सभी समाधान हो जाते हैं।

क्रमरूप-अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव जिसका स्वभाव है इसलिये जिसने गुण-पर्यायोंको धारण किया है, ऐसा क्रमरूप आत्मा प्रतिक्षण अवस्थाको वदलता है। जैसे पानीमें एकके वाद दूसरी लहर उठती है, उसीप्रकार जीवमें प्रतिक्षण नई अवस्थायें क्रमशः होती हैं। उसमें जव राग होता है तव गुणकी निर्मलदशा नहीं होती, और जहाँ वीतरागता होती है वहाँ राग दशा नहीं होती। राग-विकार

मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जहाँ अरागी तत्त्वका लक्ष किया वहाँ राग मंद हुआ अर्थात् तीव्ररागकी अवस्था वदली। इसप्रकार क्रमक्रमसे अवस्था वदलती है। जैसे सोनेमें रहने वाले गुण एक ही साथ होते हैं, इसलिये वे अक्रमरूप कहलाते हैं, उसीप्रकार आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, आनन्द इत्यादि गुण एकसाथ होते हैं, इसलिये उन्हें अक्रम अथवा सहभावी गुण कहा जाता है। सभी गुण त्रिकाल एकरूप आत्मामें साथ रहते हैं, इसलिये वे सहभावी हैं। अवस्था एकके वाद एक वदलती है, इसलिये वह क्रमभावी है। जवतक विकारमें युक्त होता है तबतक वह माने रहता है कि 'मैं विकारी हूँ' जव अविकारी ज्ञानस्वभावके लक्षसे 'मैं विकारी नहीं हूँ' यह मानता है तब 'मैं अविकारी हूँ' जैसा परमात्माका स्वभाव पूर्ण है वैसा ही 'मैं हूँ' ऐसी श्रद्धाके वलसे अभ्यास वढ़ने पर अवस्था क्रमशः निर्मल होती जाती है। पहले अपनेको रागी-द्वेषी मानता था, पीछे यह माना कि मैं राग आदि रूप नहीं हूँ। यहाँ पर प्रथम श्रद्धागुणकी अवस्था वदलती है।

'यह सूक्ष्म कथन है, मेरी समझमें नहीं आता' इस प्रकार कहकर इन्कार मत करो। ज्ञानस्वरूप आत्मा कौन है, इसका ज्ञान तो करना नहीं है और धर्म करना है, भला यह कैसे हो सकता है?

अनादिकालसे वाह्यदृष्टि रहकर वाहरसे दूसरा माना सो यह सव अज्ञान है, असत्य है। जीव अनादि-अनन्त वस्तु है। 'है' इसलिये आत्मामें अवस्था वदलती है। जैसे मनुष्यके शरीरमें अवस्था वदलती है, उसी प्रकार रागदशा बदलकर निर्मल वीतरागदशा होती है और गुण सदा आत्माके साथ टिके रहते हैं। जैसे सुवर्ण और उसके गुण सदा वने रहते हैं और अवस्था वदलती रहती है, उसी प्रकार आत्मरूपी सुवर्णमें ज्ञान, दर्शन, सुख इत्यादि गुण वने रहते हैं, उसमें अपनापन भूलकर, परमें अपनापन मानकर जो विपरीत रुचि की सो गुणकी विपरीत अवस्था है। वह वदलकर सीधी दशा हो सकती है, और गुण तो सदा साथमें ही स्थिर रहते हैं। शुद्ध और अशुद्ध दोनों अवस्थायें एकसाथ नहीं होतीं। जव राग-द्वेष-अज्ञानदशा होती है तव

शुद्धदशा नहीं होती, और जब शुद्ध वीतरागदशा होती है तब अशुद्ध दशा नहीं होती। यहां पर यह बात बहुत ही सरल ढंगसे और सादी भाषामें कही जा रही है; फिर भी उसे समझना तो स्वयं ही होगा। वस्तुकी महिमा होनी चाहिये। संसारकी रुचिके लिये चार आनेकी दरसे ५ लाख रुपयेका चक्रवृद्धि व्याज लगाना हो तो बराबर ध्यान रखकर प्रतिदिनका व्याज बढाते हुए नया लगाता जाता है, जो कि संसारमें परिभ्रमण करनेकी प्रीतिकी विपरीत बात है। यदि आठ आनेकी भूल हो गई तो चार आनेका तेल जलाकर भी उसकी पूरी जाँच करता है, किन्तु यहाँ पर धर्मकी कोई चिंता या कीमत नहीं है। लोग यह कहते हैं कि मुफ्तमें ही धर्म मिलता हो तो ले लिया जाये, किन्तु यह कैसे हो सकता है? विशेष निवृत्ति पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

आत्मा एक नित्य वस्तु है, परसे भिन्न और अनन्त गुणोंसे अभिन्न है। उसमेंसे जिसमें सभी गुण एकसाथ रहते हैं वह अक्रम कहलाता है, और जहाँ गुणकी अवस्था क्रम क्रमसे बदला करती है उसे क्रमवर्ती कहते हैं। इस विशेषणसे आत्माको निर्गुण मानने वाले सांख्यमतका निषेध हो गया। निर्गुण किस प्रकार कहलाया? सो कहते हैं कि—रजोगुण, तमोगुण और सत्वगुण प्रकृतिके हैं, वे आत्मामें नहीं हैं। जो विकार है सो रागभाव है, वह आत्माका स्वभाव नहीं है, उसका अभाव हो सकता है। किन्तु अपनेमें ज्ञान, दर्शन, सुख, शांति, वीर्य इत्यादि स्वाभाविक गुण हैं, उनका अभाव नहीं होता। आत्मा वस्तु है, इसलिये उसमें अनन्त शक्तिरूप ज्ञान—आनन्द इत्यादि अनन्तगुण हैं। उन्हें पहचानकर उनमें एकाग्र होने पर वे प्रगट होते हैं। आम पड़ा पड़ा खट्टेसे मीठा हो जाता है वहाँ आममें रसगुण ज्योंका त्यों है, मात्र उसकी अवस्था बदल जाती है। आम खट्टेसे मीठा हो जाता है, उसमें उसे ज्ञानकी आवश्यक्ता नहीं होती अथवा उसे किसीकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं होती। इसप्रकार आत्मा अपने ही कारणसे परमें ममता करता है और ममतारहित होता

है, इसमें किसीकी सहायताकी आवश्यक्ता नहीं होती। विपरीत रुचि को मिथ्या-रुचि कहते हैं, और सच्चा पुरुषार्थ करके जो प्रतीति होती है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। दर्शनगुण आत्माके साथ स्थिर रहता है और अवस्था बदलती रहती है। यहाँ सब सरल रीतिसे कहा जा रहा है, लेकिन लोगोंने उसे बहुत कठिन मान रखा है। 'मेरी समझमें नहीं आता, मैं नहीं समझ सकता' इत्यादि कहना मानों अपनेको गाली देना है। आत्माको अपात्र कहना उसे कलंकित करना है। जो अनंत सिद्ध परमात्मा कर चुके हैं वही कहा जा रहा है और अधिक कुछ नहीं।

प्रत्येक आत्मा निजमें अनन्त कार्य कर सकता है, परमें कुछ भी नहीं कर सकता। हाँ, यह मानता अवश्य है कि मैं परमें भी कुछ कर सकता हूँ। स्वतंत्रता जैसी है वैसी ही बताई जा रही है, तू इन्कार मत कर, तेरी प्रभुताके गीत गाये जा रहे हैं। जैसे बालकको सुलानेके लिये माता लोरी गाती है और बालक अपनी बड़ाई सुनकर सो जाता है, उसीप्रकार आत्माको जागृत करनेके लिये कहा जाता है कि तू परमात्माके समान है, सदा चैतन्यज्योति है। बालकको सुलानेके लिये पालनेमें लिटाया जाता है और बालक लोरी गीत सुन-कर सो जाता है, उसीप्रकार ज्ञानी संबोधित करते हैं कि—चौरासीके झूलेको अपना मानकर अज्ञानरूपमें सो रहा है, तुझे जागृत करनेके लिये गीत गाये जा रहे हैं, तुझे जानना होगा। माताके गीत तो सुलानेके लिये होते हैं, किन्तु ये गीत तुझे जगानेके लिये हैं। संसार और मोक्षकी रीतिमें इतना ही उल्टा-सीधा अन्तर है। बालककी प्रशंसा करने पर वह सो जाता है, क्योंकि उसकी गहराईमें बड़प्पन-की मिठास भरी हुई है, वह उसमेंसे बड़प्पनका आदर पाकर संतुष्ट हो जाता है, उसीप्रकार यह जीव मिथ्याबुद्धिके झूलेमें अनादिकालसे सो रहा है। अब तुझे मेरी प्रभुताकी महिमा गाकर जागृत किया जा रहा है, यदि तू इन्कार करे तो यह नहीं चलेगा। त्रिलोकीनाथ सिद्ध भगवानने जिस पदको पाया है उसी पदका अधिकारी तू भी है, इस प्रकार तेरे गीत गाये जा रहे हैं। शास्त्र भी तेरे गीत गाते हैं। जाग रे

जाग ! यह महामूल्य क्षण वृथा चले जा रहे हैं। तू अपनेको न पहचाने, यह कैसे हो सकता है ?

जो स्वाधीन ज्ञानानन्दस्वरूपको अपना मानकर-जानकर उसमें स्थिर होता है वह स्वसमय आत्मा है, और परको जो अपना मानता है—जानता है और रागद्वेषमें परवस्तुकी ओरके झुकावके बलसे स्थिर होता है वह परसमयरूप होता हुआ अज्ञानी आत्मा है। एककी अवस्थाका झुकाव स्वकी ओर है और दूसरेका पर की ओर। अवस्थामें उल्टा फिरनेसे संसारमार्ग और सीधा फिरनेसे मोक्षमार्ग होता है।

अपने और परद्रव्योंके आकारोंको प्रकाशित करनेकी सामर्थ्य होनेसे, जिसने एकसाथ विश्वके समस्त रूपका ज्ञान प्रगट किया है ऐसा भगवान आत्मा है। सम्पूर्ण पदार्थोंका स्वरूप ज्ञात हो ऐसा गुणवाला होनेसे उसने लोकालोकको झलकाने वाला एकरूप ज्ञान प्राप्त किया है। दर्पणमें लाखों वस्तुयें प्रतिबिम्बित होती हैं, किंतु इससे दर्पण उन लाख वस्तुओंके रूपमें नहीं हो जाता। दर्पणमें कोई वस्तु प्रविष्ट नहीं है, किन्तु उसकी स्वच्छतासे ही ऐसा दिखाई देता है। इसी प्रकार आत्माका ज्ञानगुण ऐसा स्वच्छ है कि उसमें जानने योग्य अनन्त परवस्तुयें ज्ञात होती हैं। जानने वाला अपनी शक्तिको जानता है और वह दूसरेको जानता हुआ पररूप नहीं हो जाता, किंतु अज्ञानीको अपने स्वभावकी खबर नहीं है। कुछ लोगोंका ऐसा अभिप्राय है कि केवलज्ञान होनेके बाद आत्मा स्व को ही जानता है, परको नहीं जानता। ऐसे एकाकारको मानने वालोंका यहाँ निषेध किया गया है। तथा कोई कहे कि ज्ञान निजको नहीं जानता, परको ही जानता है, तो इस प्रकार अनेक आकार मानने वालोंका भी निषेध किया गया है। जीवका स्वरूप जैसा है वैसा विरोधरहित न जाने तो जीव जागृत नहीं होगा।

और फिर आत्मा कैसा है, सो बताते हैं। अन्य द्रव्योंके जो

मुख्य गुण हैं उनसे विलक्षण, असाधारण गुणवाला चैतन्यस्वरूप है। आत्माके अतिरिक्त जो अन्य पदार्थ हैं उनके विशेष गुण कहे जाते हैं। जैसे एक आकाश नामक पदार्थ है, उसका विशेष गुण अवगाहना है, इसीप्रकार गतिसहायक, स्थितिसहायक और वर्तनासहायक इत्यादि लक्षणोंको धारण करनेवाले धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और कालद्रव्य हैं। यह पदार्थ आत्मासे भिन्न हैं। प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षासे त्रिकाल है परापेक्षासे त्रिकाल नहीं है। छहों द्रव्य जगतमें विद्यमान हैं, उन्हें युक्ति, आगम और अनुभवसे सिद्ध किया जा सकता है। रूपित्व पुद्गल-परमाणुका गुण है। पाँचों पदार्थोंके गुणोंका आत्मामें अभाव है, किसीके साथ सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विपरीत मान्यताने घर बना रखा है। एकबार पात्र होकर अपने अनन्त केवलज्ञान स्वरूपको सुने और जाने तो उसकी महिमा आये बिना न रहे। अब यहाँ अस्ति-नास्ति-को बतलाते हैं कि परवस्तुके गुण तुझमें नहीं हैं और तेरे गुण परमें नहीं हैं। तू ज्ञायक है, इसलिये तेरा मुख्य लक्षण जानना है। तुझसे ही तेरा धर्म प्रगट होता है, परसे गुण प्रगट नहीं होता। आत्माका कोई गुण यदि परसे आये तो आत्मा निर्माल्य सिद्ध होगा। किंतु तू अनन्त गुण-स्वभावसे परिपूर्ण तत्त्व है। यदि उसे भूलकर परका आश्रय ले तो क्या तू निर्माल्य वस्तु नहीं कहलायगा? आत्मा स्वयम् ही सम्पूर्ण सुखसे परिपूर्ण है।

असाधारण चैतन्यरूपता, चैतन्यस्वरूपत्व, अरूपित्व तथा ज्ञान-घनता इत्यादि स्वभावका अस्तित्व होनेसे आत्मा अन्य द्रव्योंसे भिन्न है। उन विशेषणोंसे एक ब्रह्म वस्तुको ही माननेवालोंका निषेध हो गया। जगत्में अनन्त परवस्तुएँ हैं। जगत, जगतमें है, आत्मामें नहीं। आत्मा परसे भिन्न है, परवस्तु आत्मासे त्रिकाल भिन्न है। इसप्रकार जहाँतक निर्णयपूर्वक न जाने वहाँतक जीव पृथक्त्वका भेद-ज्ञानज्योतिका पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा।

व्यवहारसे आत्मा अन्य अनन्त द्रव्योंके साथ एकक्षेत्रा-

वगाहमें व्याप्त होकर विद्यमान है; निश्चयसे प्रत्येक आत्मा परक्षेत्रसे नास्तिरूप है। द्रव्य अर्थात् अनंत गुण-पर्यायरूप वस्तु। क्षेत्र अर्थात् आत्माकी असंख्यप्रदेशरूप चौड़ाई। काल अर्थात् वर्तमानमें प्रवर्तमान अवस्था। भाव अर्थात् त्रिकालरूपमें द्रव्यकी शक्ति अथवा गुण।

इसप्रकार आत्मा स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूपसे-अपनेपनसे है और परवस्तुके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे त्रिकालमें भी नहीं है। जैसे पानीके साथ बहुत समयसे कंकड़-पत्थर भी एकत्रित चले आ रहे हैं तथापि पानी और कंकड़-पत्थर भिन्न भिन्न हैं। उसीप्रकार एक स्थानमें प्रत्येक वस्तुके एकत्रित रहने पर भी कोई अपने स्वभावसे अलग नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्य एक स्वभावरूप है। इस विशेषणसे वस्तु-स्वभावका नियम बताया है। ऐसा जीव नामका पदार्थ समय है। समय अर्थात् [सम् + अय] एक साथ जाने और बदलनेकी क्रिया करे सो समय-आत्मा अथवा जीव है।

अब मोक्षमार्ग बतलाते हैं—जीवका झुकाव किधर है यह बताते हैं। जब जीवका सीधी ओर झुकाव हो तब भेदविज्ञानज्योति प्रगट होती है, तथा जब जीव स्वयं पुरुषार्थ करता है तब वह प्रगट होती है। यहां साधक भावका वर्णन किया है। जब इस आत्मामें सर्वपदार्थोंके स्वभावको प्रकाशित करनेमें, जाननेमें समर्थ केवलज्ञान-को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योतिका उदय होता है तब वह सर्व परभावोंसे अपनेको भिन्न जानने लगता है। मैं परसे निराला हूँ, शरीर, मन, वाणी, पुण्य, पापरूप नहीं हूँ; चैतन्यज्ञानज्योतिस्वरूप हूँ, रागादिरूप नहीं हूँ अर्थात् परसे भिन्न हूँ। इसप्रकारकी भेदज्ञान-ज्योतिके द्वारा पुण्य-पाप उपाधिरहित पूर्ण ज्ञानघन स्वभावके लक्ष्य-से, परसे भिन्न रागरहित होनेकी क्रिया साधक जीव करता है।

जैसे अग्निमें पाचक, प्रकाशक और दाहक गुण हैं; उसी प्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान और चारित्र गुण हैं। जैसे अग्नि पाचक-

गुणके द्वारा अनाज पकाती है उसीप्रकार आत्मा अपने दर्शन-गुणसे अपने सम्पूर्ण शुद्धस्वभावको पका सकता है। जैसे अग्नि अपने प्रकाशक गुणके द्वारा स्व-परको प्रकाशित करती है वैसे ही आत्मा अपने ज्ञान-गुणके द्वारा स्व-पर प्रकाशक है। जैसे अग्नि अपने दाहक-गुण द्वारा दाह्यको जलाती है उसीप्रकार आत्माका चारित्र-गुण विकारी भाव-को सर्वथा जला देता है। अंधेरेमें जाकर देखो तो सभी वस्तुएँ एकसी मालूम होंगी, उनमें भेद मालूम नहीं हो सकता, किन्तु दीपकके प्रकाशमें देखने पर वे जैसी भिन्न भिन्न होती हैं वैसी ही दिखाई देती हैं। इसीप्रकार आत्माको परसे भिन्न जाननेके लिये पहले सम्यग्ज्ञान-रूपी प्रकाश चाहिये। यह सबसे पहली आत्मधर्मकी इकाई है। सम्यकदर्शन, ज्ञान और अंतःचारित्रकी एकतासे ही धर्म होता है और वही यहाँ कहा जा रहा है।

आत्माका स्वभाव कैसा है? शिष्यके इस प्रश्नका उत्तर सात प्रकारसे कहा गया है।

विपरीत दृष्टिसे संसार और सीधी दृष्टिसे मोक्ष होता है। यहाँ यह बताया जारहा है कि धर्म क्योंकर होता है, इसलिये ध्यान रखकर सुनो! यह अन्तरंगकी अति सूक्ष्म बात है। भेदज्ञानज्योतिको प्रगट करनेसे ही सर्व पदार्थोंको जानने वाला केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञानका अर्थ है पूर्ण-निर्मलज्ञानदशा। उसे प्रगट करनेमें जीव तब समर्थ होता है जब भेदज्ञानज्योतिरूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है। मोक्षका सर्वप्रथम उपाय आत्मामें भेदज्ञानज्योतिको प्रगट करना है, उसे सम्यग्ज्ञानज्योति कहते हैं। जैसे अंधकारके कारण सभी वस्तुएँ पृथक् पृथक् मालूम नहीं होती, उसीप्रकार अज्ञानरूपी अन्धकार-में मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप इत्यादि जो कि आत्मासे भिन्न हैं, भिन्न नहीं मालूम होते। किन्तु जब भेदज्ञानसे पृथक्त्वके बोधका उदय होता है, तब जीव सर्व परद्रव्योंसे छूटकर निरालम्बी होकर दर्शन-ज्ञानस्वभावमें प्रवृत्ति करता है। जब इसप्रकारकी श्रद्धा होती है कि

मन, वाणी, देह, पुण्य, पाप, राग इत्यादि मैं नहीं हूँ तब श्रद्धामें परसे छूटना होता है। यहाँ तो अभी मोक्षदशा कैसे प्रगट हो उसकी श्रद्धा अर्थात् पहिचान करनेकी बात है, वह प्रगट तो बादमें होती है। जैसे सूर्योदयसे अन्धकारका नाश होने पर प्रत्येक पदार्थ अलग अलग मालूम होता है, इसीप्रकार अन्तरंग ज्ञानस्वरूपकी ज्ञानज्योतिसे पहिचान होने पर प्रत्येक स्व-पर वस्तु पृथक् पृथक् मालूम होती है। जैसे अग्निका प्रकाश होता है वैसे ही यहां ज्ञानका प्रकाश है। परमाणु, देहादि और रागका अंश मेरा नहीं है। मनके सम्बन्धसे राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उस सम्बन्धसे रहित अविकारी आत्मधर्म है। इसप्रकारकी प्रतीतिके अनुसार पुण्य-पापरहित और दर्शनज्ञानस्वरूप-स्थिरतारूप आत्मतत्त्वमें एकाग्र होकर मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः वीतरागदशा प्रगट हो जाती है।

जिसे मुक्त होना है उसे उसकी परिभाषा जानना चाहिये। बन्धनभावरूप अशुद्धदशासे मुक्त होता है या स्वभावसे मुक्त होता है? यह निश्चय करना होगा। अज्ञानी परको मानता है इसलिये कभी बन्धभावसे नहीं छूट सकता। कोई कहे कि अभी पुण्य-पाप, देहादिसे पृथक् आत्मा कैसे माना जा सकता है? उसके लिये ज्ञानी कहते हैं कि-मैं परमार्थतः मुक्त हूँ, परसे बद्ध नहीं हूँ, यह निर्णय तो पहले करना ही होगा। पहले श्रद्धामेंसे सर्व परद्रव्योंका सम्बन्ध छोड़ने पर यह प्रतीत होता है कि परवस्तुके साथ तीनकाल और तीनलोकमें भी आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरा हित मुझमें मेरे ही द्वारा होता है। इसप्रकार अंतरंगमें दृढ़ता हो जाती है।

पहले पात्रतानुसार खूब श्रवण करना चाहिये और सुने हुये भावका मनन करना चाहिये, क्योंकि स्वयं कौन है, इसका अनादिकालसे विस्मरण हो रहा है। और पर मेरे हैं, मैं पर काम कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकते हैं, इसप्रकारकी विपरीतदृष्टिके कारण अनादिकालसे परका स्मरण बना हुआ है। जगतमें ऐसी बातों-

का परिचय भी बहुत है, इसलिये पहले सत्यको सुनकर सत्य-असत्यकी तुलना करना आना चाहिये, तथा खूब श्रवण करके आदरपूर्वक अंतरंगसे हाँ कहना सीखना चाहिये। सत्समागमसे सुनकर 'मैं सिद्ध परमात्मा ही हूँ,' यह समझकर हाँ कहते कहते उसका अभ्यास हो जायगा और उससे आत्मस्वभावकी स्थिति प्रगट हो जायगी।

आत्मस्वभाव परसे भिन्न है, यह बात सुनते ही तत्काल भेदज्ञान हो जाता है, किन्तु परसे भिन्न आत्मा कैसा है और कैसा नहीं, इसकी यथार्थ पहचानकी बात होने पर जो जो न्यायपुरस्सर कहा जाता है उसे सुनकर मोक्षस्वभावका प्रेम बढ़ना चाहिये। जिसे जिसका प्रेम है उसकी बात श्रवण करते हुये वह उकता नहीं सकता, इसीप्रकार आत्माकी सत्य बातका प्रेम होने पर आत्मा परका कर्ता नहीं है, परसे निराला है, ऐसी बात सुनते हुए उकताना नहीं चाहिये, किन्तु उसे रुचिपूर्वक सुनना चाहिये। सर्वज्ञ द्वारा कथित यह सत्य है कि तेरा तत्त्व परसे निराला है, तूने उसका यथार्थ स्वरूप पहले कभी नहीं सुना था, इसलिये उसे सुननेके लिये प्रीतिपूर्वक ऐसा भाव होता है कि अरे! यह बात तो अनन्तकालमें कभी नहीं सुनी थी—ऐसी अपूर्व है। समझ पूर्वक उसके प्रति आदर होता है, उससे विरुद्ध बातका आदर नहीं होता। अनन्तकालमें धर्मके नाम पर जो कुछ किया है वह कुछ अपूर्व नहीं किया है, उसको सत्य बात पहले ही अन्तरंगमें रुचिगत होनी चाहिये।

असंयोगी ज्ञानघन तत्त्व उस राग और परमाणुसे भी भिन्न, पराश्रय रहित, पूर्णज्ञानानन्दरूप है। आत्मा स्वाधीनतया सदा जानने वाला है। ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप है, जो क्षणिक मलिनता दिखाई देती है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इस प्रकार पहले ज्ञानमें स्वीकृति हो और रागको टालनेके लिये स्थिरतारूप क्रिया मुझमें, मेरे द्वारा हो सकती है ऐसी श्रद्धा होनेके बाद सर्व परद्रव्योंसे, परावलम्बनसे मुक्त होकर स्वमें एकाग्रता—लीनतारूप चारित्र हो सकता है। किन्तु अभी स्थूल

मिथ्यात्वरूप मान्यतासे, अनादिकालसे यह मानता चला आ रहा है कि मैं परकी प्रवृत्ति कर सकता हूँ, पर मेरी सहायता कर सकता है, पुण्यसे भला होता है, उससे धीरे धीरे धर्म प्रगट होता है; और ऐसी कल्पना किया करता है कि शरीर मेरा है, पर वस्तु मेरी है। इसप्रकार माननेवालेके धर्म कहाँसे हो सकता है? आत्मा बदलकर कभी जड़ नहीं होता, और जड़ पदार्थ आत्माके नहीं हो सकते। परद्रव्यको छोड़नेकी बात व्यवहारसे है। वास्तवमें तो आत्माको किसी परने ग्रहण किया ही नहीं है। केवल मान्यतामें ही परकी पकड़ थी कि राग मेरा है, पुण्य मेरा है, जड़ पदार्थ मेरे हैं, और इसप्रकार जड़की अवस्थाका स्वभाव मेरा है। इस विपरीत मान्यतासे छूटना समस्त परद्रव्योंसे छूटना है। आत्माके भीतर कोई घुस नहीं गया है। अन॰ से परमें कर्तृत्व मान रखा है कि जड़-देहादिकी क्रिया मेरे द्वारा होती है और परसे मुझे हानि-लाभ होता है, इसप्रकार जो परको और अपनेको एक करके मान रहा था, उस विपरीत मान्यताका स्वभावकी प्रतीतिसे प्रथम त्याग करना चाहिये। उसके बाद ही वर्तमानमें दूसरेकी ओर झुकती हुई अस्थिर अवस्थाको स्वरूप-स्थिरतासे छोड़ा जा सकता है।

मैं परमात्माके समान अनन्त आनन्द और अपार ज्ञानस्वभाव हूँ। जैसे भगवान हैं वैसे ही परमार्थतः मैं हूँ, ऐसी दृढ़ प्रतीति होनेसे सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होता है। त्रैकालिक अविकारी स्वभावका लक्ष होने पर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें जो अल्परागका भाव रहता है उसे नहीं गिनता। ज्ञानकी तीव्र एकाग्रतारूप ध्यानाग्निके द्वारा सर्व रागका नाश करनेकी श्रद्धा विद्यमान है, इसलिये उसके बलसे राग हटता हुआ दिखाई देता है। जैसे अग्निमें पाचक, प्रकाशक और दाहक शक्तियाँ विद्यमान हैं उसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रगुण विद्यमान हैं। आत्मा त्रिकाल परसे भिन्न है, उसकी अनन्त चैतन्य-शक्ति भी शुद्ध है।

वर्तमान अवस्थामें कर्मका निमित्त है, उसे लक्षमें न लेकर त्रिकाल ज्ञानस्वभावरूपमें देखा जाय तो वह शुद्ध ही है। आत्मासे जो अशुद्ध अवस्था होती है उसकी स्थिति एक समयमात्रकी है। विकारीभाव दूसरे समयमें करता है सो वह भी मात्र उस समयके लिये ही करता है। उस क्षणिक अवस्थारूप मैं नहीं हूं, मैं तो नित्य हूं। शुद्धता अथवा अशुद्धता वर्तमान पर्यायमें होती है, द्रव्यदृष्टिसे देखने पर द्रव्यमें वह भेद नहीं है। आत्मा अनन्तगुणोंका पिण्ड है, उसकी एक समयकी वर्तमान अवस्था प्रगट होती है और दूसरी त्रिकाली अवस्था अप्रगट होती है, अर्थात् शक्तिरूपसे होती है। संसारी आत्मामें भी अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि गुण अप्रगट शक्तिरूपसे हैं।

आत्मामें समय समय पर होनेवाली विकारी अवस्था प्रवाहसे अनादिकी है, वह अवस्था क्षणिक होनेसे दूर की जा सकती है। आत्माका स्वभाव राग-द्वेषका नाशक है, किन्तु उत्पादक नहीं। चैतन्यका स्वभाव अवगुणको जाननेवाला है, अवगुणरूप होकर जाननेवाला नहीं है। न्यायपूर्वक विचार करनेसे मालूम होता है कि जिसको दूर करना चाहता हूँ वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसका यह अर्थ हुआ कि परसे भिन्न अकेला रहना निजका स्वभाव है और मैं परमें एकत्वबुद्धिको दूर कर स्वसे रहना चाहता हूं। पूर्ण होनेसे पहले पूर्णस्वभावकी श्रद्धा करना चाहिये, क्योंकि उसके बिना पूर्णकी ओरका पुरुषार्थ नहीं आ सकता।

मैं त्रिकाल अनन्तगुणोंका पिण्ड हूं। एक समयमात्रकी स्थितिका जो विकार है वह मेरा स्वभाव नहीं है। दोष और दुःखका ज्ञाता दोष अथवा दुःखरूप नहीं है। यदि मैं अवगुणोंको दूर करना चाहता हूं तो वे दूर हो सकते हैं और मुझमें उन्हें दूर करनेकी शक्ति विद्यमान है। जिसे ऐसा भेदज्ञान नहीं होता उसके व्रत और चारित्र कहाँसे हो सकते हैं? सम्यग्दर्शनसे पूर्व सच्चे व्रतादिक नहीं हो सकते और सम्यग्दर्शनके बिना भव-भ्रमण दूर नहीं हो सकता। यदि कषायकी मंदता हो तो पापानुबंधी पुण्यका बन्ध होता है। स्वतंत्र, निरा-

वलम्बी तत्त्वको समझे बिना धर्म नहीं होता, ऐसा नियम है। सर्वज्ञ कथित इस त्रैकालिक नियममें अपवाद नहीं हो सकता।

यथार्थ आत्मस्वरूपको समझे बिना देहादिकी क्रियाकी बातोंमें और उसके झगड़ेमें जगत लगा रहता है। आत्ममार्ग तो अन्तरंग अनुभवमें है। अनादिसे विपरीतताके कारण जीवने जो कुछ मान रखा है वह यथार्थ नहीं है।

सुख अथवा दुःख जड़में नहीं है, किन्तु परवस्तुकी ओर झुकनेका जो भाव है वही दुःखरूप है। तीव्र कषाय अधिक दुःख है और मंद कषाय थोड़ा दुःख है। उसे लोग सुख मानते हैं, किन्तु वे दोनों आत्मगुणरोधक हैं। जैसे धुआँ अग्निका स्वभाव नहीं है, किन्तु गीली लकड़ीके निमित्तसे वर्तमान अवस्थामें जो धुआँ दिखाई देता है, वह अग्निका स्वरूप नहीं है; क्योंकि अग्निके प्रज्वलित होने पर जैसे धुआँ दूर हो जाता है, उसीप्रकार चैतन्य स्वभाव राग-द्वेषके धुएँसे रहित है। वर्तमान अवस्थामें पुरुषार्थके दोषसे शुभ या अशुभवृत्तिका मैल उठता है, किन्तु वह आत्मस्वरूप नहीं है। अल्प मैलका फल अल्प दुःख है, जिसे पुण्य कहा जाता है और अधिक मैलका फल अधिक दुःख है, जिसे पाप कहा जाता है। शुद्ध चैतन्य स्वभावमें जीवके एकाग्र होने पर और ध्यानरूपी अग्निके प्रज्वलित होने पर वह मैल दूर हो जाता है। शुभ और अशुभ दोनों भाव विकार हैं, दोनोंको कर्मके निमित्तसे उत्पन्न हुआ मैल जानकर जो उसे दूर करना चाहता है वह दूर करनेवाला मैं निर्मल हूँ, जिसकी ऐसी दृष्टि होती है वह उसे दूर कर सकता है।

त्रिकाल पूर्ण, निर्मल, निराकुल स्वभावके लक्षसे वर्तमान क्षणिक शुभाशुभ आकुलतारूप भाव दूर किया जा सकता है, इसलिये पहले ही पूर्णस्वभावकी प्रतीति करनेका कथन किया है। संपूर्ण दशा प्रगट होनेसे पहले आत्मा अपार आनन्दरूप, निर्मल पवित्र है, ऐसी जो सम्यक्प्रतीति करता है वह संपूर्ण दशाको प्राप्त करता ही है। यहाँ कोई कहता है कि प्रगट होनेके बाद मानूंगा, उसके लिए कहते हैं कि

परमात्मदशा प्रगट होनेके बाद माननेको क्या रहेगा ?

मैं परमात्मस्वरूप ही हूँ, पुण्य-पापके बंधनवाला नहीं हूँ, ऐसी सम्यक्-श्रद्धामें पूर्ण केवलज्ञान प्रगट करनेकी सामर्थ्य है और उसके बलसे वह पूर्णताको प्रगट करता है, इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय कोई बताये तो वह सत्य नहीं है।

जिस वस्तुकी आवश्यक्ता हो वह कैसी है, कैसे मिले, और कहाँसे मिले? इत्यादि बातोंका जीव पहलेसे ही निश्चय करता है। जैसे किसीको हलुवा बनाना है वह उसके बनानेसे पहले अमुक वस्तुओंसे वह बनेगा ऐसी प्रतीति करता है, और फिर आटा, घी, शक्कर लेकर बनानेका परिश्रम करता है, उसीप्रकार आत्मा चिदानन्द भगवान, निर्मल, वीतराग है, परसे त्रिकाल भिन्न है; उसको यथार्थरूप-से पहचाननेका अभ्यास करे उसके लिए निवृत्ति लेकर सत् समागम, श्रवण-मनन करे तो अपूर्व सत्य समझमें आता ही है, किन्तु जिसे इस बातकी रुचि नहीं है वह इस बातके कानमें पड़ते ही कहता है कि यह बात हम नहीं मान सकते, क्योंकि जो देखनेमें नहीं आता वह कैसे माना जा सकता है? किन्तु यदि स्वभावका विश्वास करके देखे तो सभी समय पूर्ण परमात्मस्वभाव है। आत्मा मनुष्य भी नहीं है, ऐसा जानकर और वर्तमान विकारी अवस्थाका लक्ष्य छोड़कर, अखंड ज्ञायकरूपको ही मानकर यदि उसमें स्थिर हो तो संयोग और विकार दूर हो जाता है।

"मैं पूर्ण परमात्मा हूँ, राग और पुद्गल-परमाणुमात्र मेरे नहीं हैं, मुझे परका आश्रय नहीं है," ऐसी श्रद्धा सम्यग्दर्शन, ऐसा ज्ञान सम्यग्ज्ञान तथा ऐसे दर्शन-ज्ञानसे जाने हुए स्वरूपमें स्थिरतारूप क्रिया चारित्र है।

जैसे वकील अपने ही पक्षका समर्थन करता है, उसके विरोधी-का चाहे जो हो इसे वह नहीं देखता; इसीप्रकार सर्वज्ञभगवानका न्याय आत्माके ही पक्षमें होता है। लौकिक न्याय (नियम) में तो

देश, कालके अनुसार परिवर्तन होता है, किन्तु आत्मधर्ममें वैसा नहीं होता। कहा है कि:—"एक होय त्रणकालमां परमारथनो पंथ"

जब यह जीव भेदज्ञानज्योति प्रगट करके परभावसे छूटकर स्वरूपमें स्थिर होता है अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें अन्तरंगसे एकत्वरूपमें लीन होकर रमणता करता है, तब केवलज्ञानज्योति प्रगट होती है।

प्रश्नः—क्या वास्तवमें जड़ मन सहायक है?

उत्तरः—नहीं, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्व-अपेक्षासे है, और पर-अपेक्षासे नहीं है। आत्मा स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है। आत्मामें परवस्तु असत् है। जो उसमें नहीं है वह उसका क्या कर सकता है? जो पृथक् वस्तु है, उसे परवस्तु तीनकाल और तीनलोकमें सहायक हो ही नहीं सकती, अर्थात् वह मन जो कि आत्मासे भिन्न है, आत्माका सहायक हो ही नहीं सकता।

जीव नामका पदार्थ 'समय' है। जब जीव समस्त पदार्थोंके स्वभावको प्रकाशित करनेमें समर्थ केवलज्ञानको उत्पन्न करनेवाली भेदज्ञानज्योतिका उदय होनेसे, समस्त परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन-ज्ञानस्वभावमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्वके साथ एकत्वरूपमें लीन होकर प्रवृत्ति करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्रमें स्थित होनेसे अपने स्वरूपको एकतारूपसे एक ही समय जानता हुआ तथा परिणमन करता हुआ 'स्वसमय' है; ऐसी श्रद्धाका होना मोक्षमार्ग कहा है।

अब अनादिका बन्धमार्ग कैसा है सो कहते हैं:-पहले अनुकूलता-के गीत गाये, अब प्रतिकूलताकी बात कही जाती है। अनादि अविद्यारूपी केलस्तंभकी तरह पुष्ट हुआ मोह है, उसके उदयानुसार प्रवृत्तिकी आधीनतासे दर्शन-ज्ञानस्वभावमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्म-तत्वसे छूटकर, परद्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावोंमें एकत्वरूपसे लीन होकर जीव जब प्रवृत्ति करता है तब पुद्गलकर्मके

कार्मणस्कन्धरूप प्रदेशोंमें स्थित होनेसे परद्रव्यको अपने (आत्माके) साथ एकरूपसे एक कालमें जानता हुआ और रागादिरूप परिणमन करता हुआ 'परसमय' है। इसप्रकार प्रतीति की जाती है।

मोहके उदयमें जुड़नेसे परवस्तुको अपनी माननेरूप जो पराश्रित-भाव होता है वह आत्मामें सदा नहीं रह सकता। अज्ञान भी नित्य नहीं रहता, तथापि जीवमें वह अनादिसे है; इसलिये यह निश्चय हुआ कि जीव पहले शुद्ध था और बादमें अशुद्ध हुआ हो ऐसी बात नहीं है।

प्रश्नः—जब कि अज्ञान आदिसे है तब उसका नाश कैसे होगा ?

उत्तरः—जैसे चनेसे पौधा होता है, और पौधेसे चने होते हैं; किन्तु यदि चना भून लिया जाये तो वह फिर नहीं उगता, इसीप्रकार राग-द्वेष-अज्ञानरूप अवस्था है, उसका एक बार नाश होने पर वह फिर उत्पन्न नहीं होती।

जिसकी देहादिके ऊपर दृष्टि है उसंसे कहते हैं कि "वह तेरे नहीं हैं, तू पुण्य-पाप-देहादिके संयोगसे भिन्न है," सो तो उसे रुचता नहीं है, तथापि ज्ञानी कहता है कि हम स्वयं अनुभव करनेके बाद कह रहे हैं कि तू अपार सामर्थ्यवान अनन्तगुणरूप है, उसकी ओर दृष्टि कर। परके आश्रयसे होनेवाला विकार क्षणिक है, वह तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो मुक्त, सिद्धके समान है।

ऐसी सच्ची बात कभी नहीं सुनी, इसलिए 'हाँ' कहनेमें कठिनाई मालूम होती है। यदि बाह्यकी बात की जाय तो तत्काल ही हकार करता है।

यहाँ अनादि अविद्या (परको अपना मानना और स्वयंको भूल जाना) को केलकी उपमा क्यों दी गई है? सो कहते हैं—जैसे केलकी गांठमेंसे केलके अनेक पुर्त फूटते जाते हैं, उसीप्रकार अज्ञान-

रूपी केलमें से राग-द्वेष-तृष्णारूपी अनेक प्रकारके पुर्त फूटते रहते हैं, और उनका फल चौरासी लाखका अवतार ग्रहण होता है।

यदि अपनी मानी हुई कोई बात आती है तो तुरन्त ही 'हां' कहता है, और यदि अपनी मान्यतासे भिन्न बात कही जाय तो डंके की चोट नकार देता है। नहीं' कह

मोहका अर्थ है स्वरूपकी असावधानी। उसके द्वारा अनादिसे परवस्तु मेरी है, पुण्य-पाप मेरे हैं, इसप्रकार जीव मानता है। ऐसी पराधीनदृष्टि होनेसे उसको स्वतंत्र होनेकी बात अच्छी नहीं लगती। तू प्रभु है, पूर्ण है, निर्विकारी है; उसकी श्रद्धा कर। स्वभावकी 'हां' भरनेसे अन्तरंगसे अनन्त बल आयेगा।

शुभभाव भी आत्मस्वभावमें सहायक नहीं है। ऐसी समझके बिना मात्र पुण्यकी क्रिया की, और इसीलिये जो यह जीव अनन्त-बार नववें ग्रैवेयक तक गया उसकी श्रद्धा व्यवहारसे तो बहुत स्पष्ट होती है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यवहारशुद्धिके बिना नववें ग्रैवेयक तक जा नहीं सकता, किन्तु अन्तरंगमें परमार्थ श्रद्धान नहीं हुआ, इसलिये इसका भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जैसे किसीने पहला घड़ा उल्टा रक्खा हो तो उसके ऊपर रक्खे गये सभी घड़े उल्टे ही रहते हैं, इसीप्रकार जिसकी श्रद्धा विपरीत है उसका ज्ञान-चारित्र भी विपरीत होता है। इसलिये पहलेसे ही सच्चा स्वरूप समझनेकी आवश्यकता है। सत्यके समझनेमें देर लगती है इसलिए कोई हानि नहीं है, किन्तु यदि जल्दी करके विपरीत मान ले तो हानि अवश्य होगी।

बाह्य मान्यताने घर कर लिया है, इसलिए जीवको लौकिक प्रवृत्तिमें मिठास मालूम होती है और पुण्य-पाप रहित शुद्ध आत्मधर्म-की मिठास मालूम नहीं होती; प्रत्युत वैसी बात सुनकर बाह्यदृष्टि-वाले जीव निन्दा और द्वेष करते हैं।

यह जीव जितना समय परके लिये लगाता है उतना समय यदि अपने लिये लगाए तो कल्याण हुए विना न रहे। हे भाई! अनंतकालमें यह महादुर्लभ मनुष्य भव मिला है, इसमें यदि कल्याण नहीं किया तो फिर कब करेगा?

यद्यपि पुण्यको धर्म माननेका निषेध किया गया है, किन्तु पापसे वचनेके लिए पुण्य करनेका निषेध नहीं है। हां, पुण्यसे धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा, ऐसी अनादिकालीन विपरीत मान्यताका निषेध मोक्षमार्गमें है। अज्ञानी जीवोंने रागकी प्रवृत्तिको कर्तव्य मान रखा है। पुण्य-पापका भाव मुझे सहायक होगा, शरीर, मन, वाणी मेरे सहायक होंगे, परका मैं कुछ कर सकता हूं, पर मेरा कुछ कर सकता है, इसप्रकार परमें एकत्वकी मान्यतासे पुष्ट हुई मोहरूप भ्रांति चली आरही है। इसलिये अनुकूलतामें राग और प्रतिकूलतामें द्वेष करके विकारभावमें एकत्वभावसे लीन होकर जो जीव प्रवृत्ति करता है, परमें कर्तृत्वरूप पराधीनताके द्वारा निर्मल दर्शन-ज्ञान-स्वभावसे छूटकर परवस्तुको निजरूप मानता हुआ राग-द्वेष-मोहमें एकत्वरूपसे लीन होकर परिणमन करता है, वह परसमय है, वह जीव अधर्मी है, अनात्मा है और अपनी हिंसा करनेवाला है।

समयका अर्थ है आत्मा; उसका जो पूर्ण-पवित्र स्वरूप है सो समयसार है। आत्माके अनन्त-आनन्दमय शुद्ध पवित्र स्वरूपका निर्णय करना सो सम्यक्दर्शन है। यहाँ अन्धश्रद्धासे मान लेनेकी वात नहीं है, किन्तु भेदविज्ञान द्वारा भलीभाँति परीक्षा करके निःसंदेह-रूपसे स्वरूपको मानना सो सम्यक्श्रद्धा है।

आत्मामें मनके अवलम्बनसे जो शुभ-अशुभ वृत्तियाँ उठती हैं, वे आत्माका स्वरूप नहीं हैं। मन जड है, वह आठ पाँखुडीके कमलके आकार वाला है, उसका स्थान हृदयमें है, जैसे स्पर्श इत्यादिको जाननेमें इन्द्रियाँ निमित्त होती हैं उसीप्रकार विचार करनेमें मन निमित्त होता है। वह बाह्य-स्थूल इन्द्रियों जैसा दिखाई नहीं देता।

प्रश्नः—तब फिर मन है, यह कैसे माना जायेगा ?

उत्तरः—यदि ज्ञान अकेला स्वतंत्र कार्य करता हो तो परावलम्बन न हो, और क्रम भी न हो, किन्तु जब विचारमें क्रम पड़ता है तब मनका निमित्त होता है । पाँच इन्द्रियोंके द्वारा जो विषयोंका ज्ञान होता है उन इन्द्रियोंके सम्बन्धका ज्ञानोपयोग बंधकर अन्तरंगमें विचार करने पर एकके बाद दूसरा क्रमपूर्वक विचार आता है, तब इन्द्रियोंमें प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि विचारमें क्रम पड़ता है । वह परावलम्बनको सिद्ध करता है । वह परावलम्बन द्रव्यमन है । वह विचारमें सहायता नहीं करता, किन्तु वह निमित्त मात्र है । ज्ञान अपने ज्ञानस्वभावके द्वारा ही जानता है । परवस्तु आत्माकी सहायता कर ही नहीं सकती ।

लोगोंमें आजकाल सच्चे तत्वकी बात नहीं चलती । धर्मके नाम पर बहुतसा परिवर्तन हो रहा है, कुछ लोग आत्माको देह और वाणीसे पृथक् कहते हैं, किन्तु वह मनसे भी भिन्न है; संकल्प-विकल्परूप पुण्य-पापकी वृत्तिसे भी भिन्न है । वह परके आश्रयके बिना स्वमें रहने वाला है, और स्वतंत्रतया सबको जानने वाला है, ऐसा नहीं मानते; इसलिए उनको धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता । धर्म बाह्यमें नहीं किन्तु अपनेमें ही है । जिसे यह ज्ञात नहीं है कि देह, वाणी और मनसे रहित धर्मस्वरूप आत्मा स्वयं ही है, जो परके ऊपर लक्ष रखता है, तथा यह मानता है कि पर सहायक होता है, परके अवलम्बनसे लाभ होता है, वह झूठा है । निमित्त पर है, और परकी स्वमें नास्ति है; इसलिए निमित्त परका कुछ नहीं करता, किन्तु स्वयं परावलम्बनमें (रागादिमें) रुककर हीन हो जाता है । जब वह विकार करता है तब जिस वस्तुकी उपस्थिति होती है उसको निमित्त कहा जाता है । निमित्त किसीको बिगाड़ता अथवा सुधारता नहीं है, किन्तु अज्ञानी जीव स्वयं अपनेको भूलकर परके ऊपर आरोप करता है । इन्द्रिय-विषयोंमें या स्त्री, मकान, आभूषणादिमें-

सुख नहीं है, किन्तु स्वयं अज्ञानसे कल्पना करता है कि परमें सुख है, संयोगमें सुख–दुःख है। स्त्री, पुत्रादि इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोलें तो ठीक और इसप्रकार चलें तथा इसप्रकार बोलें तो ठीक नहीं, इसप्रकार अपनी रुचिके अनुसार अच्छे–बुरेकी कल्पना करता है। कहीं सुख–दुःख दृष्टिसे नहीं देखा मात्र कल्पनासे मान लिया है। सुखका निर्णय मैंने कहाँ किया है, यह भी किसी दिन विचार नहीं किया, तथापि वहाँ शंका नहीं करता। विषयोंमें सुखकी कल्पना करना अरूपी भाव है, वह दिखाई नहीं देता, फिर भी बिना विचार किये उसको मान लेता है। वहाँ यह तर्क नहीं करता कि आँखोंसे देखूँगा तभी मानूँगा। परमें सुख है, यह जिसप्रकार विपरीत ज्ञानसे निश्चय किया है, उसीप्रकार मन, इन्द्रिय, देहादि मेरा स्वरूप नहीं है, मैं सभीको जानने वाला हूँ, मैं ज्ञानस्वरूप सदा परसे भिन्न हूँ, मैं क्षणिक विकाररूप नहीं हूँ, मैं पूर्ण स्वतंत्र सुखरूप हूँ, ऐसा विचार पूर्वक यथार्थ निर्णय स्वतः ही कर सकता है। यथार्थ निर्णय करके उसमें एकाग्र होनेसे सच्चा सुख प्रगट होता है।

यदि वर्तमानमें ही पूर्ण स्वतंत्रदशा प्रगट हो तो अविकारी दशा प्रगट हो, और अविकारी दशा हो तो अनंत–आनंद दशा प्रगट हो। किन्तु वर्तमानमें विकार है, इसलिए भेदज्ञानज्योतिके द्वारा राग–द्वेष–मोहसे आत्माको पृथक् करनेका प्रयत्न करना पड़ता है।

एक वार सत्य श्रद्धा करनेसे भेदज्ञानज्योतिके द्वारा समस्त परद्रव्य और परभावसे मुक्ति होती है। यदि एक वार स्वतंत्र, स्व-समयको मान ले तो संसार न रहे। सम्यक्ज्ञान क्या है? यह अनंत कालमें कभी नहीं जाना और अज्ञान भावसे धर्मके नाम पर पापको कम करके पुण्यवन्ध किया, किन्तु उससे धर्म नहीं हुआ और इस-लिये भव–भ्रमण नहीं रुका।

मोह अनादि, अज्ञानरूपी केलस्तम्भके समान है। मोहका अर्थ है–स्वरूपमें भ्रांति अर्थात् निजको भूल जाना और परको अपना

मानना, यही अनंत संसारका कारण है। सम्यग्दर्शनके द्वारा उसका नाश होता है।

श्रेणिक राजा क्षायिक सम्यक्त्वी थे। गृहस्थदशामें यथार्थ स्वरूपकी प्रतीति हो सकती है। श्रेणिक राजा अभी पहले नरकमें हैं, वहाँसे निकलकर मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और आनेवाली चौवीसीके प्रथम तीर्थंकर होंगे। उन्होंने चारित्र न होने पर भी एकावतारित्व प्राप्त किया। पहले अज्ञान अवस्थामें नरकायुका बन्ध हो गया था, उससे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। किन्तु तब साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा महावीरस्वामीके निकट आत्मप्रतीति होनेके बाद शुभ राग उत्पन्न हुआ और उसमें तीर्थंकर नामकर्मका बंध हुआ। ऐसा उच्च पुण्य सम्यग्दृष्टिके ही बँधता है।

मैं पुण्य-पापके विकारसे भिन्न हूँ, राग मेरा स्वरूप नहीं है। शुभराग आत्मधर्ममें सहायक नहीं है, क्योंकि वह विकार है जो कि अविकारी स्वरूप धर्ममें सहायक नहीं होता; ऐसी समझ जिसको होती है उसको तीर्थंकर नामकर्म सहज ही बँध जाता है। श्रेणिक राजाके कोई व्रत अथवा चारित्र नहीं था तथापि मैं परका कर्त्ता नहीं हूँ, मात्र ज्ञाता ही हूँ, ऐसी श्रद्धाके बलसे वे एकावतारी हो गये, वे भविष्यमें तीर्थंकर होंगे। उनके अंतरंगमें निश्चय स्वरूपका यथार्थ भाव था, परका स्वामित्व नहीं था, और इसलिये एकावतारित्व हुआ। यह मात्र सम्यग्दर्शनकी ही महिमा है। उसके बिना अनंतबार धर्मके नाम पर व्रतादि क्रियाएँ की, शरीरमें कांटे लगाकर उसे जला दिया जाय तो भी क्रोध नहीं करे, ऐसी क्षमा रखने पर भी धर्म नहीं हुआ, मात्र शुभभाव हुआ। इतना करने पर भी आत्मा, मन, वाणी, देहसे पर है, पुण्य-पापके विकल्पसे रहित है; ऐसी श्रद्धा नहीं जमी।

अनादिसे परमें कर्ता-कर्मरूप प्रवृत्तिसे पराधीन हो गया, स्वाधीन नहीं रहा। अपने स्वाभाविक दर्शन, ज्ञान, चारित्र भावकी

एकतासे छूटकर परद्रव्यके आश्रित होनेवाला जो विकार, पुण्य-पाप-मोह भाव है वही मैं हूँ, इसप्रकार उसमें एकत्वबुद्धि करके प्रवृत्ति करता है, परके स्वामित्वसे परद्रव्यकी प्रवृत्तिमें लीन होकर प्रवृत्त होता है। इसप्रकार कर्मके फलमें अटक रहा है। परको अपने साथ एकरूप माननेवाला जाननेवाला और रागादिरूपसे परिणमन करनेवाला 'परसमय' है, अशुद्ध अवस्थावाला है। आत्मा अकेला हो तो अशुद्धता नहीं आ सकती, किन्तु पुद्‌गलकर्मका निमित्त है, इसलिए उसके आरोपसे अशुद्ध अवस्था कहलाती है। मूल द्रव्यमें अशुद्धता घुस नहीं गई है। स्वभावसे देखें तो वर्तमान क्षणिक अशुद्धताके समय भी आत्मा शुद्ध ही है। सोना सौटंची ही होता है। परधातुके संयोगके समय भी वह सौटंची शुद्ध था, इसलिये वह शुद्ध हो सकता है। जब सोनेमें तांबा मिला हुआ था तब भी तांबा सोनेका नहीं था, इसलिए वह उससे अलग किया जा सकता है। उसीप्रकार परके निमित्तसे रहित स्वाभाविक वस्तुके ऊपर लक्ष करने पर जीव क्षणिक विकार दूर कर सकता है। अखण्ड गुणकी प्रतीतिके बिना विकारका नाशक हूँ, ऐसी श्रद्धाके अभावसे मैं पुण्यवाला हूँ, विकारी हूँ, न्यून हूँ ऐसा मानकर पुण्यादि परका आश्रय ढूंढ़ता है। यदि इस विपरीतदृष्टिको बदलकर पूर्ण-पवित्र स्वभावका लक्ष करे तो परमात्मदशा प्रगट होती है।

"पुद्‌गल कर्म प्रदेश स्थित है" इसका अर्थ है कर्म विपाकमें युक्त होना। जैसे चावल पकते हैं, वृक्षमें फल लगते हैं, उसीप्रकार कर्म परमाणुमें विपाकरूपी फल देनेकी शक्ति प्रगट होती है तब अज्ञानी उसमें राग-द्वेषभावसे युक्त होता है, उसको अपना स्वरूप मानता है और उसमें उसकी प्रवृत्ति-स्थिरता होती है। इसलिये यह 'परसमय' अधर्मी है, ऐसा जानना चाहिए। सम्भव है यह वचन कठोर मालूम हों, किन्तु वे सच्ची वस्तुस्थितिको दिखाते हैं, इसलिये सत्य हैं। जिसने निजको स्वतंत्र, निर्मल ठीक नहीं माना उसने परको ठीक माना है और इसलिये निजको भूलकर वह परके रागमें

अटक रहा है।

यदि यह बात सूक्ष्म मालूम हो तो पूर्ण ध्यान रखकर समझना चाहिये, आत्मा सूक्ष्म है इसलिए उसकी बात भी सूक्ष्म ही होती है। एक 'स्वकी समझ' के विना अन्य सब अनंतबार किया है। आत्माकी परम सत्य बात किसी ही विरले स्थानपर सुननेको मिलती है, यदि कोइ धर्म सुनने जाये तो वहाँ कथा कहानियाँ सुनाई जाती हैं, बाह्यकी प्रवृत्ति बताई जाती है, बाह्य क्रियासे संतोष मनवाकर धर्मके स्वरूपको शाक–भाजीकी भांति सस्ता बना दिया गया है। जो बात अनन्त कालमें नहीं समझी गई उसे समझनेके लिये तुलनात्मक बुद्धि होनी चाहिए। लौकिक बात और लोकोत्तर बात बिल्कुल भिन्न होती है। यदि यह बात जल्दी समझमें न आये तो इन्कार मत करना, जो अपना स्वाधीन स्वरूप है वह ऐसा कठिन नहीं हो सकता कि समझमें ही न आये, मात्र सत् समझनेका प्रेम चाहिए। आचार्यदेवने कहा है कि मैं अपनी और तुम्हारी आत्मामें सिद्धत्व स्थापित करके यह तत्त्व बतलाता हूं।

अनजान व्यक्तिको ऐसा लगता है कि प्रतिदिन एक ही बात क्यों की जाती है। किन्तु अरे भाई! आत्मा तो सभीको जाननेवाला है, परका कर्ता नहीं है। अजीवके ऊपर किसी आत्माकी सत्ता नहीं चलती। भगवान आत्मा तो परसे भिन्न, ज्ञाता, साक्षी, अरूपी है, देहादि, जड़–रूपी हैं, उनका कार्य अरूपी जीव कभी नहीं कर सकता। ऐसी 'दो और दो चार' जैसी स्पष्ट बात बुद्धिवालोंको कठिन कैसे लगती है? रूपीका कार्य अरूपीके नहीं होता, क्योंकि दोनों पदार्थ त्रिकाल भिन्न हैं। एक जीव दूसरे जीवका किसी समय कुछ नहीं कर सकता।

लोग कहते हैं कि जैसी इच्छा की जाय उसीप्रकार जड़की क्रिया होती हैं, वह स्पष्ट दिखाई देती है। किन्तु यही विपरीतदृष्टिका भ्रम है। "मैं करता हूं, मैं करता हूं," यही मान्यता अज्ञान है। जैसे

गाड़ीके नीचे चलता हुआ कुत्ता ऐसा मानता है कि गाड़ी मेरे द्वारा चल रही है, उसी तरह जीवको देहसे पृथक्त्वका—साक्षीपनेका भान नहीं है, इसलिये परका कर्ता होकर ऐसा मानता है कि "मैं करता हूं, मैं करता हूं।" शरीर अनन्त परमाणुओंसे बना हुआ है। इसका परिणमन तेरे आधीन नहीं है। शरीर, मन, वाणीसे आत्मा पृथक् है, ऐसा न मानकर परमें एकत्वबुद्धि करके, विकारको अपना मानकर जीव रागरूपसे परिणमन करता है, उसको 'परसमय' बताया गया है।

भावार्थः—जीव नामकी वस्तुको पदार्थ कहा है। 'जीव' शब्द जो अक्षरोंका समूह है सो पद है, और उस पदसे जो द्रव्य–पर्याय-रूप अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है सो पदार्थ है।

आत्मा पर-अपेक्षासे नहीं है, और स्व-अपेक्षासे है, यह अनेकांत है। प्रत्येक पदार्थ स्व-अपेक्षासे है सो 'अस्ति' और पर-अपेक्षासे नहीं है सो 'नास्ति' है। प्रत्येक वस्तुमें ऐसे दो स्वभाव हैं। जो स्व-अपेक्षासे है वह यदि पर-अपेक्षासे हो जाय तो स्वयं पृथक् न रहे। और जो पर-अपेक्षासे नहीं है, उसीप्रकार स्व-अपेक्षासे भी नहीं है, ऐसा माना जाये तो स्वका आभाव हो जाय। लकड़ी लकड़ीकी ही अपेक्षासे है, और दूसरी अपेक्षासे 'नहीं' है। इसप्रकार लकड़ीको देखकर निश्चय होता है। इसीप्रकार अस्ति–नास्ति दोनों एक पदार्थ-के स्वतंत्र धर्म हैं।

गुड़ शब्दसे गुड़ पदार्थका निश्चय होता है। शब्दमें पदार्थ नहीं है। इसीप्रकार जीव शब्दमें जीव वस्तु नहीं है, और जीव पदार्थमें शब्दादि नहीं हैं। यहां जीव शब्द कहा है, उसके द्वारा जीव पदार्थ-का द्रव्य–पर्यायस्वरूपसे निश्चय किया जाता है। उसे सात बोलोंमें कहा है:—

(१) प्रत्येक आत्माका स्वतंत्र द्रव्य–पर्यायरूपसे अनेकान्तपना निश्चित किया जाता है।

(२) जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है। क्षण-क्षणमें एकके बाद एक पर्याय बदलकर नित्य स्थिर रहता है।

(३) दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है।

(४) द्रव्य अनन्त गुणमयी, अनन्त धर्मस्वरूप होनेसे गुण-पर्याय वाला है।

(५) स्व-परको जाननेवाला स्वभावसे अनेकाकाररूप एक है, अर्थात् अनेकको जानकर अनेकरूप नहीं हो जाता।

(६) और वह आकाशादिसे भिन्न, असाधारण चैतन्य-गुणस्वरूप है।

(असाधारण अर्थात् परसे भिन्न गुण। यह उसका स्थूल अर्थ है। असाधारण गुणका सूक्ष्म अर्थ ऐसा है कि ज्ञानगुणके अतिरिक्त अनन्तगुण जो आत्मामें हैं वे सब निर्विकल्प हैं, वे स्व-परको नहीं जानते। मात्र एक ज्ञानगुण ही स्वको और स्वसे भिन्न समस्त अपने गुण–पर्यायोंको जानता है, इसलिये असाधारण है।)

(७) अन्य द्रव्यके साथ एकक्षेत्रमें रहने पर भी वह अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता, ऐसा जीव नामक पदार्थ 'समय' है। जब वह अपने स्वभावमें स्थिर रहता है अर्थात् स्वमें एकत्वरूपसे परिणमन करता है तब तो 'स्वसमय' है और जब परमें एकत्वपनेसे लीन होकर राग–द्वेषरूपसे परिणमन करता है तब 'परसमय' हैं।

इसप्रकार जीवके द्विविधत्व होता है। अब समयके द्विविधत्वमें आचार्य बाधा बतलाते हैं। मैं पुण्य–पापरहित निर्मल हूँ, ऐसा मानकर जो ठहरना है सो स्वसमयरूप मोक्षभाव है और पर मेरे हैं ऐसा मानकर पुण्य-पापके विकारी भावका कर्त्ता होकर उसमें परिणमित होता है–स्थिर होता है सो वह परसमयरूप बंधभाव है।

जीवमें जब मोक्षभाव होता है तब बंधभाव नहीं होता। जीव स्वभावसे एकरूप है तथापि उसे दो प्रकार बतलाना सो दोष है।

ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप एक ही प्रकारसे रहना ठीक है। इसलिये अपना जैसा स्वरूप है वैसा एकत्व समझकर प्राप्त कर लेना ही सुन्दर है, और उससे विपरीतता शोभारूप नहीं है। इस अर्थकी गाथा निम्न प्रकार है:—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बन्धकथैकत्वे तेन विसंवादिनी भवति ॥ ३ ॥

अर्थ:—एकत्व-निश्चयको प्राप्त जो समय है वह लोकमें सर्वत्र सुन्दर है, इसलिये एकत्वमें दूसरेके साथ बन्धकी कथा विसंवाद-विरोध करनेवाली है।

इस गाथामें बहुत बड़ी गहरी बात है, अपार रहस्य भरा है। प्रत्येक गाथामें मोक्षका अमोघ मन्त्र भरा है, किंतु वाणीमें सब नहीं आ सकता। जिसके ४-५ गाड़ी अनाज पैदा होता है उसके काम करने वाला थोड़ा अनाज ले जाते हैं, किन्तु जहाँ हजारों मन अनाज पैदा होता है उसके काम करनेवाले अधिक ले जाते हैं। इसीप्रकार जिसके मति-श्रुतज्ञान सम्यक् होता है, उसके अमुक निर्मलताके पाकमेंसे थोड़ासा कथन प्राप्त होता है, किन्तु जिनको साक्षात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है उन सर्वज्ञ भगवानकी धाराप्रवाही-वाणी साक्षात् श्रवण करने वाले गणधर देवोंको अधिकाधिक मिलती है। यह समयसार शास्त्र साक्षात् भगवानकी वाणीसे आया है। वर्तमानमें महाविदेहक्षेत्रमें त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव श्री सीमंधर भगवान साक्षात् विराजते हैं, उनके मुखकमलसे वाणीका प्रवाह छूटता है। सर्व द्रव्य क्षेत्र काल भावको एक समयमें वे जान रहे हैं। चार कर्मोंको नाश कर तेरहवीं भूमिकामें (गुणस्थानमें) सर्वज्ञ वीतरागदशामें परमात्मपद पर विराज रहे हैं। धर्मसभामें उनकी दिव्यध्वनि सहज छूटती है। हजारों

धर्मात्मा संत मुनि उसका लाभ ले रहे हैं। पहले भरतक्षेत्रमें भी ऐसा था।

विक्रम संवत् ४९के लगभग श्री भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव भरतक्षेत्रसे महाविदेहक्षेत्रमें श्री सीमंधर भगवानके पास गये थे, वहाँ आठ दिन रहकर श्रवण-मनन करके भरतक्षेत्रमें वापिस आए और 'समयसार,' 'प्रवचनसार' इत्यादि शास्त्रोंकी रचना की। भगवानके पास श्री कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, वह बात सत्य है। साक्षात् तीर्थङ्कर भगवानके श्रीमुखसे निकला हुआ 'समयसार' का भाव उनने ४१५ गाथाओंमें सूत्ररूपसे गूंथा है। वर्तमान कालके जीव उनका कहा हुआ समस्त शास्त्रज्ञान सम्पूर्ण भावसे समझ नहीं सकते। जितनेमें अपना पेट पूरा भरे उतना ग्रहण कर सकते हैं; सम्यक्श्रद्धा तो पूर्णतया कर सकते हैं। उनके जैसा चारित्र नहीं पाल सकते, किन्तु एकावतारी हो सकनेके लिए वैसी सामर्थ्य वर्तमानमें भी है। अपनी तैयारीके विना कौन मानेगा और उसे स्वयं जाने विना क्या खवर पड़ सकती है? घीकी प्रशंसा सुनने वाला घीका स्वाद नहीं जानता, और खानेवालेको देखनेसे भी घीका स्वाद नहीं आता, किन्तु स्वयं घीका लौंदा मुंहमें डालकर एकाग्र हो तो उसके स्वादका अनुभव कर सकता है। उसीप्रकार अतीन्द्रिय-आनन्दरूप आत्माकी प्रशंसा सुने अथवा उसकी कथा सुने तो उतने मात्रसे उसका आनन्द नहीं आता, और उस वस्तुके जानकार जीवको देखे तो भी खवर नहीं पड़ती, किन्तु उसे जानकर स्वरूपलीनताके द्वारा स्वयं अनुभव करे तव उसके आनन्दका अनुभव कर सकता है।

आत्माका सत्स्वरूप भलीभाँति श्रवण करना चाहिये, श्रवण करनेके वाद उसका गूढ़ भाव अन्तरंगमें प्राप्त करके वस्तुका स्वयं निर्णय करके अनुभव करना चाहिये। उसके लिए विशेष निवृत्ति लेना चाहिए, वारम्वार स्वाध्याय और चर्चा करनी चाहिए। इससे उकताना नहीं चाहिये। वारहवें स्वर्गमें से देव भी वड़े पुण्यकी समृद्धिको छोड़कर यहाँ मनुष्य-लोकमें धर्मश्रवण करनेको आते हैं। स्वयं ज्ञानी होने पर भी तत्त्वकी रुचिमें विशेष निर्णय करने और तीर्थंकर भग

वानकी वाणी सुननेके लिये वे धर्मसभामें आते हैं।

यहाँ यह कहते हैं कि जो स्वाश्रय है सो सुन्दर है, किन्तु पराश्रयमें बंधन होनेसे वह असुन्दर है। लोकमें कहा जाता है कि "पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।" स्वाधीनतामें दूसरेका मुख नहीं ताकना पड़ता। एकत्वदशा कितनी सुन्दर है! कर्मसंबन्धके विकारका कथन विसंवाद करने वाला है। एकमात्र चिदानन्दकी बात सुन्दर है, और परके साथ बन्धनभावकी कथा असुन्दर है। एकमें बन्ध नहीं होता। परवस्तुके संयोगसे, पराश्रयसे बन्ध होता है। आचार्य कहते हैं कि चैतन्य भगवान आत्माको हीन या परकी उपाधि वाला कहना पड़े यह बात शोभा नहीं देती, किन्तु क्या किया जाय! अपनी भूलसे बन्धनभाव हैं, इसलिये ऐसा कहना पड़ता है।

सर्वज्ञ भगवानने आत्माको शक्तिकी अपेक्षासे सबका ज्ञाता होनेसे "महान्" कहा है। इसलिये 'पर मुझे हैरान करता है ऐसा जो मानता है उसको यह बात शोभा नहीं देती। तेरी अपार सामर्थ्यकी महिमा गाई जा रही है। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि:—

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां,
कही शक्या नहिं पण ते श्री भगवान जो।
तेह स्वरूपने अन्य वाणी ते शुं कहे?
अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो॥"

(अपूर्व अवसर, गाथा–२०)

आत्माका अरूपी निर्मल ज्ञानानन्द स्वरूप साक्षात् केवलज्ञानमें भगवानने जाना है, वह स्वरूप लक्ष्यमें पूर्ण होने पर भी वाणीसे पूरा नहीं कहा जा सकता। ऐसा भगवान आत्मा मन और इन्द्रियोंके अवलम्बनके बिना केवल अन्तरंगके अनुभवसे ही जाना जासकता है।

लोकमें कहा जाता है कि मुझ जैसा कोई बुरा नहीं है, किंतु ऐसा क्यों नहीं कहता कि मुझ जैसा कोई भला नहीं है? कोई

किसीका बुरा नहीं कर सकता। स्वयं अपनेमें बुरा भाव कर सकता है, और उससे अपना ही अहित होता है। आचार्यदेव कहते हैं कि स्वतंत्र चैतन्यस्वरूप निजमें एकरूप है, उसमें बन्धपनेकी बुरी बात करना लज्जाजनक है। संसारमें परको बुरा कहकर आनन्द माना जाता है, तब आचार्यदेवको आत्माको विकार और बंधन वाला कहनेमें लज्जा मालूम होती है। संसारमें परिभ्रमण करने वाला बुराईमें-विकारमें पूरा होना चाहे तो भी उसमें पूर्ण नहीं हो सकता, क्योंकि विकार आत्माका स्वरूप नहीं है, एकतत्त्वमें बन्ध कहने पर स्वतंत्रताके ऊपर प्रहार होता है। भाई, दृष्टिको बदल, स्वतंत्रताकी ओर देख तो बंधन नहीं रहेगा। एकत्व-निश्चयको प्राप्त स्वतंत्र सिद्धदशामें स्थित रहता है, सो तो सुन्दर है, किंतु परमें एकत्वरूप दृष्टिको प्राप्त संसारदशामें--बन्धदशामें है जो कि असुंदर है।

लोगोंमें ऐसा कहा जाता है कि ससुरालके नामसे जमाईकी पहचान होना लज्जाजनक है। वह स्वयं जिसकी संतान है उस पिताके नामसे पहचाना जाय तो ठीक हैं; उसीप्रकार भगवान आत्मा अपनी सजातीय संतान, निर्मल पर्याय जो शुद्धात्मा है उसके संबंधसे पहचाना जाय तो यथार्थ है, किंतु कर्मके निमित्तसे विकारी पर्यायके द्वारा पहचाना जाय तो यह बहुत बुरी बात है। बंधभावके द्वारा पहचाने जानेमें तेरी शोभा नहीं है। अन्तरंगसे निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रका प्रवाह बहता है, उससे आत्माकी पहचान होना सुन्दर है, किन्तु पराधीनता-कलंकके द्वारा पहचान होना सुन्दर नहीं है।

सर्वज्ञ भगवानने देखा है कि इस जगत्में यह वस्तुएँ अनादि-अनंत और भिन्न भिन्न रूपसे विद्यमान हैं-जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल, इन छह द्रव्योंमेंसे एक आत्माके ही संसाररूप बन्धन है। विभावरूप परसमयत्व विरोधरूप है। शुद्धस्वरूपमें स्थिर होना सो स्वसमय है, और पर मेरे हैं ऐसा मानकर परमें स्थिर होना सो परसमय है। आत्मा वस्तु एक है और उसमें

अवस्थायें दो हैं,-निर्मल और मलिन। ऐसे परके संबंधकी विकारी दशायुक्त आत्माको समझना सो झंझटमें डालने वाली बात है।

एकत्व-निश्चयको प्राप्त जगतके संपूर्ण पदार्थ शोभाको प्राप्त होते हैं। आत्मपदार्थ अनादि-अनंत-स्वतंत्र है, उसे परके सवंधसे वन्धनवाला कहना, कर्मके आधीन कहना सो पराधीनता है, स्वतंत्रता-को लूटनेका भाव है। जैसे गायके दोनों पैरोंके बीचमें डेंगुर (लकड़ी) डाला जाता है तब ऐसा समझा जाता है कि यह गाय सीधी नहीं है, इसीप्रकार भगवान चैतन्यतत्व स्वतंत्र है, वह कर्मके डेंगुर-से बंधनभावमें रहता है। उसे ज्ञानी कभी भी ठीक नहीं मानता। पुण्य अच्छे हैं, शरीर आदिकी अनुकूलता अच्छी है, यों कहना चैतन्य-के लिये शोभाकी बात नहीं है। पराधीनताको लाभरूप मानना शोभनीक नहीं है। वन्धकथा स्वयं विरोधवाली नहीं है, किंतु आत्मा बंधन वाला है इसप्रकारकी मिथ्या मान्यता विरोध वाली है, क्योंकि संयोगी पदार्थ तो क्षणिक हैं। आत्मा सर्व संयोगसे पृथक् ही है। तथापि भिन्नता और स्वतंत्र तत्त्वको भूलकर परका आश्रय मानना ठीक नहीं है।

साधारण-लौकिक नीतिमें मानने वालेको भी किसी अनीति-का आदर नहीं होता। लौकिक नीतिमें पूर्ण-अच्छे कुलका कोई पुत्र यदि नीचके घर जावे तो पिता उससे कहता है कि "भाई! अपना कुल जैसा है उसे यह कुशीलका साथ शोभा नहीं देता, यह बात अपने कुल और जातिके लिए कलंकरूप है;" उसीप्रकार त्रिलोकी-नाथ पिता संसारमें अटके हुए आत्मासे कहते हैं कि "तेरी सिद्धकी जाति है; जड़-देहादि, पुण्य-पाप विकारमें रहना तुझे शोभा नहीं देता।

जो लोग अनीति करते हैं उन्हें भी नीतिके नामकी ओट लेनी पड़ती है, और वे कहते हैं कि क्या हम झूठ बोलते हैं? इस-प्रकार नीतिकी ओटके विना जगतका काम नहीं चलता। जिसके साधारण नीति और सज्जनता है उसे कुशील शोभा नहीं देता। किसी भी प्रकारकी अनीति कलंकरूप है। और जब कि लौकिक नीति-

में भी ऐसा है तब आत्माके लिए उत्कृष्ट लोकोत्तर नीति तो आवश्यक है ही। उसे भूलकर बन्धनके प्रति उत्साहित होकर कहे कि मैंने पुण्य किया, पुण्यके फलसे बड़ा राजा होउँगा, देव होऊँगा, संसारमें ऐसी व्यवस्था करूंगा, वैसा करूंगा, इत्यादि; सो सब कलंकरूप है।

अब 'समय' शब्दसे, सामान्यरूपसे (भेद किये बिना) सर्व पदार्थ कहा जाता है, क्योंकि व्युत्पत्तिके अनुसार 'समयते' अर्थात् एकीभावसे अपने गुण-पर्यायोंको प्राप्त होकर जो परिणमन करता है सो 'समय' है। प्रत्येक पदार्थ अपने गुण और अवस्थाको प्राप्त होकर नित्य-ध्रुव रहता है, सो समय है। शुद्ध आत्मा

जगत्में इन्द्रियग्राही पदार्थ पुद्गल–अचेतन हैं। जो दिखाई देता है वह जड़की स्थूल अवस्था है, क्योंकि मूल परमाणु इन्द्रियोंसे नहीं जाना जा सकता। परमाणुमें भी प्रतिक्षण अवस्था बदलती रहती है। रोटी, दाल, भात इत्यादिमें रजकणता स्थायी रहती है, और अवस्था (पर्याय) बदलती रहती है। रजकण स्वतंत्ररूपसे रहकर अपनी अवस्थाको बदलते हैं; उनके जो वर्ण, गंध, रस, स्पर्श गुण हैं वे स्थायी बने रहते हैं। इसी प्रकार जीव भी अनन्त गुणोंसे युक्त, स्थिर रहकर अपनी अवस्थाको बदलता रहता है।

लोकमें छह पदार्थ हैं; वे यहाँ कहे जाते हैं:—

१—धर्मास्तिकाय—यह अनादि अनन्त पदार्थ है, अरूपी है, लोकाकाश प्रमाण है, एक अखण्ड द्रव्य है। यह द्रव्य स्वयं गमन नहीं करता, किन्तु जीव–पुद्गलको गमन करनेमें निमित्त है। जैसे मछलीको गमन करनेमें जल निमित्त है, उसीप्रकार यह धर्मद्रव्य है।

२—अधर्मास्तिकाय—यह द्रव्य लोकाकाश प्रमाण है, और जीव–पुद्गलको गतिमेंसे स्थितिरूप होनेमें निमित्त है। जैसे पथिकको वृक्षकी छाया ठहरानेमें निमित्त है।

३—आकाशास्तिकाय—यह अनन्त क्षेत्ररूपी अरूपी पदार्थ

अनादि-अनन्त है, जो कि सर्वव्यापक है, अचेतन है। इसके दो भेद हैं- (१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश।

(अ)-धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गल, कालाणु और जीव जीव जितने क्षेत्रमें रहते हैं उतने क्षेत्रको लोकाकाश कहा है।

(ब)-लोकाकाशके अतिरिक्त अनन्त आकाशको अलोकाकाश कहते हैं।

लोग जिसे आकाश कहते हैं वह वास्तविक आकाश नहीं है, क्योंकि आकाशद्रव्य तो अरूपी है, और जो यह दिखाई देता है वह आकाशमें केवल रंग दिखाई देता है, जो कि परमाणुकी अवस्था है। आकाशके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श नहीं होते।

४—काल—यह एक अरूपी पदार्थ है। चौदहराजु लोकमें असंख्यात कालाणु हैं।

यह चार (धर्म, अधर्म, आकाश, काल) अरूपी द्रव्य हैं, जो कि युक्ति और न्यायसे जाने जा सकते हैं।

५—पुद्गल—पुद्=पूरण, एक दूसरेमें मिलना और गल=जुदा होना। अथवा पुद्+गल=जैसे अजगर अपने पेटमें मनुष्यको गल (लील) जाता है, उसीप्रकार अरूपी-चैतन्यपिंड आत्माने शरीरकी ममता की, इसलिये शरीरके रजकणके दलमें, सारे शरीरमें ऐसा व्याप्त हो रहा है कि मानों शरीरने आत्माको निगल लिया हो, और वह ऐसा ही दिखाई देता है। अज्ञानीकी दृष्टि मात्र देहादिके ऊपर होती है, जब ज्ञानीकी दृष्टि देहादिसे भिन्न अरूपी-चैतन्यके ऊपर होती है। प्रत्येक रजकणमें वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शकी अवस्था बदला करती है-घटाबढ़ी हुआ करती है। जड़-देहादि पुद्गलकी अवस्थाकी व्यवस्था जड़ स्वयं ही करता है। जो देहादि स्थूल परमाणुओंका समूह बदलता दिखाई देता है उसमें प्रत्येक मूलपरमाणु भी अपनी अवस्थामें बदलता है। यदि सूक्ष्मपरमाणु अकेले न बदलते होते तो स्थूल आकार कैसे बदलता? इसलिये अनादि-अनन्त रहते हुए अवस्थाको बदलनेका स्वभाव पुद्गलका भी है।

६-जीवद्रव्य—यह अरूपी चैतन्यस्वरूप है। जानना-देखना इसका लक्षण है। ऐसे जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव एक सम्पूर्ण द्रव्य है, इसलिये सम्पूर्ण ज्ञान उसका स्वभाव है; जिसे वह प्रगट कर सकता है।

जगत् में जो जो पदार्थ हैं उन सबको जाननेकी ज्ञानकी सामर्थ्य होती है, और फिर वह ज्ञानस्वरूप-चैतन्य पर पदार्थके लक्षणसे भिन्न है, वह भी यहाँ बताना है। जबकि यह खबर रखता है कि घरमें क्या क्या वस्तु है, तो लोकरूपी घरमें भी क्या क्या वस्तुयें हैं यह भी जानना चाहिये। मुझसे भिन्न तत्त्व कितने और कैसे हैं यह जाननेकी आवश्यकता है। यथार्थ लक्षणसे निजको भिन्न नहीं जाना, इसलिये दूसरेके साथ एकमेक मानकर अपनी पृथक् जातिको भूल गया है। जिसे सुखी होना हो उसे पराधीनता और आकुलता छोड़कर अपनी स्वाधीनता तथा निराकुलता जाननी चाहिये।

"लोक्यंते जीवादयो यस्मिन् स लोकः।" अर्थात्-जिस स्थानमें छह पदार्थ जाने जाते हैं वह लोक है। और जहाँ जड़-चैतन्य इत्यादि पांच द्रव्य नहीं हैं, किन्तु मात्र आकाश है वह अलोकाकाश है। लोकमें अनन्त जीव, अनन्तानन्त परमाणु इत्यादि छहों द्रव्य हैं। वे सब द्रव्य निश्चयसे एकत्व-निश्चयको प्राप्त हैं। उनमें जीवको ही बंधभावसे द्वित्व आता है, वह विसंवाद उत्पन्न करता है। प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, इसलिये वह अपनेमें स्वतंत्र, पृथक् स्व-एकत्वरूपसे प्राप्त है। वह सुन्दर हैं, क्योंकि अन्यसे उसमें संकर, व्यतिकर इत्यादि दोष आ जाते हैं।

चौदह राजुके लोकरूपी थैलेमें प्रत्येक पदार्थ त्रिकाल भिन्न भिन्न विद्यमान हैं; यदि उनकी खिचड़ी (एकमेक) हो जाय तो संकर-दोष आ जाता है।

"सर्वेषां युगपत् प्राप्तिस्संकरः" अर्थात् एक कालमें ही एक वस्तुमें सभी धर्मोंकी प्राप्ति होना सो संकरदोष है।

"परस्परविषयगमनं व्यतिकरः" अर्थात् परस्पर विषय-गमनको व्यतिकर दोष कहते हैं।

यदि एक वस्तु दूसरी वस्तुमें मिल जाय तो वस्तुका ही अभाव हो जाय। प्रत्येक पदार्थ पृथक् पृथक् है, ऐसा कहनेसे आत्मा परसे भिन्न है, ऐसा भी समझना चाहिये; उसे पृथक्, स्वतंत्र, शुद्धरूपमें समझना ही ठीक है। कर्मके निमित्तका आश्रय वाला तथा विकारी-रूपमें समझना ठीक नहीं है।

धर्मास्तिकाय आदि चार द्रव्य त्रिकाल शुद्ध हैं; तब फिर तू आत्मा शुद्ध क्यों नहीं है? इसमें शुद्ध कारण-पर्यायकी ध्वनि है। तेरा तत्त्व परसे भिन्न है, तथापि तुझमें यह उपाधि क्यों है? यदि तू अपनेको परसे भिन्नरूपमें देखे तो तुझे यह दिखाई देगा कि तुझमें तेरे अनन्तगुण विद्यमान हैं, उनको निर्मल पर्यायसे तीनोंकालमें तेरा एकत्व-लीनपना है।

प्रत्येक वस्तु अपने अनन्त धर्मोंमें अन्तर्मग्न है! परमाणु उनके वर्ण, गन्ध, रस स्पर्शमें लीन-एकरूप रहते हैं। जीवमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, अस्तित्व इत्यादि अनन्तगुण लीनपनेसे रहते हैं। जीव अपने ही अनन्त गुणोंको स्पर्श करता है, उनमें ही परिणमन करता है। आत्मा रजकणको स्पर्श नहीं करता और रजकण आत्माको स्पर्श नहीं करते। आत्माके गुण-पर्याय आत्मामें हैं, जड़ के जड़में हैं। लोग पुद्गल-जड़को अशक्त मानते हैं, और यह मानते हैं कि उसमें कोई शक्ति नहीं है, किंतु यह भूल है, क्योंकि रजकण तो जड़ेश्वर हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। उन जड़ रजकणोंकी अवस्था प्रत्येक क्षण अपनेआप बदलती रहती है। उस अवस्थाकी व्यवस्था स्वतंत्ररूपसे होती है। इसीप्रकार जगतमें प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है। छहों द्रव्य एक क्षेत्रमें रहने पर भी कभी एकरूप नहीं होते। ऐसे परसे नास्तिरूप गुणवाले 'अन्यत्व' आदि नामके अनन्तगुण प्रत्येक पदार्थमें हैं। वैसे अनन्तगुण अपने स्वभावको स्पर्श कर रहे हैं, अपने स्वभावरूपमें परिणमन करते हैं, पररूपमें परिणमन नहीं करते।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे है, परकी अपेक्षासे नहीं है। इसप्रकार अस्ति-नास्ति दोनों स्वतंत्र स्वभाव कहे गये हैं। किसी द्रव्यकी कोई भी अवस्था किसी परके आधीन नहीं है। ऐसी मर्यादा है।

यहां हितरूप धर्म कहा जाता है। वह इसप्रकार है कि प्रत्येक वस्तु भिन्न है, इसलिये परसे अपना धर्म नहीं होता। प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, इसलिये यह मानना सर्वथा अयथार्थ है कि एक वस्तु दूसरेकी कुछ भी सहायता करती है।

असत्यके फलस्वरूप सच्चा सुख नहीं मिलता। प्रत्येक आत्मा पृथक्-पृथक् है। दूसरे आत्माको कोई आत्मा सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि कोई आत्मा पररूपसे नहीं हो सकता। इसप्रकार यहाँ स्वतंत्रताकी घोषणा की गई है।

प्रश्न—जड़में कौनसे भाव हैं ?

उत्तर—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श, पुद्गल-जड़के भाव हैं। प्रत्येक परमाणुमें अनन्तगुण हैं।

चेतनके ज्ञान-दर्शन आदि भाव हैं। प्रत्येक पदार्थ अत्यन्त निकट एक ही क्षेत्रमें व्यापक होने पर भी भिन्न भिन्न है। यद्यपि सभी एक क्षेत्रमें हैं तो भी वे सदा स्वस्वरूपसे रहते हैं, परवस्तुत्वमें कभी कोई नहीं होता।

एक थैलेमें सुपारी, मिश्री इत्यादि इकट्ठे भरे हों, इसलिये वे उस भावसे एकरूप नहीं हो जाते, इसीप्रकार प्रथम भावसे समस्त वस्तुओंका पृथक्त्व कहा है।

अब सभीका क्षेत्रसे पृथक्त्व बताते हैं:—दूध और पानी आकाशके एकक्षेत्रमें एकत्रित कहलाते हैं, तथापि स्व-क्षेत्रमें भिन्न भिन्न हैं, इसलिये पानी जल जाता है और दूध मावारूपमें परिणत हो जाता है। जो स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे पृथक् थे वे पृथक् ही रहे, जो अलग हो जाते हैं वे एकमेक नहीं होते। अग्निकी उष्णता अग्निमें

एकमेक है, इसलिये कभी पृथक् नहीं होती। गन्नेमें रस और मिठास एकरूप है इसलिये वह कभी पृथक् नहीं होते। धान्यसे छिलका अलग है, इसलिये वह मशीनमें डालनेसे अलग हो जाता है, इसीप्रकार देहादिसे चेतन स्व-क्षेत्रकी अपेक्षासे भिन्न है, इसलिये वह पृथक् रहता है। अज्ञानीको परसे पृथक्त्वका ज्ञान नहीं है, इसलिये पृथक्त्व या स्वतंत्रताको नहीं मानता। दूधको उबालनेसे पानी जल जाता है और मावा सफेद पिंडरूप रह जाता है, इसीप्रकार जीवसे वर्तमान क्षणिक अवस्थामें जो अशुद्धता है, वह शुद्धस्वभावकी प्रतीतिके द्वारा स्थिर होनेसे दूर हो सकती है। राग-द्वेष-विकार आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये वह दूर हो सकता है, तब फिर रजकण-देहादि आत्माके कैसे हो सकते हैं ?

अन्तरंगमें अपनी स्वाधीनताकी जिसे कुछ चिन्ता नहीं है उसकी समझमें यह कुछ नहीं आता। कोई वस्तु पररूप परिणमित नहीं होती, इसलिये स्वतंत्र है। जो 'है' वह पररूप नहीं होनेके कारण है। अपनी अनन्तशक्ति नाशको प्राप्त नहीं होती। प्रत्येक पदार्थ टंकोत्कीर्ण शाश्वत् स्वरूपसे, स्पष्ट, प्रगट एकरूप, स्व-अपेक्षासे स्थिर रहता है।

प्रत्येक जीव-अजीवका धर्म प्रगट है, परसे पृथक्त्व है। विरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु परसे-असत्‌रूपसे है, और अविरुद्ध-कार्य अर्थात् वस्तु स्वत्वसे-सत्‌रूपसे है। सत् अर्थात् अस्तिरूप कार्य, और असत् अर्थात् नास्तिरूप कार्य। दोनों स्वभावके कारण सदा विश्वमें रह रहे हैं। स्वसे स्वयं है, और परसे स्वयं नहीं है, ऐसी प्रत्येक वस्तु परसे नास्ति और स्वसे अस्ति होनेसे विश्वको सदा स्थिर रखती है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुमें अस्ति-नास्ति धर्म हैं, और वे प्रत्येक वस्तुकी स्वतंत्रताको बतलाते हैं।

इसप्रकार सर्व पदार्थोंका पृथक्त्व और स्वमें एकत्व निश्चित होनेसे इस जीव नामक समय (पदार्थ) के बन्धकी कथा विरोधरूप आती है, वह ठीक नहीं है।

आत्मासे भिन्न चार अरूपी द्रव्य स्वतंत्र हैं, निरपेक्ष, एकत्वको प्राप्त हैं इसलिये शोभा पाते हैं। तब तुझे बन्धन (परकी उपाधि) युक्त कैसे कहा जाय? धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जो पृथक् पृथक् रजकण हैं उनके तो परका सम्बन्ध नहीं होता, और तेरी आत्माके बन्धनभाव हैं, यह कहना घोर विसंवादकी बात है। मैं परसे बँधा हुआ हूँ यही विचार अपनी स्वतंत्रताकी हत्या करना है। परके लक्षसे राग-द्वेषरूप विकार करना कहीं शोभारूप नहीं है, किन्तु आपत्ति-जनक है। पृथक्-स्वतंत्र आत्माको परका बन्धनवाला कहना परमार्थ नहीं है।

प्रश्नः—किन्तु यह सामने तो बन्ध दिखाई देता है?

उत्तरः—वर्तमान क्षणिक संयोगाधीनदृष्टिको छोड़कर अपने त्रैकालिक असंयोगी-अरूपी ज्ञानस्वभावको देखे तो आत्मा बंध-रहित, स्वतंत्र ही दिखाई देगा। देह और परको देखनेकी जो दृष्टि है सो बाह्यदृष्टि है, वह आत्माकी निर्मलताको रोकनेवाली है। अज्ञानी जीव अपने स्वतंत्र स्वभावको भूलकर परके कार्य मैंने किये, मैं देहादि-का काम कर सकता हूँ, मैंने समाजमें सुधार किये, मैं था तो चन्दा लिखा गया, बड़ी रकम भरी गई, मैं था तो वह कार्य हुआ, इत्यादि मान्यताके अभिमानसे स्वयं अपनी हत्या कर रहा है। इसलिये हे भाई! तू परके अभिमानको छोड़ दे, पर कार्यके अभिमानसे चैतन्य-की सम्पत्ति लुट रही है; वह पराधीनता है तथापि उसे उत्साहसहित मानना पागलपन है।

पुण्य-पापका बन्धभाव मुझे लाभ करता है, पुण्यसे गुणका विकास होता है, इसप्रकार परसे लाभ माननेवाला बन्धको प्राप्त होता है। यह विसंवाद क्योंकर उपस्थित होता है, सो आगे कहा जायगा।

आत्मा सदा अरूपी, ज्ञान-दर्शन-सुखस्वरूपसे है। उससे भिन्न जो पुद्गल है उसमें वर्ण, गंध, रस, स्पर्श हैं। ये गुण अरूपी द्रव्योंमें नहीं हैं। आत्माके अतिरिक्त दूसरे चार पदार्थ अरूपी हैं,

उनमें चेतनागुण तथा सुख-दुःखका अनुभव नहीं होता, किन्तु उनकी अनंतशक्ति उनमें उनके आधारसे है। प्रत्येक वस्तुकी पृथक् सत्ता है। आत्माका धर्म शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रकी एकता है। आत्मा स्वयं धर्मस्वरूप है; पुण्य-पापरूप नहीं है। इसलिए पुण्यसे आत्माका धर्म नहीं होता। पुण्यादि परवस्तु हैं। देह, मन, वाणी, पैसा इत्यादि परवस्तुसे आत्माका धर्म नहीं होता। दान-भक्ति द्वारा तृष्णाको घटाये तो वह पुण्यरूपी शुभभाव हुआ। वह भाव अरूपी आत्माके होता है। धर्मभाव तो रागरहित है। परवस्तुसे, रुपये-पैसे आदिसे, दान देनेकी जड़क्रियासे पुण्य-पाप या धर्म नहीं होता। परके प्रति जो तीव्र राग है वह अशुभ-पापभाव है। यदि तीव्र रागको कम करके शुभभाव करे तो वह पुण्य कहलाता है। धर्म उससे भिन्न वस्तु है, राग-द्वेष भी चैतन्यस्वभावमें नहीं हैं।

प्रत्येक वस्तुमें अनन्त धर्म हैं; उनमेंसे कोई धर्म कम नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तुका परकी अपेक्षासे नास्तित्व और अपनी अपेक्षासे अस्तित्व है, इसलिए वह पर-अपेक्षासे नहीं है और स्व-अपेक्षासे है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तु परकी सहायताके बिना स्वतंत्र-रूपसे सदा स्थिर रहती है। इसप्रकार सम्पूर्ण पदार्थोंका भिन्न भिन्न एकत्व निश्चित हुआ।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ पृथक् है; तथापि पृथक्त्वको भूलकर जो यह मानता है कि मैं परका कार्य कर सकता हूँ, मैं सयाना हूँ, मैंने इतने काम किये, यह सब व्यवस्था मेरे हाथमें हैं, इत्यादि। वह समस्त परको अपना माननेवाला है। किसी भी परवस्तुकी प्रवृत्ति मेरे द्वारा होती है, मेरे आधारसे होती है, इसप्रकार जो मानता है उसने परको अपना माना है। कई लोग मुँहसे तो यह कहा करते हैं कि हम परको अपना नहीं मानते, तथापि वे ऐसा तो मान ही रहे हैं कि हमने घरमें सभीको सुधार दिया, हमने इतनोंको सहायता दी है इत्यादि। जो परकी अवस्था स्वतंत्रतया हुई है उसे मैंने किया है, इसप्रकार उसने मान ही रखा है, और यही अनादिका अहंकार है।

संसारके सयानेको मान छोड़ना कठिन होता है ।

मैंने ऐसी चतुराईसे काम किया है कि वह आदमी चक्करमें आ गया, इसप्रकार कई लोग मानते हैं; किन्तु वास्तवमें तो वे स्वयं ही चक्करमें हैं। उस मनुष्यको उसका पुण्य हीन होनेके कारण तेरे जैसा निमित्त मिला, किंतु तूने परका कुछ किया नहीं है, मात्र अपनेमें राग-द्वेष-अज्ञान किया है ।

आत्माको राग-द्वेषरहित, ज्ञाता-साक्षीरूप मानना सो भेदज्ञान है, और भेदज्ञान होने पर उसके अभिप्रायमें जगत्के लोगोंके अभिप्रायसे अन्तर पड़ जाता है ।

जीव नामक पदार्थ जोकि चिदानन्द-रसरूपसे स्वतंत्र है, उसे परके सम्बन्ध वाला मानना, तथा उस परके सम्बन्धसे पुण्य-पाप विकार होता है, ऐसा सम्पूर्ण आत्माको मान लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। पराश्रयसे जो क्षणिक बन्ध अवस्था होती है उसे आत्माके त्रैकालिक निर्मल स्वभावमें खतया लेना सो मिथ्यादृष्टित्व है। थोड़े समयके लिये किसीके पाससे जो वस्तु उधार लाई गई हो उसे घरकी सम्पत्तिमें जमा नहीं किया जा सकता; इसीप्रकार आत्मा त्रिकालशुद्ध-आनन्दघन है, उसमें पर जो मन, वाणी, अथवा पुण्य-पापके संयोग हैं उन्हें अपने हिसावमें नहीं गिना जा सकता। आत्मा सदा अरूपी-ज्ञाता है, वह ज्ञान और शान्ति अथवा अज्ञान और रागद्वेषके भावके सिवाय कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि यह मानता है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ। आत्माके हाथ, पैर, नाक, कान नहीं होते तथापि वह उनका स्वामी बनता है। यह अनादिकी मिथ्या-शल्य है ।

संसारके प्रेमके कारण झूठी बातोंको जहाँ तहाँ सुनने जाता है, अखबारोंमें लड़ाईकी बातें पढ़ता है, उत्साहसे उसकी चर्चा करता है, किन्तु यह सब संसारमें परिभ्रमण करनेके कारण हैं।

हे भाई ! तू प्रभु है, तूने अपने मुक्तस्वभावकी बात कभी नहीं सुनी, धर्मके नाम पर भी काम-भोग-बंधकी कथा ही सुनी है । जिसने पांचलाख रुपये कमाये हों उससे धर्मगुरु कहते हैं कि दान

करो । और वह मानता है कि पांच-दस हजारका दान देनेसे मुझे धर्म होगा और उससे सुखी हो जाऊंगा । इसीप्रकार यदि यह कहा जाय कि देहादिकी क्रियासे धर्म होता है, तो उसे वह भी रुचता है । इस-प्रकार सस्तेमें जीवने धर्म मान लिया है । किन्तु देहकी क्रियासे धर्म नहीं होता, क्योंकि देह आत्मासे भिन्न है ।

जो ज्ञानी है वह दान देते समय ऐसा मानता है कि मैंने तो धनसे तृष्णा घटाई है, लेने-देनेकी क्रियाका मैं कर्ता नहीं, स्वामी नहीं, मैं तो तृष्णारहित ज्ञानस्वभावी हूँ । और अज्ञानी जड़का स्वामी होकर पाँच हजारका दान देगा तो जगत्में घोषित करेगा कि मैंने दान दिया, मैंने रुपये दिये; और कैसी प्रशंसा होती है उसे सुननेके लिये तत्पर रहेगा । देखो तो यह रंकभाव ! स्वयं अपनी महिमा दिखाई नहीं देती, इसलिये दूसरेके पाससे महिमाकी इच्छा करता है ।

गृहस्थदशामें रहने वाला ज्ञानी दान देता है, किन्तु किंचित्-मात्र अभिमान नहीं करता । यदि कोई प्रशंसा करता है कि तुमने अच्छा दान दिया है, तो वह मानता है कि यह मुझे परका कर्ता कह रहा है, जोकि कलंक है । लोग कहते हैं कि 'तुमने अपनी वस्तु दानमें दे दी है; किन्तु ऐसा कहकर तो वे मुझे जड़का स्वामी बनाते हैं । पर-का स्वामित्व चोरीका कलंक है ।

जड़ मेरी वस्तु नहीं है, इसलिए मैंने नहीं दी है । जड़ पदार्थका एक क्षेत्रसे दूसरे क्षेत्रमें जाना उस उस पदार्थके आधीन है । तृष्णा घटानेका भाव मेरे आधीन है । किसी रजकणका अथवा मनका अवलम्बन रहे तो वह मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा जाननेसे परसे पृथक्त्वका पुरुषार्थ प्रगट होता है । यदि परका स्वामित्व रखता है, पुण्यके बन्धनभावको ठीक मानता है तो उसके विपरीत पुरुषार्थ है । मैं पुण्य-पापसे रहित परसे भिन्न हूँ, पूर्ण पवित्र ज्ञायकमात्र हूँ, किसीके अवलम्बनके बिना स्थिर रहनेवाला हूँ, जो ऐसा मानता है उसके अपूर्व पुरुषार्थ प्रगट होता है । पहले श्रद्धामें यह निर्णय करना

सो अनन्त सीधा पुरुषार्थ है। जो परका कर्ता होकर जड़का स्वामी होता है वह परकी क्रियासे लाभ माने बिना कैसे रहेगा ?

जो अनन्तकालकी अज्ञात वस्तुस्थिति है उसका अधिकार प्राप्त होनें पर उसके स्वरूपको ज्योंका त्यों स्पष्ट करना सो व्याख्यान है।

ज्ञानी दान देगा तब अपूर्व तृष्णा घटेगी और अज्ञानी अल्प-पुण्यके होने पर अभिमान करेगा। जो तृष्णाको कम नहीं करता उसे समझानेके लिये श्री पद्मनन्दि आचार्यने कौवेका दृष्टान्त दिया है—खराब और बचीखुची वस्तु घूरे पर डाल दी जाती है तो कौवा वहाँ खानेके लिए आता है और काँव काँव करके दूसरोंको इकट्ठा करके खाता है, स्वयं अकेला नहीं खाता; इसीप्रकार पहले जीवके गुणोंको जलाकर, शुभभाव करके जिसने पुण्य बांधा है वह बचीखुची और जली हुई वस्तु है। ऐसी वस्तुको जो मनुष्य अकेला खाता है अर्थात् दूसरे को दान नहीं देता, दूसरेको दान लेजानेके लिये नहीं बुलाता, वह कौवेसे भी गया बीता है। गुणके जलनेसे पुण्य बँधता है, आत्म-भावसे पुण्य-पाप नहीं बँधते। आत्माके गुणसे बन्ध नहीं होता। जली—भुनी वस्तुको भी कौवा अकेला नहीं खाता; किन्तु तेरे गुण जलकर जो पुण्यबन्ध हुआ है, उसके उदयसे तुझे जो कुछ मिला है उसमेंसे किसीको कुछ नहीं दे तो तू कौवेसे भी हलका है। ज्ञानी लट्ठ नहीं मारते, किन्तु तृष्णाके कुएँमें डूबे हुएको उसमेंसे बाहर निकालनेके लिये करुणासे उपदेश देते हैं। प्रत्येक बात न्यायसे कही जाती है। जिसे जो अनुकूल मालूम हो उसे वह ग्रहण करले।

जिसे सच्ची श्रद्धा है उसे परवस्तुका स्वामित्व नहीं है, इसलिये दानादि देते हुए भी उसे उसका अभिमान नहीं होता। दान, भक्ति इत्यादि प्रत्येक संयोगमें राग कम होकर उसके स्वभावमें निराकुलता तथा स्थिरता बढ़ती जाती है।

आत्मा अकेला स्वमें लीन हो तो राग-द्वेष विकार नहीं होता, किन्तु परके आधीन हुआ इसलिये विसंवादरूप, उपाधिभाव-

वाला कहलाता है। विकारी भावको अपना मानना सो जड़-पुद्गल कर्मके प्रदेशमें रत होना है। जब अज्ञानसे परवस्तुमें युक्त होनेका स्वयं भाव करता है तब जीवके राग-द्वेषका कर्तृत्व आता है। परको माहात्म्य दिया और अपना माहात्म्य भूल गया। तू स्त्री-पुत्रादिको मेरा-मेरा कर रहा, किन्तु वे तेरे नहीं हैं।

एक तत्वको-एक आत्माको अपनेरूप और कर्मके संबंधरूप-दो रूप कहना सो बन्धकी विकारीदृष्टि है। विकारीदृष्टि वाला बंधनकी बातें आनन्दपूर्वक करता है और कहता है कि अब मात्र कहकर बैठे रहनेका समय नहीं, किन्तु सक्रिय काम करके हमें जगत्को बता देना चाहिये, ऐसा कहनेवालेका अभिप्राय मिथ्या है। क्योंकि परका स्वयं कर सकता है—ऐसा वह मानता है। शरीर, मन, वाणीका कण कण भिन्न है। उसकी प्रवृत्ति मुझसे होती है-ऐसा मानना तथा उसको अपना मानना सो स्वतंत्र चैतन्य आत्माकी हत्या करनेकी मान्यता है। आत्मा स्वतंत्र, भिन्न है। उसको पृथक् न मानकर परका कर्ता हूँ, ऐसा माननेवाले सभी लोगोंका अभिप्राय सर्वथा मिथ्या है। वे असत्यका आदर करनेवाले हैं। एकवार यथार्थ रीतिसे समझे कि जीव-अजीवादि सर्व पदार्थ तीनोंकालमें पृथक् हैं, तो फिर किसी परका कुछ कर सकता है या नहीं, ऐसी शंका नहीं हो सकती। अपना कार्य किसीकी सहायतासे नहीं हो सकता।

एक परिणामके कर्ता दो तत्व नहीं होते; क्योंकि जड़-चेतन सभी पदार्थ सदा स्वतंत्ररूपसे अपनी अपनी अर्थक्रिया कर रहे हैं, फिर भी जो ऐसा नहीं मानते हैं वे जीव अपने चैतन्यकी स्वतंत्रताकी हत्या करते हैं।

आत्माको पराश्रयता शोभारूप नहीं है। जिस भावमें तीर्थंकरत्व बँधता है वह भी रागभाव है, ऐसा जानकर पुण्य-पापरहित निरावलम्बी आत्माका जो एकत्व है वही शोभारूप है।

मैं सदा स्वावलम्वी-मुक्त हूँ, ऐसा जानें बिना जो कुछ जानें-मानें और कहे सो सब व्यर्थ है। मैंने परका ऐसा किया, सेवामण्डलकी

स्थापना की, हम थे तो ऐसा हुआ इत्यादि, कर्तृत्वकी वात सुनना, उसका परिचय करना, उसका अनुभव करना, इस जीवको अनादिसे सुलभ हो रहा है । इसलिए आचार्यदेव एकत्वकी असुलभता बताते हैं:-

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा ।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥४॥

अर्थ—समस्त लोकको काम-भोग सम्बन्धी बन्धकी कथा सुननेमें आगई है, परिचयमें आगई है, और अनुभवमें भी आगई है, इसलिये सुलभ है । किन्तु भिन्न आत्माका एकत्व न कभी सुना है, न उसका परिचय प्राप्त किया है, और न वह अनुभवमें ही आया है; इसलिये वह सुलभ नहीं है ।

'मैं परका कुछ कर सकता हूँ,' ऐसी मान्यता 'काम' और संसारी पदार्थ भोगनेका भाव भोग है । परका मैं कर सकता हूँ, ऐसा अनादिकालसे जीवने माना है । किन्तु कर कुछ नहीं सकता । मैंने पुण्य किया है, इसलिये भोगना चाहिये, पुण्यका फल मीठा लगता है, ऐसा जो मानते हैं वह इस विशाल गृहरूपी भोंयरेमें ऐसे पड़े रहते हैं जैसे विशाल पर्वतोंकी गुफाओंमें जीव-जन्तु पड़े रहते हैं । आत्माकी प्रतीतिके विना दोनों समान हैं ।

पुण्य-पाप दोनों आस्रव तत्त्व ही हैं, 'बंधके कारणको आस्रव कहा है' । समयसार गा. ७२में उसे 'अशुचि', गा. ७४में 'दुःखरूप' कहा है; कलश नं. १०२में पुण्य-पाप दोनोंको बंधका ही कारण कहा है । ज्ञानीको भी निचली दशामें शुभराग हेयबुद्धिसे आता है किंतु उसका स्वामित्व नहीं है, अतः ऐसी श्रद्धा ज्ञानीको जरा भी नहीं है कि 'पुण्य करने योग्य है'; अज्ञानी शुभभावको परमार्थधर्म मानता है वह उसकी भूल है । जो संसारमें प्रवेश कराते हैं उनको भला कैसे माना जाये ? बंधभाव है उसे भला नहीं मानना चाहिये ।

जीव-खाते हैं। ज्ञानीजनोंने पुण्य-पापरहित आत्माकी सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-आचरणसे मोक्ष प्राप्त किया है।

लोग मानते हैं कि श्रीपालने व्रत धारण किया था इसलिये उनका रोग मिट गया था; किन्तु शरीरका रोग दूर करनेका कार्य धर्मका नहीं है। पूर्वका पुण्य हो तो शरीर निरोगी होता है। धर्मके फलसे रोग दूर होता है, ऐसा माननेवाला धर्मके स्वरूपको समझा ही नहीं है। पुण्य शुभपरिणामसे होता है, और धर्म आत्माका शुद्ध-स्वभाव प्रगट करनेसे होता है इसकी उसे खबर नहीं है। सनत्कुमार चक्रवर्तीने दीक्षा ग्रहण की, उसके बाद उन महान् धर्मात्मा-मुनिको बहुत साल तक तीव्र रोग रहा तथापि शरीरके ऊपर धर्मका कोई प्रभाव नहीं हुआ। यह बात नहीं कि धर्मसे शरीर निरोगी रहता है, किन्तु धर्मके फलसे पुण्य और शरीर इत्यादिका बन्ध ही नहीं होता। मोक्षमार्गमें पुण्यका भी निषेध है, तब आजकल लोग धर्मके नामसे अपनी मनमानी हांकते रहते हैं और कहते हैं कि पुण्य करो, उससे मनुष्य या देवका शरीर मिलेगा और फिर परम्परासे मोक्ष प्राप्त होगा।

जीव राग-द्वेषका कर्ता है, उसके फलका भोक्ता है, इत्यादि काम-भोग-बन्धकी कथा जीवने अनन्त बार सुनी है, इसलिये आचार्यदेव कहते हैं कि जड़के संयोगकी रुचि छोड़ो; पुण्यसे धर्म नहीं होता।

शंका:—आपने तो पुण्यको जुलाब ही दे डाला है?

समाधान:—जमालगोटाका जुलाब दिये बिना विकार (विपरीत-मान्यता) दूर नहीं हो सकता। पुण्य मेरा है, शुभभाव करते करते धीरे धीरे धर्म होगा, ऐसी विषैली मान्यताका अर्थात् राग-द्वेष-अज्ञानभावका वीतरागके निर्दोष वचन विरेचन करा देते हैं। किसी भी बन्धभावका आदर नहीं होना चाहिये।

यदि कोई आत्माके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसे विरुद्ध भावको धर्म कहे तो वह विकथा है। अंजानको सत्य बात कठिन मालूम

होती है, क्योंकि उसने वह पहले कभी सुनी नहीं है, इसलिये कदाग्रहीको वह विरोधरूप लगती है, परन्तु सरल जीव अपनी शुद्धताकी बात सुनकर हर्षसे नाच उठते हैं और कहते हैं कि अहो! ऐसी बात हमने कभी भी नहीं सुनी थी।

"हमने तुम्हारे लिए इतना किया है," ऐसा कहनेवाला असत्य कहता है, क्योंकि तीन काल और तीन लोकमें कोई परका कुछ कर नहीं सकता, मात्र वह ऐसा मानता है। ज्ञानी अथवा अज्ञानी परका कुछ कर ही नहीं सकता। अनादिकालीन विपरीतदृष्टिके खण्डको बदलकर नये माल (सच्ची दृष्टि) को भरनेके लिये नया खण्ड बनाना चाहिए।

वर्तमानमें धर्मके नाम पर बहुत सी गड़बड़ी दिखाई देती है, पुण्यसे और परसे धर्म माना जाता है। किन्तु अनादिसे जीव जो मानता आया है उससे यह बात भिन्न है। सत्य बात तो जैसी है वैसी ही कहनी पड़ती है और उसे माने बिना छुटकारा नहीं है। सत्यको हल्का-सस्ता बनाकर छोड़ा नहीं जा सकता। यदि कोई कहता है कि यह तो बहुत उच्चकोटिकी बात है, सो ऐसा नहीं है; क्योंकि यह धर्मकी सर्वप्रथम इकाईकी बात है।

आत्माको पुण्यादि पर-आश्रयकी आवश्यक्ता प्रारम्भमें भी नहीं है। सच्ची समझके बिना व्रत-तप इत्यादिसे पुण्य बांधकर जीव नववें ग्रैवेयक तक गया, फिर भी स्वतंत्र आत्मस्वभावको नहीं जाना, और इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

जीवने ऐसा परम सत्य इससे पूर्व कभी नहीं सुना कि अनंतगुणोंका पिण्ड, चैतन्य आत्मा परसे पृथक् है। एक रजकण भी मेरा नहीं है, रजकणकी अवस्था या देह, मन, वाणीकी प्रवृत्ति मेरी नहीं है; मैं तो ज्ञाता ही हूँ इत्यादि। इसलिये कहता है कि प्रारम्भमें कोई आधार तो बताओ, कोई आश्रय लेनेकी तो बात करो; देव, गुरु, शास्त्र कुछ सहायता करते हैं, ऐसा तो कहो। किंतु भाई! तू पृथक्

है और देव, गुरु, शास्त्र पृथक् हैं; एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी कुछ सहायता नहीं कर सकता। जब स्वयं समझे तब देव, गुरु, शास्त्र निमित्त कहलाते हैं। उपादानकी तैयारी न हो तो देव, गुरु शास्त्र क्या करेंगे? जैसे पिंजरापोलके जिस पशुके पैरमें शक्ति न हो उसे यदि लकड़ीके सहारे जबरन् खड़ा करे तो भी वह गिर पड़ता है, और गिरनेसे जो धक्का लगता है, उससे वह अधिक अशक्त हो जाता है। इसीप्रकार जो यह मानता है कि मैं शक्तिहीन हूँ, उसे देव, गुरु, शास्त्रके सहारे खड़ा किया जाय तो भी वह नीचे गिर पड़ता है, और पछाड़ खाकर अधिक अशक्त हो जाता है। देव, गुरु, धर्म वीतरागी स्वतंत्र तत्त्व हैं, उसीप्रकार मैं भी स्वतंत्र अनन्तशक्ति वाला हूँ। परके आश्रयके बिना मैं अपने अनंत गुणोंको प्रगट कर सकता हूँ, ऐसी यथार्थ मान्यता सम्यग्दर्शन है। ऐसा होने पर भी जो यह मानते हैं कि देव, गुरु, शास्त्र मुझे तार देंगे, वे मानों यह नहीं मानते कि वीतरागदेवके द्वारा कही गई यह बात सत्य है कि आत्मा स्वतंत्ररूपसे अनन्त पुरुषार्थ कर सकता है।

सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि हम स्वतंत्र और भिन्न हैं, तू भी पूर्ण स्वतंत्र और भिन्न है। किसीकी सहायताकी तुझे आवश्यकता नहीं है। ऐसा निस्पृही वचन वीतरागके बिना दूसरा कौन कहेगा?

बहुतसे लोग कहा करते हैं कि हमारा स्वार्थत्याग तो देखो, हम जगत्के लिये मरे फिरते हैं, हम अपनी हानि करके भी जगत्का सुधार करते हैं, किन्तु लोगोंको यह खबर नहीं है कि ऐसा कहनेवाले ने दूसरोंको पराधीन तथा अशक्त ठहराया है।

कोई किसीका उपकार नहीं करता, मात्र वैसा भाव कर सकता है। स्वयं सत्यको समझे, और फिर सत्यको घोषित करे, उसमें जो भी तत्पर जीव हो वह सत्यको समझ लेता है, ऐसी स्थितिमें व्यवहारसे कहा जाता है कि उसका उपकार किया है। साक्षात् तीर्थंकरदेव पृथक् हैं और तू पृथक् है; उनकी वाणी अलग है; इसलिये वह तुझे कदापि सहायक नहीं हो सकती। ऐसा माने बिना स्वतंत्र तत्त्व समझमें नहीं आयगा।

प्रश्नः—ऐसा माननेके बाद, क्या फिर कोई दान, सेवा, उपकार आदि न करे?

उत्तरः—कोई किसी परका कुछ कर नहीं सकता, किन्तु परका जो होता है, और जो होना है वह तो हुआ ही करेगा; तब फिर दान, सेवा, उपकार आदि न करनेका तो प्रश्न ही नहीं रहता। ज्ञानीके भी शुभभाव होता है, किन्तु उसमें उसका स्वामित्व नहीं होता।

अनादिकी विपरीत मान्यताको लेकर परमें एकत्व सुलभ हो गया है और परसे पृथक्त्वका श्रवण, परिचय, अनुभव कठिन हो गया है। भूतकालके विपरीत अभ्यासकी अपेक्षासे मँहगी बताई है, किन्तु पात्रता प्राप्त करके परिचय करे तो ज्ञात हो कि यह अपनी स्वाधीनताकी बात है इसलिये सस्ती है।

टीकाः—इस समस्त जीवलोकको काम–भोग सम्बन्धी कथा एकत्वसे विरुद्ध होनेसे अत्यन्त विसंवादी है अर्थात् आत्माका अत्यन्त बुरा करने वाली है; तथापि पहले यही अनन्तबार सुननेमें आई है, परिचयमें आई है और अनुभवमें भी आ चुकी है।

मैं परका कर सकता हूँ, पर मेरा करदे, ऐसी इच्छा जीवने अनादिसे सेवन की है, किन्तु मैं परके कर्तृत्व–भोक्तृत्वसे रहित हूँ, इसलिये स्वमें ठहरूँ, ज्ञानकी अन्तर श्रद्धा, ज्ञान और रमणता करूँ, यही ठीक है। ऐसी बात पहले अनन्तकालमें जीवने यथार्थरूपसे नहीं सुनी।

स्पर्शन और रसना इन्द्रियोंको कामकी तथा घ्राण, चक्षु और कर्णको भोगकी मुख्यता है।

आत्मा सदा ज्ञानस्वरूप है, उसे भूलकर पर पदार्थकी ओरका जो लक्ष है वह विषय है। जीव जितनी शुभाशुभवृत्ति करता है वह परलक्षसे होती है, इसलिये चाहे जिस पदार्थकी ओर वृत्ति करके उसमें अच्छा–बुरा भाव करना सो विषय है। परवस्तुके प्रति राग-द्वेष-मोहवाला जो भाव है सो विषय है।

परवस्तु विषय नहीं है वस्तु तो वस्तु ही है। वर्ण, गंध, रस, स्पर्शमें विषय नहीं, किन्तु उसकी ओरका जो रागभाव है सो विषय है। इसका रूप सुन्दर है, ऐसा मानकर वहाँ ज्ञानस्वरूपी आत्मा जो रूप-सम्बन्धी राग करता है सो रूप-सम्बन्धी विषय है। उसीप्रकार गंध, रस और स्पर्शके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये। परद्रव्यके ऊपर लक्ष करके जीव जब राग-द्वेष करता है तब परद्रव्य विकारका निमित्त होनेसे, उपचारसे परद्रव्यको विषय कहा जाता है। ज्ञान-भावसे परद्रव्यको जाने, उससे राग-द्वेष न करे तो वह परद्रव्य ज्ञेय कहलाता है। स्व-पदार्थका लक्ष करना सो स्व-विषय है। यदि स्वका लक्ष करे तो जीवको राग-द्वेष न हो।

देव, गुरु, शास्त्र पर हैं, उनके प्रति भी जीव रागरूप भाव रखे तो वह भी रागका व्यापाररूप परविषय है। शास्त्रमें कहा है कि आत्मा परके आश्रयसे रहित है, पुण्य-पापसे भिन्न है, मन और इन्द्रियोंसे भिन्न है, किसी भी परके साथ उसे सम्बन्ध नहीं है, शुभ-विकल्प भी आत्माको सहायक नहीं है। निमित्ताधीन होनेसे शुभाशुभ भावका होना भी ज्ञानी आत्माका कार्य नहीं है। किन्तु ऐसा जिसनें नहीं माना उसनें राग द्वारा ही शास्त्रोंको सुना है, और इसलिये उसनें शास्त्रोंको भी इन्द्रियका विषय बनाया है। शास्त्रके शब्दोंके द्वारा धर्म प्रगट होता है, ऐसा जिसने माना उसनें शास्त्रके शब्दको शुभ-रागका विषय बना लिया। आत्मा चैतन्यमूर्ति-ज्ञाता ही है, शब्दादि पाँचों विषयोंसे भिन्न हैं, ऐसा शास्त्रके कहनेका आशय है। उसे भूलकर ऐसा माने कि देव, शास्त्र, गुरुके संयोग द्वारा धर्म आता है वह जीव वहाँ भी रागके विषयरूप व्यापार करता है।

तीर्थंकर भगवानको भी आँखोंसे अनन्तबार देखा, वहाँ भगवान-को भी शुभरागका विषय बनाकर पुण्यबन्ध किया; निमित्त अथवा रागके बिना स्वावलम्बी दृष्टिसे भगवानको कभी देखा नहीं; इसलिये वह भी परविषय होगया।

अशुभसे बचनेके लिये देव, गुरु, शास्त्रकी विनय-भक्तिरूप

शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु वह शुभभाव पुण्य है; धर्म भिन्न वस्तु है। स्वात्मलक्षके बिना सब परलक्ष है। अनादिसे परके ऊपर दृष्टि है, दूसरा मेरी सहायता करे ऐसी जिसकी मान्यता है उसने अपनेको निर्माल्य माना है। "हे भगवान्! कृपा करो, अब तो तारो"—इसका अर्थ तो यह हुआ कि अब तक बन्धनमें रखकर तुमने परिभ्रमण कराया सो यह दोष भी तुम्हारा है। आत्मामें अंतर-शक्ति है, सदा स्वावलम्बी है, पुण्य-पापकी वृत्ति जो कि पर है उससे भिन्न है, ऐसी बात जीवने पूर्वमें कभी नहीं सुनी थी, उसका परिचय-अनुभव नहीं किया था, मात्र परके कर्ता-भोक्ताकी ही बात सुनी थी।

मैं परका कर सकता हूँ, पर मेरा कर सकते हैं, ऐसा 'कर्तृत्व-भाव' और हर्ष-शोक-सुख-दुःखका अनुभव 'भोक्तृत्वभाव' इत्यादि सब बंध-कथा है, और इसलिये वह सुलभ है, किन्तु पुण्य-पापादि रहित स्व-कथा सुलभ नहीं है, पुण्य-पापादि करने योग्य हैं-यह विकार-भावकी कथा निर्विकारी चैतन्यमूर्ति भगवान आत्माकी विरोधी है। अनन्तगुणके रसकंद आत्माको मनके अवलम्बनकी भी आवश्यक्ता नहीं है, किन्तु जीव बाह्यमें वृत्ति दौड़ाता है इसलिए राग होता है, पुण्यका जो विकल्प है वह भी गुणकी विपरीततासे होता है। गुणकी विपरीततासे आत्मामें अविकारी गुण प्रगट होता है, ऐसा मानना-मनवाना सो विकथा है। बाह्यके किसी अवलम्बनसे अथवा परके कारणसे लाभ होता है, पुण्यसे धर्म होता है, ऐसी अहित करनेवाली बंध-कथा जीवने अनन्तबार सुनी है, अनुभव की है, किन्तु पुण्य-पाप रहित आत्मकथा सुनना बड़ा दुर्लभ है।

जिस भावसे बंध न हो उस भावसे मोक्ष नहीं होता, और मोक्षमार्ग भी नहीं होता। धर्मके नामसे बंध-कथा अनेकबार सुनी, इसलिये जीव बंधमें अभ्यस्त हो गया है। अनभ्यस्त बैल गाड़ीके जुएको जल्दी धारण नहीं करता, किन्तु अभ्यस्त बैल जुएके उठाते ही तत्काल अपनी गर्दन आगे लाकर जुत जाता है। जब बालकसे सर्वप्रथम दुकान पर बैठनेको कहा जाता है तब उसे वह नहीं रुचता,

किन्तु थोड़ा परिचय होने पर, कुछ कमाई दिखाई देने पर जब लोभ लग जाता है तब वह व्यापारमेंसे क्षणभरका भी समय नहीं निकाल पाता। उसे फिर निवृत्ति अच्छी नहीं लगती। यह बंधनमें अभ्यस्त हो जानेके उदाहरण हैं।

आत्मा पुण्य-पापसे रहित, अतीन्द्रिय-आनन्दघनस्वरूप है, ऐसी बात जीवने कभी नहीं सुनी। पुण्य-पापके बंधनसे जीव अभ्यस्त हो गया है। 'साधु' नाम धारी कितने ही जीवोंको यह खबर नहीं होती कि आत्मतत्त्व परसे सर्वथा भिन्न है; इसलिये वे लोगोंको बाहरकी बातें सुनाते हैं। किसी राजा-रानीकी कथा सुनाकर अन्तमें कह देते हैं कि उसने दीक्षा ले ली। संसारमें ऐसी बातें तो प्रत्येक जीवने अनन्तबार सुनी हैं, इसलिये वे सुलभ हैं।

आत्मा अनन्त गुणोंका स्वामी, अविनाशी, प्रभु है, उसका मुक्तस्वभाव कैसे प्रगट हो? उसका अन्तरंग वैभव क्या है? यह न जाननेके कारण जीवको पराधीनताकी कथा-पुण्यपाप बंधकी कथा रुचिकर लगती है, क्योंकि वह उससे अभ्यस्त हो गया है।

अनन्तबार मनुष्य हुआ, वहाँ भी धर्मके नामसे विकथा ही सुनी। कभी सत्य सुननेको भी मिला, किन्तु आन्तरिक श्रद्धा नहीं हुई, शुभरागमें अटका रहा इसलिये उसके लिये तो वह बंध-कथा ही हुई।

एकगुना दान करनेसे हजारगुना पुण्य होता है, ऐसा सुनकर दानके चिट्ठेमें अपना नाम लिखाता है। वास्तवमें तो तृष्णा कम करनेको दान कहा गया है, किन्तु इसमें तो तृष्णा बढ़ानेकी बात है। जहाँ लेनेकी भावना है वहाँ त्यागभावना कैसे हो सकती है? स्मरण रहे कि संसारके पापोंमें लगे रहनेसे पुण्यभाव अच्छे हैं। पूजा, भक्ति और दानादिके द्वारा तृष्णा कम करनेका निषेध नहीं किया गया है, किन्तु वह शुभभाव है, आत्मस्वभाव नहीं; इसलिए वह धर्म नहीं है—ऐसा समझाया है। आजकल बहुतसे लोग पुण्यमें धर्म बताते हैं, 'पुण्य करो' ऐसी बातें संसारमें जहाँ-तहाँ सुननेको मिलती हैं और जीवके अनुभवमें भी वे आगई हैं। जैसे सट्टा करने वाले

को सट्टेकी बातका ऐसा तीव्र वेदन (अनुभव) होता रहता है कि उसे दूसरी बात सुननेका अवकाश ही नहीं होता, इसीप्रकार देव, नरक, मनुष्य और तिर्यंचके भवकी बात अनन्तबार सुनी है, इसलिये उसे आत्माकी बात नहीं रुचती।

जीवलोक संसारचक्रके मध्यमें स्थित है। अज्ञानी जीव क्षणभर पापमें तो क्षणभर पुण्यमें, फिरा ही करता है, किन्तु पुण्य-पापसे भिन्न आत्मतत्त्वरूप निर्णय नहीं करता, इसलिये उसका भवभ्रमण नहीं रुकता।

अनादिसे देहदृष्टि है, स्त्री-पुत्रादिको देहके आकार मानता है, कर्मफलरूप देहको समझता है, किन्तु अबन्ध आत्माको नहीं समझता, इसलिये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावके पंचपरावर्तनरूप संसारचक्रमें भ्रमण किया करता है।

पंच परावर्तनका स्वरूप

(१) द्रव्यपरावर्तन—प्रत्येक आत्माको प्रायः प्रत्येक परमाणु देहरूपसे—संयोगरूपसे आये और गये; वाणी, मन, कर्मवर्गणारूपसे समस्त परमाणुओंका अनन्तवार संयोग किया, पुण्य-पापके संयोगसे अनन्त प्रकारके आकारवाला शरीर जीवने अनन्तबार धारण किया, किन्तु असंयोगी आत्मतत्त्वकी बात नहीं सुनी।

(२) क्षेत्रपरावर्तन—लोकाकाशका ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है जहां जीव अनन्तवार जन्मा और मरा न हो। पुण्य-पापके विकारीभाव किए और उसके भोग्यस्थानरूप असंख्यात क्षेत्रमें अनन्त जन्म-मरण किये; किन्तु आत्मा परसे भिन्न, अतीन्द्रिय ज्ञानमूर्ति है, उसे नहीं जाना।

(३) कालपरावर्तन—बीस कोड़ाकोड़ी सागरके जितने समय होते हैं, उन एक एक समयमें परिभ्रमण करके जीव अनन्तबार जन्मा और मरा।

(४) भवपरावर्तन—नारकी, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवके भव

अनन्तवार धारण किये। कभी सड़ा कुत्ता हुआ तो कभी वहुत वड़ा राजा हुआ और ऐसी राज्य-सम्पदा प्राप्त की जहाँ क्षणभरमें करोड़ों रुपये आते हैं; वहाँसे मरकर नरकमें भी गया और वहाँसे निकलकर सिंह, सूकर इत्यादि हुआ, इसप्रकार संसारचक्र चलता रहता है, किन्तु निर्विकारी-अनन्त सुखमूर्ति आत्मा परसे भिन्न है, ऐसी अपूर्व वात जीवने कभी नहीं सुनी।

(५) भावपरावर्तन—जीवने अनन्तप्रकारके शुभ-अशुभ पुण्य-पापके भाव किये, प्रत्येक क्षणमें अरवों रुपयोंके दान देनेका शुभभाव किया, तो कभी तीव्र मूर्च्छासे महापाप वाँधकर नरकमें जानेका भाव किया। शुभाशुभ भावके द्वारा निरन्तर परिभ्रमण किया; ऐसा परिभ्रमण अनादिसे चल रहा है; किन्तु सम्यग्ज्ञानके द्वारा कभी भी दोनोंके वीच भेद नहीं कर सका। 'मैं ज्ञानज्योति, चिदानंद, परसे भिन्न हूं' ऐसा भेदज्ञान हो जाय तो फिर मोक्षदशा प्रगट हुए विना नहीं रहे। जीवने यथार्थ आत्मज्ञानके अतिरिक्त दूसरे सव कार्य अनन्तबार किये हैं। शरीर पर कांटे रखकर उसे जला डाला तो भी क्रोध नहीं किया, छह महिनेके उपवास किये, और पारणामें मात्र एक चावल खाकर फिर छह महिनोंके उपवास किये, अज्ञानसे उत्कृष्ट पुण्यभाव करके नववें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु पुण्य-पापरहित आत्मस्वभावको नहीं जाना, इसलिए एक भी भव कम नहीं हुआ।

शुभ-अशुभभावके असंख्य प्रकार हैं, उनमें मिथ्यादृष्टिके द्वारा होनेवाला ऊँचेसे ऊँचा पुण्य और घोरसे घोर पाप प्रत्येक जीवने अनन्तवार किया है।

नववें ग्रैवेयकमें जानेवाले जीवके व्यवहारसे श्रद्धा-ज्ञान और शुभप्रवृत्ति होती है। वाह्यसे नग्न-दिगम्बर मुनित्व होता है, पंच-महाव्रतका पालन सावधानीपूर्वक होता है, किन्तु अन्तरंगमें "मैं परसे निराला हूँ, पुण्य-पापके विकल्पसे रहित हूं, किसीका मुझे आश्रय नहीं है।" ऐसी स्वावलम्वी तत्त्वश्रद्धा नहीं हुई, इसलिये भवभ्रमण दूर नहीं हुआ।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनंत परावर्तनोंके कारण निरन्तर भ्रमण करके जीवने परमार्थसे परसे पृथक्त्वकी और स्वमें एकत्वकी बात कभी नहीं सुनी। पुण्य-पापके बंधनमें रहनेकी टेव पड़ गई है, इसलिये परसे पृथक्त्वकी बात नहीं रुचती। मोहरूपी महाभूतने सबको वश कर रखा है और वह लोगोंसे बैलकी तरह भारवहन कराता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व गुणस्थान है। हम परका कुछ कर सकते हैं, ऐसी मान्यतासे कोई अज्ञानी इन्कार नहीं कर सकता। पुण्यसे धर्म होता है अर्थात् विकारसे आत्मगुण प्रगट होता है, ऐसी विपरीत मान्यताने अज्ञानी जीवोंको वशमें कर रखा है।

जिसे सच्ची समझ होती है वह तृष्णाको कम किये बिना नहीं रहता। अशुभभाव कम करनेके लिये गृहस्थके शुभभावकी वृत्ति होती है, किन्तु पुण्य-पापादिसे आत्माको भिन्न माने बिना जो अल्प-पुण्य बंधता है, उसका स्वामित्व मानकर कभी तो देवभव पाता है और फिर पशु तथा एकेन्द्रियमें जाता है।

पर मेरे आधीन हैं, पर मेरे हैं, परका मैं कर सकता हूँ, पर मेरा कर दे, मैं संसारमें अपनी प्रतिष्ठासे बड़ा होऊँ, पुण्यमें बढ़ूँ; ऐसी भावना अज्ञानी जीव करता है। कोई नामधारी साधु होकर लोकमें बड़प्पन लेना चाहता है, किन्तु वह देहादिसे भिन्न निर्विकल्प, ज्ञान-मूर्ति आत्माको नहीं जानता। वह धर्मके नाम पर विकथा कहनेवाला, अनंतज्ञानी-वीतरागी भगवानका द्रोही है।

अज्ञानी जीव मोहके वशीभूत होकर पुण्य-पापरूपी भारी बोझ उठाकर अनन्तभवमें भ्रमण करता रहता है, अनन्तकाल तक भ्रमण करके किसी समय मनुष्य हुआ तो भी सत्यके लिये प्रयत्न नहीं करता। सांसारिक कार्योंका तो समय-विभाग बनाता है, सोनेका, खाने-पीनेका और बातें करनेका समय निकालता है, जगतकी मान-मर्यादाके लिये सब कुछ करता है, किन्तु ऐसा विचार तक नहीं करता कि अनन्त जन्म-मरणको दूर करनेका सुयोग फिर नहीं मिलेगा, इसलिये

शीघ्र ही आत्मकल्याण कर लूँ। मिथ्यात्वके अहंकारभावको वहन करनेवालेको बैलके समान कहा है। क्योंकि वह स्वयं वर्तमानमें बैलके समान भावोंका सेवन कर रहा है।

संसारका सयान परिभ्रमण करनेके लिये है। अधिक कपट-चालाकीसे संसार भले ही चला ले, किन्तु मरणके समय उसका लेखा-जोखा मालूम होगा। जैसे कोई बढ़ई चोरोंके साथ चोरी करने गया, उसने सोचा कि चोरी तो करनी ही है, किन्तु साथ ही अपनी कारीगरी भी बताता जाऊँ, यह सोचकर उसने दरवाजेको कलापूर्वक काटा, उसमें कंगूरे बना दिये और फिर घुसनेके लिये भीतर पैर रखा कि भीतरसे मकान मालिकने और बाहरसे चोरोंने उसे खींचना शुरू किया। इसप्रकार अपने द्वारा की गई कारीगरी उसे स्वयं दुःखदाई हो गई; और उसका सारा शरीर छिल गया। इसीप्रकार संसारके सयानकी-कपटकी कारीगरी अपनेको ही हानि पहुंचाती है।

निजको भूलकर परवस्तुका मोह किया, उसमेंसे तृष्णारूपी रोग निकल पड़ा, अब वह बाहर परेशान होता है और सुखको ढूंढ़ता है। परपदार्थ अनन्त हैं, अनंत परपदार्थोंके साथ राग करने पर कहीं समाधान नहीं मिलता, इसलिये आकुलता होती है। स्वयं सुख-स्वरूप है, उसमें अन्तर्लीन हो जानेका विचार नहीं करता, इसलिये संसारमें अनादिसे परिभ्रमण कर रहा है।

पुण्य-पाप कैसे होता है, यह बात जीवने अनंतवार सुनी है, किंतु मैं देहादिसे, पुण्य-पापसे भिन्न परावलंबन रहित हूँ, ऐसे भिन्न आत्माके शुद्धस्वरूपकी बात पहले श्रवण नहीं की। अज्ञानरूपी भूल जीवको अनादिसे लगी होनेसे बैलकी भाँति भार ढोता है। स्वयं ही मोहके द्वारा तृष्णारूपी आकुलताका भार ढोता है और तीव्र राग-द्वेषसे पीड़ित होता है। परमें ममत्व छोड़नेके बाद जो अल्प राग रहता है वह मुख्य बन्धन नहीं है। आत्मा चिदानंदस्वरूप है, उसको भूलकर स्वयं मोहमें लग जाता है। जड़कर्म आत्माको भूल नहीं कराते।

पुण्य करो! पुण्य करो! पुण्यसे धीरे धीरे धर्म होगा! यह

बात त्रिकालमें मिथ्या है। पुण्य विकार है, इसलिये बंधन है, उससे धर्म नहीं होता; धर्म तो पुण्य-पापरहित आत्मासे है। उसकी पहले श्रद्धा करनेके लिये भी पुण्य सहायक नहीं होता। जो पुण्य-पापरहित स्वभाव है सो धर्म है। यह सुनकर कितने ही लोगोंको ऐसा लगता है कि अरे! यह तो पुण्यका भी निषेध करते हैं। किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि पुण्यके विना आत्मासे ही धर्म होता है; उन्होंने ऐसी बात न तो कभी सुनी है और न उन्हें रुचती ही है। एक परमाणु मात्र मेरा नहीं है, ऐसा माननेवाला ज्ञानी जितनी तृष्णा दूर करेगा उतनी अज्ञानी दूर नहीं कर सकता। कायक्लेशसे आत्मधर्म नहीं होता। धर्म तो आत्माका सहज स्वरूप है, उसमें जो स्थिरता है सो क्रिया है। भगवान आत्माकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें स्थिरता ही ज्ञानकी आन्तरिक क्रिया है।

लोगोंने बाह्यमें धर्म माना है; उपदेशक भी वैसे ही मिल जाते हैं। पुण्य बांधकर देवलोकमें जाऊँगा, वहां सुख भोगूँगा और भगवानके पास जाकर धर्म सुनूँगा, इत्यादि विकल्प करता है, किन्तु वह स्वयं भगवान है, परसे भिन्न है, निरावलम्बी है, ऐसे अपने स्वतंत्र स्वभावको नहीं मानता, तब फिर वह भगवानके पास क्यों जायगा? और कदाचित् गया भी तो वहां क्या सुनेगा?

निरपेक्ष आत्मतत्त्वके ज्ञानके विना जीव मोहमें लगे हुए हैं और संसारका भार ढोते हैं। भले ही त्यागी नामधारी हो, साधु हो अथवा गृहस्थ हो, किन्तु जिसकी दृष्टि शरीर पर है वह देहक्रिया अपनी मानकर पुण्य-पापका भार ढोकर अनंत संसारमें परिभ्रमण करता है। कोई माने या न माने, किन्तु सत्य तो कहना ही पड़ता है, सत्यको छिपाया नहीं जा सकता।

आत्मा पूर्ण-निर्मल है, उसमें रमण करूँ, ऐसा न मानकर बाह्यमें कुछ करूं तो ठीक, ऐसे परके कर्ता-भोक्तापनेका भाव करता है, इसका मूल कारण मोह है। मोह अर्थात् स्वरूपमें असावधानी और परमें सावधानी। मेरा स्वरूप राग-द्वेषकी क्रियासे रहित है, ऐसी

प्रतीति न होना सो मोह है। इसी कारणसे परमें रमणता करता है। परकी जो कर्तृत्वबुद्धि है सो परमें सावधानी है।

जीवको मोहसे उत्पन्न तृष्णारूपी रोग हुआ है, उसकी दाहसे व्याकुल होकर विषयोंकी ओर ऐसे दौड़ता है जैसे मृग मृगजलकी ओर दौड़ता है। भगवान आत्मा शांतरस वाला है; उसे भूलकर बाह्य प्रवृत्तिके द्वारा सुख माननेवालेको आकुलताके कारण आन्तरिक आत्मतत्त्वको देखनेका धैर्य नहीं है। असन्तोषरूपी अग्नि अन्तरंगमें सुलग रही है। मैंने इसका काम किया, इतनोंको सहायता दी, मुझे इसकी सहायता मिले तो ठीक हो, यदि ऐसे साधन मिलें तो बहुतोंका भला कर दूं, इसप्रकार आकुलता किया ही करता है। कोई जीव किसी दूसरेका कुछ भी करनेके लिये तीनकालमें समर्थ नहीं है। भाग्यानुसार बाह्यके कार्य हुआ करते हैं, यह बात नहीं विचारता। किसीकी ओरसे सहायता मिलनेका किसीके पुण्योदय हो और उसका सहायता देनेका शुभभाव हो, ऐसा मेल कभी कभी दिखाई देता है; किंतु इसलिये मैंने परका उपकार या कार्य किया ऐसा मानना सो अभिमान है। यदि कोई कहे कि मैंने इतनोंको समझा दिया, तो क्या वह सच है? समझनेकी अवस्था स्वसे होती है या परसे? तब फिर यदि कोई माने कि मैंने परकी ऐसी निन्दा की सो उसका अहित हुआ, प्रशंसा की सो भला हुआ, मुझसे पूछो, मुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करो, मेरा आशीर्वाद मांगो, हम व्यवहारकुशल हैं, मैं ऐसा समाधान करा दूं और उसका विरोध करा दूं; बहुतोंकी सेवा करनेसे उनका आशीर्वाद मिलता है, इसलिये लाभ होता है, इत्यादि मान्यता त्रिकाल मिथ्या है। किसीके आशीर्वादसे किसीका भला नहीं होता, और किसीके श्रापसे किसीका बुरा भी नहीं होता। इसप्रकार लौकिककी बातमें पद-पद पर अन्तर है। इष्ट-वियोग अथवा अनिष्ट-संयोग पापके बिना नहीं होता, और इष्ट-संयोग पुण्यके बिना नहीं होता। अपने किये गए राग-द्वेष-अज्ञानसे बन्ध होता है, और राग-द्वेष-अज्ञानरहित भावसे मुक्ति होती है। इसप्रकार प्रत्येक जीव स्वतंत्ररूपसे अपने भाव

से बन्ध और अपने भावसे मोक्षदशाको प्राप्त करता है।

परसे सुखकी इच्छा करनेवाला सदा पराधीन बना रहता है। उसके अन्तरंगमें तृष्णाके दाहरूपी रोगकी पीड़ा रहती है। बाहरसे कदाचित् करोड़ों रुपयोंका संयोग दिखाई दे, तो भी वह अंतरंगसे दुःखी है। अज्ञानी भले ही बाहरसे त्यागी, साधु जैसा दिखाई दे तथापि वह अन्तरंगमें मोहसे आकुलित होता है। कौन प्रशंसा करता है, कौन निंदा करता है, ऐसी दृष्टि होनेसे वह अपने शान्तसुखको भूलकर आकुलताका भोग किया करता है।

परके प्रति लक्ष करके उसमें इष्ट-अनिष्ट भाव करना सो विषय है। अज्ञानी ऐसे परवृत्तिरूप विषयोंमें लगकर सदा व्याकुल रहता है। दूसरेके ऊपर दबाव न रखें, फटाटोप न करें, तो सभी छोटे-बड़े सिर पर चढ़ आयें; दो दिन कठोर रहकर तीक्ष्ण वचन कहे तो सब सीधे रास्ते पर आ गये; स्त्री-पुत्रादि ठीक हो गये; इत्यादि मिथ्या-मान्यताका सेवन करता है। पुण्यके कारण कदाचित् इच्छानुसार होता हुआ दिखाई दे तो सत्ताप्रियताको पुष्ट करता है। नौकरोंके प्रति ऐसा किया जाय और वैसा किया जाये तो बराबर चलें, ऐसा मानता है। किन्तु हे भाई! परका काम तेरे आधीन नहीं है, और तेरे काम परके आधीन नहीं हैं।

मुझसे लाखों जीवोंने धर्मलाभ प्राप्त किया है, ऐसा माननेवाला तृष्णामें जल रहा है। दूसरा समझे या न समझे, उसका लाभ-अलाभ किसी दूसरेको नहीं होता, अपना लाभ-अलाभ अपनेसे ही होता है। ऐसी स्वतंत्रताकी जिसे खबर नहीं है वह परसे सन्तोष लेना चाहता है। पर जीव समझे तो ही मेरा उद्धार हो, ऐसा नियम हो तो समझ सके, ऐसा दूसरे जीवोंको ढूंढ़नेके लिये रुकना पड़े। मुझसे कोई नहीं समझा अथवा बहुतसे लोग समझ गये, ऐसी मान्यता मोहरूपी भूल है। श्रोता समझे या न समझे अथवा विपरीत समझे तो उसका फल वक्ताको नहीं है। परसे किसीको लाभ-हानि नहीं होती। यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है कि यदि बहुतोंकी सेवा करूँगा तो

तर जाऊँगा। 'जनसेवा ही प्रभु सेवा है' यह मान्यता भी मिथ्या है। हजारों दीपकोंका प्रकाश एक घरमें इकट्ठा हुआ हो तो किसी एक दीपकका प्रकाश किसी दूसरेमें मिल नहीं जाता, इसीप्रकार किसी जीवके भावमें दूसरेका भाव मिल नहीं जाता।

यदि कोई माने कि मुझसे वहुतसे लोग समझें तो मुझे पाथेय प्राप्त हो जाय; किन्तु यह मान्यता भ्रममात्र है। यदि कोई न समझे तो अपनेको रुकना नहीं पड़ता।

अज्ञानी जीवका अनादिसे परके ऊपर लक्ष है, इसलिये यह मानकर या मनवाकर कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ, पराधीनताको अंगीकार करता और करवाता है। साधु नाम धारण करके दूसरोंको बंधनकी प्रवृत्ति बताता है। "करूँगा तो पाऊँगा" जवानीमें कमा लें, फिर वृद्धावस्थामें शांतिसे धर्म करेंगे, इसप्रकार बहुतसे लोग मानते और मनवाते हैं। बाहरका मिलना न मिलना तो पूर्व प्रारब्धके अधीन है। 'अधिक पुण्य करनेसे बड़े होते हैं' ऐसा तृष्णा-मोह बढ़ानेका उपदेश बहुत जगह सुननेको मिलता है। परके द्वारा अरूपी आत्माकी महत्ताका गुण गानेवाले सर्वत्र पाये जाते हैं। 'यदि परका कुछ नहीं करें, और जहाँ तहाँ आत्मा ही आत्मा करते फिरें तो बड़े स्वार्थी कहलायेंगे,' ऐसा माननेवाले लोग जगत्के प्रत्येक द्रव्यके स्वतंत्र स्वभावको भूल जाते हैं। कोई किसीका कुछ कर नहीं सकता। बाहरका जो होना होता है वैसा ही उस उस वस्तुके कारणसे होता है। यह बात सुननेको नहीं मिलती, इसलिये समझनेमें मेल नहीं बैठता। दूसरेको लाभ कर दें, ऐसी अभिमान भरी बातें होती रहती हैं, किन्तु आन्तरिक तत्त्व पृथक् है, उसे कौन याद करे? जिस बातका परिचय होता है उसके प्रति प्रेम बताता है, इसलिये काम-भोगकी कथा जहां-तहाँ सुलभ हो गई है; किन्तु आत्माकी स्पष्ट भिन्नता और स्वतंत्र एकत्वकी बात दुर्लभ हो गई है। मैं परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित, परके आश्रयसे रहित, पुण्य-पापसे रहित, विकल्प वृत्तिसे निराला, सदा प्रगटरूपसे अन्तरंगमें प्रकाशमान, ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा

भेदज्ञानज्योतिसे निर्णय करना चाहिये।

अपने अखण्ड चिदानन्द ध्रुवस्वभावका जो आश्रय है सो कारण है, और आत्मा स्पष्ट निराला अनुभवमें आता है सो उसका फल है। इसप्रकार साधन-साध्यता आत्मामें ही है। श्रद्धा और ज्ञान

अनन्तगुणोंका पिण्ड, सदा चैतन्यज्योति आत्मा प्रगट है, प्रकाशमान है। पुण्य-पाप रागादिसे आत्मा भिन्न है, तथापि कषायके साथ एकमेक सा मानता है; (कषाय-क्रोध, मान, माया, लोभ, पुण्य-पाप। जो क्रोध-मान है सो द्वेषभाव है और माया-लोभ रागभाव है। (रागमें पुण्य-पाप दोनों हैं।) बन्ध-मोक्ष ये दो अवस्थाएँ कर्मके निमित्तकी अपेक्षासे हैं। शक्ति-व्यक्तिके भेदको गौण करके देखने पर सदा एकरूप, निर्मल, ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा है, किंतु पराधीन-दृष्टिसे वह स्वरूप ढक जाता है। परके साथ मेरा सम्बन्ध है, उस (कर्तव्य)को पूरा करना चाहिये, ऐसा कहकर चौरासीके चक्करमें परिभ्रमण किया। स्वभावसे निर्मल, त्रिकाल साक्षीरूप भगवान आत्माको नहीं जाना, इसलिये सर्वज्ञ-तीर्थंकर भगवानके पास अनन्तबार जाने पर भी पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं परका आश्रयवाला हूँ, ऐसे पराधीन भावकी पकड़ होनेसे केवलज्ञानी भगवानके पाससे भी कोराका कोरा यों ही लौट आया। विष्टामें रहनेवाले भौंरेको देखकर गुलाबके फूलोंमें रहनेवाले भौंरे ने उससे कहा कि "तू तो मेरी जातिका है, गुलाबकी सुगन्ध लेनेके लिए मेरे पास आ!" विष्टाका वह भौंरा विष्टाकी दो गोलियाँ अपनी नाकमें लेकर गुलाबके फूल पर जा बैठा। गुलाबके भौंरे ने पूछा कि "कैसी सुगन्ध आती है?" उसनें उत्तर दिया, जैसी वहां आती थी वैसी ही यहाँ आती है।' गुलाबके भौंरेने विचार किया कि ऐसा क्यों होता होगा? और फिर उसने उसकी नाकमें देखा तो उसमें विष्टाकी दो गोलियाँ मिलीं, उसने वे निकलवा दीं; तब उसी समय उस विष्टाके भौंरे ने कहा कि 'अहो! ऐसी सुगन्ध तो मुझे कभी नहीं मिली थी!' इसीप्रकार संसारमें अनादिसे परिभ्रमण करता हुआ जीव पुण्य-पापकी पकड़रूप दो गोलियाँ लेकर कभी ज्ञानीके पास-

तीर्थंकर भगवानके पास धर्म सुननेके लिये जाता है, तो भी पूर्वकी मिथ्या वासनासे जो माना हुआ है वैसा ही देखता है, किन्तु यदि एक वार वाह्यदृष्टिका आग्रह छोड़ सरलता रखकर ज्ञानीका उपदेश सुने तो शुद्ध-निर्मलदशाको प्राप्त हो जाय।

पारसमणि अरु संतमें, बड़ो आँतरो जान।
वो लोहा कंचन करे, वो करे आप समान॥

यदि एकवार सच्चे भावसे धर्मात्माका साथ करे तो अपनी पूर्ण शक्तिको मानकर उसमें स्थिर होकर वैसा ही स्वयं हुए विना न रहे। जीवको केवल अन्तरंग मोक्षमार्गमें रहनेवाले ज्ञानी-धर्मात्मा मिले तव भी उनकी संगति सेवा नहीं की। स्वतंत्र-निर्दोष तत्त्वके संवंधमें वे क्या कहते हैं, ऐसा भाव अन्तरंगमें समझकर उस भावको स्वीकार करना सो सत्की सेवा है, किन्तु अपनी पूर्वगृहीत मान्यताको पकड़े रखकर सुने तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूपका स्वाद अनुभवमें नहीं आता। कोई कहता है कि "सारे दिन आत्माकी ही वात करते हो यहाँ दूसरी तो कोई वात हो नहीं है, जाननेके वाद कुछ करना भी तो होगा?" उससे ज्ञानी कहते हैं कि "भाई! पहले निश्चय तो कर कि तू क्या कर सकता है? यह समझनेके वाद प्रश्न ही नहीं होता।"

क्या कभी असत्की मान्यतासे सत्का फल मिलता है? ज्ञानी-धर्मात्माकी संगति भी नहीं की, ऐसा कहकर सत्समागम पर भार दिया है। निर्दोष सत्रूप स्वयं होकर यदि सत्को समझे तो ज्ञानी पुरुषको निमित्त कहा जाता है, किन्तु जिसने ज्ञानीकी वाणी और देहको ही सत्समागम समझा है उसने अचेतनका साथ किया है। उसने आत्मज्ञानको प्राप्त लोगोंकी संगति भी नहीं की, अर्थात् उनके कहे हुए भावको नहीं समझा है। जैसे पिताको उसके नामसे माने, उसके नामकी माला फेरे, किन्तु पिताकी आज्ञा न माने, पिताके विरोधीका आदर करे तो वह सुपुत्र नहीं कहलाता। इसीप्रकार सर्वज्ञ वीतरागको नामसे माने, उनके नामकी माला फेरे, किन्तु उनकी

आज्ञा क्या है, वे परमार्थतः क्या कहते हैं, इसे न समझे और वीतरागताके विरोधी पुण्य–पापका आदर करे, तो वह वीतरागताका अनुभवी नहीं कहलाता। आत्माका यथार्थ निश्चय करके सत्यको नहीं समझा, इसलिये अनन्त भव धारण किये, वे सब व्यर्थ गये। आत्मभावसे जीवने एक भी भव नहीं विताया। अनन्तकालसे अजान होनेके कारण परम महिमावान् अपना स्वरूप क्या है, यह कभी नहीं सुना, इसलिये स्वयं अज्ञानी वना रहा।

'आत्मा परसे भिन्न है' ऐसा वहुतसे लोग कहते हैं, किन्तु उसका यथार्थ स्वरूप नहीं समझते, समझनेके लिये विशेष परिचय और धीरज चाहिये। एकबार सुनकर उसमेंसे कोई शब्द धारण करके मानता है कि मैंने आत्माको जान लिया है, किन्तु इसप्रकार यों ही आत्मा नहीं जाना जाता। कोई कहता है कि 'मैंने पन्द्रह दिनमें समयसार पढ़ लिया है,' किन्तु इसप्रकार पृष्ठ या अक्षर पढ़ लेनेसे वह समझमें नहीं आ जाता। क्या यह कोई उपन्यास है? यदि उपन्यास या कहानी हो तो उसे भी बहुत दिन तक पढ़ता है।

भिन्न आत्माका अनुभव जीवने नहीं किया, इसलिये उसका एकत्व सुलभ नहीं है। आत्माकी यथार्थ प्रतीति हुई कि उसी समय सब छोड़ देता है। ऐसा सबके लिये नहीं बनता, किन्तु शक्तिके अनुसार क्रमशः राग घटाता है। गृहस्थदशामें होने पर भी अनन्तज्ञानी-एकावतारी हो जाता है। जो सत्यको ही नहीं समझा वह किसे स्वीकार करेगा, किसे छोड़ेगा, और किसमें स्थिर होगा?

भावार्थः—इस संसारमें परिभ्रमण करनेवाला जीव पंचपरावर्तनरूप चक्रमें पड़कर, मोहसे पागल होकर 'पुण्य–पाप मेरे हैं' ऐसी विपरीत मान्यतारूपी जुएमें जुत जाता है, इसलिये वह उन *विषयोंकी तृष्णारूपी दाहसे पीड़ित होता है, और काम–भोगरूपी विषयोंकी ओर दौडता है; तथा जो जो उपाय करता है उन सभी

---

* आत्माका लक्ष छोड़कर परका लक्ष करना और उसमें इष्ट–अनिष्टरूप वृत्ति करना सो विषय है।

उपायोंसे आकुलता ही भोगता है; प्रवृत्तिसे दोष दूर करनेकी इच्छा करता है। परके ऊपर लक्ष करना सो विषय है। स्व-स्वामित्वका उपदेश विरले जीव ही करते हैं। आत्मा निराकुल आनंदमूर्ति है, उसमें स्व-लक्षसे स्थिर होना ही आकुलताको दूर करनेका सच्चा उपाय है। परावलंबनरहित शुद्ध दर्शन, ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप आत्मभाव स्व-विषय है, पुण्य-पापकी प्रवृत्तिका भाव पर-विषय है। भिन्न आत्माकी वात यथार्थरूपसे आज तक कभी नहीं सुनी और जिसे आत्मज्ञान है ऐसे धर्मात्माकी सेवा भी नहीं की।

किसीने ऐसा सुना कि जवाहरातका व्यापार करनेसे अधिक लाभ होता है, किन्तु क्या ऐसा सुनने या कहने मात्रसे लाभ हो सकता है? जैसे परीक्षक बुद्धिके विना वह व्यवसाय नहीं आता, उसीप्रकार आत्मासे विरुद्ध क्या है और अविरुद्ध क्या है, ऐसा भेद-ज्ञान न हो तो क्या लाभ है?

इस कालमें सच्ची वातका सुनना भी दुर्लभ है। आत्मस्वभाव मन, वाणी और शरीरसे परे है। मैं परका कर्ता-भोक्ता नहीं हूं, आत्मा जाननेके अतिरिक्त दूसरा कार्य नहीं कर सकता। आत्मा या तो अज्ञानसहित राग-द्वेष करता है अथवा सम्यग्ज्ञानसहित स्वरूपमें एकाग्र रहकर राग-द्वेष दूर करता है। इसके अतिरिक्त वह दूसरा कार्य ही नहीं कर सकता।

तू अज्ञानतासे परमें अच्छा-बुरा भाव कर रहा है। "ज्ञानी अथवा अज्ञानी परका कुछ कर नहीं सकते," शास्त्रोंमें जो यह कहा है उसके भावको तू नहीं समझता, इसलिये तू देव, शास्त्र, गुरुका विरोध करता है, और उसमें धर्मभाव मानता है। सत्यके समझनेमें यदि समय भी लगे तो उसमें कोई हानि नहीं, किन्तु समझनेमें देर लगेगी, इसलिये अयथार्थको मान लेनेसे काम नहीं चलेगा। जैसे दरजीको कपड़ेका थान देकर जो कपड़ा वनवाना होता है उसके बारेमें उसे समझाया जाता है। किन्तु यदि दरजी कहे कि 'मुझे समझना नहीं है, लाओ जल्दी कतर डालूं' और ऐसा कहकर विना समझे ही कपड़े

को कतर डाले तो हानि हो जाये; किन्तु यदि धीरज रखकर सुनें तो उसमें जितना समय जाता है वह भी जिसप्रकारका कपड़ा बनाना है उस कार्यके प्रारम्भमें जाता है। कैसा कपड़ा है, कैसा नाप लेना है, और क्या बनवाना है, यदि इसका सभी ब्योरा समझनेका धैर्य रखे तो ही वह सफल होता है। इसीप्रकार परसे भिन्न स्वाधीनस्वरूप कैसा है, पुण्य-पापका बन्ध किसप्रकार होता है, इत्यादि सुनने-समझनेका धीरज हो तो यह प्रारम्भका कार्य कर चुकनेसे यथार्थके समझनेमें सफल होगा और क्रमशः वीतराग हो जायगा। जैसे कोई कहे कि उल्टा ही कतर-ब्योंत क्यों नहीं कर डालते, ग्राहककी बातको सुननें-समझने की क्या आवश्यकता है? इसीप्रकार बहुतसे लोग कहा करते हैं कि "समझने-समझानेका क्या काम है? प्रारम्भ कर दो! क्रिया करेंगे तो सफल होंगे, समझनेके लिये कबतक लगे रहें"! ऐसा मानकर क्रिया-कांडमें लगा रहे तो ज्ञानीका अन्तरंग आशय क्या है वह नहीं समझा जा सकता, और बिना समझे भवभ्रमण दूर नहीं हो सकता। इसप्रकार सम्यक्को प्राप्त करनेकी दुर्लभता बताई गई है।

श्री आचार्यदेव कहते हैं कि अब मैं अपने आन्तरिक वैभवसे आत्माका एकत्व दर्शाता हूँ, इसलिये उस अपूर्व समझसे निश्चय करनेके लिये उसे अनेक पहलुओंसे समझना होगा, वह ऊपरी बातोंसे नहीं समझा जा सकता। कोई कहता है कि हमें तो सभी समान लगते हैं। किन्तु जैसे तालाबके समतलको देखनेसे ऐसा लगता है कि किनारे का और मध्यका पानी एकसा है, किन्तु पानीकी गहराई नापनेके लिये बाँसको लेकर अन्दर उतरे तो कहां कितना गहरा है यह मालूम हो जाता है; इसीप्रकार आत्माकी कई बातें मात्र शब्दसे सुनने पर उनका अपनी मान्यताके साथ कुछ सादृश्य सा लगता है और कहता है कि मैंने आत्माको जान लिया। किन्तु मन और इन्द्रियोंसे परे अतीन्द्रिय आनन्दसे परिपूर्ण आत्माका सामान्य-विशेष स्वभाव क्या है, इत्यादिका विचार करके ज्ञानके प्रमाणसे माप करे तो उसकी गहराई और उसका भेद ज्ञात हो जाता है।

आचार्यदेव प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि यह समयसार समस्त पदार्थोंको यथार्थरूपमें बतलाता है; जो इसे समझता है उसे मोक्ष हुये बिना नहीं रहता। आत्मा परसे सर्वथा भिन्न, पूर्ण-स्वतंत्र और कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित है। इसप्रकार अनेक तरहसे गहराईकी महिमा और उसका अभ्यास करनेके बाद जो उसप्रकारकी तैयारी करता है उसे यथार्थ बात अवश्य समझमें आजाती है। समयसारकी ४१५ गाथाओंको भलीभाँति समझ ले तो आत्माका स्वभाव जिस-प्रकारसे समझाया गया है वह ध्यानमें आजाये। परसे भिन्नत्व और निजसे एकत्व कैसे है, इसका भेद करके वस्तुस्थिति कही गई है, जोकि स्पष्ट समझी जा सकती है। अंटसंट लिखकर चाहे जिस उत्तर-दायित्वहीन व्यक्तिका अंगूठा लगवा लेनेकी बात यहाँ नहीं है, किन्तु साक्षात् सर्वज्ञके कहे हुये आगमके प्रमाणसे गुरुपरंपराके उपदेशसे, अबाधित न्यायकी युक्तिसे तथा अपने स्वानुभवके बलसे जैसाका तैसा कहा गया है। इसप्रकार आचार्यदेव इस बातको प्रमाणित करते हैं।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वं ॥५॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

अर्थः—उस एकत्व-विभक्त आत्माको मैं आत्माके निज वैभव-से दिखाता हूँ। यदि मैं उसे दिखाऊँ तो प्रमाण करना और यदि कहीं चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना।

यह महामंत्र है। जैसे कोई सर्प किसीको काटकर बिलमें चला-गया हो तो मंत्रका ज्ञाता मंत्र पढ़-पढ़कर उसके पास बिलमें भेजता है, और इसप्रकार वह सर्पको बाहर निकालता है। यदि उसका (जिसे सर्पने काटा) पुण्य हो तो सर्प आकर विष चूस लेता है; इसीप्रकार भगवान तीर्थंकरकी दिव्यवाणी खिरी, उसमेंसे श्रीकुन्द-

कुन्दाचार्य समयसारकी रचना करके अज्ञानान्धकारमें सोये हुए जीवोंको–जिन्हें परमें कर्तृत्वरूप ममताके मोहरूपी सर्पका विष चढ़ा हुआ है उन्हें अमृतसंजीवनीरूप न्याय–वचनोंसे मंत्रित गाथायें सुनाकर संसारकी गुफामें से बाहर निकालकर उनका विष उतारकर दूर कर देते हैं।

आचार्यदेव कहते हैं कि "तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण"। यहाँ पर 'दाएहं' अर्थात् दिखाता हूँ, ऐसी ध्वनि है कि मैंने उसे दिखानेका निर्णय किया है, एकत्व–विभक्त आत्माके स्वरूपको दर्शानेका (बतलानेका) संकल्प किया है।

'दाएहं' यह प्रथम शब्द आचार्यदेवके उपादानके बलको बतलाता है।

और फिर 'जदि दाएज्ज' अर्थात् 'यदि दिखाऊँ तो,' इसमें आचार्यदेव अपनी आत्माकी अवस्थाको, और जिसके द्वारा दिखाते हैं उस वाणीकी अवस्थाको–दोनोंको स्वतंत्र रखते हैं–भिन्न भिन्न बतलाते हैं। इसीप्रकार 'जदि दाएज्ज' (यदि दिखाऊँ तो) इस शब्दमें निमित्तकी अपेक्षा है। स्वरूपको कहनेका जो उत्साह है सो उपादान है, और वाणीका जो योग है सो निमित्त है। इसप्रकार दोनोंके मेलसे युक्त शास्त्र अखण्डरूपमें अद्भुत रीतिसे पूर्ण हुआ है।

आचार्यदेव कहते हैं कि यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना–स्वीकार करना। मैं जो कहूँगा वह अपने आत्माके निज–वैभवसे कहूँगा, स्वात्मानुभवसे कहूँगा; एकत्व–विभक्त आत्माको स्वानुभवसे दिखाऊँगा, इसलिये हे श्रोताओ! उस तुम भी स्वानुभवसे प्रमाण ही करना।

आचार्यदेव आदेश करते हैं कि 'तुम उसे प्रमाण ही करना, ऐसा कहनेमें कारण यह है कि मैं जिस भावसे चल रहा हूँ उस भाव-से केवलज्ञान प्राप्त करनेवाला हूँ, उसमें मुझे बीचमें कोई विघ्न नहीं दिखाई देता, मैं पीछे हटनेवाला नहीं हूँ, एक–दो भवमें पूर्ण हो जाने-

वाला हूं- ऐसा अप्रतिहतभाव है। इसीप्रकार यदि तुम भी प्रमाण करोगे तो मेरे जैसे ही हो जाओगे। निमित्त और उपादान एक जातिके हो जायेंगे-उनमें भेद नहीं रहेगा।

आचार्यदेवके अन्तरंगमें अप्रतिहतभाव प्रगट हुआ है, और वाणीके द्वारा भी जो कहना चाहा था वह अप्रतिहतरूपसे पूर्ण हुआ है। उपादान-निमित्तका एकसा अपूर्व मेल हो गया है, ऐसे किसी बलवत्तर योगसे शास्त्र रचा गया है।

अपने वैभवकी निर्भयतासे और निःशंकतासे आत्माके एकत्व-विभक्तपनको बतलाते हैं। एकत्व शब्द स्वसे अस्तित्व और विभक्त शब्द परसे नास्तित्वको सूचित करता है। आचार्यदेव कहते हैं कि:—

मैं स्वयं उत्तरदायित्वके साथ कहूंगा, स्वयं देखभाल कर अपूर्व आत्माकी बात निज-वैभवसे कहूंगा, इसप्रकार निज अनुभवसे वे कहते हैं, फिर विनयसे कहेंगे कि तीर्थंकर भगवानने ऐसा कहा है। किन्तु यहां तो सारा उत्तरदायित्व अपने ऊपर रखकर प्रसिद्ध करते हैं, इसलिये जो कहेंगे वह कहीं इधर-उधरसे ले लिया है ऐसा नहीं है, किन्तु वे निज-वैभवसे, स्वानुभवसे आत्माका अपूर्व धर्म कहते हैं।

अन्तरंगमें अखण्ड ज्ञान-शांतिस्वरूप पूर्ण आत्माकी श्रद्धा, ज्ञान और आन्तरिक रमणताका जो आनन्द है सो निज-वैभव है; उसके द्वारा दिखता हूं। वाणीमें आत्मस्वरूपको यथार्थ कहनेका भाव है, साथ ही उपादानका बल है। जो विकल्प उठा, उसके अनुसार उसका शास्त्रमें वाणीसे पूर्ण होनेका योग महाभाग्यसे मिलता है।

जो भाव सर्वज्ञका है, उस भावको लक्षमें लेकर पीछे न हटे, ऐसे भावको लेकर यहाँ अप्रतिहतभाव बताया है। यदि कहीं शब्द-रचनामें भूल हो तो दोष ग्रहण नहीं करना। शब्दमें कोई व्याकरण आदिकी भूल कदाचित् हो, किन्तु आत्माके प्रमाणकी बात तो यथार्थ ही कही जायगी। शास्त्र-रचनामें अक्षर, मात्रा, व्याकरण,

अलंकार आदि आते हैं, उनपर भार नहीं है, किन्तु जो परमार्थस्वरूप एकत्वका कथन करना है उसमें कहीं भूल नहीं है, इसलिये शब्दकी भूल मत ढूंढ़ना। गायके जहाँ मांस निकला हो वहीं कौवा बैठता है, उसीप्रकार दुर्जनकी भाँति दोष देखनेकी दृष्टि ग्रहण नहीं करना। सज्जन पुरुषोंको दोष ग्रहण नहीं करना चाहिये, किन्तु मैं जो शुद्ध आत्माका अनुभव कहना चाहता हूँ उसे अन्तरंगमें मिला लेना। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं केवली नहीं, छद्मस्थ हूँ; हाँ, केवलज्ञान प्राप्त करनेका मेरा आन्तरिक अनुभव प्रगट हुआ है, इसलिये अबाधितरूप से कहनेको उद्यत हुआ हूँ।

टीका:—जो कुछ मेरे आत्माका निज-वैभव है वह सम्यग्दर्शन-ज्ञान और अन्तरंगमें रमणतारूप चारित्रदशा है। उस प्रगट समृद्धिके समस्त सामर्थ्यसे मैं इस स्वसे एकत्वभूत और परसे पृथक् आत्मा-को दिखाऊँगा। जैसे किसीके यहाँ विवाह हो तब वह घरकी सारी सम्पत्ति वाहर निकालता है, उसीप्रकार यहाँ पंचमकाल है, हम छद्मस्थ हैं, फिर भी हमने आत्मऋद्धि प्राप्त की है, और पूर्ण ज्ञानी जो कह गये वही जगतके सामने स्वानुभवके द्वारा कहते हैं। जितना हमें अन्तरज्ञान वैभव प्रगट हुआ है उस सबसे, आत्मानुभवरूप श्रद्धाके पूर्ण बलसे इस एकत्व-विभक्त आत्माको दिखाऊँगा।

वाणी तो पर है, वाणी वाणीमें परिणमन करती है, वाणीका परिणमन होना या न होना उसकी योग्यता पर अवलंबित है, फिर भी यहां तो आत्माके स्वरूपको कहनेकी जो उमंग है सो उपादान, और वाणीका योग निमित्त है; इसप्रकार उपादान-निमित्त दोनोंका मेल बैठने पर यह ग्रन्थ अलौकिक रीतिसे पूर्ण हुआ है। जैसा निर्णय है वैसा ही उद्यम है।

अब आचार्य अपनी पहिचान कराते हैं:—मेरे आत्माका 'निज-वैभव' अर्थात् अन्तरंग लक्ष्मीरूप—ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप वैभव कैसा है? इस लोकमें प्रगट समस्त वस्तुओंके बतानेवाले परमागम-शास्त्र

शब्दब्रह्मकी उपासनासे उसका जन्म है। यहाँ मेरे अन्तरंगका वैभव प्रगट करते समय निर्दोष कारणरूपसे बाह्यसंयोग कैसा था कि जिसके द्वारा निज-वैभवका जन्म हुआ है? सो कहते हैं। जो ऐसा निज-वैभव आत्मामें प्रगट करता है उसके भी ऐसे ही संयोग होते हैं; ऐसा भाव भी इसमेंसे निकलता है। इस लोकमें समस्त वस्तुओंका प्रकाश करनेवाला और 'स्यात्' पदकी मुद्रावाला जो शब्दब्रह्म है अर्थात् जिससे समस्त वस्तुसम्बन्धी ज्ञान प्रगट होता है, ऐसा उस सर्वज्ञकी वाणीमें सामर्थ्य है। ऐसे परम आगमके सेवनसे निज-वैभवका जन्म होता है; उसकी सामर्थ्यसे कहेंगे। देखा

"जे पद श्री सर्वज्ञे दीठुं ज्ञानमां।
कही शक्या नहि पण ते श्री भगवान जो॥"

जो पद श्री सर्वज्ञ ने, देखा अपने ज्ञान।
कह न सके वे भी उसे यद्यपि थे भगवान॥

(अपूर्व अवसर)

ऐसा भी कहीं कथन है, वहाँ अचित्य स्वरूपकी महिमाके लिये, परमार्थ कथनका गम्भीर आशय समझकर उसे अनुभवमें उतारनेके लिये वैसा कहा है।

यहाँ तो शब्दब्रह्म समस्त वस्तुको प्रगट करनेवाला है और मैं भी भगवानकी वाणीमें से आत्मस्वरूपको समझा हूँ, इसलिये क्रमसे वाणी द्वारा स्वसे अभिन्न और परसे भिन्न ऐसे स्वतंत्र आत्म-स्वरूपका वर्णन करूँगा, वैसा निर्णय प्रसिद्ध करते हैं। यह कितना साहस है, कितनी दृढ़ता! घीके स्वादका ज्ञान तो होता है, किन्तु वह वाणी द्वारा भलीभाँति नहीं कहा जा सकता; तब यहां तो आचार्य कहते हैं कि मैं सर्वज्ञके न्यायको अन्तरंगमें घोलकर पी गया हूँ, इस-लिये वाणीके द्वारा आत्माका यथार्थ स्वरूप कहा जायगा। आत्माका जो स्वरूप मैं समझा हूँ उसे कहनेकी सामर्थ्य मुझमें आ गई है। अब ऐसी बात नहीं है कि वह स्वरूप कहा नहीं जा सकता।

कोई चतुर मनुष्य, सामनेवालेके अभिप्रायमें जितनी बात है उसका सारा भाव थोड़े शब्दोंमें समझ लेता है और दृढतासे कहता है कि–'तुम्हारा जो कहना है वह मैं बराबर समझ गया हूँ' इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ-वीतरागकी वाणीमें आये हुये भावोंको मैं यथार्थरूपसे समझा हूँ, इसलिये अपने निज-वैभवसे यथार्थ आत्मस्वरूपका वर्णन किया जायगा। यह तो निमित्तका कथन है। इसमें वास्तवमें तो आचार्य अपनी महिमा गाते हैं, क्योंकि परमार्थसे कोई किसीको नहीं समझाता। स्वभावकी दृढ़तासे उपादानमें ऐसी सामर्थ्य है कि जिसके योगसे वाणीमें भी उस स्वरूपको यथार्थ कहनेकी योग्यता आ गई है। वाणीके परिणमनमें जीवका योग और इच्छा निमित्त है। व्यवहारसे कहा जाता है कि 'जहाँ बलवान उपादान जागा वहां ऐसी वाणी आये बिना नहीं रहती।' वास्तवमें वाणीका परिणमन स्वतंत्र है। सर्वज्ञ वीतरागका पुण्ययोग भी उत्कृष्ट होता है, इसलिये उनकी वाणी भी परिपूर्ण होती है, उस वाणीको 'शब्द-ब्रह्म' कहा है, और उसमें 'स्यात्' पदकी मुद्रावाला सिक्का है।

स्यात्=कथंचित् प्रकारसे और वाद=कथन कहना अर्थात् द्रव्यके एक धर्मको मुख्य और दूसरे धर्मको गौण करके कहना सो 'स्याद्वाद' है। जैसे कि 'वस्तु नित्य है' ऐसा कहने पर वस्तु स्वभावसे नित्य (अविनाशी) है ऐसा समझना चाहिये। 'वस्तु अनित्य है' ऐसा कहने पर क्षण क्षणमें बदलती हुई अवस्थाकी अपेक्षासे अनित्य है, ऐसा समझना चाहिये। वस्तुका एक धर्म मुख्यरूपसे कहने पर उसमें दूसरे अनन्त धर्म हैं, यह बात ध्यानसे बाहर नहीं होती। जिस अपेक्षासे कहनेमें आये वह न समझे किन्तु वस्तुमें एक ही धर्म है, ऐसा मान ले; वह एकान्तपक्षवाला मिथ्यादृष्टि है। जिस अपेक्षासे नित्यत्व है उसी अपेक्षासे अनित्यत्व नहीं कहा जाता। त्रैकालिक, स्वतंत्र द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे आत्मा अविकारी-शुद्ध है, तब वर्तमान परनिमित्ताधीन दृष्टिसे अशुद्ध है, ऐसा दोनों अपेक्षावाला कथन जिसप्रकार है उसीप्रकार यथार्थतासे समझना चाहिये। भिन्न भिन्न प्रकार-

से जो जो कथन जिनेश्वरदेवने कहा है वह वस्तुके अनेक स्वभाव-अनुसार कहा है। उसमें कही गई अपेक्षाको न समझे और 'आत्मा पूर्ण शुद्ध ही है' ऐसा मान ले तो वर्तमान संसारदशाकी अशुद्धता दूर करनेका पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा। आत्मा स्वभावसे शुद्ध है और वर्तमान प्रत्येक समयवर्ती पर्यायोंकी अपेक्षासे अशुद्ध है, इसप्रकार दोनों अपेक्षाओंको यथार्थ समझ ले तो पूर्ण शुद्धस्वभावके लक्षसे अशुद्धताको दूर करनेका प्रयत्न अवश्य करेगा। सर्वथा निर्दोष कथन सर्वज्ञ वीतराग कथित आगमका ही है।

अरहंतका परमागम सब वस्तुओंके सामान्य (वचनगोचर) धर्मोंका कथन करता है और वचनसे अगोचर जो विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है, इसप्रकार वह सर्व वस्तुओंका प्रकाशक है इसलिये सर्वव्यापी कहलाता है।

सभी मानवों और देवेन्द्रोंके द्वारा पूज्य अथवा जिन्हें पवित्र आत्मधर्म प्रगट करना है उनसे पूज्य वे अरहंत हैं। वे सदा पूज्य हैं, इसलिये उनकी वाणीका बहुमान होता है। अरहंत सर्वज्ञके मुखसे निकले हुये परमागममें कथित भावकी-उपासनासे निज-वैभवका जन्म हुआ है। वाणी तो जड़ है किन्तु यहाँ पर सर्वज्ञका गंभीर आशय क्या है, उसके समझनेकी परमार्थसे उपासना की गई है, फिर भी जिनवाणीमें उपचार करके कहते हैं कि उससे निज-वैभवका जन्म है। आत्मा अपनी अनन्तशक्तिसे त्रिकाल स्वतंत्र है। आत्माके जो अनंतगुण हैं वही अनन्तशक्तिरूप निज-वैभव है। वह अप्रगट था, किन्तु वर्तमान अपूर्व पुरुषार्थके द्वारा वीतरागकी वाणीके बारंबार अनुसरण करनेसे उसका जन्म हुआ है।

सर्वज्ञने जैसा स्वरूप कहा है वैसा बराबर समझकर उस ज्ञानकी निर्मलताका जो अभ्यास-परिचय है सो स्व सेवा है। इसके अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार किसी भी कालमें आत्माको गुण नहीं होता। इसप्रकार गुणकी निर्मलताकी विधि कहने पर उससे जो विरुद्ध है सो असत् है ऐसा निषेधपक्ष समझ लेना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतरागने जो कहा है उसका आशय समझनेसे आत्मानुभव प्रगट होता है। सर्वज्ञकी वाणीको शब्दब्रह्म कहनेका यह अर्थ है कि वह समस्त पदार्थको बतानेवाली है।

नित्यत्व, अनित्यत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, अस्तित्व, नास्तित्व जिसे धर्म संज्ञा है ऐसे अनेकप्रकारके कथनसे सम्पूर्ण पदार्थका ज्ञान करानेमें समर्थ होनेसे सर्वज्ञकी वाणी 'शब्दब्रह्म' कहलाती है। उससे रचे गये अर्हंतके परमागमोंमें सामान्य धर्मोंका कथन है, यथा अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि और जीवत्व, दर्शन, ज्ञान, वीर्य, चारित्र जिसे विशेष गुण कहा जाता है, और उसीके द्वारा वचनअगोचर विशेष धर्मोंका अनुमान कराया जाता है, उससे कुछ शेष नहीं रहता। इसप्रकार परमागम सर्ववस्तुका प्रकाशक होनेसे सर्वव्यापक कहलाता है और इसलिये वह शब्दब्रह्म है।

आत्माके अतिरिक्त भी प्रत्येक वस्तुमें अनन्त गुण हैं, अनन्त परद्रव्य हैं, उस अनन्तसे पृथक्‌रूपमें अनन्त अन्यत्व नामक गुण है, इसीलिये अनन्त रजकण अथवा अनन्त देह संयोगमें आये तो भी आत्मा कभी उनरूप नहीं हुआ, और कोई परमाणु बदलकर आत्मारूप नहीं होता; इसप्रकार अनन्तरो अन्यत्वकी शक्तिरूप अनन्तधर्म प्रत्येक वस्तुमें हैं। उन सबको सर्वज्ञका आगम बतलाता है। उस गम्भीर आशयको जाननेवाला धर्मात्मा कहता है कि सर्वज्ञकी शब्दब्रह्मरूप वाणोमें जगतका कोई भी भाव अज्ञात नहीं है।

जैसे किसीका बाप बहीमें लिख गया हो कि "वैशाख सुदी २को दिनके १० बजे मन्दिरमें शिखरके नीचे लाखों स्वर्णमुद्रायें गाड़ी गई हैं, उन्हें निकाल लेना।" इसका आशय लड़का न समझे और शिखरको तोड़ना प्रारम्भ करदे तो वे स्वर्णमुद्रायें नहीं मिलेंगी। पिताने तो इस आशयसे लिखा था कि वैशाख सुदी २ को दिनके दस बजे उस मन्दिरके शिखरकी छाया घरके आंगनमें जिस स्थान पर पड़े वहाँ सुवर्णमुद्रायें गड़ो हैं, इस गम्भीर आशयको लड़का नहीं

समझे, तो धन नहीं मिल सकता। इसीप्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंमें लिखे गये शब्दोंका सीधा अर्थ करने जाय और उसके गांभीर्य तथा भावको न समझे तो आत्मधनकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उसका गम्भीर आशयरूप अर्थ अन्तरंगमें से निकालना चाहिये। 'सब आगम भेद सो उर वसे' इसप्रकार लोकोत्तर भण्डारकी महिमा होनी चाहिये। यदि महिमा योग्य दुनियामें कुछ है तो वह सर्वज्ञप्रणीत धर्म और धर्मात्मा ही हैं। वह धर्मात्मा कदाचित् वर्तमानमें निर्धन स्थितिमें हो, किन्तु अल्पकालमें ही वह जगत्‌वंद्य त्रिलोकीनाथ होनेवाला है। संसारमें जिनका पुण्य बड़ा है वे बड़े कहे जाते हैं, किन्तु धर्ममें यह देखा जाता है कि स्वतंत्र आत्मगुणकी समृद्धि कितनी है।

आचार्य कहते हैं कि परमागमकी उपासनासे मुझे अनुभव प्राप्त हुआ है, इसीप्रकार जो कोई सर्वज्ञ भगवानकी अनेकान्त वाणी-सत्‌शास्त्रोंको पढ़ता है और न्यायपुरस्सर भलीभांति श्रवण-मनन करता है उसे आत्मज्ञान हुए बिना नहीं रहता। आचार्यदेव कहते हैं कि हमने साक्षात् तीर्थंकरके पाससे सुना है; और इस ॐकारमय वाणीको सूत्रमें इसप्रकार गुंफित किया है कि जिससे स्व-परका यथार्थ स्वरूप जाना जा सकता है, और उपादानकी सामर्थ्य इतनी है कि निमित्तरूप वाणीमें यथातथ्य कहा जायगा, उसे तुम प्रमाण करना।

यहां तक स्वपक्षकी बात कही। अब अपने स्वभावका मण्डन और विभावरूप मिथ्यात्वका खण्डन कैसे किया है सो कहते हैं:—

समस्त विपरीतपक्षवादियों—सर्वथा एकांतपक्षवादियोंके विरोधी भावका निराकरण (खण्डनपूर्वक समाधान) करनेमें समर्थ जो अबाधित युक्ति है उसके अवलम्बनसे 'जिन-वैभव' प्रगट किया है, अन्धश्रद्धासे नहीं। जगतमें धर्मके नामपर बहुतसे अभिप्राय चल रहे हैं। कोई आत्माको कूटस्थ-नित्य कहता है. कोई अनित्य ही कहता है अथवा कोई सर्वथा शुद्ध ही कहता है, अर्थात् संसार, बंधन तथा मोक्ष अवस्था भी नहीं है, ऐसा कहते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति उससे भिन्न-

प्रकारकी है। अतः एकान्त धर्मको मानने वाले मिथ्यावादी हैं। आत्माको नित्य मानने वालेके क्षण क्षणमें बदलने वाली अवस्था ध्यानमें होनी चाहिये। यदि वर्तमान अवस्थासे बदलना न माने तो राग-द्वेष, बन्धनभाव दूर कर वीतराग होना न बने। और फिर कोई आत्माको एकान्त-आनन्दस्वरूप ही माने, वर्तमान अवस्थाको न माने तो उसकी भूल है, वर्तमान संसारदशामें शुभ-अशुभभावके द्वारा प्रत्यक्ष दुःख भोगता है। पुण्य-पापके विकारीभाव आत्मामें होते हैं, उनका कर्ता अज्ञानी जीव है; दया, दान, सेवा, व्रत इत्यादि पुण्यभाव हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रहकी ममता आदि पापभाव हैं, वह अपने आप नहीं होते, आत्मा अज्ञानभावसे उन्हें अपना मानकर करता है, किन्तु वह आत्मस्वभाव नहीं है। आत्मस्वभाव तो स्वयं ही पुण्य-पापका नाशक है; ज्ञानभावसे शुद्धात्माकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरतारूप चारित्रका कर्ता होने पर शुभाशुभ भावका नाश होता है। प्रथम श्रद्धामेंसे पुण्य-पापका कर्तृत्व और परका स्वामित्व दूर होना चाहिये, अज्ञानभावसे परमें सुखबुद्धि और पुण्य-पापका कर्तृत्व है तथापि यदि उसे न माने तो यह बहुत बड़ी भूल होगी, तथा परमार्थसे-निश्चयसे पुण्य-पापका कर्तृत्व माने तो भी वह भूल है। आत्माका एकांत स्वरूप नहीं है। ऐसे जो भी मिथ्यात्व हैं उनका निराकरण करनेमें समर्थ जो अतिनिस्तुष अबाधित युक्ति है, उससे निज-वैभव प्रगट किया है। अबाधित न्यायके बलसे मिथ्यामतियोंके कुतर्कका खण्डन करके सत्यका स्थापन करके निर्मल स्वभाव प्रगट किया है।

विकारका कार्य करने योग्य है, ऐसा मानने वाले विकारका नाश नहीं कर सकते। यदि कोई आत्माको एकान्त शुद्ध ही माने और आत्मा अज्ञानभावसे विकार करता है, तथापि वैसा न माने तो वह विकारका नाश नहीं कर सकता। पुण्य बंधन है, इसलिये मोक्ष-मार्गमें उसका निषेध है, व्यवहारमें भी उसका निषेध कर पाप-मार्गमें यदि प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विष है, मात्र पापसे नरक निगोदमें जायगा। श्रद्धामें तो पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमानमें

शुद्धमें न रह सके तो शुभमें प्रवृत्ति करे। किन्तु अशुभमें तो प्रवृत्ति करनी ही न चाहिये। पुण्यभावको छोड़कर पापभाव करना किसी भी तरह ठीक नहीं है। और फिर यदि कोई पुण्यभावको ही धर्म मानले तो भी उसके धर्म नहीं होता। कोई कहता है कि हमें पुण्यभाव नहीं करना है अथवा कहता है कि यदि किसीका पुण्य होगा तो मेरी तृष्णा घटेगी, ऐसे व्यर्थके बहाने बनाता है, किन्तु जब निर्विकल्प शुद्धभावको तो प्राप्त नहीं किया और पुण्यभाव करना नहीं चाहता, तब क्या पापमें ही जाना है? तृष्णाको कम करना तेरे परिणामके आधीन है, किसीके पुण्यके आधीन नहीं है, इसलिये वर्तमान पुरुषार्थ द्वारा सारा विवेक सर्वप्रथम समझना चाहिये। और फिर यदि कोई शुभभावमें ही सन्तोष मानकर रह जाय और इसप्रकार पुण्यको धर्मका साधन माने या उससे धीरे धीरे धर्म होना माने, तो उसका भी भवभ्रमण दूर नहीं होगा। धर्मका प्रारम्भ करनेके इच्छुकको तीव्र आसक्ति तो कम करनी ही चाहिये। किन्तु उससे यदि ऐसा माने कि हित हो जावेगा तो यह भ्रम है। इसलिये पुण्य-पाप तो आस्रव हैं बंधके कारण हैं और इन दोनोंसे रहित धर्म है; उनका प्रत्येकका स्वरूप जैसा है वैसा समझना चाहिये।

ज्यां ज्यां जे जे योग्य छे, तहाँ समझवुं तेह।
त्यां त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थी जन अेह॥

(आत्मसिद्धि गाथा-८)

मैं अक्रिय ज्ञानानन्द शुद्धस्वरूप हूँ सो निश्चय है, और उसमें आंशिक स्थिरता बढ़ाकर रागको दूर करना सो व्यवहार है। अशुभसे बचनेके लिये शुभभावमें लगना सो भी विकार है, वह मेरा स्वरूप नहीं है, तथा परिणाम सुधारनेका यत्न करना आत्मार्थीका कर्तव्य है। पुण्य-पापरूप विकारसे पीछे हटकर अन्तरंगमें अरूपी ज्ञान-शांतिमें स्थिर होना ही कर्तव्य है। जो उसे माने, आचरण करे और उसे ही मानने तथा आचरण करनेकी अन्तरंगसे भावना रखे सो भी आत्मार्थी है। आचार्य कहते हैं कि 'सत्यमें असत्यका निषेध है, सत्यके स्थापन-

से मेरा वैभव प्रगट हुआ है', यथार्थको समझने पर अयथार्थ छूट ही जायगा। जिसे सत्य समझमें आ जाय उसे असत्य क्या है यह समझमें आये बिना नहीं रहता। सत्यमें असत्यकी नास्ति है।

कोई कहता है कि हमें सच्चे और झूठे धर्मकी परीक्षा नहीं करना है और न यह जानना है कि भूल किसे कहते हैं? जहाँसे जैसा मिले वहाँसे वैसा ले लेना चाहिये; यों कहनेवाले कोरे लालबुझक्कड़ जैसे हैं, ध्वजपुच्छके समान हैं। वे जहाँ जाते हैं वहाँ हां जी हां करते हैं, सत्य-असत्यको न्यायसे-प्रमाणसे नहीं समझते। एकको सच्चा मानूँगा तो दूसरेके ऊपर द्वेष होगा, इसलिये सभीको समान मानना चाहिये; यह तो अविवेक और मूढ़ता है। मानों वे यह कहते हैं कि गुड़ और खली, अनाज और विष्टा, सज्जन और दुर्जन सब समान हैं। किन्तु घरमें रोटी या दालमें थोड़ा सा फर्क पड़ जाता है तो झगड़ा कर बैठते हैं; संसारमें-घरमें अच्छे-बुरे भावका विवेक करता है और परमार्थमें विवेक नहीं करता तथा असत्यकी सत्यमें और सत्यकी असत्यमें खतौनी करता है, यही बहुत बड़ी मूढ़ता है, समभाव नहीं है। सभी भगवान हैं, किन्तु वे तो शक्तिरूपसे हैं, क्योंकि वर्तमान अवस्थामें अन्तर है। विष और अमृत, स्त्री और पुत्री दोनों समान हैं, —ऐसा माननेमें विवेक कहाँ रहा? पुत्री, स्त्री और माता स्त्रीत्वकी अपेक्षासे समान हैं, किन्तु वर्तमान लोकव्यवहारमें समान नहीं हैं। जो यह नहीं समझता वह लौकिक व्यवहारमें भी मूर्ख कहा जाता है। इसीप्रकार लोकोत्तर आत्मधर्ममें भी विवेक न रखे तो वह भी मूर्ख कहलाता है। इसलिये सत्य-असत्यको समझकर सत्यको ही स्वीकार करना चाहिये। जिससे धर्म समझना है वह स्वयं धर्मको प्राप्त है या नहीं, उसमें कौनसे अलौकिक गुण हैं, इत्यादि पहले ही जानना चाहिये।

आचार्य कहते हैं कि 'त्रिलोकीनाथ सर्वज्ञके मुखसे निकली हुई वाणीमें गूढ़ अर्थ क्या है इसे समझकर हमने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अन्तररमणतारूप सम्यक्चारित्र प्राप्त किया है तथा उससे विरोधी मान्यताका अबाधितयुक्तिसे खण्डन किया है। उसमें यथार्थ

सत्की घोषणा है, सत्की घोषणामें वीतरागताकी घोषणा है। निस्तुष निर्बाध युक्तिके वलसे किसीकी व्यर्थ युक्ति न टिकने दूँगा। जो कुछ कहा जायगा, उस सबमें अन्धश्रद्धाके साथ स्वीकार करनेका निषेध किया है।

'सर्वज्ञके वचनोंके आशयका सेवन करके'—इसप्रकार पहले अस्ति पक्षसे कथन है, और परमें कर्तृत्व, परसे लाभ–हानि मानने वाले मिथ्यात्व वालोंके तथा एकांतवादियोंके कुतर्कका खण्डन निर्बाध युक्तिसे किया है, इसप्रकार नास्तिसे कथन है। ऐसे ज्ञानके द्वारा जो निज–वैभवका जन्म है उस सबसे आत्माका वर्णन करेंगे; इसप्रकार अपनी निर्मलतामें आगे वढ़नेके लिये निश्चय किया है और यह कहा है कि निमित्तमें जैसा कथन है वैसा ही होगा। दूसरेको पूरा न समझा सके ऐसा योग भी कदाचित् किसीके हो, किन्तु यहाँ तो जगत्के महान् पुण्यको लेकर और किसी शुभयोगके द्वारा आचार्यने अन्तरभावके अनुसार वाणीमें यथार्थ कथन किया है।

आचार्यदेव कहते हैं कि मैंने अपना भाव अखण्डरूपसे स्थिर कर रखा है। न्यायके वलसे और अनुभवसे मैंने जाना है, इसलिये कहीं भी स्खलन नहीं होगा।

यदि कोई कुतर्कसे पुण्यके द्वारा धर्मको मनवाना चाहे तो ज्ञानी उसे सत्य नहीं मानते और कहते हैं कि विष खानेसे अमृतकी डकार कभी नहीं आती; उसीप्रकार जिस भावसे वन्ध होता है उस भावसे कभी मोक्ष तो क्या किन्तु मोक्षमार्गका प्रारम्भ भी नहीं हो सकता।

किसीने वहुत समय तक बाह्यधर्म किया हो और वह ऐसा कहे कि धर्म चाहे जितना किया हो, किन्तु मृत्युके समय किसी तीव्र असाताका उदय आये तो आत्माका अहित भी हो जाता है! धर्मके फलमें ऐसा होता है, यह जो मानता है उसे आत्माकी श्रद्धा ही नहीं है। जिसे स्वतंत्र आत्माकी पूर्णरूपसे श्रद्धा है उसका किसी कालमें और किसी संयोगमें भी अहित नहीं होसकता, नित्य–अविनाशी आत्मामें जो जागृत है उसे तीन काल और तीन लोकमें भी विघ्न नहीं

होता। स्वयं परसे भिन्न हैं, फिर भी यदि परसे विघ्न माने तो समझना चाहिए कि उसे पृथक् स्वतंत्र स्वभावकी श्रद्धा ही नहीं है। जगतकी मूर्खताका क्या कहें! अनेक प्रकारसे कल्पना करके पर-से लाभ-हानि मानने वाला सदा आकुलित ही रहता है।

निज-वैभवके जन्मसे बंधनभावका व्यय करके स्वाधीन मोक्ष-भावकी उत्पत्ति की है। यदि कोई कहता है कि आत्माको तो जाना, ज्ञान किया, किन्तु यह खबर नहीं है कि बंधभाव दूर हुआ या नहीं, और मिथ्यात्व दूर हुआ या नहीं, तो समझना चाहिए कि उसने आत्माको जाना ही नहीं है। यहाँ तो गुणकी प्रगट दशाके द्वारा, सर्वज्ञके कहे हुए भावका अनुसरण करके, कुतर्कका खण्डन करके, मिथ्यात्वभावका नाश करके, स्वभावका महा ध्रौव्यत्व स्थापित किया है, इसमें बहुतसे न्यायोंका समावेश हुआ है।

समयसार ग्रन्थाधिराज है, इसके मंत्र अतिगूढ़ हैं, अन्तरंग-वैभवकी महिमा अपार है, जिसका वर्णन करते हुए गणधरदेव भी पार नहीं पाते। यदि कोई कहे कि—मैं सुन चुका हूँ कि आत्मा पृथक् है, मैंने पुस्तक पढ़ ली, इसलिये मुझे उसका ज्ञान हो चुका है; किन्तु ऐसा नहीं है। निवृत्तिपूर्वक खूब श्रवण-मनन और अभ्यास करना चाहिये, तभी यह बात समझमें आ सकती है।

निज-वैभव प्रगट होनेमें दूसरे कौन कौनसे कारण निमित्तरूप हैं यह अब कहा जायगा।

समयसार शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग भगवानका पेट है। आचार्यदेव-ने निज-वैभवसे उसमें आत्मस्वभावका वर्णन किया है। आचार्यदेव कहते हैं कि तुम अपने अन्तरंग अनुभवसे प्रमाण करना, क्योंकि आत्माके अखण्ड स्वभावकी जो बात कहूँगा उसमें कोई भूल नहीं होगी। यह निज-वैभव कैसा है? निर्मल विज्ञानघन जो आत्मा उसमें अन्तर्मग्न परमगुरु-सर्वज्ञदेव और अपर गुरु-गणधरादिकसे लेकर हमारे गुरुपर्यंत,—उनसे प्रसादरूपसे प्रदत्त जो शुद्धात्मतत्त्वका

अनुग्रहपूर्वक उपदेश है तथा पूर्वाचार्योंके अनुसार जो उपदेश है उससे उसका जन्म हुआ है।

पूर्णस्वरूपमें स्थिर, अनंत स्वभावमें निमग्न (सम्पूर्णरूपसे लीन) ऐसे परमगुरु अर्थात् सर्वज्ञदेव और अपरगुरु अर्थात् गणधरदेवसे लेकर हमारे गुरु पर्यन्त; और यदि प्रकारांतरसे कहें तो त्रिकाली ध्रुव अपना आत्मस्वभाव ही परमगुरु है।

यह वाणीका प्रवाह कहाँसे आया है? सर्वोत्कृष्ट गुणके स्वामी तीर्थंकर, उनके निकटवासी अपरगुरु गणधरदेव जिन्होंने साक्षात् वाणी सुनी है, झेली है, उनकी परम्परासे पूर्वाचार्योंसे हमारे गुरु-पर्यन्त सर्वज्ञकी वाणीका यह प्रवाह आया है। उसे कुन्दकुन्दाचार्य-देवने, अमृतचन्द्राचार्यदेवने प्रसादरूपमें अंगीकार किया है।

पिताकी सम्पत्तिको पुत्र जबरन् छुड़ा ले और पिता प्रसन्न होकर पुत्रको सम्पत्ति दे, इन दोनोंमें अन्तर है पिता पुत्रकी योग्यता देखकर संपत्ति देता है। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि महान् पवित्र सन्त, जिनका राग-द्वेष बहुत कम हो गया था और जो बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रहसे रहित निर्ग्रन्थ मुनि थे वे मेरे गुरु हैं; उनकी कृपासे, प्रसन्नतासे मुझे सदुपदेश प्राप्त हुआ है, जिससे मेरे वैभव प्रगट हुआ है। इसप्रकार गुरुकी महिमा गाई है। जैसे पुत्र पिताके माहात्म्यके लिये कहता है कि उनके प्रतापसे सुखी हूँ। अन्तरंगमें तो जैसा है वैसा जानता ही है, किन्तु विनयसे पिताकी ही महिमा गाता है। उसीप्रकार यहां श्रीगुरुके प्रसादसे स्वानुभव हुआ है, इस-प्रकार विनयसे कहा है। उनके आश्रयसे अन्तरंगसे प्राप्त हुआ कहूँगा, कल्पनासे गढ़कर नहीं।

वीतराग जैसे निर्ग्रन्थ मुनि जिस शिष्य पर कृपा करके उत्तम बोध दें उस शिष्यकी योग्यता कितनी होगी? परन्तु—'हीरा मुखसे ना कहें, लाख हमारा मोल।' आचार्यदेव लोकोत्तर विनयसे कहते हैं कि जो सर्वथा नग्न, आत्मध्यानमें मग्न, अप्रमत्त गुणस्थानकी वीतराग दशामें लीन थे, तथापि 'अन्य जीव धर्म प्राप्त करें तो अच्छा हो' ऐसी

शुभवृत्तिके उठने पर उपदेश देते थे और फिर उस वृत्तिसे छूटकर आत्मरमणतामें स्थिर हो जाते थे। ऐसे गुरुके पाससे हमें उपदेश मिला है। ऐसा कहनेसे उपदेश लेनेवालेमें भी कैसी योग्यता थी यह ज्ञात हो जाता है।

आत्मा अनन्तकालमें जिस अपूर्व वस्तुको नहीं समझा उसे समझनेके लिए विशेष पात्रता चाहिये। संसार–व्यवहारमें अनीतिका त्याग, इन्द्रियविषयोंकी अल्प आसक्ति, आत्मतत्वकी जिज्ञासा, निरभिमानता, सज्जनता, सत्को समझनेका प्रेम इत्यादि सर्वप्रथम चाहिये। चौरासीके बंधनका दुःख, संसारकी अशरणता, पराश्रयताका दुःख इत्यादिका विचार करके परम सत्यकी अन्तरंगमें तीव्र जिज्ञासा हो उसके पात्रता प्रगट होती है।

यद्यपि अपनेमें पूर्ण पात्रता थी, किन्तु उसे न दिखाते हुए आचार्य कहते हैं कि हमारे गुरुने शुद्ध आत्मतत्वका अनुग्रहपूर्वक उपदेश दिया था, वही मैं कहता हूँ। इसप्रकार वे अपने गुरुका बहुमान करते हैं और कहते हैं कि 'हमारी तरह जो कोई योग्य जीव समझकर उनका बहुमान करेगा वह मुझ जैसा अवश्य हो जायगा। अब मेरे चौरासीका अवतार नहीं रहा और भवका भाव भी नहीं रहा। इसीप्रकार सत्यको समझनेवालेका भवभ्रमण दूर हो जायगा।'

जो भवसे थक गया हो और जिसे यह समझनेकी जिज्ञासा जागृत हुई हो कि आत्मा कैसा है उसे सच्चे गुरु अवश्य मिल जाते हैं।

यहाँ गुरुने यथार्थ योग्यता देखकर शुद्ध आत्मतत्वका उपदेश दिया है कि आत्मा परमानन्दस्वरूप, निर्मल ज्ञाता–दृष्टा है, पुण्य–पापकी वृत्तिसे रहित है, परसे भिन्न है, परका कर्ता–भोक्ता नहीं है। किसी दूसरी बातको न कहकर 'आत्मा पूर्ण है, शुद्ध–ज्ञायक है,' ऐसे स्वभावका उपदेश दिया है।

ऊपर तीन बातें कही हैं—(१) कृपा, (२) शुद्धआत्मतत्त्व और (३) उसका अनुग्रह पूर्वक उपदेश। अनुग्रह—हमारी योग्यताके अनुसार जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा समझाकर उसे पुष्ट किया है। अमुक

न्याय इसको कैसे पकड़में आये, अपूर्व तत्त्वस्वभावकी प्राप्ति कैसे हो, उसकी अस्ति-नास्तिके द्वारा स्पष्टता करके आत्मनिरोगताका सीधा उपाय बताया है, ऐसी समझपूर्वक श्री कुन्दकुन्दाचार्य और श्री अमृतचन्द्राचार्यने गुरुका उपकार गाया है, यह उनकी कितनी विनय है। स्वयं समझते हुए भी श्रीगुरुकी कृपाकी महिमाको गाते हैं। वास्तवमें तो कोई किसी पर कृपा नहीं कर सकता, क्योंकि किसीका भाव दूसरेको लाभरूप नहीं है, फिर भी यह कथन व्यवहारसे किया है। बाहरसे गुरुकी महिमा गाई है, और अन्तरंगसे अपनेको रुचिकर गुणकी महिमा गाई है। यह अपनी श्रद्धाकी दृढ़ताके लिये है।

यहाँ आचार्यदेवने अन्तरंगभावको स्पष्ट व्यक्त किया है, जिससे आत्माके असंख्यात प्रदेशोंमें वह सीधा उतर जाय। अर्थात् गहराईसे अनुभवमें आ जाय।

जिससे किसी पात्र जीवको साक्षात् सम्यग्दर्शन हो जाय—इसप्रकारका सीधा उपदेश गुरु दे रहे हों, वहाँ कोई बीचमें ही थोड़ा-बहुत असंबद्धरूपमें सुन ले;—इसप्रकार यों ही अथवा अविनयसे यह उपदेश ग्रहण नहीं किया है अर्थात् किसीके कानोंकान सुनी हुई बात नहीं है, किन्तु यह तो सीधा उपदेश ग्रहण किया है।

जिस जमीनमें क्षार हो उसमें अनाज बोया जाय तो उत्पन्न नहीं होता, किन्तु उसके लिये उत्तम भूमि चाहिए, उसी प्रकार निर्मल तत्त्वका स्पष्ट उपदेश ग्रहण करनेके लिये उत्तम पात्रता चाहिए। ऐसी पात्रता देखकर मेरे गुरुने मुझे उपदेश दिया, उनके कहे हुए यथार्थ भावको श्रवण-मनन द्वारा धारण करनेसे, उनकी आज्ञाका पूर्ण विनयके द्वारा सेवन करनेसे, मुझमें शुद्ध, पवित्र आत्माका अपूर्व ज्ञान प्रगट हुआ है।

कैसा है वह निज-वैभव? जो निरन्तर झरने वाला—आस्वादमें आनेवाला, सुन्दर आनन्द—मनके संकल्प-विकल्पसे परे, अतीन्द्रिय आनन्द—उसके प्रभावसे युक्त जो प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन, उससे जिसका जन्म हुआ है। इसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव अपनी

वर्तमान स्थितिकी बात कहते हैं। जैसे पर्वतमेंसे झरना झरता रहता है उसी प्रकार अन्तरंगमें तीन कषाय नष्ट कर आत्माकी शांति और समृद्धिकी जमावट हुई है, उसमेंसे निरन्तर स्वरूपलीनताका आनन्द झरता है। संसारमें सुख मानकर जीव आकुलताका अनुभव करता है, उस ओरसे लक्ष बदलकर स्वभावकी प्रतीतिके द्वारा अन्तरंगमें स्थिर होकर आनन्दकी विपरीतदशाको निकाल देनेसे तो अकेला ज्ञानानन्द रस रह जाता है। धारावाही शांतिका–अनाकुल आनन्दका स्वयं स्वाद लिया है और फिर उपदेशकी वृत्ति आई है तब यह शास्त्र रचा गया है।

जगत्के जीव विकारमें ही संतोष मानकर आकुलताका स्वाद लेते हैं, किन्तु जड़का अर्थात् परका स्वाद नहीं लिया जा सकता। संसारके कल्पित आनन्दसे सर्वथा भिन्न जातिका आनन्द, आत्माका अतींद्रिय–निराकुल आनन्द निरन्तर स्वादमें आये यही आत्मानन्दके अनुभवकी छाप है, यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानका लक्षण है। अपनी मानी हुई श्रद्धासे और गुरुज्ञानके आश्रयके विना कोई ऐसा मान बैठे कि मुझे आत्माका आनन्द प्रगट हुआ है तो यह बात मिथ्या है। सर्वज्ञदेवसे चली आई हुई परम्पराको रखकर अपने अनुभव–आनन्दकी छाप यहाँ प्रगट की है। आत्माके अनुभवके विना मात्र शुभभाव पैदा हो उसे आत्माका आनन्द नहीं कहा जा सकता। यह तो निर्ग्रन्थ मुनि हैं इसलिये विशेष स्थिरतामें आकर कहते हैं कि हमें प्रचुर संवेदन प्रगट होता है। चौथी भूमिकामें गृहस्थदशामें सम्यग्दृष्टिको आत्माका आनन्द होता है, किन्तु विशेष नहीं होता। छट्ठे–सातवें गुणस्थानमें झूलनेवाले मुनिको भी केवलज्ञानीके समान पूर्णआनन्द नहीं होता, पूर्ण आनन्द तो केवलज्ञानीको ही होता है। मुनिके मध्यम-दशाका उत्तम आनन्द रहता है, किन्तु वह चौथी पांचवीं भूमिकाकी अपेक्षा बहुत अधिक है, उसका वे अनुभव स्वरूप उपयोग करते रहते हैं।

कोई बड़ा अपमान हुआ हो, सम्पत्तिके नष्ट होनेका दुःख हो,

पुत्र-पुत्री अनुकूल न हों, घरमें स्त्रीके साथ विरोध हो, तो प्रचुर आकुलताका अनुभव होता है। यदि देखा जाय तो जड़के संयोग-वियोगसे आकुलता नहीं होती, किन्तु अपने अज्ञानसे होती है। उसका अनुभव आत्माके अनाकुल सुखका विकार है। उससे विरुद्ध सम्यग्दर्शन, ज्ञान और अंतर्लीनतासे आत्मामें प्रचुर आनन्द साक्षात् अनुभवमें आता है।

शास्त्रमें कथन आता है कि जिनका यथाजात द्विजन्मा-अनगार-स्वरूपमें जन्म हुआ है ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देवने पंचमकालमें अमृतवर्षा करके सनातन जैन शासनको जीवित रखा है।

किसीके पास अधिक सम्पत्ति हो तो जगत कहता है कि इसको इतनी सारी लक्ष्मीकी प्राप्ति कहाँसे हुई? तो कहा जाता है कि घरकी नींव खोदते समय पाँच करोड़ रुपये निकले थे, पांच करोड़ व्यापार धन्धेमेंसे, और पांच करोड़ उसके काकाके उत्तराधिकारसे प्राप्त हुए हैं, और कुछ अपनी पूँजी थी। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि हमारी आत्मरिद्धि प्रगट होनेमें चार कारण हैं:—

(१) शब्दब्रह्मरूप परमागम की सेवा।
(२) कुतर्क और कुमतको खण्डन करनेवाली निर्बाध-अखण्ड युक्ति।
(३) सर्वज्ञ भगवानसे समागत परम्परासे गुरुका उपदेश।
(४) स्वानुभव।

उपरोक्त चार कारणोंके द्वारा निज-वैभव प्रगट हुआ है। उन सबसे मैंने आत्माको वर्णन करनेका प्रयत्न किया है।

मैं दर्शाता हूँ तथा मैं दर्शाऊँ और तुम उसे प्रमाण मानना, यों कहकर कहनेवाले और सुननेवालेके भावका ऐक्य बताया है। मैं अविरुद्ध निर्णयसे कहूँगा, तुम यदि वैसा ही समझोगे तो भूल नहीं होगी। अन्यथा कुतर्क और वाद-विवादसे अन्त नहीं आ सकता। तुम स्वयं प्रत्यक्ष स्वानुभवसे परीक्षा करके प्रमाण करना (निर्णय करना) अन्तरंग तत्त्वमें बाहरकी परीक्षा कार्यकारी नहीं होती। स्वयं तो शुद्ध

तत्त्वको अनुभव करके कहा है, किन्तु सुननेवालेके ऊपर इतना उत्तरदायित्व रख दिया है कि तुम स्वयं ही अनुभव करके निर्णय करना। आत्मा, मन और इन्द्रियोंसे अगोचर है इसलिये अपने अन्तरंग ज्ञान-स्वभावसे जो उसे जाननेका प्रयत्न करेगा उसे वह मेरी तरह प्रत्यक्ष अवश्य होगा।

जिसका अहो भाग्य हो उसे यह तत्त्व सुननेको प्राप्त होता है और अपूर्व पात्रतासे आत्मपुरुषार्थ करे तो परमार्थकी प्राप्ति होती है। निजको समझे बिना अनन्तवार साक्षत् तीर्थंकरके पास हो आया, वहाँ तीर्थंकरके शरीरको देखा, किन्तु अपना लक्ष नहीं किया। तीर्थंकरदेव जैसा उत्कृष्ट निमित्त जगतमें दूसरा कोई नहीं है। वहाँ भी स्वभाव को अस्वीकार करनेवाले और विपरीतता का सेवन करनेवाले थे तथा अनन्तकालतक वैसे लोग रहेंगे। विपरीततामें भी सब स्वतंत्र हैं, इसलिये कौन किसे तार सकता है।

दुनियां तो जैसी है वैसी रहेगी। निजको समझनेके बाद दुनियांकी झंझट क्यों रखनी चाहिये? लोग क्या मानते हैं और क्या कहते हैं, इस पर दृष्टि नहीं रखना चाहिये, किन्तु सर्वज्ञ भगवान क्या कहते हैं, इसकी आंतरिक परीक्षा करना चाहिये। यदि परमार्थको न समझे और मात्र बाह्यप्रवृत्तिमें रुका रहे तो उससे जन्म-मरण कभी भी दूर नहीं होगा। कदाचित् मन्दकषाय करे तो पुण्य बांधकर स्वर्गमे जाये, परन्तु आत्मा परसे भिन्न है, ऐसी यथार्थ श्रद्धाके बिना मोक्ष का यथार्थ पुरुषार्थ नहीं होता। जीवने पापभावकी अपेक्षा पुण्यभाव तो अनन्तबार किये हैं, किन्तु यहां तो धर्मकी बात है। 'पुण्यसे धीरे धीरे धर्म होगा, परके अवलम्बनसे आत्मगुण प्रगट होगा' इत्यादि प्रकारकी विपरीत मान्यताएं अनादिसे चली आरही हैं। निमित्ताधीन दृष्टिसे संसारमें भवभ्रमण हो रहा है, पुण्य, पाप और रागका अंश मात्र मेरे स्वरूपमें नहीं है, मैं एक ज्ञायकमात्र हूँ, ऐसा समझे बिना चौरासीके अवतारका एक भव भी कम नहीं

होगा। यदि भव कम न हो तो मनुष्यभव प्राप्त करनेका फल क्या है ?

जो लौकिक नीतिका पालन करता है उसका निषेध नहीं किया जाता, किन्तु ऐसी व्यवहार पात्रता बाह्य आचरणमें गिनी जाती है। अब अन्तर्मुख दृष्टि करके सत्समागमसे आत्माका अनुभव करनेकी आवश्यकता है, उसके बिना जीवने अनन्तकालमें अन्य सब कुछ किया है, किन्तु वे सब साधन बन्धरूप ही हुए।

यम नियम संयम आप कियो,
पुनि त्याग विराग अथाग लह्यो;
वनवास लियो मुखमौन रह्यो,
दृढ़ आसन पद्म लगाय दियो ॥
मन पौन निरोध स्वबोध कियो,
हठ जोग प्रयोग सु तार भयो ।
जप भेद जपे तप त्योंहि तपे,
उरसेंहि उदासि लही सबपें ॥
सब शास्त्रनके नय धार हिये,
मतमंडन खंडन भेद लिये ।
वह साधन बार अनन्त कियो,
तदपि कछु हाथ अभी न पर्यो ॥ (श्रीमद् राजचंद्र)

पंचमहाव्रतका अनन्तवार पालन किया और आहारादिके समय कठिन अभिग्रह (नियम) भी ग्रहण किये। जैसे—मोती नामकी बाई हो, मोतीवाली छापकी साड़ी, पहिने हो, और वह आहारको प्रार्थना करे तो ही आहार ग्रहण करूँ—ऐसा कठिन अभिग्रह (वृत्ति-परिसंख्यान तप) भी अनन्तवार किया, संयम पालन किया, इन्द्रिय-दमन किया, त्याग वैराग्य भी बहुत लिया, किन्तु अविकारी आत्माकी प्रतीति नहीं हुई। आत्माको भूलकर मौन रहा और छह मास तक-

के उपवास भी किये, ऐसे साधन अनन्तबार करने पर भी आत्म-स्वभाव प्रगट नहीं हुआ।

"अब क्यों न विचारत है मन से,
कछु और रहा उन साधनसे ?
विन सद्गुरु कोउ न भेद लहे,
मुख आगे है कह बात कहें ?"

तीन कालके ज्ञानियोंका यही कहना है कि तुम त्रिकाल ज्ञायक स्वतंत्र हो, परमात्माके सदृश हो और वैसे ही वनो। अनंत कालमें निजको नहीं पहचान सका, इसीलिये जगतमें परिभ्रमण करना पड़ है। नहीं समझनेवाले, ज्ञानीके सामने विरोधकी पुकार किया करते हैं, किन्तु ज्ञानी तो जगतके सामने सत्यकी घोषणा करके मात्र आत्महित करके चले गये, ज्ञानीका विरोध अज्ञानी न करे तो कौन करेगा ? अज्ञानी कहता है कि हमारी मानी हुई सभी बातोंका खण्डन करते हो तो क्या यह द्वेष नहीं है ? ज्ञानी कहता है कि सत्यकी स्थापना करनेमें असत्यका निषेध सहज ही ज्ञात हो जाता है, उसमें द्वेष नहीं किन्तु सच्ची दया है। तुम न समझो तो भी प्रभु हो, सत्यका विरोध करनेवाले भी सब प्रभु हैं। यह बात समझ लेगा तब ज्ञात हो जायगा कि सारी विपरीतता क्षणभरमें दूर करनेमें समर्थ है। ज्ञानी किसी व्यक्तिका निषेध नहीं करते, किन्तु विपरीत मान्यताका निषेध करते हैं। उनके मनमें जगतके समस्त प्राणियों पर करुणा है। वे जानते हैं कि जिसकी दृष्टि मिथ्याग्रह पर है, यदि वह स्वयं समझे तो ही सुधरेगा, इसलिये वे कहते हैं कि 'तेरी शुद्धता तो बड़ी है, किन्तु तेरी अशुद्धता भी बड़ी है' साक्षात् तीर्थंकर भगवान भी तुझे न समझा सके। तेरी पात्रताके बिना तुझे कोई सुधार नहीं सकता।

आचार्यदेव कहते हैं कि हम तो पूर्ण गुणको लक्षमें रखकर जो अल्पप्रशस्त रागादिरूप दोष है उसे जानते हैं, इसलिये उस दोषको दूर कर सकेंगे, किन्तु तुम परका दोष देखनेके लिये मत रुकना, मात्र गुण पर ही दृष्टि रखना, फिर ऐसा सुयोग नहीं मिलेगा।

ज्ञानी जानता है कि वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिसे थोड़ी अस्थिरता हो जाती है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है, इसलिये अल्पकालमें पुरुषार्थकी प्रबलता करके समस्त दोषको दूर कर देगा।

जिसे सम्यग्दर्शनकी प्रतीति नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं है। प्रायः ऐसा होता है कि सम्यग्दर्शन हो किन्तु चारित्र न हो। श्रेणिक राजा जैसे एकावतारी और भरतचक्रवर्ती जैसे उसी भवसे मोक्ष जानेवाले गृहस्थदशामें अनन्त जीव हो गये। सम्यग्दर्शनकी महिमा अपार है।

भरत चक्रवर्तीके ९६००० स्त्रियाँ थीं, किन्तु उन्हें आत्म-प्रतीति थी इसलिये उनने परमें कहीं स्वामित्व नहीं होने दिया। उस श्रद्धाके बलसे उनने उसी भवमें अन्तर्मुहूर्तमें चारित्र ग्रहण करके केवलज्ञान प्राप्त किया। श्रेणिकराजाके एक भी व्रत नहीं था, फिर भी सतत आत्मप्रतीतिमें रहे थे, तीर्थंकर नामकर्मका बंध किया था। वे ८४००० वर्षकी आयु बांधकर प्रथम नरकमें गये हैं। वहाँ काल पूरा करके इस भरतक्षेत्रमें जन्म लेकर प्रथम तीर्थंकर होंगे जगत्का उद्धारक और त्रिजगतसे वंद्य-पूज्य होंगे। इन्द्र उनके चरणोंकी सेवा करेंगे। सम्यग्दर्शनके बिना ऐसा पुण्य नहीं बंधता।

सत्यका उपदेश सुनते ही जहां समझपूर्वक अन्तरंगमें पूर्ण सत्यका स्वीकार हुआ वहां फिर अल्पकालमें पूर्ण चारित्र प्रगट हुए बिना नहीं रहता। पूर्ण होनेसे पहले, पूर्णकी समझके द्वारा पूर्णको ही देखता है, इसलिये अनन्त राग दूर हो गया, फिर जो अल्पराग रहा उसका नाश अवश्य होगा।

इस कालमें सम्यक् समझ बहुत दुर्लभ है। प्रभु! तुझे अपूर्व समझका अमूल्य समय मिला है इसमें यदि चूक गया तो फिर अनन्तकालमें मनुष्यभव और ऐसा योग मिलना कठिन है। अनन्तवार धर्मके नाम पर कदाग्रहमें, बाह्य साधनोंमें अटका रहा, अब परम-सत्य क्या है इसकी चिंता नहीं की तो फिर अनन्तकालमें भी ठिकाने नहीं लगेगा, इसलिये आचार्य महाराज कहते हैं कि सत्य क्या है यह स्वयं

अन्तरंग अनुभवसे निश्चय कर। अनुभवकी मुख्यतासे शुद्धस्वरूपका निर्णय कर; बाहरके तर्क-वितर्कका काम नहीं है। इसके लिये दृष्टांत देते हैं।

एक आदमी बाजारसे कपड़ेका एक थान लाया। उसके ९ वर्षीय पुत्रने उससे पूछा कि यह थान कितने हाथका है? पिताने जवाब दिया कि यह पचास हाथका है। लड़केने अपनी हाथसे नापकर कहा कि यह थान तो ७५ हाथका है, इसलिये आपकी बात असत्य है। तब पिताने कहा कि हमारे लेनदेनमें तेरे हाथका माप नहीं चलता। तब लड़का, कहता है कि क्यों मैं मनुष्य नहीं हूँ? मेरा हाथ क्यों नहीं चलता जैसे व्यवहारके मापमें बालकका हाथ नहीं चलता, उसीप्रकार बाह्यदृष्टिवाले बाल-अज्ञानोकी बुद्धिमें से उत्पन्न कुयुक्ति अतींन्द्रिय आत्मभावको नापनेमें काम नहीं आती। धर्मात्माका हृदय अज्ञानीसे नहीं मापा जा सकता, इसलिये ज्ञानीको पहचाननेके लिये पहले उस मार्गका परिचय करो, रुचि बढ़ाओ, विशालबुद्धि, मध्यस्थता, सरलता और जितेन्द्रियता इत्यादि गुण प्राप्त करो। संतकी परीक्षा होनेसे सत्‌का आदर होता है और तब ही धर्मात्माका उपकार समझा जा सकता है, अपने गुणका बहुमान होता है और वर्तमानमें ही अपूर्व शान्ति प्रगट होती है।

अब जिसे समझनेकी उमंग जागृत हुई है ऐसे जिज्ञासु शिष्य को प्रश्न उठता है कि ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है, जिसका स्वरूप जानना चाहिये? अनन्तानन्त कालसे आत्माके शुद्धस्वभाव की बातको न तो सुना है न रुचि की है, न जाना है और न अनुभव ही किया है। इसलिये शिष्य प्रश्न करता है कि आत्माका शुद्ध स्वभाव कैसा है?

पांच गाथा पर्यन्त एकत्व-विभक्त आत्माकी महिमा सुनकर स्वयं ही तैयार हुआ शिष्य जिज्ञासासे पूछता है, कहीं बलात् रुचि उत्पन्न नहीं हुई है। जैसे किसीको प्यास लगी है, पानी पीनेकी इच्छा हुई है और पासमें कहीं पानी दिखाई नहीं देता; किन्तु जब पानीका चिह्न मालूम हो जाता है तब उसकी कैसी आतुरता बढ़ जाती है, फिर

पानी पीकर कितना तृप्त होता है? उसीप्रकार जिसे आत्माको जानने-की उत्कण्ठा हुई है वह आत्माकी बात सुनकर कितना आनंदित होता है और बादमें सम्यक्-पुरुषार्थ करके आत्मस्वरूप प्राप्त करके कितना-तृप्त होता है! जिसे शुद्ध आत्मस्वरूपको जाननेकी तीव्र इच्छा हुई है उसीको सुनाया जाता है।

जिसकी आवश्यकता मालूम होती है उसकी तरफ आत्माका वीर्य स्फुरित हुए बिना नहीं रहता। अनादिसे शरीर और इन्द्रियों पर दृष्टि है और उनके प्रति प्रेम है तथा ऐसा विपरीत विश्वास रखता है कि अमुक आहार मिलेगा तो शरीर टिक सकेगा, इसीलिये अनादिकालसे देहको ममतासे पोषता रहता है।

जो बड़ा हीरा शाण पर चढ़ता है वह तो बहुमूल्य है ही, किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसके भी सैकड़ों रुपये पैदा होते हैं, इसी प्रकार वस्तुका सत्यस्वरूप सुननेसे जो वस्तुस्वरूपको ग्रहण कर लेता है उसका तो कहना ही क्या है? वह तो अमूल्य हीरेको प्राप्त कर लेता है, किन्तु सत्यस्वरूप सुननेसे जो शुभभाव होता है उस कारणसे भी उच्च-पुण्य बँधता है।

यदि सहजात्मस्वरूप आत्माको जाने तो परमानन्दस्वरूप मुक्तदशा अवश्य प्रगट हो जाती है। जिसे तत्त्वकी रुचि हुई है उसे गुरु उत्तर दें और वह न समझे यह नहीं हो सकता। इस छट्ठी गाथामें तो छट्ठीका लेख है, वह कभी बदल नहीं सकता। जैसे 'छट्ठीका लिखा लेख नहीं टलता' उसीप्रकार इस अध्यात्म छट्ठीके अंतरंग लेखका भाव जो समझता है उसका मोक्षभाव अन्यथा नहीं होता, उसको मुक्ति हुये बिना नहीं रहती।

अब शिष्यके प्रश्नके उत्तररूपमें गाथासूत्र कहते हैं:—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णाओ जो सो उ सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणंति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

अर्थ—जो ज्ञायकभाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है, इसप्रकार इसे शुद्ध कहा है, और फिर जो ज्ञायकरूपसे बताया है, सो तो वह वही है, दूसरा कोई नहीं है ।

इस गाथासे मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है । पांचवीं गाथामें कहा है कि निज-वैभवसे कहेंगे, इसलिये छट्ठी गाथामें अपनी भूमिका-को दर्शाकर कहा है कि जो सातवीं-छट्ठी भूमिकामें रहता है वह मैं नहीं हूँ । इसप्रकार मुनि अपनी बात कर रहे हैं कि मैं तो एक हूँ तब फिर अवस्थामें अप्रमत्त और प्रमत्त ऐसे दो भेद क्यों? वह दो प्रकार मैं नहीं हूँ । अपनी बात करके जगतको कहता है कि जो ज्ञायकभाव है सो न तो अप्रमत्त है और न प्रमत्त है । आचार्यकी दृष्टि मात्र ज्ञायक द्रव्य पर है । मैं अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध हूँ, अवस्थाके भेदसे रहित सामान्य एकरूप ऐसा जो ज्ञायकरूपमें ज्ञात हुआ हूँ, वही हूँ, दूसरा नहीं । उसमें फिर यह अप्रमत्त-प्रमत्तका भेद कैसा? आचार्यदेव अपनी वर्तमान अवस्थाका निषेध करते हैं और कहते हैं कि यह जो अप्रमत्त-प्रमत्तका भेद है, वह मैं नहीं हूँ, मैं तो अखण्ड एक ज्ञायकभाव हूँ ।

आचार्यदेवने सकषायी-अकषायी, सयोगी-अयोगी इत्यादि भेद गाथामें नहीं कहे, इसलिये ऐसा मालूम होता है कि वे प्रमत्त-अप्रमत्त दशामें झूल रहे हैं और उसका निषेध करते हैं । अप्रमत्त या प्रमत्त मैं नहीं हूँ, ऐसी भाषा उनको वर्तमान मुनिदशामेंसे आई है । उनके दो पर्यायें ही रही हैं, उन दो पर्यायोंमें अखण्ड ज्ञायकका बल उनके वर्त रहा है इसलिये अपने आत्माके अन्तर अनुभवमेंसे अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं ऐसी भाषा आई है । आचार्यका ऊँची ऊँची पर्याय पर लक्ष है इसलिये भाषामें पहले 'प्रमत्त' न आकर 'अप्रमत्त' आया है ।

आत्माके गुणकी चौदह भूमिकायें हैं अर्थात् चौदह गुणस्थान हैं; उनमें से चौथे गुणस्थानमें अपूर्व आत्मसाक्षात्कार, निर्विकल्प अनुभव होता है। वहाँ यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है। बादमें आंशिक स्थिरता बढ़े तो पांचवां गुणस्थान होता है। अन्तरंगज्ञानमें विशेष स्थिर होकर कषायकी तीन चौकड़ीका अभाव निर्विकल्प ध्यान-दशा प्रगट होती है, उसे अप्रमत्त नामक सातवां गुणस्थान कहा है; बादमें सविकल्पदशा आती है, उसे छट्ठा प्रमत्त गुणस्थान कहते हैं। मुनि इन दो दशाओंके बीचमें बारंबार झूला करते हैं।

निर्विकल्पदशामें यदि विशेष समय रहे तो मुनि अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त करता है। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक हजारों बार छठा-सातवाँ गुणस्थान बदलता रहता है। तीनों कालमें मुनिदशा ऐसी ही होती है। वह मुनिदशा बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहसे रहित होती है, आत्मज्ञान सहित नग्न-दिगंबरत्व होता है सातवें गुण-स्थानमें बुद्धिपूर्वक विकल्प छूट जाते हैं और आत्मस्वरूपकी स्थिरतामें बिलकुल निर्विकल्प आनन्दमें लीन हो जाता है, वहाँ पल पलमें साक्षात् सिद्ध परमात्मा जैसा आनन्द अंशरूपसे अनुभवमें आता है। मैं आत्मा हूँ, शुद्ध आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसा विकल्प भी वहाँ नहीं होता; मात्र स्वसंवेदन (स्वका अनुभव) होता है, ऐसी स्थिति-साधकदशा भग-वान कुन्दकुन्दाचार्यदेवके थी। वे क्षणमें प्रमत्त और क्षणमें अप्रमत्त-दशामें झूलते रहते थे।

आचार्यके केवलज्ञान प्रगट होनेमें संज्वलन कषायका अंश जीतनेको शेष रहा है। क्षणमें छट्ठी भूमिकामें आने पर आत्मस्वभाव की बात करते हैं और क्षणमें उस शुभ विकल्पको तोड़कर सातवें गुणस्थानमें मात्र अतीन्द्रिय आत्मानंदमें स्थिर हो जाते हैं। ऐसी वह उत्कृष्ट साधक दशा है। उस निज-वैभवसे वे आत्माका वास्तविक स्वरूप जगतको बतलाते हैं कि वह ज्ञायक नित्य एकरूप चैतन्यज्योति है, वह वर्तमान क्षणिक अवस्थाके किसी भेदरूप नहीं है, किंतु केवल-

ज्ञायकरूपसे शुद्ध हैं, अखण्ड एकाकार ज्ञायकस्वभावमें अप्रमत्त-प्रमत्त का भेद परमार्थसे नहीं है।

आत्मा और जड़ दोनों पदार्थ सर्वथा भिन्न हैं। दोनोंमें प्रत्येक क्षणमें अपनी अपनी अवस्था स्वतंत्ररूपसे होती है। आत्मा जड़से सर्वथा भिन्न है, ऐसा जाने बिना स्वरूपकी रुचि नहीं होती, रुचिके बिना श्रद्धा, श्रद्धाके विना स्थिरता और स्थिरताके बिना मुक्ति नहीं होती, आत्मामें एक समयकी होनेवाली कर्मबंधरूपी विकारी-क्षणिक अवस्थाको ध्यानमें न लेकर अकेले ज्ञायक-ध्रुवस्वभावको लक्षमें लेकर उसमें स्थिर हुआ सो तो ज्ञाता ही है। स्वभावसे आत्मा निर्विकारी, आनन्दघन, सच्चिदानन्द-स्वरूप, ज्ञाता-द्रष्टा, स्वावलम्बी और स्वतंत्र है। ऐसी आत्माकी ओरकी जो दृष्टि है सो सम्यग्दर्शन है और उस भावमें स्थिरताका होना सो सम्यक्चारित्र है।

जैसे स्फटिकमणि स्वभावसे श्वेत, स्वच्छ और निर्मल है, किन्तु काले, लाल, पीले पात्रके संयोगसे वर्तमान अवस्थामें काले, लाल, पीले रंगकी झांई उसमें दिखाई देती है, वह वैसा हो नहीं जाता। स्फटिकमणिका संपूर्ण स्वभाव तो सफेद ही है। इसीप्रकार आत्मा अरूपी, ज्ञानानंदघन ही है। आत्मामें क्षणवर्ती-विकारीभाव दिखाई देते हैं, उस ओर यदि दृष्टि न की जाय तो आत्मा अबन्ध, निर्विकारी, निर्मल, आनंदरूप, चैतन्यज्योति है। वर्तमान अवस्थामें पुण्य-पापके क्षणिक विकार और मति-श्रुतज्ञानको अवस्था रहती है, जो उसके भेदसे रहित, विकल्परहित, एकाकार, अकेला, ज्ञायक, ध्रुवरूप से वर्तमानमें पूर्ण ज्ञाता हुआ, सो वह ज्ञाता ही है। ऐसे पर-निमित्तके भेदरहित, उपाधिरहित, एकाकार, ज्ञायक, सामान्य ध्रुवरूपसे आत्माको जानना सो ही सम्यग्दृष्टि या परमार्थदृष्टि है। यही मोक्षकी प्रथमसीढ़ी है।

जो अनादि-अनन्त त्रिकालस्थिर रहे सो वस्तु है। भूत, भविष्यकी अवस्थारूप होनेकी जो शक्ति है सो गुण है। और वर्तमान प्रगट अवस्था पर्याय है।

वर्तमानमें रहनेवाले द्रव्यमें ही त्रिकाल स्थिर होनेकी सामर्थ्य है। वर्तमान एक समयमें त्रिकाल रहनेरूप जो एकरूप सामर्थ्य है सो

द्रव्य है। अखंड-ज्ञायक कहनेसे त्रिकाली एकरूप द्रव्यस्वभाव बताया है। समय समय रहकर त्रिकाल होता है, इसप्रकार त्रिकालसे ज्ञायक को लक्षमें लेना हो सो बात नहीं है, किन्तु यह समझना चाहिये कि वर्तमानमें ही चैतन्य अनन्तशक्तिकी सामर्थ्यसे पूर्ण है। अर्थात् जो वर्तमानमें हैं, वही त्रिकाल है। वर्तमानमें मैं अखण्ड-पूर्ण हूँ ऐसी जो दृष्टि है सो द्रव्यदृष्टि है और वही सम्यग्दृष्टि है।

प्रत्येक वस्तु वर्तमानरूपसे वर्त रही है—रह रही है। उस प्रवर्तमान द्रव्यमें वर्तमानमें जो प्रगट अवस्था है सो पर्याय है और शेष अवस्थाएँ जो होनी हैं और जो हो गई हैं, उसकी वर्तमान शक्ति, समस्त गुण ध्रुव नित्य है। वर्तमान प्रगट अवस्थाके अतिरिक्त जो सामर्थ्य शक्ति है सो ध्रुव है। व्यय अभावरूप पर्याय है और उत्पाद सद्भावरूप पर्याय है। उस व्यय और उत्पादके भंगसे रहित वर्तमानमें समस्त सामर्थ्यशक्ति गुण और द्रव्य हैं। अवस्थाके अतिरिक्त जो त्रिकाल रहनेरूप सामान्यभाव है, उसे यहाँ द्रव्य कहा है। वर्तमान विकारी अवस्थाको गौणकर जिस त्रिकाल सामान्य स्वभावरूप मैं हूँ सो ज्ञायकभाव है।

वर्तमानमें ही द्रव्यस्वभाव ध्रुवरूपसे अखण्ड-पूर्ण है, उसमें भूत और भविष्य पर्यायकी शक्ति विद्यमान है। वर्तमानमें जो प्रगट अवस्था है वह भंग और भेदरूप है, उस भंगरूप अवस्थाके अतिरिक्त जो हर समयमें वर्तनेवाली सामर्थ्य है वह गुणरूप है अथवा द्रव्यरूप है। अवस्थाको लक्षमें न लेकर मैं आत्मा पूर्ण, निर्मल, पवित्र वर्तमान में ही हूँ। इस दृष्टिके होने पर पर्याय भी निर्मल हो जाती है। इस दृष्टिके प्रगट होनेमें अनन्त पुरुषार्थ है और उसके होनेपर दर्शन-मोह तथा अनन्तानुबन्धी कषायका अभाव होता है। सम्यग्दर्शनके प्रगट होनेके बाद भी आगेकी पर्याय इस द्रव्यदृष्टिके बलसे ही प्रगट होती है। पूर्ण ज्ञायक, निरपेक्ष, स्वतंत्ररूपसे जो सदा एकरूप है उसे श्रद्धामें लेना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनकी अवस्था, इसीप्रकार संयमी-असंयमी, सवेदी-अवेदी, सकषायी-अकषायी, संयोगी-

अयोगी ऐसे दो दो भेद हो जाते हैं, जो कि पर—निमित्तकी अपेक्षासे होते हैं। वे आत्माके अखण्डस्वभावमें नहीं हैं इसलिये सम्यग्दृष्टि जीव अखण्डस्वभावको दृष्टिमें लेकर भेदोंका भी अस्वीकार करता है।

ध्यान रहे कि यह अलौकिक वस्तु है। अनन्तकालसे स्वभावकी बात समझमें नहीं आई, इसलिये वस्तुकी परम गम्भीर महिमाको लाकर उसे लक्षमें रखकर समझना चाहिये। वस्तुकी श्रद्धाके विना सम्यग्ज्ञान और चारित्र नहीं हो सकता। 'यह बात कठिन है इसलिये समझमें नहीं आती' ऐसा नहीं मानना चाहिये। अनादिका अनभ्यास है इसलिये समझना कठिन मालूम होता है किन्तु वह स्वविषय है इसलिए समझमें आ ही जाता है।

कंकणकी अवस्थामें सोना कंकणके आकारमें स्थूलदृष्टिसे दिखाई देता है, किन्तु उसमें रहनेवाले अनन्त परमाणु प्रतिसमय अपनी अवस्था बदलते हैं और सोना सामान्य—एकरूप ध्रुव बना रहता है, इसप्रकार सूक्ष्मदृष्टिसे दिखाई देता है। उसीप्रकार आत्मद्रव्य एकरूप ज्ञायकपनेसे वर्तमानमें पूर्ण है, उस ध्रुवस्वभावकी जो दृष्टि है सो सम्यग्दृष्टि है।

आत्माको अभेद गुणदृष्टिके द्वारा जानने पर वर्तमान पर्याय गौण हो जाती है, भेदरूप लक्ष भूल जाता है। वहाँ वर्तमान पर्याय नहीं है ऐसा नहीं समझना चाहिये, किन्तु वह है और उसे गौण करके संपूर्ण द्रव्यस्वभावको लक्षमें लेना सो सम्यग्दृष्टि है।

किसी मनुष्यने बालकको छोटी अवस्थामें देखा हो, फिर बारह वर्षकी आयुमें उसे देखे तो कहता है कि यह तो एकदम बड़ा हो गया है, किन्तु वह एकदम बड़ा नहीं हुआ है, लेकिन जन्मसे प्रतिक्षण बढ़ता बढ़ता बड़ा हुआ है। प्रत्येक समयमें बदलती हुई अवस्थामें रहनेवाला वही पुरुष है। वर्तमान, भूत, भविष्यकी अवस्थाके भेदसे न जानकर उस पुरुषको वर्तमानमें ही अखण्डरूपसे जानना सो वास्तविक स्वरूपको जानना कहलाता है।

प्रश्नः—ऐसी अखण्ड वस्तु ध्यानमें न आये तो क्या होता है?

उत्तरः—जैसे एक मनुष्य सौ वर्षका है उसे ५० वर्षका कहें अथवा बीचके एक क्षणको निकाल दें तो अखण्डके दो टुकड़े हो जायेंगे और इसप्रकार मनुष्यका संपूर्ण स्वरूप ज्ञात नहीं हो सकेगा। यदि उस मनुष्यका सारा स्वरूप जानना हो तो सौ के सौ वर्ष लक्षमें लेना चाहिये, बीचमें कोई समयभेद नहीं लेना चाहिये।

जैसे एक पुरुष एक वर्ष धनिक अवस्थामें था, फिर दो वर्ष निर्धन अवस्थामें हो और फिर पीछे सधनदशाको प्राप्त होता है। इन सब अवस्थाओंमें रहनेवाले पुरुषको अखण्डरूपसे नहीं मानकर वर्तमान निर्धन दशा जितना ही माने तो कहना होगा कि उस पुरुषकी सच्ची पहिचान नहीं की। उसीप्रकार आत्मा त्रिकाली सर्व अवस्थाका पूर्ण पिंड होनेसे वर्तमान अवस्थामें भी त्रिकाली जितना ही पूर्ण है। 'है' इतना हो न मानकर वर्तमान् अवस्था जितना ही माने तो कहना होगा कि उसने उसका सच्चा स्वरूप ही नहीं जाना।

जो अनादि-अनन्त आत्माको एकरूप, अखण्ड, अभेद, ज्ञायकरूपमें जानता है वही उसके वास्तविक स्वरूपका ज्ञाता कहलाता है। आत्माका अखण्ड स्वरूप जिसके ध्यानमें नहीं है उसे उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। अनादि-अनन्त कहनेसे काल पर लक्ष न देकर अनंत गुणका अखण्ड पिण्डस्वरूपसे त्रिकाल रहनेवाला वर्तमानमें पूर्ण शक्तिरूप ध्रुव है, तीनों कालकी अनन्तशक्ति वर्तमानमें अभेदरूपमें भरी हुई है ऐसे अखण्ड द्रव्यस्वभावकी दृष्टि ही सम्यग्दृष्टि है।

एक समयमें एक वस्तुकी दो अवस्थायें नहीं होतीं। सोना जिस समय कुण्डल अवस्थामें होता है उस समय दूसरी अवस्था नहीं होती और जब कड़ेकी अवस्था होती है तब कुण्डलकी नहीं होती; इसीप्रकार आत्माके ज्ञानगुणमें एक समयमें एक अवस्था प्रगट होती है। उदाहरणरूपमें जब मति या श्रुतज्ञान होता है तब केवलज्ञान

नहीं होता, और जब केवलज्ञान होता है तब मति या श्रुत नहीं होता, किन्तु ज्ञानगुण सदा विद्यमान रहता है। वर्तमानमें त्रिकाल रहनेवाले समस्त गुण एकरूप-सामान्य शक्तिरूपमें विद्यमान हैं। आत्मा में वर्तमान एक अवस्था प्रगट होती है और दूसरी सभी त्रिकाल शक्तिरूपसे होती है। यहां सामान्य-अखण्ड द्रव्यस्वरूपका कथन करना है, इसलिये वर्तमान पर्यायके भेद गौण करके पर-निमित्तकी अपेक्षा न लेकर वर्तमान एक समयमें त्रिकाल रहनेवाला एकरूप पूर्ण ज्ञायक तत्व लिया है, वही मेरा स्वरूप है। इसप्रकार त्रिकाली आत्माको ही लक्षमें लेना चाहिये। अखण्ड-सामान्य वस्तुको लक्षमें लेना द्रव्यदृष्टि है।

वर्तमान संयोगकी अपेक्षा और अवस्थाके भेदोंको गौण करके वर्तमान अवस्थाके पीछे जो सामान्य त्रिकाली शुद्ध श्रद्धा, ज्ञान और आनन्दरूप अनन्तगुण भरपूर अखण्डस्वरूप है उसका लक्ष करके जो अखण्डज्ञायकरूपमें ज्ञात होता है वही परमार्थस्वरूप आत्मा है। जो ज्ञायकरूपसे मालूम हुआ है वही मैं हूँ, इसप्रकार अन्तरंगसे मानना सो सम्यग्दर्शन है। मैं अखण्डज्ञायक ज्योति एकरूप हूँ, ऐसा प्रगट शुद्ध ज्ञायकभाव लक्षमें लेकर, मैं अनन्तकाल रहनेवाला वर्तमानमें परिपूर्ण हूँ ऐसा अन्तरंगमें अनुभवसे जानना सो सम्यग्दर्शन है। इसमें जो भी गूढ़रहस्य था वह बहुत स्पष्ट करके कहा है, किन्तु वह हाथमें लेकर तो बताया नहीं जा सकता। स्वयं तैयार होकर ग्रहण करके और धीरे धीरे जुगाली करके उसे पचाये तो अवश्य लाभ हो।

इस वस्तुको समझना ही वास्तवमें महत्वकी बात है निरपेक्ष-अभेद पूर्णस्वभाव वर्तमान साक्षात् शुद्धस्वरूपसे जिसप्रकार है। उसीप्रकार अनादिसे लक्षमें नहीं लिया, परसे भिन्न एकत्वकी बात कभी नहीं सुनी, "इसलिये वह कठिन मालूम पडती है। किन्तु समझके बाद सब सरल है।" सम्यग्दर्शन होनेसे पहले प्रारम्भमें ही समझनेकी यह बात है। वर्तमानमें प्रतिसमयमें आत्मा पूर्ण स्वरूप है, इसलिये उसे ही विषय (लक्ष-ध्येय) बनाकर शुद्ध अखण्डरूपसे लक्ष में लेना चाहिये। वह शुद्ध आत्मा ही सम्यग्दर्शनका विषय है

वर्तमान विकारी अवस्था तथा अपूर्ण निर्मल पर्यायके क्षणिक भेदको गौण करके एक समयकी वर्तमान अवस्थाके अतिरिक्त वर्तमानमें विद्यमान प्रत्येक अवस्थाके साथ ही प्रतिसमयमें अनन्त चैतन्य-शक्तिरूपसे जो समस्त सामान्य-ध्रुवस्वभाव है। उसे लक्षमें लेना द्रव्यदृष्टिका विषय है।

ज्ञानका उपयोग प्रत्येक समयमें होता है उसमें वर्तमान भवका ध्यान होता है। गत अनन्तभावोंमें भी उस समयके वर्तमान रहने वाले भावसे विचार करता था। इसप्रकार अनन्तभावमें स्वयं वस्तु, उसका क्षेत्र, उसका काल और उसके भावको ज्ञानसामर्थ्यसे ज्ञायक-रूपसे जानता था। अब इसके वाद जितने भव करेगा उनमें भी वर्तमानमें रहनेवाला ज्ञान करेगा। ऐसा भारी शक्ति पहले प्रत्येक समय में थी। जब जब जिस जिस भवमें रहा तब तब ज्ञानमें उसको उस उस भावसे जानता था तो भी उस भावके लिये-उस अवस्थाके लिये ही सामर्थ्य न था, किन्तु दूसरे अनन्त कालका ज्ञान करनेका अनन्त सामर्थ्य था। यह तो एक ज्ञानगुणकी बात कही। ऐसे ही एक साथ वस्तुरूपमें त्रिकाल रहनेवाले अनन्तगुण पूर्ण-अभेदरूपमें समझना चाहिये। वर्तमान पर्यायके भेदको न देखकर त्रैकालिक अखण्ड स्वरूप को देखें तो आत्मा द्रव्यसे, गुणसे और पर्यायसे शुद्ध ही है, उसमें पुण्य-पापरूप उपाधिका भेद नहीं है, मनके सम्बन्धका विकल्प भी नहीं है। मैं तीनोंकाल एकरूप रहने वाला, ज्ञायक-पूर्ण स्वभावको शक्तिका पिण्ड हूँ, मात्र एकसमयको अवस्थाके लिये नहीं, किन्तु नित्य, निरालम्बी, निरपेक्ष, अनन्तगुणरूपसे रहनेवाला पूर्ण हूँ, ऐसा निर्मलस्वभाव जबतक लक्षमें नहीं आता तबतक सम्यग्दर्शन नहीं होता, और सच्चा ज्ञान भी नहीं होता तथा अन्तरंगमें ज्ञानको स्थिरता-रूप चारित्र नहीं होता। यहां निश्चयसे सम्यग्दर्शन नहीं होता वहां ज्ञान और चारित्र समीचीन नहीं होते, इसलिये सबसे पहले इसे समझना चाहिये। अभी तो मोक्षमार्गका प्रारम्भ होता है। आत्माकी पहिचान कैसे करना चाहिये उसका यहाँसे प्रारम्भ होता है।

जो बात होती है सो वह भाषासे होती है। भाषा स्वभावसे भिन्न है। जड़रूप वाणीके द्वारा चेतनरूप आत्मा, पूर्णरूपसे भलीभाँति कैसे कहा जा सकता है? वाणी तो जड़रूपी है और आत्मा चेतन, अरूपी है। वाणीरूपी शत्रुके द्वारा सज्जनकी प्रशंसा कितनी कराई जा सकती है?

कोई कहता है कि यदि तुम हमें समझा सको तो सच्चे हो। किन्तु ऐसा हो नहीं सकता। सत्य ऐसा नहीं कि जब कोई सत्यको माने तभी उसका मूल्य होता है। तुम पृथक् स्वतंत्र हो, तुम्हारी तैयारी के विना कोई निमित्त हो नहीं सकता, यदि कोई समझे तो समझनेमें निमित्त कहलाता है और न समझे तो निमित्त भी नहीं कहलाता। जगत् समझे या न समझे, किन्तु जो सत्य है वह बदल नहीं सकता।

लोगोंको अन्तरंगका सूक्ष्मतत्त्व कठिन मालूम होता है, क्योंकि उसकी बात कभी नहीं सुनी, इसलियें वे बाहरकी बातोंकी धूमधाम करते हैं। कितने ही बुलक्कड़ ऐसी बकवाद किया करते हैं कि जिसका कहीं मेल ही नहीं बैठता!

अनन्तकालमें तुझे सम्यक् वस्तुस्थितिकी खबर नहीं पड़ी और न कभी सत्को सुना है। पहले अनन्तकालमें कभी नहीं प्राप्त हुई यह अपूर्व वस्तु है। उस शुद्धात्माकी बात छट्ठी गाथामें करते हैं और कहते हैं कि यह छट्ठीका लिखा लेख टाले नहीं टलता।

भगवान आत्मा मन, वाणी, देह और इन्द्रियोंसे भिन्न है, पुण्य-पापके विकल्पोंसे रहित है; वर्तमान मनके अवलंबनसे ज्ञात हो उतना ही यह नहीं है; किन्तु प्रत्येक समयमें अनंतगुणका पिण्ड-ध्रुवस्वभावी है। उसमें वर्तमान पर्याय पृथक् नहीं है, फिर भी वर्तमान पर्यायभेदका लक्ष छोड़कर सामान्य रहनेवाला ध्रुवशक्तिरूप संपूर्ण तत्त्व है, वही आत्माका पूर्णस्वरूप है। ऐसा पूर्ण द्रव्यस्वभाव ज्ञायक रूपमें मालूम हुआ सो तो नहीं है।

प्रश्नः—आत्माको ज्ञायक कहनेसे परकी उपाधिकी अपेक्षा होती है? ज्ञाता दृष्टा

उत्तरः—नहीं परको जाननेके लिये उसके पास जाना नहीं पड़ता, किन्तु स्वको जानने पर वह सहज ही ज्ञात हो जाता है, अर्थात् परको जाननेकी उपाधि नहीं है। पर्यायको न देखकर निरपेक्ष-अखण्ड ध्रुवस्वभावको देखना सम्यग्दर्शन है; ऐसा सर्वज्ञ भगवानने कहा है।

प्रत्येक पदार्थ सत् है, जो नहीं है वह नया उत्पन्न नहीं होता, और जो है उसका सर्वथा नाश नहीं होता। हाँ, ध्रुवस्वभावरूप रहकर रूपान्तर होता है। जो पदार्थ है उसका नाश नहीं होता, फिर भी यदि उसमें कोई अवस्थांतर न होता हो तो कभी भी विकार दूर होकर अविकारीपन नहीं होगा। जैसे दूधकी अवस्था बदलकर दहीरूप न होती हो तो कोई कार्य विशेष न हो सकेगा। और यदि पदार्थ केवल नित्य ही हो, कूटस्थरूप, त्रिकाली, एकरूप ही रहे तो अशुद्ध अवस्था बदलकर शुद्ध अवस्था प्रगट नहीं हो सकेगी।

आत्मा नित्य है और उसका ज्ञायकत्व स्थिर रहता है। उस ओरकी दृष्टि करने पर आत्मा अकेला ज्ञायक, निर्मल, नित्य, अखण्ड-पिंड है, वह ज्ञात होता है। आत्मामें अनन्त गुणरूप शक्ति त्रिकाल भरी हुई है। शक्तिरूपसे तो गुण शुद्ध ही है, किन्तु वर्तमान एक अवस्थामें अशुद्ध है। अवस्थामें विकार होता है किन्तु पूर्ण गुण विकारी नहीं होता। यदि निर्विकारी-त्रिकाल पूर्णको लक्षमें न ले तो अध्रुव, क्षणिक विकारभावको नाश करनेका पुरुषार्थ नहीं होता। विकारको नाश करनेका सामर्थ्य त्रिकाल आत्मामें विद्यमान है।

मुझे अवगुण नहीं चाहिये, ऐसा कहनेवाला अव्यक्तरूपसे यह स्वीकार कर रहा है कि मैं अवगुणको रखनेवाला-करनेवाला नहीं, किन्तु उसका नाशक हूँ। पूर्णगुण मुझमें हैं, इसका भान वैसा कहनेवालेको भले न हो, किन्तु उसके ही बलसे वह यह कहता है कि मुझे अवगुण नहीं चाहिये।

जबतक विकारके ऊपर दृष्टि रखे, किन्तु अखण्ड पूर्ण शुद्ध द्रव्यको लक्षमें न ले तबतक निरपेक्ष, पूर्ण तत्त्वस्वभाव जैसा है वैसा

पहचाननेमें नहीं आता। जहाँ मुक्तस्वरूप, एकरूप स्वाधीन तत्व नहीं जाना वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं है। अविकारी पूर्ण स्वरूप लक्षमें आये विना पुण्य-पाप, विकारका अल्प भी नाश नहीं हो सकता। मेरा स्वरूप परकी उपाधिसे रहित, परमें कर्ता-भोक्तापन से रहित, ज्ञानानन्दरूपसे पूर्ण पवित्र है; उसको लक्षमें लेकर उस एकत्वमें एकाग्र होना चारित्र है सम्यग्दृष्टिके बिना जो कुछ भाव जीव करता है वे सब इकाई-रहित शून्यके समान हैं।

धर्म तो अरूपी आत्मामें ज्ञान, श्रद्धा, स्थिरतारूप है, उसे भूलकर लोग वाह्य क्रियाकाण्डमें, मन, वाणी, देहकी प्रवृत्तिमें आत्मा का धर्म मानते हैं; यही अज्ञान है।

मैं रागी हूँ, राग-द्वेषका कर्ता-भोक्ता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है, -यह वन्धनभावकी दृष्टि है। रागादि सर्व विकारका नाशक मेरा स्वभाव है, ऐसी दृष्टि अनन्त पुरुषार्थके द्वारा प्रगट होती है, अखण्ड, पूर्ण, शुद्ध एकरूप स्वभावके लक्षसे स्वभावकी समझ और स्वाभाविक शुद्धता प्रगट होती है।

आचार्य महाराज अपनी अन्तर स्थिरतामें -छट्ठे सातवें गुणस्थानमें प्रवर्तमान हैं। मैं अखण्ड एकरूप ज्ञायक हूँ, उसमें यह अप्रमत्त-प्रमत्तभावके दो भेद क्यों? इसप्रकार भेदका नकार करके, भेदरूप पर्यायको गौण करके अखण्ड ध्रुवस्वभावको ही लक्षमें लेते हैं।

टीका:—आत्मा स्वयं-स्वत:सिद्ध है; उसका कोई कर्ता नहीं, वह संयोगी वस्तु नहीं है। तथा वह भूतकालमें नहीं था, सो वात नहीं है। वह अनादि-अनन्त सत्स्वरूप है-अस्तिरूप है। वह किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये उसे किसीके आधारकी आवश्यक्ता नहीं है, तथा उसकी कोई सहायता करनेवाला नहीं है, और वह कभी नाशको प्राप्त नहीं होता, इसलिये क्षणिक नहीं है, किन्तु ध्रुव है; वस्तुरूपमें रहकर पर्यायोंको वदलनेवाला है। अपनी वर्तमान अवस्था

का स्वयं कर्ता होनेसे त्रैकालिक समस्त अवस्थाओंका स्वयं ही कर्ता है, दूसरा कोई नहीं। अपना कर्तृत्व स्वतंत्र होनेसे उसके धर्मके लिये किसी पुण्य-पाप-विकार आदिकी आवश्यक्ता नहीं है।

वह कभी विनाशको प्राप्त न होनेसे अनन्त है। 'अनन्त' अर्थात् क्षेत्रसे अनन्त नहीं किन्तु स्वयं पूर्णशक्तिसे अनन्त है और अपने स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावसे अखण्ड है।

वह नित्य उद्योतरूप होनेसे क्षणिक नहीं है, किन्तु प्रत्येक क्षणमें चैतन्यमूर्ति, स्पष्ट प्रकाशमान ज्ञानज्योति है। ऐसा अखण्ड निर्मल-स्वरूप समझे बिना जन्म-मरण दूर करनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो नित्य अविकारी, ध्रुवस्वभावको लक्षमें न ले उस जीव के धर्म नहीं होता, भव नहीं घटता; वह जीव मन, वाणी, देह की प्रवृत्तिमें अथवा पुण्यमें धर्म मानकर अटक जाता है; जिसका फल बंधनरूप संसार है। इस बातका जिसे ध्यान नहीं है, उसने बाह्य प्रवृत्तिमें ही कृत-कृत्यता मान रखी है; इसलिये जब वह अपनी मान्यतासे विरुद्ध बात सुनता है तब वह सत्य तत्त्वका विरोध करता है। बालकको पेड़ा देनेके लिये जब उसकी लकड़ीकी चूसनी छीनी जाती है तब वह रोने-चिल्लाने लगता है; इसीप्रकार मुक्तिरूपी पेड़ेका स्वाद चखानेके लिये बाल-अज्ञानी जीवोंके पाससे उनकी विपरीत मान्यता-रूपी पकड़ (चूसनी) छुड़ाई जाती है तब वे चिल्लाने लगते हैं!

अहो! परम सत्यकी बात कानमें पड़ना भी बड़ा दुर्लभ है। अनन्तकालमें यह अमूल्य अवसर मिला है तब भी अपूर्व सत्य नहीं समझे, स्वतंत्र वस्तुस्वभावके सामर्थ्यको न समझे तो चौरासीका परिभ्रमण नहीं मिट सकेगा।

मैं परसे भिन्न, साक्षात् चैतन्यज्योति, अनंतआनन्दकी मूर्ति हूँ; यह समझे बिना जितने शुभभाव करता है वे मुक्तिके लिये व्यर्थ हैं। यह सुनकर कोई विरोध करता है कि अरे रे! मेरा तो सर्वस्व ही उड़ जाता हैं। किन्तु प्रभु! तेरी प्रभुता तुझे समझाई जा रही है, तेरा अनन्त महिमामय स्वभाव तुझे समझा रहे हैं, तब तू

उसका विरोध करके असत्यका आदर करे तो यह कैसे चल सकता है ?

जैसे किसी कुलीन परिवारका पुत्र नीचकी संगति करता हो तो उसे उसका पिता ताना मारता है कि अरे भाई ! उच्चकुल वालेको ऐसा नहीं करना चाहिये। इससे अपने कुलको लज्जित होना पड़ता है ? इसीप्रकार जो आत्मविरोधी पुण्य-पापकी प्रवृत्तिरूप कुसंगतिमें पड़ता है उससे तीर्थंकरदेव कहते हैं कि यह कुसंगति तुझे शोभा नहीं देती, इससे तेरी प्रभुता लज्जित होती है, तेरी जाति सिद्ध परमात्माके समान है। इसप्रकार कहकर उसे पुण्य-पापादिसे रहित उसका ज्ञानस्वभाव बताते हैं।

जो पुण्य-पाप और परकी क्रियासे धर्म माननेवाले हैं और जो यह मानते हैं कि पुण्य (विकार) करते करते धीरे धीरे आत्मशुद्धि हो जायगी, उनसे कहते हैं कि इस विपरीत मान्यतारूप लकड़ीकी चूसनीसे स्वाद नहीं आयगा, इसलिये इसे छोड़ और एकबार अपने स्वाधीन स्वभावको अन्तरंगसे स्वीकार कर।

स्पष्ट प्रकाशमान ज्योतिरूप जो ज्ञायक 'एक' भाव है उसमें परकी अपेक्षा नहीं होती। आत्मा ज्ञायक स्वरूपसे निरपेक्ष, त्रिकाली पूर्ण सामर्थ्यका पिण्ड है, उसे भूलकर अज्ञानी जीव संसार अवस्थामें कषाय चक्रमें पड़कर पुण्य-पापके अनेक भावोंको अपना मानकर उनका कर्ता होता है। मन, वाणी, देहमें संसार नहीं है, जड़में संसार नहीं है, किन्तु देहादि तथा राग-द्वेष मेरे हैं ऐसी विपरीत मान्यतारूप अज्ञानभाव ही संसार है।

यद्यपि स्वभावरूप ज्ञायकमूर्ति आत्मा अनादि-अनन्त-अरूपी शुद्धस्वभावमें स्थित है तथापि वर्तमान प्रत्येक अवस्थारूपसे अशुद्धता करके अनादिसे बंध पर्यायरूपसे विकारी होता है। विकारमें दूसरा निमित्त होता है। यदि परके अवलम्बनके बिना विकार संभव हो तो विकार स्वभाव हो जाय और जो स्वभाव होता है वह

दूर नहीं हो सकता। किन्तु विकार दूर हो सकता है, इसलिये प्रत्येक आत्मा द्रव्यस्वभावसे त्रिकाल शुद्ध ही है।

यदि कोई यह माने कि आत्मा जड़-पुद्गल कर्मोंके साथ एकमेक है, सो यह वास्तवमें ठीक नहीं है। यदि द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे देखा जाय तो वर्तमान अशुद्ध अवस्थाके समय भी वह स्वभावसे तो शुद्ध ही है। जैसे सोनेमें तांबा मिला हुआ हो तो भी सोना अनेकरूपमें शुद्ध ही है। इसीप्रकार चैतन्यधातु, ज्ञानमूर्ति आत्मा त्रिकाल शक्तिरूपसे परसे भिन्न शुद्ध ही है। संसार अवस्थामें वह कर्मके निमित्तकी ओर लगा हुआ दिखाई देता है, फिर भी उसका प्रथक्त्व मिट नहीं जाता। आत्मप्रतीति होने पर उसमें एकाग्रता बढ़नेसे स्वभाव पर्याय दृढ़ होती जाती है और क्रमशः मोक्ष पर्याय प्रगट होती है तथा कर्म संयोग दूर हो जाता है। अनादिकालसे स्वभावकी अपेक्षासे परसे पृथक् था, इसलिये पृथक् हो जाता है, तथा आत्माका प्रथक्त्व कदापि नहीं मिटता।

दूधका स्वभाव सफेद और मीठा है, पानीका स्वभाव पतला है और भाप बनकर उड़ जानेवाला है। इसीप्रकार आत्माका स्वभाव ज्ञानानन्दमय, नित्य एकरूप, स्थिररूप है और जड़कर्मके संयोगका स्वभाव क्षणिक है, स्वयं उसके निमित्ताधीन होने पर जो विकारीभाव होता है वह भी क्षणिक है।

संसारी अवस्थामें अनादि बन्ध पर्यायकी अपेक्षासे दूध और पानीकी भांति कर्मपुद्गलोंके साथ आत्मा एकरूप होनेपर भी यदि द्रव्यके स्वभावकी अपेक्षासे देखा जाय तो जिसका दूर होना कठिन है ऐसे कषायचक्रके उदयकी विचित्रतासे प्रवर्तमान जो पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभ-अशुभभाव हैं, उनके स्वभाव-रूप परिणमित नहीं होता। अर्थात् वह ज्ञायकस्वभावको छोड़कर जड़रूप नहीं होता, क्योंकि पुण्य-पापादि परवस्त ज्ञेय हैं और आत्मा उसको जाननेवाला भिन्न है।

विष्ठा और मिष्टान्न दोनों परमाणुओंकी क्षणिक अवस्था हैं। यद्यपि ज्ञानकी दृष्टिसे उनमें कोई अच्छा या बुरा नहीं है, तथापि ज्ञात परवस्तुमें अच्छा या बुरा मानना सो विपरीतता है और वह भाव बंध-भाव है। मैं ज्ञाता हूं और प्रस्तुत पदार्थ ज्ञेय है, मैं एकरूप-ज्ञातारूप हूं, उसमें अच्छे-बुरेका द्वित्व नहीं आता।

प्रश्नः—शुभाशुभभाव कैसे हैं ?

उत्तरः—पुण्य-पापको उत्पन्न करनेवाले हैं, वे आत्माकी शुद्धताको उत्पन्न करने वाले नहीं है। शुभभाव पुण्यबंधके भाव हैं, और अशुभभाव पापबन्धके। दोनों विकार हैं, इसलिये वे आत्माके गुणमें सहायक नहीं हैं।

कषाय = (कष = संसार,+आय = लाभ) का अर्थ है जो संसारका लाभ दे और आत्माके गुणकी हानि करे। आत्मा प्रति-समय नये विकार करता आरहा है। इसप्रकार प्रवाहरूपसे कषायभाव में युक्त होते होते अनन्तकाल बीतगया, फिर भी आत्मा कषायरूप नहीं हुआ, किन्तु अखण्ड-चैतन्यज्योतिरूप ही बना हुआ है।

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह की मूर्च्छा, इत्यादि अशुभभाव हैं; उनसे पापबन्ध होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सेवा, पूजा, व्रत, भक्ति आदि शुभभाव हैं; उनसे पुण्यबन्ध होता है। अविकारी आत्मधर्म इन दोनोंसे पृथक् है। आत्मामें परको ग्रहण करने या छोडनेका कोई स्वभाव नहीं है। इसीप्रकार शुभाशुभवृत्ति भी परमार्थसे उसका स्वरूप नहीं है, प्रमत्त और अप्रमत्तका भेद भी उसमें नहीं है। वही समस्त अन्य द्रव्योंके भावसे भिन्नरूपमें उपा-सित होता हुआ शुद्ध कहलाता है।

एक चील मांसका टुकड़ा लेकर जा रही हो, यदि उस समय दूसरी चील आकर उसे छीन ले तो वह दूसरे टुकड़ेको ढूंढ़नेके लिये जाती है किन्तु यदि उसे मिष्टान्नका थाल मिल जाय तो वह सड़े हुये मांसको ढूंढ़नेके लिये न जाय, लेकिन यदि उसे मिष्टान्नका महत्त्व

मालूम न हो तो वह सड़े हुये मांसको ही ग्रहण करेगी। इसीप्रकार जिसे आत्माके परम आनन्दरूपका माहात्म्य ज्ञात नहीं है वही विकारी पुण्य-पापरूप भावको अपना मानकर ग्रहण करता है। आत्मामें परम-सुख भरा है, यदि उसकी महिमा ज्ञात होजाय तो फिर विकारी भावको छोड़ देता है।

अज्ञानीके शुभाशुभभावका स्वामित्व है; अर्थात् उसके अभिप्रायमें राग-द्वेष करनेका भाव विद्यमान रहता है, और ज्ञानीके जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं होती तबतक पुरुषार्थकी निर्बलता-से वर्तमान क्षणिक पुण्य-पाप होजाता है, किन्तु उसका वह स्वामी नहीं होता, कर्ता नहीं होता; उसके अन्तरंगसे आत्मस्वरूपकी रुचि होनेसे संसारका माहात्म्य नहीं होता।

जैसे कोई धनको प्राप्त करनेका महालोभी है, उसके पाससे यदि कोई कुटुम्बी कोई वस्तु मंगावे तो लोभके वश होकर वह उसे भी धोखा देता है, क्योंकि उसकी दृष्टि यह है कि पैसा किसीप्रकार-से भी एकत्रित किया जाय; उसीप्रकार जिसको विकार रहित केवल शुद्धस्वभावका ही प्रेम है, उसे अपनी निर्मलता कैसे बढ़े इसीपर दृष्टि होती है।

आत्माके धर्मका अर्थ है स्वतंत्रस्वभाव; वह धर्म आत्मासे पृथक् नहीं हो सकता। आत्माकी जो यथार्थ श्रद्धा है सो सम्यग्दर्शन है, और जो सच्चा विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है, तथा पुण्य-पापके भाव से रहित अंतरंगमें स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। बाह्यक्रिया आत्मा-का चारित्र नहीं है। मन, वाणी, देह, पुण्य-पापादि आत्माका स्वरूप नहीं है, जबतक जीव यह नहीं जानता तबतक स्वाधीन, सुखरूप शुद्ध आत्माका धर्म प्रगट नहीं होता। इसलिये प्रथम ही वह स्वयं जिसरूपमें है उसे वैसा जानना-मानना आवश्यक है।

यदि पानीको वर्तमान अवस्थामें अग्निके संयोगाधीन दृष्टिसे देखे तो वह उष्ण दिखाई देता है; फिर भी इस अवस्थाके समय पानीमें शीतलस्वभाव भरा है, यदि ऐसा विश्वास करे तो फिर पानी

को ठण्डा करके पी सकता है और अपनी प्यास बुझा सकता है। इसी प्रकार आत्माको निमित्ताधीन दृष्टिसे देखें तो वह विकारी दिखाई देता है, किन्तु उसके स्वभावमें विकार नहीं है। क्षणिक विकारी अवस्थाके अतिरिक्त उसका सम्पूर्ण स्वभाव अखण्ड, ज्ञायक, निर्विकारी है। ऐसा स्वभाव जानकर जो स्वमें स्थिर होता है उसे सहजानन्दकी प्राप्ति होती है।

एक ही बात अनेक बार भिन्न भिन्न प्रकारसे कही जाती है, इसलिये उससे उकताना नहीं चाहिये, किन्तु उसके प्रति महिमाका भाव होना चाहिये। जैसे शरीर पर राग है इसलिये अनादिकालसे बारम्बार रोटी इत्यादिके खानेसे जीव उकताता नहीं है, क्योंकि उसे विश्वास है कि इससे शरीर टिका रहता है; इसीप्रकार आत्माको समझना चाहिये और उसीकी महिमामें एकाग्र होना चाहिये। यही सुखका उपाय है। उस उपायको प्राप्त करनेके लिये बारम्बार प्रेमसे उसका वास्तविक स्वरूप सुनना चाहिये और यह विश्वास करना चाहिये कि बारम्बार परिचय करनेसे ही यह तत्त्व समझमें आयेगा।

केवलज्ञान अर्थात् पूर्ण निर्मल ज्ञानकी अवस्था, जिसका स्वभाव ज्ञान है उसमें कुछ न जाने ऐसा नहीं होता, क्रम क्रमसे जानना नहीं होता। उसमें एकसाथ सबको (स्व-परको) जाननेका सामर्थ्य एक समयमें ही होता है। केवलज्ञानमें तीनकाल और तीनलोकके सर्व पदार्थ उनकी समस्त पर्यायों सहित एक समयमें एक-साथ जाने जाते हैं, ऐसा केवलज्ञानका स्वभाव प्रत्येक चैतन्यमें प्रति-समयमें शक्तिरूपसे है। केवलज्ञानमें भूतकालकी अनन्त पर्यायें और भविष्यकी अनन्त पर्यायें वर्तमानकी ही भांति प्रत्यक्षरूपसे जानी जाती हैं। उसमें वर्तमान पर्याय जिसप्रकार वर्तमानमें रहती है उसी-प्रकार जानता है, और भूत-भविष्यतकी पर्याय जिसप्रकार हो गई और होगी उसरूपसे जानता है; किन्तु उन्हें वर्तमान जैसी ही प्रत्यक्ष जानता है। अब सम्यग्दृष्टि जीवने भी तीनों लोककी पर्यायका सामर्थ्य वर्तमान द्रव्यमें विद्यमान है, उस सम्पूर्ण द्रव्यको प्रतीतिमें लिया है।

केवलज्ञानमें भूत-भविष्यकी अनन्त पर्यायें प्रत्यक्ष जानी जाती हैं, तब सम्यग्दर्शन होनेपर सम्यग्ज्ञानमें वह भूत-भविष्यकी पर्यायें परोक्षरूपसे जानी जाती हैं, किन्तु केवलज्ञानी जैसा जानता है वैसा ही वह जानता है, मात्र प्रत्यक्ष-परोक्षका भेद है। जैसे केवलज्ञानी स्व-परकी पर्यायको प्रत्यक्ष जानता है, उसीप्रकार सम्यग्ज्ञानमें भी स्व-परकी पर्याय परोक्षरूपसे जानी जाती है।

ज्ञानका ऐसा स्वभाव है कि ज्ञान स्वको जानता है और जो राग-द्वेष, पुण्य-पापकी वृत्ति होती है उसे भी जानता है। इसप्रकार स्वको और परको जाननेका ज्ञानका दुगुना सामर्थ्य है। ज्ञानगुण स्व-परको जानने वाला है, किसीमें अच्छा-बुरा मानकर अटकने-वाला नहीं है। जो यह जानता है कि मैं रागी हूँ, मैं देहादि परका काम करनेवाला हूँ, पर मुझे सहायता पहुँचाता है, उसने अपनेको परके साथ एकमेक माना है, अर्थात् वह यह नहीं मानता कि उसमें परसे भिन्न धर्मकी शक्ति है। जो परसे पृथक्त्व है सो स्वमें एकत्व है। परसे पृथक्त्वकी श्रद्धामें परसे पृथक् करनेकी पूर्ण शक्ति है। ऐसा अनंत-कालसे नहीं समझा, इसीलिये भवभ्रमण कर रहा है। वस्तुकी महार्घ्यता बताकर स्वभावकी महिमा दरशायी है। आत्माका परसे भिन्न स्वतंत्र रूप जैसा है वैसा ही यहाँ कहा जाता है। यह धर्मके प्रारंभ की सबसे पहली बात है, ऊँचे-तेरहवें गुणस्थानकी बात नहीं है। जिसने शुद्ध-ज्ञायक भावको लक्षमें लिया उसके मोक्षमार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा जो नहीं समझता उसका भवभ्रमण दूर नहीं होता, इसलिये प्रथम सत्समागमसे यथार्थ समझकर एकबार सत्यको स्वीकार करे कि मैं विकार रहित, निर्मल हूँ तो उसे पूर्ण ज्ञानानन्दस्वभावकी निर्मलता प्रगट होती है।

सूक्ष्म और यथार्थ विषयको समझनेके लिये अत्यन्त तीव्र और सत्पुरुषार्थ चाहिये।

यदि निश्चयरूपसे स्वको लक्षमें ले तो शान्ति अवश्य प्राप्त हो। यदि परवस्तुमें राग-द्वेष, इष्ट-अनिष्ट बुद्धि करे तो अशांति हो। जो यह मानता है कि परमें सुख है वह परको और स्वको एक

मानता है। जो ज्ञायकमात्र, निर्मलस्वभावी अपने स्वरूपको भिन्न नहीं मानता वह परमें अच्छा या बुरा मानकर अटक जाता है। विषय—शब्द, रूप, रसादि तथा विकारको अपना माननेवाला भिन्न ज्ञायकमात्र आत्माको नहीं मानता। उस मिथ्यादृष्टिका विषय 'पर' है और सम्यग्दृष्टिका विषय (लक्ष) 'स्व' है। वर्तमान क्षणिक विकार मात्रके लिये मैं नहीं हूँ, मैं तो विकारका नाशक, अखण्डानंद, चैतन्य-मात्र, निर्विकारी हूँ ऐसा त्रिकाली ध्रुवस्वभावको अपना मानना सो सम्यग्ज्ञान है। अज्ञानीको यह खबर नहीं है।

भवसे छूटना हो, पुण्य-पापकी पराधीनतासे मुक्त होना हो, पूर्ण स्वतंत्र, सहजात्मस्वभाव, अखण्डानन्द आत्मभाव प्रगट करना हो तो इसे समझे बिना नहीं चल सकता, खूब मनन और माहात्म्य करना चाहिये।

परसे मुझे लाभ है, मैं परका कुछ कर सकता हूँ, पर मेरे आधीन है; ऐसी बुद्धि जबतक रहती है तबतक परमें इष्ट-अनिष्टका भाव दूर नहीं होता। इसप्रकारकी मान्यताकी लोकको छोड़कर निरालम्बी स्वाधीन आत्मस्वभावको मानना ही होगा। मनके अवलंबन-से धर्म नहीं है, जो शुभ विकल्प उठता है वह भी आत्मगुणरोधक है। पुण्य-पापरूप विकारसे आत्मगुणको सहाय होती है, ऐसा माननेवाला गुण और विकारको एक मानता है; उससे विपरीत स्वतंत्र-निर्विकारी आत्मस्वभावको जिसने जाना है उसने मुक्त होनेका उपाय, उसकी श्रद्धा और उसमें स्थिरता इत्यादि सब जान लिया है।

शुभाशुभभावसे पुण्य-पापकी उत्पत्ति होती है, फिर भी सारा आत्मा उस क्षणिक विकारमें एकमेक नहीं होता, इसलिये परसे भिन्न, स्वभावतः नित्य, शुद्ध आत्माकी निरन्तर उपासना करना चाहिए, यही सम्यग्दर्शन है, स्व-परकी पृथक्ताका जो विवेक है सो सम्यग्ज्ञान है और जो आत्मशुद्धिमें स्थिरता है सो सम्यक्चारित्र है। इसका बारंबार मनन-मंथन करना चाहिये और स्वभावमें स्थिर रहना चाहिये।

लोगोंको स्वरूपकी रुचि नहीं है, किन्तु पुण्य-पाप विकार, बन्ध—परकी रुचि है। धर्मके नाम पर जैसा अनन्तबार माना है यहाँ पर उससे भिन्न कहा जाता है। आत्मा देहादिसे पर है; मन, वाणी, देहादि परवस्तुकी एक भी क्रिया वह नहीं कर सकता। विकारको अपना मानता है किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता। परसे लाभ-हानि होती है, ऐसी विपरीत मान्यता बना रखी है उसे सम्यक्-मान्यताके द्वारा नष्ट करना पड़ेगा।

अब आत्माके एकत्वस्वभावका वर्णन करते हैं। आत्मा ज्ञायक है, स्वपरप्रकाशक है, फिर भी उसका ज्ञान परके अवलम्बनसे रहित है। आत्माके सहज स्वभावको समझे बिना जीव नववें ग्रैवेयक-में अनन्तबार हो आया, शुभभावके द्वारा जो व्रतादि पुण्यक्रिया हुई उसमें अटक गया, मात्र बाह्यक्रियाके ऊपर लक्ष रखा, बहुत ऊँचा पुण्य बांधकर अनन्तबार देव हुआ, किन्तु मैं निरालंबी, ज्ञायकमात्र हूँ, परका कर्ता-भोक्ता नहीं, अखण्ड स्वतंत्र ध्रुवस्वभावी हूँ, इसप्रकार नहीं माना। वर्तमानमें भी शक्तिरूपसे पूर्ण हूँ, निरपेक्ष हूँ, कृतकृत्य हूँ, ऐसा नहीं माना। बाह्य शुभप्रवृत्तिके ऊपर लक्ष रहा, परलक्षसे कषाय कम की, पुण्य बांधकर देवलोकमें गया, किन्तु भव कम नहीं हुए। मैं विकारी-अवस्थामात्र नहीं हूँ, मैं तो अनन्त ज्ञानानन्दकी मूर्ति हूँ, ऐसा विश्वास नहीं हुआ, स्वलक्षको भूलकर मात्र शुभभाव किया, उसके फलस्वरूप नाशवान संयोगोंकी प्राप्ति हुई, वह अल्पकालमें छूट जाती है। परसे भिन्न आत्मस्वभावको अन्तरंगसे न तो विचारा है और गुरुज्ञान-से समझा है। परका थोड़ा सा आश्रय चाहिये, जिसने ऐसा माना उसने आत्मामें स्वतंत्र गुण नहीं है ऐसा माना है। किन्तु यदि आत्मामें गुण न हो तो आयगा कहाँसे? प्रत्येक जीवमें ज्ञान आनन्द स्वभावसे विद्यमान है, उसपर लोग लक्ष नहीं देते, मात्र शुभाशुभ प्रवृत्तिको ही देखते हैं। द्रव्यस्वभाव पूर्ण है, परमें सर्वथा अक्रिय है, उसकी महिमा को नही जानते। जीव खूँटेसे बँधी हुई भैंसको जो खूँटेके इधर-उधर घूमा करती है, उसकी क्रियाको शक्तिको देखता है, किन्तु दृढ़तापूर्वक

जो खूँटा गड़ा है वह अक्रिय दिखाई देता है, फिर भी उसमें जो शक्ति विद्यमान है उसे नहीं देखता । इसी प्रकार आत्मा त्रिकाल शक्तिसे परिपूर्ण है, उसपर लोगोंकी दृष्टि नहीं है, मात्र क्षणिक अवस्थामें होनेवाले विकार पर ही दृष्टि है; नित्य, ध्रुव, अखंडानन्द चिन्मूर्ति, शाश्वत सुदृढ़ खूँटा (आत्मा) निश्चलरूपमें विद्यमान है, सो लोग उसे नहीं देखते । जो यह मानता है कि मैं मन-वाणी और देहकी प्रवृत्ति करता हूँ तो होती है, परसे लाभ-हानि होती है, निमित्तसे मेरा काम होता है, मानों वह यह मानता है कि मैं निर्माल्य हूँ ।५

यदि उपादान तैयार हो, श्रद्धा-ज्ञान और स्थिरतारूप अन्तरंगका प्रयत्न हो तो उसके अनुकूल ऐसे निमित्त उपस्थित होते ही हैं । निमित्तसे स्वकार्यकी सिद्धि नहीं होती । यदि निमित्त सहायक हो तो निमित्तका और अपना एकत्व होजाय । अपने स्वभावमें कोई भी शक्ति नहीं है ऐसा मानने वाला यह मानता है कि यदि अन्यका अवलंबन मिले तो मेरा गुण प्रगट होजाय; इसका यह अर्थ हुआ कि उसे निरावलंबी, निरपेक्ष आत्मतत्त्व पर विश्वास नहीं है । जबतक पूर्ण वीतरागता प्रगट नहीं हुई और पुरुषार्थकी कमीसे निजमें अखण्डरूपमें स्थिर नहीं रह सकता, तबतक धर्मात्माके अशुभभावसे बचनेके लिये सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी भक्ति, पूजा, प्रभावना व्रतादिके शुभ-भाव होते हैं, किन्तु वह उस शुभभावको कभी सच्चा धर्म नहीं मानता, वह अरागी स्वभावको सन्मुख रखकर जब शुद्धमें नहीं रह सकता तब शुभमें रहता है । किन्तु व्रतादिका शुभभाव भी राग है, उससे बंधन है, अविकारी आत्मस्वभावको उससे कुछ लाभ नहीं है, इसप्रकार उसके सम्यक्-प्रतीति है । शुभभावसे पुण्यबन्ध होता है उसपर ज्ञानीका आश्रय नहीं है; मात्र निर्मल, अबन्ध स्वभाव पर ही आश्रय है-लक्ष है । जब जीव निरावलम्बी अरागी स्वभावकी श्रद्धा करता है तब तत्क्षण ही समस्त राग दूर नहीं हो जाता । दृष्टि अविकारी-ध्रुव-स्वभाव पर पड़ी है उसके बलसे अवशिष्ट अल्परागको तोड़कर अल्पकालमें केवलज्ञान प्रगट करेगा, ऐसी प्रतीति धर्मात्माके पहलेसे

ही होती है। गुण आत्मामें है, ऐसा न मानकर परकी सहायताके द्वारा गुण प्रगट होता है, जो ऐसा मानता है वह निमित्ताधीन दृष्टिवाला है और वही अनादिकी स्व-हिंसा है। यहाँ यह प्रश्न होता है कि आत्माका शुद्धस्वरूप कैसा है? क्या उसे जानना ही चाहिये? क्या उसे जाने विना मुक्ति नहीं होती?

आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि हे भाई! सुनो, तुम प्रभु हो, सिद्ध परमात्माके समान हो, शक्तिसे मुझमें और तुममें सिद्धत्व स्थापित करता हूँ। किन्तु जिसके अभिप्रायमें यह बात है कि मैं रंक हूँ, कोई मेरी सहायता करे, तो उसके अन्तरंगमें यह महिमा कहाँसे आ सकती है कि परमात्मत्व मुझमें विद्यमान है? तू वर्तमानमें भी परिपूर्ण है, विकारका नाशक है, ऐसी प्रतीति तो कर। उसके वाद यदि परके ऊपर लक्ष जानेसे अल्पराग हो जाय और यदि उस समय देव, शास्त्र, गुरुकी उपस्थिति हो तो उसपर शुभभावका निमित्तारोपण किया जाता है। अपने भावके अनुसार संयोगमें निमित्तका आरोप होता है। स्वयं पापभाव करे, स्त्री, धन, देहादि पर राग रखे तब उन वस्तुओंको अशुभभावका निमित्त कहा जाता है, किन्तु निमित्त परका कुछ करता-कराता नहीं है। धर्मात्माकी दृष्टि शुभभाव पर नहीं है, फिर वह शुभभाव चाहे देव, गुरु, शास्त्रकी भक्तिका हो या व्रतादिका हो, किन्तु वह उसे परमार्थसे तो हेय ही मानता है। शुभभावका निमित्त आत्मस्वभावमें सहायक नहीं है, अपना निर्मल स्वभाव ही सहायक है, इस प्रकारकी मान्यताका वल मोक्षका मूल है। निर्मलस्वभावकी प्रथम अन्तरंग समझसे हाँ कह; फिर विशेष दृढ़ताके लिये वारंवार उसका ही श्रवण-मनन और सत्समागमसे उसीकी रटन होनी चाहिये।

संसारमें भी जव पहले वालक स्कूलमें पढ़नेके लिये वैठता है तव अध्यापक पर ही विश्वास किया जाता है। एकके अंकको अनेकवार लिखनेपर वहुत परिश्रमके वाद उसकी ठीक वनावट आ पाती है किन्तु हाथ जम जानेके बाद फिर दूसरे अंकोंके सीखनेमें वहुत

देर नहीं लगती। ऐसा त्रैराशिक हिसाब नहीं लगाया जाता कि एक-का अंक सीखनेमें इतना समय लगा है तो मैट्रिक, बी. ए. या एम. ए. होनेमें कितना समय लगेगा? इसीप्रकार आत्माका अनादिसे परके ऊपर रुचिका-अज्ञानभावका लक्ष है, उस संसारकी ओरके लक्षको हटाकर आत्मस्वरूपको ओर उन्मुख होनेके लिये पहले सद्गुरु पर विश्वास करना चाहिये, उनका उपदेश बारम्बार अन्तरंगमें पचाना चाहिये। प्रारंभमें यह कठिन मालूम होता है, किन्तु वास्तवमें उसे कठिन नहीं मानना चाहिये।

यथार्थ समझ पूर्वक आत्माके अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभावको एकबार स्वीकार करले और फिर उसीका अभ्यास हो जाय तो उसरूप अवस्था होजाती है अर्थात् आत्माकी शुद्ध अवस्था होजाती है। जो सत्यस्वरूप है वह त्रिकाल परनिमित्तके आश्रयसे रहित है, पूर्ण परमात्म-स्वरूप है। आत्मा परका कर्ता-भोक्ता नहीं है, सदा ज्ञातास्वरूप ही है। इसे स्वीकार करनेपर अन्तरंगसे अनन्त अनुकूल पुरुषार्थ प्रगट होजाता है।

अनादिसे जो अत्यंत अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) है उसे त्रैकालिक सत्यस्वरूपको समझने लिये यह समयसारशास्त्र है। तू शुद्ध परमात्मा है यह बात सर्वप्रथम ही सुनाई जाती है। तू विकाररूप नहीं है, मन, वाणी, देहादिरूप नहीं है, निमित्ताधीन होनेवाला वर्तमान क्षणिक विकार तेरा स्वरूप नहीं है, परनिमित्त तुझे सहायता नहीं करते, क्योंकि तू निमित्तरूप नहीं है और निमित्त तुझमें नहीं हैं। परवस्तु स्वभावमें नहीं है, इसलिये वह लाभ या हानि नहीं कर सकती। तू स्वतंत्र है, निर्मल आनन्दघन है, ऐसा यथार्थ स्वरूप समझे विना चारित्र भी यथाथ नहीं होता।

यथार्थस्वरूपको समझनेके बाद तुरंत ही राग-द्वेष सर्वथा दूर नहीं होजाते। ज्ञानीके अल्पराग रहता है, किंतु उसका स्वामित्व नहीं होता। दृष्टिमेंसे राग-द्वेषका नाश करनेपर संपूर्ण संसारपक्षका माहात्म्य छूट जाता है।

जैसे बैठकमें कांचका बड़ा सुन्दर झूमर लटक रहा हो और सेठजी (उसके मालिक) उसकी शोभा देखकर प्रसन्न हो रहे हों, इतनेमें अचानक झूमर टूटकर नीचे गिर पड़े और उसके टुकड़े होजायें तथा उस समय घरमें कोई दूसरा व्यक्ति उपस्थित न हो, तब सेठजी विचार करते हैं कि इन टुकड़ोंको जल्दी बाहर फेंक देना चाहिये, नहीं तो बच्चोंको लग जांयगे। यों विचार कर स्वयं कांचके टुकड़े हाथमें लेते हैं और उन्हें बाहर फेंकने जाते हैं, किन्तु सेठजीका मकान बहुत बड़ा है, इसलिये बाहर तक पहुँचमें काफी समय लग जाता है; उतने समयके लिये वह उन कांचके टुकड़ोंको अपने हाथमें लिये रहते हैं, फिर भी उन्हें अपने पास रखनेका भाव नहीं है, अर्थात् उन्हें पकड़े रखनेमें उत्साह या चाह नहीं है; जिस झूमरकी शोभाको देखकर वह स्वयं प्रसन्न होते थे उसके प्रत्येक टुकड़ेको अब बाहर फेंक देना चाहते हैं। यह तो मात्र दृष्टांत है; इससे यह सिद्धान्त निकलता है कि अज्ञानदशामें जीव विकारको-पुण्यके संयोगको अपना मानकर उसमें फूलाफूला फिरता था-आनन्द मानता था, किन्तु जब उसे भान हुआ कि 'विकार मेरा स्वरूप नहीं है, पुण्यके संयोगमें मेरी आत्मशोभा नहीं है, मैं तो अनन्त आनंदका रसकन्द हूँ' तब उसे शुभभावका-पुण्यका भाव नहीं होता। पुरुषार्थकी हीनतासे रागद्वेष, पुण्यपापके निकालनेमें समय लगता है, तथापि वह अल्प रागादिमें लगा हुआ दिखाई देनेपर भी उनमें उसका स्वामित्व नहीं होता। उसकी तुच्छता उसे मालूम होती है, इसलिये वह उसे रखनेकी इच्छा नहीं करता। तीनकाल और तीनलोकके समस्त पदार्थोंको जाननेका मेरा स्वभाव है; इसप्रकार स्वभावकी महत्ता प्रतीत होनेपर परका कर्तृत्व और स्वामित्व दूर होजाता है। स्वभावका बल आनेके बाद रागका भाव अल्पकाल रहता है, किन्तु वह रखनेके लिये नहीं, निकालन—दूर करनेके लिये ही है। यद्यपि राग दूर करनेंमें विलम्ब होता है, फिर भी एक-दो भवमें तीव्र पुरुषार्थ उत्पन्न करके पूण मोक्षदशा प्रगट कर ही लेगा। वस्तुका निर्मलस्वभाव जाना कि

तत्काल ही त्यागी हो जाय, ऐसा सभीके नहीं बनता; किन्तु दृष्टि अखंड शुद्धस्वभाव पर गई है, उस दृष्टिके बलसे तीव्र स्थिरता करके, अल्पकालमें समस्त विकार दूर करके पूर्ण शुद्ध हो जायगा ।

अज्ञानी बाह्य संयोगसे, पुण्यादिसे अपनी शोभा मानता है और विकारको अपना करना चाहता है, किन्तु विकारके शोथसे कुछ मोटा दिखाई देता हो तो वह वास्तवमें निरोगतासे पुष्ट हुआ नहीं माना जाता, इसीप्रकार पुण्यबन्ध और विकारके शोथसे आत्मपुष्टि नहीं होती, पुण्यबंध और विकारके शोथसे रहित आत्माकी निरोगता ही सच्ची निरोगता है ।

इस गाथामें आत्माको शुद्ध, ज्ञायक कहकर मोक्षका माणिकस्थम्भ स्थापित किया है। जैसे विवाहसे पूर्व माणिक-स्तंभ रोपा जाता है, उसीप्रकार जिसे मोक्षकी लगन लगी है उसे इस गाथामें आत्माका जैसा यथार्थ स्वरूप बताया है वैसा ही प्रारम्भमें जानना चाहिये ।

समयसारमें कहा है कि आत्माकी महत्ता ज्ञात होनेसे परकी महत्ता चली जाती है ।

आत्माकी जो स्वतंत्र, शुद्ध, पूर्णदशा प्रगट होती है, वही मोक्ष है । वह मोक्ष बाहरसे नहीं आता, किन्तु स्वभावमें ही वह पूर्ण, निर्मलदशा शक्तिरूपसे विद्यमान है। उसका मूल एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है । उसके बिना जीव धर्मके नामपर व्रत, क्रिया, तपश्चर्या इत्यादि सभी कुछ अनन्तबार कर चुका है । बाह्यप्रवृत्तिके द्वारा आत्मामें गुण प्रगट होगा, शुभविकल्पकी सहायतासे गुण होगा, ऐसा मानकर इस जीवने अनन्तकालमें जितना जो कुछ किया है उसका फल संसारभ्रमण ही हुआ है ।

कोई अज्ञानी प्रश्न करता है कि—"क्या हमारे व्रत-तपादिकका कुछ भी फल नहीं है ?" उसका उत्तर यह है कि—व्रत-तपादिमें यदि कषाय मन्द हो, दया, दान, भक्तिमें राग-तृष्णा घटाये तो पुण्य बँधता है, किन्तु वह विकार है, इसलिये अविकारी आत्माका धर्म नहीं है, और इसीलिये उससे मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता ।

प्रश्न:—प्रभो! उस शुद्धात्माका स्वरूप समझाइये कि जिसकी रुचि होनेसे पुण्य–पाप बन्धकी सहजरूप तुच्छता ज्ञात हो ?

उत्तर:—खीरका स्वाद चखनेके बाद बासी खिचड़ीका स्वाद लेनेकी वृत्ति छूट जाती है; उसकी तुच्छता मालूम होनेपर उसमें रस नहीं रहता। इसीप्रकार आत्माके शुद्धस्वभावका अनुभव होनेपर आत्मिक सुखका संवेदन होकर सांसारिक विषय-सुखोंकी तथा पुण्य-पापकी तुच्छता प्रतिभासित होने लगती है, इसलिये उसमें रस नहीं पड़ता।

अशुभको छोड़कर शुभभाव करनेका निषेध नहीं है, किन्तु उस शुभभावको भी अभिप्रायमें आदरणीय न माने तो वह सहज ही तुच्छ भासित हो, और उसकी महिमा अन्तरंगसे छूट जाय। वह हठसे नहीं छूटती।

प्रश्न—आत्माको ज्ञायक कहनेमें जैसे ज्ञातृत्व आता है, उसमें परवस्तुके जाननेका स्वभाव है, तब क्या परके अवलम्बनसे उसका ज्ञान होता है ?

उत्तर—जैसे दाह्य जो सोना है, तदाकार होनेसे अग्निको दाहक कहा जाता है, किन्तु अग्नि सोनेके रूपमें (सोनेके आकारमें) परिणत नहीं होजाती,—सोना अलग पड़ा रहता है और अग्नि निकल जाती है, इसीप्रकार ज्ञायक आत्मामें परवस्तुका आकार ज्ञात होता है, सो वह तो अपनी ज्ञानकी ही निर्मलता दिखाई देती है। जैसे दर्पणकी स्वच्छतामें परवस्तुकी उपस्थिति जैसी है वैसी स्वच्छ झलकती तो है किन्तु उसमें परवस्तुका आश्रय नहीं है। इसीप्रकार ज्ञानमें शब्द, रस, रूप, गन्ध, स्पर्श इत्यादि मालूम होते हैं, उन्हें जानते समय भी ज्ञान ज्ञानको ही जानता है परको नहीं जानता; क्योंकि ज्ञान ज्ञेयोंमें नहीं जाता, किन्तु वह सतत ज्ञायकरूपमें रहता है। पर (ज्ञेय) सहज जाना जाता है, ज्ञानका ऐसा स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। ज्ञान ज्ञानमें रहकर अनेक ज्ञेयोंका ज्ञान करता है। यह ज्ञानकी स्वच्छताका वैभव है।

ऊपरके दृष्टांतमें अग्निके साथ लकड़ीको न लेकर सोना लेनेका कारण यह है कि सोना अग्निसे नाशको प्राप्त नहीं होता लकड़ी नाशको प्राप्त होजाती है। ज्ञानमें ज्ञात होनेसे ज्ञेय पदार्थ कहीं नाशको प्राप्त नहीं होते, किन्तु वे ज्योंके त्यों बने रहते हैं। इसीप्रकार सोना भी ज्योंका त्यों बना रहता है, इसलिये उसे दृष्टांतमें लिया है।

जैसे सोनेकी अशुद्धता अग्निमें नहीं आती, उसीप्रकार पर-ज्ञेयोंको जाननेसे वे परज्ञेय स्वभावमें नहीं आते। जैसा निमित्त उपस्थित होता है वैसा ही ज्ञान होता है, इसलिये परके अवलम्बनसे ज्ञान हुआ मालूम होता है, परन्तु उस समय भी ज्ञान तो ज्ञानसे ही हुआ है। निमित्तसे ज्ञान होता हो तो सबको एक-सा ज्ञान होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये ज्ञान परावलम्बी नहीं है। ज्ञानमें जब ज्ञेय जाना जाता है तब ज्ञान अखण्ड-भिन्न ही रहता है और प्रस्तुत ज्ञेयपदार्थ भी उसके अपने भिन्नस्वरूपसे अखंड रहता है। यथा:—

(१) ज्ञेय पदार्थ खट्टा हो तो ज्ञान उसे खट्टा जानता है, किन्तु इससे ज्ञान खट्टा नहीं हो जाता।

(२) पच्चीस हाथका वृक्ष ज्ञानमें आनेसे ज्ञान उतना लम्बा नहीं हो जाता।

(३) ज्ञान पुण्य-पाप और रागको जानता तो है, किन्तु वह उसरूप नहीं हो जाता।

ऊपर मात्र थोड़े दृष्टांत दिये हैं, इसीप्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

यद्यपि ज्ञान ज्ञेयाकार हुआ कहलाता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत-अशुद्धता नहीं है। ज्ञान ज्ञेयके आकाररूप होता है—ऐसा अर्थ ज्ञेयाकार का नहीं है; किंतु जैसा ज्ञेय हो, ज्ञान उसे वैसा ही जानता है, इस-लिये उसे ज्ञेयाकार कहा है। ज्ञान सदा ज्ञानगुणसे ही होता है और वह ज्ञातास्वरूपसे ही प्रवृत्ति करता है।

अज्ञानीकी मान्यता परके ऊपर है, इसलिये वह मानता है

कि मुझे परके अवलंवनसे ज्ञान होता है। इसप्रकार वह अपनी स्वाधीनसत्ताका नाश करता है, और यही अनादि संसारका मूल है। वह मानता है कि अक्षर, पृष्ठ और उपदेशके शब्दोंसे मेरा ज्ञान होता है, यह उसकी अनादिकी विपरीत मान्यता है। शब्दके अक्षर तो एक के बाद दूसरे क्रमशः उत्पन्न होते हैं, उसके संयोगमें भी क्रम है, किन्तु ज्ञान सबका अखण्ड होता है, इसलिये शब्दादिसे ज्ञान नहीं होता। ज्ञान शब्दमेंसे नहीं आता, किन्तु शब्दादि जैसे निमित्त हों, वैसा ज्ञान जान लेता है; ऐसा उसका सहजस्वभाव है। जाननेकी शक्ति आत्माकी है। पुस्तक, पृष्ठ, शब्द आत्माके सहायक नहीं हैं। पुस्तकोंके बहुतसे पृष्ठ पढ़ डालूं तो ज्ञान अधिक बढ़े, पौष्टिक भोजन करूँ तो मस्तिष्क तर रहे और फिर ज्ञान भलीभाँति विकसित हो, बहुतसे ज्ञेयोंको जानलूं तो मेरे ज्ञानका विकास हो, खूब देशाटन करूँ, दर्शनीय स्थानोंको देखूँ तो ज्ञानका विकास हो, अनेकोंके समागममें आऊं अनेक भाषाएँ जानूँ, कई उपन्यास पढ़ूँ तो बुद्धि खूब विकसित हो, इसप्रकार परनिमित्तके कारणसे ज्ञानका विकास माननेवाला मिथ्यादृष्टि है। उसे अपने आत्माके सामर्थ्यकी प्रतीति नहीं है, परसे भिन्न आत्माकी श्रद्धा नहीं है। निमित्तसे मुझे गुण होगा ऐसा माननेवाला यह मानता है कि अनन्त पर-पदार्थ राग करने योग्य हैं, उसे रागरहित आत्माके स्वभावकी श्रद्धा नहीं है। जैसे मिठास गुड़का स्वभाव है, गुड़ और मिठास अभिन्न हैं, गुड़में मिठास बाहरसे नहीं आती; इसीप्रकार ज्ञान आत्माका स्वरूप है अर्थात् ज्ञान और आत्मा अभिन्न हैं, इसलिये ज्ञान परपदार्थसे नहीं होता अथवा परपदार्थमें नहीं जाता। गुण-गुणीसे कभी भी भिन्न नहीं होता, ऐसा कहकर प्रत्येक वस्तुकी स्वतंत्रता घोषित की जाती है। 'तू सदा ज्ञाता-दृष्टास्वरूप, पूर्ण प्रभु है,' यों कहकर सर्वज्ञदेव तेरी स्वतंत्रता घोषित करते हैं। जो ज्ञानके अतिरिक्त दूसरा कोई भी कर्तव्य अपना मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

जानना गुण है, जाननेमें राग-द्वेष नहीं है। शुभाशुभ राग भी

ज्ञानका ज्ञेय है, इसलिये वह ज्ञानसे भिन्न है। जिसने परसे भिन्न अखण्ड-ज्ञायकस्वभाव निजमें एकरूपसे जाना उसे कदाचित् अल्प राग-द्वेष हो तो वह भी वास्तवमें उस ज्ञानमूर्तिका ज्ञेय है।

शब्दके द्वारा ज्ञान होता है, परको जानते जानते ज्ञान प्रगट होता है, यह बात तीनकाल और तीनलोकमें मिथ्या है। आत्मामें जाननेरूप क्रियाके अतिरिक्त जो भी कुछ विरोधभाव मालूम होता है वह सब पर है। यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञान पर को जानता है, इसलिये परावलम्बी है, तो केवलज्ञान सबको जानता है इसलिये उसे भी पराधीन मानना पड़ेगा। ज्ञान पराधीन नहीं है, ज्ञान स्वयं ही ज्ञेय-य को जानने पर ज्ञायकरूपमें मालूम होता है। जब शब्द मालूम होते हैं तब भी स्वयं ज्ञायकरूप मालूम होता है। ज्ञान तो प्रगट ज्ञानरूपमें ही रहता है।

प्रश्न—क्या आत्माके आकार है?

उत्तर—हाँ, प्रत्येक वस्तुके अपना अपना आकार होता है, और आत्मा भी एक वस्तु है, इसलिये उसके भी आकार है ही। प्रत्येक वस्तु अपने आकाररूप है, परके आकाररूप नहीं है। आत्माके चैतन्य-स्वरूप अरूपी आकार है। जहाँ आत्माको निराकार कहा गया है वहाँ ऐसा समझना चाहिये कि उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्शयुक्त जड़वस्तुकी तरह रूपी आकार नहीं है, अर्थात् रूपी पुद्गलकी अपेक्षासे निराकार है। वस्तु अरूपी है, इसलिये उसके द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भी अरूपी हैं, तथापि वह वस्तु अपने आकारवाली है। आत्मा चैतन्य-आनंदकी मूर्ति है। वह अभी वर्तमान शरीरकारसे शरीरके बराबर क्षेत्रमें विद्यमान है, फिर भी शरीरसे भिन्न अपने गुणके आकार है।

कस्तूरीवाला मृग जैसे कस्तूरीकी सुगंधिको बाहर ढूँढ़ता फिरता है, क्योंकि वह ऐसा मानता है कि मैं तुच्छ डरपोक प्राणी हूँ, मुझमें ऐसी सुगन्ध कैसे हो सकती है? इसप्रकार अपनी महत्ताको भूलने से बाह्यमें भटकता है। उसीप्रकार आत्मामें पूर्ण ज्ञानगुण भरे पड़े हैं, उन्हें बाहर ढूँढ़ने वाला यह मानता है कि मुझमें कुछ शक्ति नहीं है।

यदि मैं परके ऊपर लक्ष्य होनेसे कुछ करूँ तो गुण प्रगट हो; वह ऐसा मानता है इसलिये ऐसी महत्ता उसे प्रगट नहीं होती कि 'मैं पूर्ण प्रभु हूँ', और ऐसा नहीं माननेसे परमें महत्ता मानकर उसमें ही भटकता रहता है। मैं शुद्ध हूँ, पूर्ण हूँ, अकेला हूँ–ऐसी श्रद्धा स्वतंत्रता-का उपाय है।

यह वस्तु अचिंत्य है। तीर्थंकर भगवानने जगत्‌के समक्ष अपूर्व वस्तु स्पष्टरूपमें रखी है, उसे कुन्दकुन्दाचार्यने अमृतके पात्रमें भरकर समयसारमें प्रवाहित किया है। यदि वस्तुतत्त्व जल्दी समझमें न आये तो उसका पुनः पुनः परिचय करना चाहिये। समझनेवाला अपनेको बराबर समझ सकता है। मन–इन्द्रियोंसे परे अरूपी ज्ञाता होनेसे आत्मा सूक्ष्म है, वह वाणीसे नहीं पकड़ा जाता–अरूपी ज्ञानके द्वारा ही पकड़ा जाता है। जिसका स्वभाव अरूपी है, जिसके गुण-पर्याय अरूपी हैं जिसका सर्वस्व अरूपी है, उसे रूपीके द्वारा जानना चाहे तो सत्यस्वरूप नहीं जाना जा सकता। मन, वाणी, देहादिक रूपी-की प्रवृत्तिमें अरूपी ज्ञानमय आत्मा नहीं जाना जा सकता।

रागादि पर विकारको जाननेसे आत्मा रागरूप, पररूप, परके गुणरूप, परकी किसी अवस्थारूप नहीं हो जाता। परवस्तुकी उपस्थिति ज्ञानमें ज्ञेयरूपसे ज्ञात हुई कि अज्ञानी यह मानता है कि मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं देह–इन्द्रिय–जड़की क्रिया करनेवाला हूँ, पर मेरे आधारसे है, मैं परके आधारसे हूँ, किन्तु परमार्थसे उसरूप कभी भी नहीं होता। जैसे दीपक घटपट इत्यादि परको प्रकाशित करते समय भी प्रकाशसे अभिन्न और घटपटादिसे भिन्न, दीपक ही रहता है उसी प्रकार आत्मा परको जानते समय भी ज्ञानसे अभिन्न और परसे भिन्न ज्ञायक ही रहता है दीपकको ज्ञान नहीं है, जब कि आत्माको ज्ञान है। अज्ञानी आत्मा अपनेको भूलकर यह मानता है कि अपना ज्ञान परसे आता है, किन्तु दीपककी तरह ज्ञायकका कर्ता–कर्म ज्ञायकसे अभिन्न होनेसे और परभावोंसे भिन्न होनेके कारण; शरीर, मन, वाणी तथा राग–द्वेषकी जितनी अवस्था होती है

उसके ज्ञायकरूपमें आत्मा सदा उससे भिन्न ही रहता है।

जो स्वतंत्ररूपसे रहकर करे सो कर्ता है। ज्ञायकस्वभावसे शरीरादिक भिन्न हैं, जहाँ ऐसा जाना कि जाननेवाला स्वयं कर्ता है और ज्ञायकरूपमें अपनेको जाना इसलिये स्वयं ही कर्म है तथा कर्ताको ज्ञायकभावकी परिणति ज्ञाताकी क्रिया है। वे तीनों (कर्ता-कर्म-क्रिया) ज्ञायकरूपसे अभिन्न हैं।

सम्यग्दृष्टि जाननेकी क्रिया निजमें करता है। अज्ञानी मानता है कि मैं परसे जानता हूँ, किन्तु मात्र ज्ञानमें ही कर्ताका कार्य है, परमें नहीं, तथा परके आधारसे भी नहीं है। परवस्तुके कार्य आत्माके आधीन नहीं हैं। परका बहुत ध्यान रखूँ तो ऐसा हो, इस-प्रकार अज्ञानी मानता है, किन्तु उसकी यह मान्यता सर्वथा मिथ्या है। यदि पुण्यके संयोगसे कभी अपना इच्छित होता हुआ देखता है तो उसका वह अभिमान करने लगता है।

आत्माका कर्ता-कर्मपना दीपकके प्रकाशकी भांति अनन्य है। जैसे दीपक घट पट आदि परवस्तुको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, और अपनेको-अपनी ज्योतिरूप शिखाको प्रकाशित करनेकी अवस्थामें भी दीपक ही है, उसीप्रकार ज्ञायकके सम्बन्धमें भी समझना चाहिये।

ये तो सूत्र हैं, इनमें गूढ़ रहस्य भरा हुआ है। जैसे खुले हुये पत्रमें दो पंक्तियोंमें लिखा हो कि वैशाख सुदी द्वितीयाके वायदेकी ४५०) से ४७५) तकमें एक लाख गाँठ रुईकी लेना है। यद्यपि यह बहुत संक्षेपमें लिखा है तथापि उसमें खरीद देने वाले और उसकी प्रतीति रखनेवाले आढ़तियाकी हिम्मत, विश्वास, रकम और प्रतिष्ठा कैसी और कितनी है यह सब उसका जाननेवाला समझ लेता है। शब्दोंमें यह सब नहीं लिखा है, किन्तु जाननेवाला दोनों व्यापारोका भाव, वैभव और उनकी प्रतिष्ठा इत्यादिको जान लेता है, इसीप्रकार आत्माके पूर्ण केवलज्ञान स्वभावसे कहे गए शास्त्रोंका गूढ़ रहस्य डेढ़ पंक्तिमें सूत्ररूपमें लिखा हो तथापि उसे जाननेवाला सम्यग्ज्ञानी उतनेमेंसे

सब भाव समझ लेता है। इसप्रकार इस छट्ठी गाथामें अर्थकी बहुत गम्भीरता भरी हुई है।

परनिमित्तसे रहित ज्ञानकी अवस्थारूपसे होनेवाला जो है सो कर्ता, और ज्ञायकरूपमें जो अवस्था निजमें हुई सो कर्म है। इसीप्रकार स्वसे एकत्व और परसे भिन्न ध्रुवस्वभावी हूँ, ऐसा अन्तरंगमें निश्चय करना सो सम्यग्दर्शन है। इसीप्रकार निजको निजमें ही देखना सो धर्मका अंश है।

भावार्थः—जैसे अकेले स्वर्णमें अशुद्धता नहीं कही जा सकती, किंतु किसी दूसरी धातुका संयोग हो तो उसके आरोपसे अशुद्धता कही जाती है, उसीप्रकार जीवमें जो अशुद्धता अर्थात् विकार होता है, वह परद्रव्यके संयोगसे होता है। जैसे तांबेके संयोगमें रहने पर भी सोना सोनेरूपसे बदलकर तांबेके रूपमें नहीं हो जाता, उसीप्रकार वर्तमान अवस्थामें परके संयोगसे विकारी होनेपर भी आत्मा सम्पूर्ण विकाररूप नहीं हो जाता। मूल ज्ञायकस्वभावसे निरपेक्ष, अविकारी, शुद्ध ही रहता है।

जैसे-यदि सुवर्णको परके संयोगके समय सर्वथा अशुद्ध ही मानें तो वह शुद्ध नहीं हो सकेगा। वर्तमानमें भी मूल स्वरूप तो सौटंची शुद्ध ही है, ऐसे लक्षसे सोना शुद्ध हो सकता है; इसीप्रकार चैतन्यभगवान आत्मामें वर्तमानमें कर्माधीनतासे होनेवाली मलिनता दिखाई देती है तथापि वर्तमान अवस्थामें भी मूलस्वभाव अखण्ड ज्ञायकरूपसे शुद्ध ही है। इसप्रकार वर्तमानमें पूर्णवस्तुस्वभावरूपसे देखनेसे और उसमें एकाग्रता करनेसे चैतन्यभगवान आत्माकी पूर्ण निर्मलता प्रगट होती है।

प्रश्नः—भगवान आत्माका लक्ष करनेके लिये किससे कहा जाता है ?

उत्तरः—जो भगवान हो गये हैं उन्हें तो कुछ करना शेष है नहीं, इसलिये उनके लिए यह कथन नहीं है; किन्तु जो भगवान होना चाहते है, वैसे साधकोंके लिए यह कथन है। पूर्णदशा होनेसे पूर्व

पूर्ण शुद्धकी पहचान करना आवश्यक है। जिसे स्वाधीन होना है उसे पूर्ण स्वाधीनताके उपायकी शुद्धदृष्टि बताई जाती है, और यही सर्व प्रथम धर्मका उपाय है।

जैसे सफेद वस्त्र मलिन अवस्था वाला दिखाई देता है, उस समय बालक भी जानता है कि जो मैलका भाग है सो वह वस्त्रका नहीं, किन्तु परका संयोग है। वस्त्रका मूल स्वरूप वर्तमानमें भी सफेद है, ऐसी दृष्टि पहलेसे रखकर मैल दूर करनेका उपाय करता है, इसीप्रकार आत्मामें वर्तमानमें जो मलिनता मालूम होती है वह क्षणिक और निमित्ताधीन है, स्वभावसे तो वह निर्मल ही है। इसप्रकार नित्य-अविकारीके लक्षसे क्षणिक विकार दूर किया जा सकता है, इसलिये भेदज्ञान वाली शुद्धज्ञानदृष्टि सर्वप्रथम प्रगट करना चाहिए।

भेदज्ञान साबू भयो, समरस निर्मल नीर।
धोबी अन्तर आत्मा, धोवे निजगुण चीर॥
(बनारसी कृत समयसार नाटक)

मैं राग अथवा विकाररूप नहीं हूँ, ऐसी निर्मलताकी दृष्टिके द्वारा ध्रुवस्वभावके ऊपर अभेदलक्ष करनेपर स्थिरता प्रगट होती है। भगवान आत्मा ऐसा निर्मल, आनन्दघन है।

आत्मामें होनेवाली वर्तमान क्षणिक अवस्थाको गौण करके आत्माका जैसा शुद्धस्वभाव है वैसा अखण्डरूपसे लक्षमें लेना सो सम्यग्दर्शन है।

जो निर्मल, एकरूप-ज्ञायकरूपमें रहे वही मेरा स्वभाव है, क्षणिक मलिनता मेरा स्वभाव नहीं है। इसप्रकार मानना ही प्रारंभिक धर्म है।

पुण्य-पाप विकारसे भिन्न, अनन्त ज्ञानानन्दमूर्ति प्रत्येक क्षणमें पवित्र है, ऐसे भगवान आत्माको सत्समागमके द्वारा अन्तरंगमें समझे बिना धर्मका प्रारम्भ भी नहीं होता और आत्मा-

की शुद्ध प्रतीतिके बिना स्वतंत्रताकी प्राप्ति और बन्धनका नाश नहीं होता।

आत्माके शुद्धस्वरूपको समझनेकी तैयारी करनेके लिये पात्रताकी बात कई बार हो चुकी है। मुमुक्षुको तृष्णाकी कमी, दान, करुणा, सत्य, ब्रह्मचर्यका रंग, धर्मका प्रेम, प्रभावना, भक्ति, तीव्र आसक्तिका ह्रास और मानादिके मंद पड जानेकी अभ्यासरूप लौकिक व्यवहारनीति तो होनी ही चाहिये, किन्तु वह अपूर्व नहीं है। यहां प्रारम्भ तो आत्मामें लोकोत्तर नीतिसे ही होता है। अनन्तकालमें दुर्लभ मनुष्यभव मिला है, फिर भी जैसा त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेव कहते हैं वैसे स्वतंत्र आत्मतत्त्वको तूने नहीं जाना तो फिर तेरा मनुष्यत्व किस कामका? तेरी अपनी महिमा जाने बिना तृष्णा-ममता वास्तवमें मंद नहीं पड़ती, इसलिये कहा है कि समझने से पूर्व यदि आसक्ति कम हो तो थोड़ी घटती है, किन्तु यदि समझ गया तो सहज ही अनन्ती ममता और तृष्णा दूर हो जाती है। मूल समझके ऊपर ही भार दिया है। निरपेक्षस्वरूपको समझे बिना मात्र व्यवहारमें शुभभाव करके अनन्तबार नव ग्रैवेयक पर्यंतके देवभवमें हो आया, किन्तु भव कम नहीं हुए; इसीलिये वीतरागदेव कहते हैं कि पहले अविकारी आत्माको पहिचान। वर्तमानमें साक्षात् श्री सीमंधर भगवान महाविदेहक्षेत्रमें परमात्मपद पर प्रतिष्ठित हैं, वे भी इसीप्रकारसे स्पष्ट मार्ग बतलाते हैं।

संसारकी रुचि छोड़कर मोक्षकी सीढ़ी (सम्यग्दर्शन) पर आकर देखे तो आत्माका समस्त वैभव जैसा है वैसा दिखाई दे। जैसे-ऊपरके कमरेमें वैभव भरा है, उसे देखनेके लिये सीढ़ी पर चढ़ना चाहिये तब ही ऊपर क्या है सो दिखाई देता है, किन्तु नीचेके कमरेमें खड़ा रहकर वैभवके अस्तित्वसे इन्कार करे तो उसे वह कैसे दिखाई दे सकता है। इसीप्रकार सर्वज्ञ भगवान् साक्षात् ज्ञानसे आत्माकी पूर्णसमृद्धिके सम्बन्धमें क्या कहना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति कैसे हो और उस प्राप्तिका उपाय क्या है, यह

जानना हो तो मोक्षकी सीढ़ी पर (चौथे गुणस्थानसे सम्यग्दृष्टि होकर) चढ़ना चाहिये।

मंजिल पर जानेवाला पूर्ण सामग्रीका साक्षात् अनुभव करे और मंजिल पर चढ़ते हुये ऊपरको गर्दन उठाकर देखे तो यह सब ज्ञात होजाय कि ऊपर मंजिलमें क्या है। इसीप्रकार पूर्ण साध्यके लक्षसे–रागसे भिन्न होकर, भीतर गुणमें जो अखण्ड ज्ञायक है वही मैं हूँ, इसप्रकार अनुभव करे तो पूर्ण साक्षात् ज्ञानीकी भाँति अंशतः देखकर पूर्ण त्रैकालिक स्वभावको जैसा का तैसा पहिचान लेता है। परमात्मा कैसा होता है, उसका साधन कैसा होता है, बीचमें विकार (बाधक भाव) कितना होता है, वह सब स्वयं ज्ञायक होनेसे, स्व–परका विवेक करनेसे जान लेता है। जिसप्रकार मंजिल पर जानेके लिये जीने पर चढ़ते हुए सब सीधा दिखाई देता है, उसीप्रकार मोक्षकी सीढ़ी पर चढ़नेके प्रारम्भमें ही स्वभाव क्या है, पुण्य–पाप विकार क्या हैं, नित्यता–अनित्यता, संयोगी–असंयोगी तत्त्व कौन हैं, इत्यादि सब जान जाता है। अविरोधी न्यायके द्वारा एक आत्माके जाननेसे सब जाना जाता है, किन्तु उसे जाने बिना बहुत शास्त्र पढ़े, बहुत पुण्यकी क्रिया की, अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु भव–भ्रमण नहीं मिटा। जो नवमें ग्रैवेयकके देवका उच्च पुण्य बाँधता है उसका बाह्य–व्यवहार बहुत ऊँचा होता है। जैसे कि नग्न-दिगम्बर मुनि हो, पाँचमहाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण इत्यादि भलीभाँति पालन करता हो और यदि कोई शरीर पर काँटे रखकर आग लगा दे तो भी क्रोध न करे। ऐसा अनन्तबार किया, किन्तु निरपेक्ष, निरालम्बी ज्ञायक आत्माको पृथक् नहीं जाना, इसलिये भव–भ्रमण दूर नहीं हुआ।

जो जीव मनुष्यत्व प्राप्त करने पर भी स्वतंत्र आत्मतत्त्वको परमार्थसे श्रवण नहीं करता, समझनेकी चिन्ता नहीं करता उसके त्रसकी स्थितिका काल पूर्ण होने आया है। सत्स्वरूपको सुननेका अमूल्य अवसर छोड़कर वह अनन्तानन्त काल तक एकेन्द्रिय;

निगोदमें जानेकी तैयारी कर रहा है। फिर अनन्तकालमें भी वह मनुष्य तो क्या लट (दो इन्द्रिय जीव) इत्यादि त्रस पर्यायको भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

आत्माका स्वभाव ज्ञायकमात्र है और उसकी अवस्था पुद्‌गलकर्मके निमित्तसे रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायकी दृष्टिसे देखा जाय तो वह मलिन ही दिखाई देता है और यदि द्रव्यदृष्टिसे देखा जाय तो ज्ञायकतत्व ही है, वह कहीं जड़रूप नहीं हो गया है। यहाँ द्रव्यदृष्टिकी प्रधानतासे कथन है। त्रैकालिक ध्रुवस्वभाव आत्मा परसे भिन्न ही है, ऐसी निर्मल गुणदृष्टिमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मुख्य नहीं गिनी गई है, इसलिये जो प्रमत्त-अप्रमत्तका भेद है वह तो परद्रव्यके संयोगजनित पर्यायरूपसे है। वह क्षणिक अशुद्धता द्रव्यदृष्टिमें गौण है।

एक वस्तुमें दो प्रकार होते हैं, एक क्षणिक निमित्ताधीन भाव और दूसरा ध्रुव सामान्य स्वभाव है। उस सामान्य स्वभावको देखें तो जो त्रिकाल ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है, पररूपमें तथा क्षणिक विकाररूपमें वह नहीं होता, इसलिये शुद्ध है।

किसी बड़ी लकड़ीके थोड़ेसे भागमें अच्छी कारीगरी की गई हो और उसका शेष सम्पूर्ण भाग सादा हो तो उस सादा भागको देखते समय कारीगरीका थोड़ा सा भाग मुख्य नहीं होता, इसीप्रकार आत्मामें वर्तमान अवस्था प्रत्येक समयकी स्थितिरूपसे, पर-निमित्ताधीन अनादिसे विद्यमान है, वह पुण्य-पापका क्षणिक विकार वर्तमान मात्रका है। उसे गौण करके पर-निमित्तसे रहित एकरूप सामान्य त्रिकाल निर्मल दृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा पहले शुद्ध ज्ञायकरूप था, वर्तमानमें और भविष्यमें भी वैसा ही रहेगा।

जैसे पहाड़ पर चढ़ते समय ऊपरका ध्यान मुख्य होता है और तलहटीका ध्यान गौण होता है, उसीप्रकार साध्य जो शुद्ध आत्मा है उसे मुख्य ज्ञायकस्वभावरूपसे लक्षमें लेनेसे, ऊर्ध्व ज्ञानानंदस्वभावको देखनेसे वर्तमान मलिनता गौण हो जाती है।

आत्माका स्वभाव जड़से, विकारसे, रजकणके स्वभावसे तथा अन्य सबसे पृथक् ही है। विकार क्षणिक अवस्थामात्रको ही होता है। विकारके दो क्षण कभी इकट्ठे नहीं हुए। प्रथम समयमें विकार किया, उसे दूसरे समयमें नवीन विपरीत पुरुषार्थसे ग्रहण करके दूसरे समयमें दूसरा नया विकार करता है। इसीप्रकार जीव परंपरासे प्रत्येक समयका भिन्न-भिन्न विकार करता चला आ रहा है, उसे नित्य-अविकारी स्वभावके लक्षसे तोड़ा जासकता है।

लोगोंने यह वात नहीं सुनी। मुझमें क्या हो रहा है, स्वभाव क्या है विभाव क्या है, इसकी कुछ खबर नहीं है। जिससे हित होता है उसकी खबर न रखे और जिससे अपना कुछ भी हित नहीं होता ऐसे पर पदार्थोंकी (जैसे कि घरमें कितना पैसा है, घरकी खिड़कीमें कितनी छड़ें हैं, फर्नीचर कितना है, इत्यादि परकी) खबर रखता है।

स्फटिकमणि परके संयोगसे रंगीन दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमानमें स्वभावसे स्वच्छ देखा जा सकता है। सफेद वस्त्र भी परनिमित्तसे मैला दिखाई देता है, किन्तु उसे वर्तमानमें स्वच्छ देख सकते हैं। यह तो दृष्टान्त है। उसमें देखनेवाला दूसरा है, वह यों कहता है; किन्तु आत्मामें जो वर्तमान मलिन अवस्था है वह मूल स्वभाव नहीं है, इसलिये वर्त्तमानमें मलिन अवस्थावाला जीव भी उसका निर्मल स्वभाव देख सकता है। ✓ स्व पुरुषार्थ करलो!

प्रश्न—अशुद्ध अवस्थामें स्थित जीवको शुद्ध अवस्थामें स्थित जीव मूल शुद्धस्वरूपसे देख सकता है यह तो संभव है, किन्तु निचली (अशुद्ध) अवस्थामें स्थित जीवको शुद्ध स्वभाव कैसे ज्ञात हो सकता है ?

उत्तर—आत्मामें ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुण हैं। उसमें चारित्र और श्रद्धागुण मलिन परिणमित होता है, किन्तु ज्ञानगुण त्रिकाल ज्ञानरूपसे रहता है, रागरूपसे नहीं। इसलिये ज्ञान ज्ञायक-स्वभावसे स्व-परको जानता है। इससे अशुद्ध अवस्थाके समय भी पूर्ण शुद्धस्वभाव कैसा है, उसे आत्मा जान लेता है। अज्ञानीके भी

ज्ञान अस्तिरूपसे है। रागको निजरूप माननेसे उसका ज्ञान नास्तिरूप हुआ दिखाई देता है। दृष्टाशक्ति, ज्ञानगुण और वीर्यगुणमें विपरीतता नहीं है, किन्तु कमी हो जाती है। अज्ञानदशामें भी ज्ञानगुणकी प्रगटता तो होती ही है, उस प्रगटताको स्वाभिमुख करे तो सम्यग्ज्ञान प्रगट हो सकता है और जीव उसके द्वारा त्रैकालिक निश्चय स्वभावको जान लेता है।

श्रद्धा और चारित्र गुणके कार्यकी अपेक्षा ज्ञानगुणका कार्य भिन्न है क्योंकि वह ज्ञानगुण है, अर्थात् वह जाननेका कार्य करता है। ज्ञानगुण निर्मलताको प्रथम वतलाता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हुआ और उसमें जो ज्ञायकरूपसे प्रथम ज्ञात हुआ, सो वह पहले ज्ञायक ही था, वर्तमानमें ज्ञायक है और भविष्यमें ज्ञायकरूप ही रहेगा। सदा ज्ञायकरूप होनेसे चारित्रगुणमें जो कुछ अशुद्ध अवस्था रह जाती है उसे ज्ञान जान लेता है। वह अशुद्धता यहाँ गौण है। इसप्रकार साधकभावमें गुणके कार्यका भेद होता है।

प्रश्न—अशुद्ध अवस्था गौण कैसे है?

उत्तर—श्रद्धा और ज्ञानगुणका लक्ष अखण्ड-ज्ञायक तत्त्व पर है। उस श्रद्धाके वलसे निर्मलता वढ़ती है और इसलिये वर्तमान क्षणिक मलिनता गौण हो जाती है। आत्मामें अशुद्ध अवस्था क्षणिक वर्तमान एक समयमात्रकी नई होती है, उसके नाशकी प्रतीतिका यहाँ वल है। अखण्ड ध्रुवकी दृष्टिके लक्ष्यमें शुद्ध द्रव्यस्वभावकी मुख्यता रहती है; वह द्रव्यदृष्टि है और उस द्रव्यदृष्टिसे देखनेवाला क्षणिक विकारको लक्षमें नहीं लेता।

जैसे शरीरके किसी एक अंग पर फोड़ा हुआ हो, तो कुछ ही उपचारके वाद उसे ऊपरसे ठीक होता देखकर और यह जानकर कि भीतरसे सड़ा नहीं है, सम्पूर्ण निरोग शरीरके लक्ष्यसे वर्तमानमें भी डाक्टर कह देता है कि थोड़ी कसर रह गई है, किन्तु रोग मिट गया है, चार-छह दिनमें पूर्ण निरोग हो जाओगे; इसीप्रकार चैतन्य भगवान आत्मा ज्ञायकस्वरूपसे संपूर्ण निरोगी है।

वर्तमानमें होनेवाले क्षणिक पुण्य-पापादि विकार जितना ही मैं हूँ, इसप्रकार जो जीव अपनेको विकार-रोगरूप मानता है, उसका विकार-रोग नहीं मिटता, किन्तु वर्तमान क्षणिक अवस्था मलिन है तो भी भीतरसे अर्थात् शक्तिरूपसे वर्तमानमें त्रिकाल पूर्ण निर्मल हूँ, ऐसे पूर्ण निरोगस्वभाव पर जिसकी दृष्टि है उसके क्षणिक रागरूपी रोगका नाश होजाता है।

जैसा कि ऊपर कहा है वैसे तत्त्वकी प्रतीतिके बिना जिसका जीवन यों ही पूरा होगया उसका जीवन कीड़ी-मकोड़ेके समान है। जिसने इस अपूर्व तत्त्वको जान लिया है उसका जीवन मोक्ष-निवासके योग्य होगया है।

मैं परसे सर्वथा भिन्न, पूर्ण स्वतंत्र हूँ, मैं ऐसा पराधीन नहीं हूँ कि जिसे अन्यकी सहायता की आवश्यकता हो। ऐसी प्रतीतिके बिना कोई भले ही सम्पत्तिशाली हो तो भी वह गरीब और पराधीन है। जो अधिक माँगता है वह बड़ा मँगता (भिखारी) है और जो थोड़ा मांगता है वह छोटा मँगता (भिखारी) है।

आत्माकी समृद्धिकी प्रतीतिके बिना सभी रंक-भिखारी है। वर्तमान मलिनताका लक्ष्य गौण करके, निरोग निर्मल ज्ञायक-स्वरूपको देखनेकी श्रद्धा ही पूर्ण निरोग-मोक्ष प्राप्त करनेका उपाय है। अन्तरंगमें यथार्थ समझ हुई कि तत्क्षण ही समस्त राग या अस्थिरतारूप अशक्ति दूर नहीं हो जाती, किन्तु जिसप्रकार रोग उप-शान्त हो रहा हो और यह मालूम हो जाय कि रोग अब दो-चार दिनमें बिल्कुल मिट जायगा अथवा रोगके दूर हो जानेके बाद मनुष्यके थोड़ी सी कमजोरी रह जाती है वह भी अब निरोगताको ध्यानमें रखते हुये खुराक लेनेसे थोड़े ही समयमें दूर होजायगी और शरीर पुष्ट होजायगा। (यदि रोगके रहते हुये पुष्टिकारक खुराक ले तो रोग बढ़ता है) इसीप्रकार अन्तरमें प्रतीति होनेपर पूर्ण निरोग होनेकी आन्तरिक स्थिरतारूप आनन्दकी खुराक लेकर पूर्ण

पुष्ट (सर्वज्ञत्व) अल्पकालमें हो जायगा, किन्तु अविकारी, निरोगी तत्त्वकी समझके बिना राग बढ़ जायगा। मैं वर्तमान मलिन अवस्था मात्र ही नहीं हूँ किन्तु वर्तमानमें पूर्ण ध्रुवस्वभाव निर्मल हूँ, ऐसे बलसे आंशिक निर्मलता-निरोगता तो प्रगट हुई और उसी स्वभावके बलसे अल्पकालमें साक्षात् मोक्षदशा प्रगट होनी है; इसप्रकार वर्तमान निर्मल अंशसे सम्पूर्ण निर्मल मोक्षको जानता है। किन्तु जिसके आत्मामें भवकी भ्रान्तिरूप, परमें स्वामित्व, कर्तृत्व माननेका रोग दूर नहीं हुआ, उसे पुण्यके शोथसे निरोगीपन प्राप्त नहीं होता।

आत्मभ्रांति सम रोग नहिं, सद्गुरु वैद्य सुजान ।
गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान ॥

(आत्मसिद्धि)

श्रीमद् राजचन्द्रने भी सबसे पहले भावनिद्रा और भावरोगको दूर करनेका उपाय करनेको कहा है। अपनेको ज्ञाता-साक्षीरूपसे भूलकर परको अपना माननेरूप आत्मभ्रांतिके समान जगत्में कोई रोग नहीं है। पुण्य-पाप मेरे हैं, मैं परका काम कर सकता हूँ, पर मुझे सहायता करता है, देहादिकी क्रिया मेरे आधीन है, इत्यादि प्रकारकी विपरीत मान्यतारूप रोग अनादिका है, उसे दूर करनेके लिये 'सद्गुरु चतुरवैद्य हैं' अर्थात् सुज्ञानी गुरु होना चाहिये; और 'गुरु आज्ञा सम पथ्य नहिं, औषध विचार ध्यान।' औषधिमें पथ्यकी विशेषता है, सर्वज्ञके कहे हुये आशयके अनुसार अपना हित-अहित क्या है इसका विवेक अन्तरंगमें लाना चाहिये, यही सच्चा पथ्य है, उस पथ्य सहित औषधिरूपी सुविचारको लेकर ध्यान करते करते स्वरूपकी महिमामें स्थिर होना सो चारित्र है। सम्यक्चारित्रके होनेपर पूर्ण वीतरागता होकर निर्मल मोक्षदशा अवश्य प्राप्त होगी।

ज्ञान और ज्ञानकी क्रिया, निश्चय-व्यवहार निजमें होता है। अशुद्धि द्रव्यदृष्टिमें गौण है, व्यवहार (पराश्रितभाव) है, अभूतार्थ (जो त्रिकाल न रहे ऐसा क्षणिकभाव) है, असत्यार्थ (त्रिकाल रहनेवाले स्वरूपसे विपरीत) है, उपचार (जो पर-निमित्तसे होता है) है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद (ज्ञान, दर्शन, चारित्र ये समस्त

गुण निजमें एक साथ अभेद) है, निश्चय (परनिमित्तकी अपेक्षासे रहित, स्वाश्रित) है, भूतार्थ (त्रिकाल रहनेवाला) है, सत्यार्थ (निर्मल स्वतंत्ररूपसे अपना अस्तित्वभाव) है, परमार्थ है; इसलिये आत्मा ज्ञायक ही है, उसमें भेद नहीं है; इसलिये वह प्रमत्त-अप्रमत नहीं है।

उसे 'ज्ञायक' नाम ज्ञेयको जाननेसे दिया गया है। सामने जैसा पदार्थ होता है वैसा ही ज्ञान ज्ञानमें होता है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धि नहीं है।

ज्ञानके द्वारा श्रद्धाका लक्ष होता है, श्रद्धा स्वभावके ऊपर लक्ष्य करनेसे प्रगट होती है और श्रद्धा अर्थात् सम्यक्त्वको लेकर ज्ञानमें भी सम्यक्पना आता है। सच्चाई

शुद्धनय (सम्यक् श्रुतज्ञानके अंश) के द्वारा आत्माको परसे निराला, अखण्ड ज्ञायकरूपसे लक्षमें लेना और ऐसा मानना कि इसी स्वरूपमें त्रिकाल रहता है सो सम्यक्श्रद्धा है।

जो त्रिकाल एकरूप निर्मल रहे उसे सामान्यद्रव्यस्वभाव कहा जाता है। जो आत्माका स्वभाव हो वह दूर नहीं हो सकता और जो दूर हो जाता है वह (पुण्य-पाप-विकार) उसका स्वरूप नहीं है।

शरीर, मन, वाणीको हटाना नहीं पड़ता क्योंकि वे अलग ही हैं; वे अपने कारणसे अपनेमें रहते हैं, आत्मामें नहीं रहते। वर्तमान अवस्थामें कर्मके निमित्तसे शुभ-अशुभ विकारी भाव होता है सो वह भगवान आत्माका स्वरूप नहीं है। जो भाव नाश होता है उसे अपना मानना सो मिथ्यादृष्टि है। पुण्य-पापका आदर अविकारीका अनादर है। पूर्णकृतकृत्य आनन्दस्वरूपमें त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायकरूपमें रहना ही आत्माका शुद्धस्वरूप है। यह शुद्धनयके आश्रयका फल है।

जैसे पानीके प्रवाहमें परवस्तु (पुल, नाला) के निमित्तसे खण्ड (भेद) होता है, किन्तु वह पानीके सीधे प्रवाहका स्वरूप

नहीं है, उसीप्रकार परसंयोगसे उत्पन्न शुभाशुभभावके द्वारा आत्मामें जो भेद होजाता है वह शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है वे सब भेद अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयके विषय हैं।

आत्मामें क्या हो रहा है, वह क्या मान रहा है और उपादेय क्या है ? वह यहाँ कहा जाता है। जगत् जैसा मान रहा है वैसा हो कर रहा है किन्तु वह सब वृथा है। तत्त्वके समझे विना जन्म-मरण का अन्त नहीं होता। अनादिकालसे जिस भावसे जीव भ्रमण कर रहा है उस बन्धनभावका यदि आत्मप्रतीतिके द्वारा नाश न करे तो मिथ्याश्रद्धामें अनन्तभव करानेकी शक्ति है।

यदि कोई कहे कि ऐसी सूक्ष्म वातें हमारी समझमें नहीं आती, तो उसके उत्तरमें यों कहना चाहिये कि इसके समझे विना नहीं चल सकता। सच्चा सुख चाहिये हो तो परसे भिन्नरूपमें धर्मको समझना चाहिये। आत्मा अरूपी है, उसका भाव अरूपी है, इसलिये समझमें नहीं आता ऐसा नहीं मानना चाहिये। आत्माको यथार्थ जानकर पुण्य-पापकी प्रवृत्तिसे छूटकर, निजमें स्थिर होकर अनन्त जीव मोक्ष गये हैं। जितना प्रत्येक आत्मामें सामर्थ्य है, उतना हो कहा जाता है। प्रत्येक आत्माकी जाति एक ही है, इसलिये सर्वज्ञ भगवानने जैसा स्वरूप कहा है वैसा जो प्रगट करना चाहे वह उसे समझकर प्रगट कर सकता है। कोई एक ही आत्मा ऐसी प्रतीति कर सकता है दूसरा नहीं कर सकता, ऐसी वात नहीं है।

आत्मस्वभाव तो सदा शुद्ध ही है, उसमेंसे विकार या अशुद्धता नहीं आती। आत्मा परके निमित्तसे रहित अनन्तगुणोंकी खान है। परसंयोगके लक्षसे, परमें अच्छा-बुरा माननेसे वर्तमान अवस्थामें पुण्य-पाप होता है।

लोग कहते हैं कि हमें आत्माका स्वरूप प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देता। आचार्य उससे पूछते हैं कि जगतके जड़ पदार्थोंमें सुख है यह आँखोंसे प्रत्यक्ष देखकर किसने निश्चय किया है? सुख परमें है ऐसी कल्पना किसने की और कहाँ की है ? इसकी कोई भी खबर नहीं है।

इसका कारण ज्ञानकी मूढ़ता है। चैतन्य भगवान परसे भिन्न, परके आश्रयसे रहित है। उसकी प्रतीतिके बिना जीव भले ही बहुत सम्पत्तिशाली हो, विशाल भवनमें रहता हो, फिर भी वह वैसा ही है जैसे पर्वतोंकी गुफाओंमें अजगर आदि पड़े रहते हैं; क्योंकि जिसे हित-अहितका परमार्थतः भान नहीं है वह मूढ़ ही है। भगवान कुन्दकुन्दाचार्यने अष्टपाहुड़में कहा है कि जिन्हें आत्माकी खबर नहीं है वे मानों चलते-फिरते मुर्दे हैं।

जो जड़ आदि जाना जाता है वह जड़में नहीं जाना जाता, किन्तु ज्ञानसे ज्ञानमें जाना जाता है, ज्ञान ज्ञानकी अवस्थामें रहकर जानता है। ज्ञानमें अपनी ज्ञानरूप अवस्था दिखाई देती है।

अज्ञानी जड़में-देह, इन्द्रिय, स्त्री, धन आदिमें सुख मानता है, किन्तु यह कल्पना मात्र है। यदि जड़के टुकड़े करके उसमें देखें तो सुख कहीं भी दिखाई नहीं देगा, फिर भी अज्ञानी मूढ़ताके कारण परमें सुख मानता है। वर्ण, गन्ध, रस अथवा स्पर्शमें किंचितमात्र सुख नहीं है। अज्ञानीने बिना देखे ऊपरसे कल्पना करके उनमें सुख मान रखा है। मैंने किस स्थानसे सुखका निश्चय किया है, इसकी भी उसे खबर नहीं है, फिर भी अज्ञानी उस कल्पनामें ऐसा निःशंक लीन हो गया है कि वह उससे भिन्न कुछ भी निश्चित करनेके लिये तैयार नहीं होता। शरीर, इन्द्रिय, धन, मकान आदि जड़को यह खबर नहीं है कि हम कौन हैं। खबर करने वाला तो स्वयं है, फिर भी कीमत दूसरेकी आंकता है। सम्यग्दर्शनगुणकी विपरीत अवस्थाके द्वारा परका कर्ता-भोक्ता है, परमें सुख-दुःख है ऐसा मानकर परमें निःसंदेह प्रवृत्ति कर रहा है, जहाँ भूल होती है वहाँ यदि सुधार करनेके लिये सुलट जाये तो यह स्पष्ट दिखाई देने लगे कि निराकुल, अतीन्द्रिय सुखस्वभाव अपनेमें ही है, उसमें कल्पना नहीं करनी पड़ती। अज्ञान अर्थात् अपने निर्मलस्वभावकी असमझसे उस अज्ञानके द्वारा परमें सुखकी कल्पना कर रखी है! जिसमें सुख नहीं है उसमें सुखकी कल्पना करके अज्ञानी जीव मंद

आकुलताको सुख मान लेता हैं ।

आत्मामें शुभ-अशुभ विकल्प क्षणिक भेदरूप ज्ञात होता है, वह उपचार है, अर्थात् परमार्थसे वह मिथ्या है । शरीर, मन, वाणीके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, आत्मा तो ज्ञान, शान्ति निर्मलस्वभाव एकरूप है । उसमें परके लक्षसे जो पुण्य-पापभावका भेद होता है, वह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयका विषय है ।

सच्चे आत्मतत्वकी दृष्टिमें विकार नहीं है, क्योंकि विकार क्षणिक अवस्था है, इसलिये वह पर्यायार्थिक है, वह पराश्रित है इसलिये व्यवहार है, जो व्यवहार है वह संयोगाधीन भाव है वह छोड़ने योग्य है; जो यह नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि-अज्ञानी है ।

आत्माने अनन्तकालमें यह बात कभी नहीं सुनी, तब फिर वह सच्चा मनन कहांसे करेगा ? व्रत, तप, दया आदिके शुभभाव हों, अथवा चोरी, हिंसा आदिके अशुभभाव हों सो वे दोनों विकार हैं, बन्धन हैं, (मात्र अशुभसे छूटनेके लिये शुभभाव ठीक है, किन्तु उससे धर्म नहीं होता) इसप्रकार जबतक नहीं समझता तबतक जीव परके कर्तव्यका अभिमान करके परिभ्रमण करता रहता है ।

जो अविकारी मुक्तस्वभावको अपना समझता है उसके परवस्तुकी तृष्णा कम हुये बिना नहीं रहती । अज्ञानी जितना कर सकता है उससे अनन्तगुना शुभभाव ज्ञानीकी भूमिकामें हो जाता है । जबतक ज्ञानीके पूर्ण वीतरागता प्रगट न हुई हो तबतक निम्न भूमिकामें अशुभसे बचनेके लिये उसके शुभभाव होता तो है, किन्तु वह उसका स्वामी नहीं होता ।

रजकण, देहादिकी प्रवृत्ति और पुण्य-पाप आदि कोई मेरा स्वरूप नहीं है; ऐसी प्रथम श्रद्धा होने पर ही ज्ञानीके परमें अनन्ती आसक्तिका प्रेम दूर हो जाता है, फिर विवेक सहित अशुभ राग घटानेके लिये दानादिके द्वारा वह तृष्णा घटाये बिना नहीं रहता । अज्ञानीके द्वारा स्वामी बनकर किये गये पुण्यकी अपेक्षा ज्ञानीके पुण्यका प्रकार पृथक् होता है । देहकी अमुक क्रिया हुई इसलिये पुण्य नहीं

होता, किन्तु उस समय अपने परिणाम शुभ करे तो पुण्य होता है। अज्ञानी स्वामीपनेसे पुण्यका शुभभाव करता है तो उसके फलसे कभी देव या मनुष्य हो जाता है, किन्तु फिर मरकर तिर्यंच, नारकी, निगोद आदि चारों गतियोंमें परिभ्रमण करता है।

जिस भावसे बंध होता है उस भावसे धर्म नहीं होता। मैं भिन्न निर्विकारी हूँ, कर्मके निमित्तसे होनेवाले विकारसे भिन्न हूँ, ऐसी समझ जिसके नहीं है वह धर्मके नामसे जहाँ–तहाँ कर्तृत्वका अभिमान करेगा। वह शुभभाव करता है उसका अल्प पुण्य बँधेगा, किन्तु साथ ही मिथ्यादृष्टिका महान् पाप भी बँधेगा। यहाँ यह कहनेका मतलब नहीं है कि पुण्यको छोड़कर पाप करे, किन्तु तात्पर्य यह है कि ज्ञानीके विकारी भावका कर्तृत्व या स्वामित्व नहीं है। ज्ञानी लाखोंका दान करता है फिर भी किसी शुभभावमें उसके स्वामित्व नहीं है, वह मेरा कर्तव्य नहीं है, देहादिकी तथा दानादिकी क्रियाका मैं स्वामी नहीं हूँ, किन्तु मैं मात्र ज्ञानस्वभावका ही स्वामी हूँ, ऐसी दृष्टि अन्तरंगमें हुए विना किसीको आत्मधर्मका अंश भी प्रगट नहीं होता।

यहाँ यह बताना है कि जिनमतका कथन स्याद्वाद है। इसलिये अशुद्धनयको सर्वथा असत्यार्थ नहीं मानना चाहिये; अशुद्ध अवस्था नहीं है यह नहीं मानना चाहिये। अशुद्धता अज्ञानभावसे है, द्रव्यस्वभावसे नहीं, यह जानना चाहिये।

आत्मा स्वभावसे निर्मल है; किन्तु वर्तमान अवस्थामें साक्षात् निर्मल नहीं है। यदि अवस्थासे निर्मल हो तो पुरुषार्थ करके राग दूर करनेकी आवश्यकता न रहे। यदि निर्मल अवस्था प्रगट हो तो प्रत्यक्ष आनन्द प्राप्त हो; किन्तु प्रत्यक्ष आनन्द नहीं है इसलिये अवस्थामें अशुद्धता है। उसे दूर करनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये।

नित्यस्वभावमें राग-द्वेष नहीं है, इसप्रकार निर्मलस्वभावकी श्रद्धा करनेके लिये और निर्मलस्वभावको उपादेय माननेके लिये कहा जाता है। पुण्य–पापका विकारी भाव जीवकी अवस्थामें होता

है कुछ जड़-देहमें शुभ-अशुभ विकल्प नहीं होता। अशुद्धता पर-द्रव्यके आश्रयसे आत्मामें होती है, परमें नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि शरीरका धर्म शरीरमें होता है; रोगादिकी अवस्था देहमें होती है यह सच है, किन्तु आत्मा जो रोग देखकर द्वेष और निरोगता देखकर राग करता है वह आत्मामें होता है, संयोगसे राग-द्वेष सुख-दुःख नहीं होता। फिर भी संयोगमें ठीक-अठीक मानकर मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, इसप्रकार जीव विकार करता है और इसीसे परमें सुख-दुःखकी कल्पना करता है। उस अशुद्ध अवस्थाको अपनी माननेके रूपमें जो अशुद्धनयका पक्ष है वह त्याज्य कहा गया है, क्योंकि आत्मामें परके आश्रयसे जो पुण्य-पाप विकार होता है वह मेरा है, ऐसी अशुद्धदृष्टिरूप व्यवहारका फल चौरासीके अवतारमें परिभ्रमण करना है।

कोई कहता है कि अभी पापको छोड़कर पुण्य करते हैं, फिर बादमें धर्म करने लगेंगे। उससे कहते हैं कि अभी ही धर्म समझना चाहिये, वर्तमानमें ही सच्ची समझ नहीं करके वह यदि स्वर्गमें जायगा तो भी आकुलताका अनुभव करेगा, अज्ञानी वहाँ भी इन्द्रियोंके विषयकी आकुलतासे भीतर ही भीतर जल रहे हैं।

वीतरागदेव कहते हैं कि भगवान आत्माके लक्ष्यको चूककर जो पुण्य-पापके क्षणिक विकारको अपना मानता है उसे जन्म-मरणके दुःख फलते रहते हैं। जितना परलक्षसे, परमें कल्पनासे सुख माना वह सुख नहीं है। ज्ञानीके आत्माके सुखके सामने इन्द्रका पद भी सड़े हुए तिनकेके समान है। ज्ञानीके पुण्यकी महिमा नहीं है, आदर नहीं है, वह तो गुणके जलनेका फल है। परको, विकारको अपना माननेरूप व्यवहारका फल संसार है। जो विकार है वही मेरा कर्तव्य है, ऐसा माननेवाला आत्मा संसारमें दुःख भोगता है।

भगवान आत्मा निर्विकार, पवित्र आनन्दघन है, उसे श्रद्धामें नहीं लिया और पुण्य-पापके गीत गाता रहा, तथा विकार और बंध

का आदर किया, उसे जन्म, जरा, मरणसे रहितकी श्रद्धाकी खबर नहीं है; इसलिये वह पराश्रयसे अच्छा-बुरा माननेरूप अज्ञानका फल-दुःख भोगता है।

पुण्य-पाप विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं पूर्ण शुद्धस्वरूपी हूँ, इसप्रकार माने तो दुःख दूर होता है। इस दुःखको दूर करनेके लिये शुद्धनयका उपदेश मुख्य है। जब शुद्धनयके द्वारा शुद्धस्वरूप जानकर निर्विकारी दशा प्रगट करता है तब जीव सुखी होता है, इसलिये शुद्धनयका उपदेश प्रथमसे ही उपयोगी है। शुद्धस्वभावको बतानेवाला उपदेश खूब सुनना चाहिये।

आत्मा द्रव्यस्वभावसे त्रिकाल निर्मल है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें भी पुण्य-पापका विकार उसे नहीं होता, इसप्रकार सर्वथा एकान्त समझनेसे मिथ्यात्व होता है, इसलिये सम्यक् अपेक्षाके भावको बराबर समझकर जो क्षणिक विकार है उस ओरका लक्ष छोड़कर, मैं अविकारी अनन्त ज्ञानानन्दकी मूर्ति हूँ, इसप्रकार अपने पूर्ण ध्रुवस्वभावको लक्षमें लेने वाली शुद्ध दृष्टिका अवलंबन लेना चाहिये। पूर्णस्वरूपकी प्राप्ति होनेके बाद अर्थात् पूर्ण वीतराग होनेके बाद शुद्धनयका भी अवलम्बन नहीं रहता।

जैसे कोई राजपुत्र राजा होने योग्य हो, किन्तु जबतक वह वर्तमानमें संपूर्ण राज्यका स्वामी नहीं हुआ तबतक उसके विकल्प रहता है; किन्तु जब वह साक्षात् राजा होकर गादी पर बैठ जाता है और अपनी आज्ञा चलने लगती है तब फिर यह विकल्प नहीं रहता कि मैं राजा हूँ, और उसकी भावना भी नहीं रहती। इसीप्रकार प्रारम्भमें जो इतनी अवस्था मलिन है वह मैं नहीं हूँ किन्तु मैं तो पूर्ण हूँ, शुद्ध हूँ निर्मल हूँ, इसप्रकार निर्मल पक्षकी ओर जानेके लिये झुकता है—उसकी भावना करता है, किन्तु जब वस्तुकी प्रतीति करके निःशंक हो जाता है तब फिर स्वरूपका निर्णय करनेका विकल्प नहीं रहता। निर्णय होने पर सम्यक्-श्रद्धा संबंधी विकल्प नहीं रहता।

प्रमाणका फल वीतरागता है। मैं द्रव्यस्वभावसे पवित्र हूँ, अवस्थासे थोडी मलिनता है, स्वरूपमें स्थिर होने पर वह मलिनता दूर होकर निर्विकल्पता आती है और उसका फल वीतरागता है, इसप्रकार निश्चय करना योग्य है। गुणस्थान की परिपाटीमें छट्ठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवेंसे लेकर अप्रमत्त कहा जाता है, परन्तु इन सर्व गुणस्थानोंमें कर्मके निमित्तकी अपेक्षा होती है, यह अशुद्धनयके कथनकी अपेक्षासे हैं; शुद्धनयसे आत्मा निरपेक्ष ज्ञायक ही है।

प्रश्न—आत्मा अनन्त ज्ञानमूर्ति, अपने अनन्तगुणसे अभिन्न, निर्मल, पूर्ण और परसे भिन्न बताया गया है, उसको श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। उस पूर्णस्वरूपको पुण्य–पापादि परसे पृथक् जानने वाला ज्ञान और उसमें स्थिरतारूप चारित्र, इन तीनोंको आत्माका धर्म कहा गया है। यह तो तीन भेद हुए; इन भेदरूप भावोंसे आत्माके अशुद्धत्व आता है या नहीं?

उत्तर—वस्तु अभेद है, उसमें भेदरूप लक्ष करने पर राग (विकल्प) होता है और विकल्पमें परकी अपेक्षासे जितनी जितनी अवस्थाके प्रकार होते हैं उतनी अशुद्धता होती है। एकमें अपेक्षा–भेद नहीं होता। जब दूसरी वस्तु, पासमें रखी जाती है तब इसकी अपेक्षासे छोटा, और इसकी अपेक्षासे बडा, ऐसा कहा जाता है और तब दूसरेकी दृष्टिसे देखने पर परकी अपेक्षा होती है। इसप्रकार चैतन्यमूर्ति निर्विकल्प है उसमें राग-द्वेष, पुण्य-पाप-विकार प्रमत्त–अप्रमत्त, बंध–मोक्ष, इत्यादि भेद परसंयोगकी अपेक्षा-से होते हैं। यदि आत्माको अकेला सामान्यरूपसे लक्षमें लें तो वह ज्ञायक, चिदानन्द, त्रिकाल निर्मल है, और ऐसे उसका एक ही प्रकार होता है।

यहाँ पर एक ही निरपेक्षस्वभावरूपसे आत्मा कैसा है, उसकी पहिचान करनेकी बात चल रही है। जो यह मानता है कि यह कठिन मालूम पड़ रहा है, हमारी समझमें नहीं आ सकता, वह

उसका पात्र होने पर भी अपात्रताकी बातें करता है। आत्माका स्वरूप समझना सहज है, क्योंकि उसमें कष्ट नहीं है। जबकि दो घड़ीमें मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है तब उसे कठिन कैसे कहा जाय? पाँच लाखका बँगला दो घड़ीमें नहीं बँध सकता, क्योंकि वह परवस्तु है और परवस्तु आत्माके आधीन नहीं है, किन्तु आत्मा चिदानन्दमूर्ति है, ऐसी प्रतीति करके जो स्वभावमें स्थिर होता है उसे अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण निर्मल केवलज्ञानदशा प्राप्त हो जाती है इसलिये जो आत्माकी सत्ताकी बात है वह सरल है।

प्रश्नः—यदि आत्माका ज्ञान सरल है तो जीव उसे समझकर शीघ्र स्थिर क्यों नहीं हो जाता?

उत्तरः—यहाँ प्रथम अपनी स्वाधीनताकी निर्मल श्रद्धा करने की बात है। सच्ची आन्तरिक पहिचान होनेके बाद उस निर्मल श्रद्धा के बलसे जीव स्थिर हो जायगा और आत्माके सम्पूर्ण शुद्धस्वरूपकी श्रद्धा होनेसे वह अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त कर सकेगा, इसलिये प्रथम सत्यका आदर करके उसकी रुचि बढ़ानी चाहिये।

जो यह कहता है कि "अभी नहीं," वह मूर्ख है। जहाँ बारह महिनोंमें पाँच लाख रुपये मिलते हों वहाँ यदि एक महिनेमें उतने मिल जायें तो उससे कौन इन्कार करेगा? रुचिकर वस्तु अल्पकालमें मिल जाय तो लोग उसमें आनन्द मानते हैं। एक घन्टेमें पाँच लाख रुपये कमा लिये यह सुनते ही हृदय–उमंगसे भर जाता है। जिसे जिसकी रुचि होती है उसे उसकी प्राप्ति हुई जानकर हर्षका पार नहीं रहता, उसे उसके प्रति बहुमान आये बिना नहीं रहता। किन्तु यह तो मात्र संसारके अनुकूल संयोगकी बात हुई, जिसका फल शून्य है। क्योंकि उससे आत्मलाभ कुछ नहीं होता। आत्माकी अपूर्व बात अल्पकालमें मोक्ष प्राप्त कर लेनेका सुयोग और उसकी महिमाको सुनकर जो हर्षसे उछल पड़े और कहे कि मैं भी दो घड़ीमें केवलज्ञान प्राप्त करनेकी पूर्ण शक्तिवाला हूँ, वही सच्चा जिज्ञासु है। किन्तु यदि कोई यह मानले कि हम भी हाँ कहदें,

आचार्यदेवने भी कहा है कि दो घडीमें केवलज्ञान प्राप्त हो जायगा किन्तु समझका कोई मेल नहीं बैठता, तथा यह न समझना चाहता हो कि चैतन्यकी निर्मलता क्या है और मलिनता क्या है, फिर भी केवलज्ञान चाहिये हो तो यह कैसे हो सकता है ?

जैसे किसीको सिपाही होना है किन्तु उसने बन्दूक पकड़नेकी कला प्राप्त नहीं की तो अभ्यासके विना शत्रुको कैसे मार सकेगा ? इसीप्रकार स्वभाव, परभाव हित-अहित क्या है यह जाने बिना तथा उसकी श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानके विवेककी कलाको प्राप्त किये विना राग-द्वेषको कैसे दूर कर सकेगा ? शास्त्रोंमें कहा है कि ४८ मिनटमें आत्मा केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। यह आत्माकी अनन्तशक्तिकी महिमाके लिये कहा है। अनन्त आत्माऐं पूर्णपुरुषार्थ करके ४८ मिनटमें केवलज्ञानको प्राप्त हो चुकी हैं, मैं भी वैसा ही हूँ, ऐसा निर्णय करके वैसी भावना करना चाहिये।

आत्माके परवस्तुका स्वामित्व त्रिकालमें भी नहीं है, इसलिये परवस्तुमें वह यथेच्छ नहीं कर सकता। कदाचित् पूर्वपुण्यके निमित्तसे उसे अपनी इच्छानुसार संयोग मिलता है, किन्तु उसमें वर्तमानमें पुरुषार्थ किंचित्मात्र भी कार्यकारी नहीं है, तब आत्मामें तो पुरुषार्थ ही कार्यकारी है। इसलिये उसकी प्राप्तिके लिये अनंतपुरुषार्थ करना चाहिये।

जैसे सोना एक है, उसमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन ऐसे तीन भेदोंको लक्षमें लेनेसे एकरूप सोना लक्षमें नहीं आता, किन्तु भेदको गौण करके एकाकार सामान्य सुवर्णको देखनेसे उसमें पीलापन, चिकनापन इत्यादिका भेद दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र, इन तीन गुणोंसे देखने पर एकत्व आत्मस्वरूप लक्षमें नहीं आता किन्तु विकल्प होकर भेद लक्षमें आता है। उसे वर्तमान पर्यायका भेदरूप लक्ष गौण कैसे है ? श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मामें एकसाथ हैं ऐसे अभेदकी श्रद्धा कैसे होगी ? इसप्रकार शिष्य प्रश्न करता है।

समाधान—आत्मामें दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, इसप्रकार तीनों का विचार करने पर रागकी रेखा आजाती है इसलिये दर्शन, ज्ञान, चारित्रको पृथक् पृथक् भेदरूप लक्षमें नहीं लेना चाहिये, किन्तु अविकारी, निरपेक्ष, पूर्ण अभेदरूपको लक्षमें लेना चाहिये, यह सातवीं गाथामें कहेंगे।

अनादिके अज्ञानीको समझानेके लिये यह 'समयसार' शास्त्र है इसलिये सबसे पहले यह समझनेकी आवश्यकता है। यदि कोई ऊपर ही ऊपरसे प्राप्त कर लेना चाहे तो नहीं मिलेगा। यदि दुःखको जाने तो उसे दूर करनेका उपाय भी समझमें आ सकता है।

इस सातवीं गाथाको समझते समय बहुतोंके विपरीत तर्क उठते हैं। कितने ही लोग कहते है कि 'दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माके नहीं हैं,' ऐसा कहा है! किन्तु क्यों नहीं हैं? यह वे नहीं समझते। वास्तवमें तो यहाँ यह कहा है कि इन तीनोंका विकल्प (भेद) आत्मामें नहीं है। इसलिये आचार्यदेवका जो कथन है वह बराबर समझना चाहिये। 'यथार्थ ज्ञान हुए विना आगम अनर्थकारक होजाता है।'

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
णवि णाणं न चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥ ७ ॥

अर्थः—ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते हैं; निश्चयसे ज्ञान भी नहीं है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है; ज्ञानी तो एक शुद्ध-ज्ञायक ही है।

मैं परसे भिन्न तथा स्वसे एक अभेदस्वरूप, निरपेक्ष, निरावलम्बी हूँ, यह न समझना मिथ्यात्व है और अनन्त संसारका मूल है।

धर्मी जीवको निम्नदशामें सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन भेद व्यवहारसे-परनिमित्तकी अपेक्षासे कहे जाते हैं; एक ही वस्तुमें ये तीन गुण हैं; भिन्न-भिन्न-विभक्त नहीं हैं। जैसे कि स्वर्णमें पीलापन, चिकनापन और भारीपन है परन्तु उसको "जो पीला है सो सोना है, उसमें चिकनापन है, भारीपन है" इसप्रकार एक साथ रहे हुओंको, भिन्न-भिन्न कहना भेद बतलाकर समझना सो व्यवहार है। इसीप्रकार आत्मामें सत्=त्रिकाल होना, चित्=ज्ञान, आनन्द=स्वरूप-रमणता-स्थिरता, इन एक साथ रहनेवाले गुणोंको भिन्न-भिन्न भेद करके कहना सो व्यवहार है।

तीनों भागोंमें तीन गुणोंके भिन्न-भिन्न तीन भाग नहीं हैं। जैसे एक खानेमें धनियां, दूसरेमें जीरा और तीसरेमें हल्दी अलग अलग है, उसीप्रकार आत्मामें तीन गुण भिन्न-भिन्न नहीं हैं; तथापि भेद करके कहना सो व्यवहार है; तीनोंका जो एकरूप है सो आत्मा का स्वरूप है; यही निश्चय है।

यदि कोई कहे कि "अपने आत्मामें से दर्शन, ज्ञान, चारित्र तो बाहर निकाल दिये और मात्र बातें करनेका धर्म रखा है" तो उसे कहा जायगा कि तुमने अपेक्षाको नहीं समझा। यह तो मोक्ष पाने को समझ है। जो यथार्थरूपसे समझ जाय वह अल्पकालमें ही मोक्षदशाको प्रगट कर सकता है। जो अपूर्वभावसे सुने और समझे उसकी अनन्तभवकी भूख भग जाय ऐसी यह अद्भुत बात है। भगवान आत्माकी महिमाको बताने वाले इस समयसारकी अलौकिक रचना हुई है। इसमें तीनों काल और तीनों लोकके सब समाधान हैं। जिसके भाग्य हों उसे यह सुननेको मिलता है। और जिसे सत्का प्रेम हो और पुरुषार्थ हो उसके अन्तरंगमें यह बात अवश्य बैठ जाती है।

पहले ही पूर्ण ज्ञायकस्वरूप निर्विकल्परूप है, उसकी वास्तविक श्रद्धा करके गुणके भेद करनेका यहाँ निषेध किया गया है। विकल्प (रागका अंश) मेरा नहीं है। शुभ, अशुभ रागके भेद हैं

उससे भिन्नका विवेक करके अखण्ड ज्ञायकका एकरूप निश्चय करे तो वहां भेदरूप दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, परन्तु अनंतगुणोंका पिण्ड आत्मा है। इसप्रकार अभेद निश्चयरूपसे आत्माको लक्षमें लेना चाहिये, ऐसी श्रद्धामें और निर्विकल्प स्थिरतामें भेदका निषेध होजाता है; परन्तु गुणका निषेध नहीं होता।

चन्दनकी लकड़ीमें कोमलता, सुगंधि और भारीपन तीन प्रकार हैं, उसकी अन्य पदार्थोंसे भिन्न पहचान करनेके लिये गुणोंका भेद किया है। चन्दनकी लकड़ीमें अपनेपनसे जो होना है सो 'अस्ति' धर्म है, परकी अपेक्षासे न होना सो 'नास्ति' धर्म है। इसप्रकार उसमें अनेक गुण हैं। इन समस्त गुणोंके एकत्रित होते हुए भी 'चंदन सुगन्धित है' इसप्रकार एक गुणको भिन्न करके पहचान कराना, सो व्यवहार है।

जिन्हें निश्चय-व्यवहारका ज्ञान नहीं है, वे इस सातवीं गाथाका अर्थ अन्यथा करते हैं, उनकी इस भूलको दूर करनेके लिये इस गाथाका यहां विशेष स्पष्टीकरण करते हैं। चन्दनकी लकड़ीको अन्यसे भिन्न दिखानेके लिये उसके गुणोंको भिन्न करके दिखाते हैं, तो भी उसमें भेद नहीं होता। इसीप्रकार आत्माको परसे भिन्न पूर्णस्वरूपसे पहचान करानेके लिए उसके अनन्त धर्मोंमें से कुछ धर्मोंके द्वारा समझाया जाता है। जैसे—श्रद्धा करे सो आत्मा, स्व-पर को जाने सो आत्मा, जो अन्तरंग स्थिरतारूप चारित्रगुण है सो आत्मा है।" यह तीनों गुण प्रतिसमय आत्मामें एक साथ-अभिन्न रहते हैं। परन्तु जो अज्ञानी समझता नहीं है उसे एक-एक गुण पृथक् करके समझाना सो व्यवहार है। उसे समझाते हैं कि जैसे परका विश्वास करता है उसीप्रकार पुण्य-पाप विकाररहित अपना विश्वास करे, ऐसा गुण आत्माका है। अपना ज्ञान स्व-परका जाननेवाला है। पुण्य-पाप तथा परके आश्रयसे रहित आत्मामें एकाग्रताका होना सो चारित्र है। परन्तु इसप्रकार तीनों गुण पृथक् नहीं हो जाते। निश्चयसे समस्त गुणोंका एकत्रित पिण्ड जो ज्ञायक है उसे अभेदरूपसे देखें तो

"दर्शन नहीं, ज्ञान नहीं, चारित्र नहीं," अर्थात् ये गुण पृथक्-पृथक्-रूपसे विद्यमान नहीं हैं, परन्तु अनंतगुण अभिन्न हैं। भेदरूपसे लक्ष करने पर मनके सम्बन्धसे विकाररूप भेद पड़ जाते हैं। उस विकल्पके लक्ष द्वारा अन्तरंगमें स्थिरता नहीं हो पाती और अभेद स्थिरस्वरूप आत्माका अनुभव नहीं होता।

जो एक साथ सर्वगुणोंके अभेद पिण्डको अखण्ड निर्मल-दृष्टिसे देखा जाय तो दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेदरूप विकल्प नहीं उठते। एक समयमें ध्रुवस्वभावी अनन्तगुणस्वरूप अखण्ड पिण्ड आत्मा है, ऐसा निश्चयस्वरूप यहाँ बतलाते हैं। आत्मा अखण्ड ज्ञायक-स्वरूप है, इसलिये उसमें गुणके भेदका निषेध इस सातवीं गाथामें किया है।

एक गुणको पृथक् करनेकी ओर लक्ष करे तो मनके सम्बन्धसे विकल्प होने पर आत्मामें निर्विकल्परूप अभेद नहीं हो सकता। भिन्न-भिन्न गुणोंका विकल्प छोड़कर निर्मल सम्पूर्ण तत्व पर लक्ष करे तो "मैं दर्शन हूँ, ज्ञान हूँ, चारित्र हूँ," ऐसा एक-एक गुण भेदरूप लक्षमें नहीं आता अर्थात् दर्शन, ज्ञान, चारित्रका विकल्प-रूप राग उत्पन्न नहीं होता। "मैं स्थिर होना चाहता हूँ," ऐसी वृत्ति शुभराग है। "मैं एकाकी-भेदरहित अखण्ड वस्तु हूँ," इसप्रकार एकत्वका अनुभव करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्रका भेद करने वाला विकल्प विद्यमान नहीं है। सम्यग्दर्शनका विषय अभेद है। और वहाँ निर्विकल्प दशा है।

यह जौहरी बननेके लिये प्रथम उम्मेदवारीके समान है। आत्माकी परीक्षा करनेके लिये और पराधीनताको दूर करनेके लिये परसे शुभ-अशुभरूप विकल्पसे किसप्रकार भिन्न है, इस बातको सावधानीपूर्वक सुननेमें और समझनेमें तत्पर रहना सो यह जौहरीकी दुकान पर पानी भरते-भरते (पानी भरनेकी नौकरी करते-करते) जवाहरातका व्यापार सीख जानेके समान है।

जो अभेदस्वरूपमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद करके विकल्प

करनेमें व्यस्त हो गया उसे अभेद अनन्तगुणोंके पिण्ड निर्विकल्प आत्माका लक्ष नहीं होता, और ऐसा लक्ष हुए विना निर्मल श्रद्धा नहीं हो सकती। यहां चौथा गुणस्थान प्राप्त करनेकी बात कह रहे हैं। जिसे निर्विकल्प अभेदकी श्रद्धा नहीं है उसीके लिये यह बात कही जा रही है।

दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद किये जाते हैं, यह व्यवहाररूप शुभविकल्प है। उस भेदका निषेध करने वाले ज्ञानीको तो निश्चयसे एकत्व है।

ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि जीव तो एक ज्ञायक है। अर्थात् तीन गुणों का भेद किये बिना, अखंड ज्ञायककी ओर लक्ष रखता है। किसीको अच्छी कारीगरी (नक्काशी) किया हुआ सोनेका मुकुट मिल जाय, और वह सुनारके यहाँ वेचने जावे, और तब सुनार उससे कहे कि "इसमें चाहे जितनी बारीक नक्काशी (कारीगरी) हो, हम इसका मूल्य नहीं देंगे, किन्तु मात्र सोनेकी ही कीमत देंगे, क्योंकि हमारे लिये कारीगरीकी कोई कीमत नहीं है," इसीप्रकार आत्मा परसे निराला राग-द्वेष, पुण्य-पाप, मन, शरीर, वाणीसे भिन्न है, उसमें मैं ज्ञान-दर्शन वाला हूँ, इसप्रकार मनके द्वारा भेदरूप कारीगरी अन्तरंगमें निर्णय करनेके लिये प्रथम आवश्यक थी, परन्तु अभेद लक्षके समय भेद (कारीगरी) का मूल्य नहीं है। प्रथम मनके द्वारा भेद करके सम्पूर्ण स्वरूपको पहचाननेके बाद गुणके विकल्परूप भेदको दूर करनेके लिए अभेदके लक्षद्वारा भेदका निषेध किया गया है।

माल लेते समय विकल्प करता है, उसका मूल्य तय कर लेनें पर तौलते समय तक विचार (विकल्प) आते हैं, परन्तु खाते समय उस सबका विचार नहीं किया जाता। इसीप्रकार प्रथम आत्माको समझनेके लिये "ज्ञान है, श्रद्धा है, सामान्य-विशेषरूपसे आत्मा ऐसा है," ऐसा ज्ञानद्वारा विचार करते समय दर्शन, ज्ञान, चारित्रके विकल्प होते हैं, परन्तु ज्ञानद्वारा तौल (निश्चय-माप) करनेके बाद, अभेद

निर्मल आत्माकी श्रद्धा करते समय और उसमें स्थिर होते समय उसके विकल्प नहीं होते। जैसे कि माल तोलते समय तराजू और बांटकी जरूरत होती है, परन्तु खाते समय तराजू आदि एक तरफ पड़ी रहती है, इसीप्रकार आत्माका निश्चय करनेके बाद एकाग्र अनुभवके समय चारित्र आदिके विकल्प करनेकी आवश्यकता नहीं होती। "मैं ज्ञान हूँ, उसमें स्थिर होऊँ," ऐसे शुभभावके विकल्पमें अटक जाय तो निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। यदि विकल्पके द्वारा ही आत्माके दर्शन, ज्ञान, चारित्र माने तो ऐसे मनके शुभभाव तो आत्मा अनन्तवार कर चुका है। "मैं निर्विकल्प शुद्ध हूँ, अनन्त गुणोंसे अभेद हूँ," ऐसी श्रद्धाका अभेदरूपसे आत्मामें अनुभव होने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके भिन्न-भिन्न भेद ज्ञानीके नहीं रहते। प्रथम आत्माकी श्रद्धाके समय एकाग्रता होने पर निर्विकल्प आत्माका अनुभव होता है और आगे बढ़ने पर विशेष चारित्रमें इसप्रकार निर्विकल्पताका ही अनुभव होता है। भेद हो तो विकल्प होते हैं। ऐसा समझे विना कोई एकान्तमें एक जगह बैठ जाय तो मात्र इतनेसे ही आत्मानुभव नहीं हो जाता। प्रथम सत्य-असत्यका निर्णय होनेके बाद अनुभव होता है।

व्यवहार अर्थात् बांट-तराजूके समान शुभभाव आत्माने अनन्तबार किये हैं, किन्तु परसे भिन्न अविकारी चिदानन्द भगवान आत्माको सम्यग्ज्ञानके मापमें लेकर निश्चय नहीं कर सका।

एक आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भेद करनेसे क्रमकी अपेक्षा होती है, क्रममें मनकी अपेक्षा होती है, इसप्रकार भेदद्वारा एकाकार गुणदृष्टिका अनुभव प्रगट नहीं होता और अन्तरंगमें अभेद-एकाग्रता नहीं होती।

टीकाः—यह ज्ञायक आत्माकी बंध पर्याय (कर्मके सम्बन्ध की अवस्था) के निमित्तसे क्षणिक अशुद्धता होती है, वह तो दूर ही रही, उसे जो अपना मानता है सो मिथ्यादृष्टि है, परन्तु 'दया पालूँ, व्रत आदरूँ' आदि जो शुभविकल्प हैं वह अशुद्धभाव (विकार) है, उसे भी जो अपना मानता है अर्थात् हितकर मानता है सो मिथ्यादृष्टि

है। वह अशुद्धता तो दूर रही परन्तु ज्ञायक आत्माके एकत्वमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी विद्यमान नहीं है, अर्थात् एकवस्तुमें तीन भेद नहीं होते। जो ऐसा नहीं समझते, उन्हें सन्देह उत्पन्न होता है। यदि अपनी कल्पनासे पढ़े तो आगम भी अनर्थकारक हो जाता है। समयसार परम आगम है, इसमें सर्व समाधान हैं। अलौकिक बातें कही हैं, परन्तु गुरुगमके बिना समझमें नहीं आ सकती। समस्त गुणोंका पूर्णपिण्ड आत्मा है, इसीलिये अभेद जाननेके लिए कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र भिन्न-भिन्न विद्यमान नहीं हैं, परन्तु ऐसा किसने कहा है कि वे गुण ही नहीं हैं।

घी, गुड़ और आटेको मिलाकर लड्डू बनाया हो, और फिर उसमेंसे घी, गुड, आटेको अलग कर डालो तो लड्डू रूप वस्तु ही न रहेगी, इसीप्रकार आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी एकता है। उसके भिन्न-भिन्न भेद करके विचारके द्वारा टुकड़े करना ठीक नहीं है।

गुणका भेद करके विचार करे तो विकल्प उत्पन्न होता है, अभेदका अनुभव नहीं होता। जिसे आत्मानुभवरूपी मोदक खाना हो उसे तीन गुणोंका भेद करके शुभविकल्प करनेमें अटकना नहीं भायेगा। बाह्य-स्थूल आलम्बनकी तो बात ही क्या, परन्तु सूक्ष्म विकल्पोंका भी यहाँ निषेध है। लोगोंको ऐसा उपदेश सुननेको नहीं मिलता, और अन्तस्तत्त्वकी विचारणा बहुत कम होती है। जिससे आत्माका गुण प्रगट हो ऐसा श्रवण-मनन प्राप्त नहीं होता, परन्तु जिस भावसे अनन्तभव बढ़े ऐसी उल्टी मान्यता और परमें कर्ता-भोक्ताकी बातें माननेवाले और मनानेवाले बहुत मिलते हैं।

आत्मामें दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं अर्थात् जहाँ अखण्ड निर्विकल्परूप लक्ष करना है वहाँ भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत नहीं होते, अपितु अनन्तगुणोंका पिण्ड निर्मल ज्ञायक एकस्वरूप प्रतीत होता है। परमार्थसे एकत्वस्वरूपमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेदरूप नहीं हैं।

अनन्तधर्मों वाले एक धर्मीकी पहिचान करनेमें जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यके लियें अनन्तधर्मस्वरूप आत्माकी पहिचान करानेवाले कितने ही धर्मोंके द्वारा उपदेशकर्ता–आचार्यगण अभेदके लक्षसे–नामसे भेद कर देते हैं कि सत्–चित्–आनन्द (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र) का धारण करने वाला आत्मा है, परन्तु परमार्थसे आत्मामें तीनों गुणोंके भिन्न–भिन्न भाग नहीं हैं अतः भेद विद्यमान नहीं हैं।

प्रश्न—आत्मा कैसा है ?

उत्तर—आत्मा अनन्तधर्म अर्थात् अनन्तगुणस्वरूप है। जानना, श्रद्धा करना, वीर्य, अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व आदि अनन्त-गुण आत्मामें एक साथ विद्यमान हैं। एक वस्तु अनन्तगुणोंका पिंड है। ऐसे आत्माको जाननेमें जो शिष्य प्रवीण नहीं है उसे कितने ही गुणों द्वारा नामसे भेद करके व्यवहारमात्रसे ही ऐसा उपदेश देते हैं कि ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। जो निष्णात नहीं है ऐसे निकटवर्ती शिष्यको अर्थात् जो अज्ञानी समझना चाहता है उसे कहा जाता है; जो ज्ञानी है उसे तो खबर है ही।

कोई कहता है कि तेरहवें या सातवें गुणस्थान और उससे ऊपरकी यह बात है। किन्तु ऐसा नहीं हैं। लोगोंको सत्य बात मुश्किलसे सुननेको मिलती है, वहाँ तत्वके विरोधी ऐसा असत्य कह-कर भड़का देते हैं। आचार्य तो कहते हैं कि जो शिष्य 'अनन्तधर्मवाला आत्मा कैसा है' इस बातको नहीं समझा, परंतु निकटवर्ती है अर्थात् पात्र है. (समझनेके लिए निकट आया हुआ है) उसीसे यह बात कहते हैं। अनन्तकालसे जिस स्वरूपको नहीं समझा कि वह कैसा है, किन्तु समझनेकी उत्सुकता वाला है, वह निकटवर्ती है; उसे यह बात समझाई जाती है। जो नहीं समझता वह पूछता है; उसे 'तू एकरूप अभेद आत्मा है' ऐसा कह दे तो वह अनन्तधर्मस्वरूप वस्तु को कभी समझेगा ही नहीं।

परमार्थसे आत्मा निर्विकल्प, निरावलम्बी है, अनन्तगुणका पिण्ड है। उसकी श्रद्धामें भेद करनेरूप विकल्पका भी अवकाश नहीं है, तो भी जो समझना चाहता है उसे भेद करके एक-एक गुणद्वारा अभेद आत्मा का लक्ष करने के लिये व्यवहारमात्रसे भेद करना पड़ता है।

श्रीगुरु कहते हैं कि—अभेदस्वरूपको जीव लक्षमें ले सके इसलिए भेदका कथन करना पड़ता है, जैसा हम समझते हैं वैसा निकटवर्ती (सत्य समझनेका अभिलाषी) शिष्य पूर्णतया समझ लेगा। इस कथनका यह आशय है कि अध्यात्मशास्त्रका भाव चाहे जिससे सुने अथवा स्वयं ही पढ़े तो स्वच्छन्दरूपसे यह अपूर्व आत्मबोध प्रगट नहीं होता। एकबार साक्षात् ज्ञानीके पाससे गुरुगमरूप सत्समागमसे साक्षात् सुनना चाहिये। 'दीपकसे दीपक जलता है' इस सिद्धान्तके अनुसार उपादान सत्को ग्रहण करनेको तैयार हो तो वहाँ ज्ञानीकी उपस्थिति होती ही है।

"बुझी चहत जो प्यास को, है बूझनकी रीत;
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थित ॥"
(श्रीमद् राजचन्द्र)

जिस मनुष्यको अधिक प्यास लगी हो और वह जल पीने जावे तो जल प्राप्त कर लेता है, उसीप्रकार सर्वज्ञ भगवानने आत्माको कैसा कहा है, उसका वास्तविक स्वरूप कैसा है, इसकी जिसे प्रबल जिज्ञासा है, वह सत्समागम प्राप्त कर लेता है, परन्तु स्वयं अकेला ही शास्त्र पढ़े तो उससे वह समझ नहीं सकता। ये तो सूत्र हैं।

जैसे अभ्रकके पटलमेंसे परतमेंसे परत निकलते चले जाते हैं वैसे ही एक शब्दमेंसे कई कई अर्थ निकलते जाते हैं।

निकटवर्तीका अर्थ "ज्ञानीके पास आकर उपस्थित" होता

है। निकट दो प्रकारसे होता है-(१) क्षेत्रसे निकट, (२) भावसे निकट। बाह्यमें जो साक्षात् ज्ञानीके पास आया है वह क्षेत्रसे निकट है और अन्तरंगसे समझनेकी जिसकी तैयारी है वह भावसे निकट है। एकवार ज्ञानीके समीप पहुँचना चाहिये। इस कथनमें दूसरोंसे भिन्न ज्ञानीकी पहिचान कराने वाला अपना विवेक है। ज्ञानीकी प्राप्ति होनी चाहिये यह कहनेमें पराधीनता नहीं है। जो स्वयं पात्र बन गया है उसे ज्ञानीका योग न मिले ऐसा कभी नहीं होता। इसीलिये श्रीमद् राजचन्द्रने सत्समागम पर बारम्बार भार दिया है।

"मैं स्वयं ही तत्त्व समझ लूँगा," ऐसा नहीं मानना चाहिये, तथा तेरी शक्तिके बिना, किसी निमित्तसे तत्वज्ञानकी प्राप्ति हो जायगी, ऐसा भी कभी नहीं हो सकता। यदि तू समझे तो निमित्तमें आरोप हो, और तेरी पात्रता हो तो मुझे समझानेमें सद्गुरु निमित्त हुए, ऐसा व्यवहारसे कहा जायगा।

बहुतसे जीवोंको सत्के समझनेकी प्रबल आकांक्षा अंतरंगसे पैदा होती है, तब वे संसारमेंसे उन्नति क्रमसे आगे बढ़े हुए ज्ञानी तीर्थंकररूपसे जन्म लेते हैं। उनके निमित्तसे जो योग्य जीव होते हैं, वे सत्यको समझलें ऐसा मेल हो ही जाता है। तीर्थंकर किसीके लिए अवतार नहीं लेते तथा कोई ईश्वर अवतार नहीं लेता।

कितने ही कहते है कि समयसारमें बहुत सूक्ष्म अधिकार है, परन्तु अनंतकाल बीतने पर भी जिसकी प्रतीतिके बिना जीव जन्म-मरणके दुःख भोग रहा है, उन दुःखोंके दूर करनेके लिये ही यह वस्तु कही जाता है। दुनियादारीके लिए चौबीसों घण्टे मजदूरी करता है, जिसके फलमें सुख नहीं है। अनन्त जन्म-मरण किये उसमें एक क्षण भी आत्माका भान नहीं किया। यदि कोई व्यावहारिक संसारकी कला आ जाय तो वह पूर्वजन्मके पुण्यका फल समझना चाहिये, वर्तमान पुरुषार्थका नहीं। पूर्वजन्ममें सत्य, दान, ज्ञानके कुछ शुभभाव किये थे, उससे ज्ञान सम्बन्धी आवरण कम हो

गया और पुण्यबन्ध हुआ था, उसीके फलरूप वर्तमानमें बुद्धि और पुण्यके संयोग मिले हैं, इसलिये यदि कोई कहे कि हमने सांसारिक चतुराई बहुत की, इससे पैसा, बुद्धि आदिकी प्राप्ति हुई है तो यह बात मिथ्या है।

संयोग मिलनेसे कोई सुख-सुविधा नहीं होती। परवस्तु आत्मतत्वको किंचित्मात्र लाभकारक या हानिकारक नहीं है। 'मैंने ऐसा किया इसलिए ऐसा हुआ' यह मान्यता मिथ्या है। संयोगसे जो वर्तमान जानकारी हुई है व अनित्य बोध है, वह ज्ञान पाँच इन्द्रियों और मनके क्षणिक संयोगके आधीन होनेसे इन्द्रिय आदि संयोगका नाश होनेपर, नाश होजाता है।

प्रश्न—यदि पढ़ने न जाय तो ज्ञान कैसे प्रगट हो?

उत्तर—जो पूर्वकी प्रगटता लेकर आया है उसे पढ़नेकी इच्छा हुए बिना नहीं रहेगी।

पैसा कमानेकी इच्छा या सांसारिक पढ़ाई (कुशलता) प्राप्त करनेकी इच्छा नए अशुभभाव हैं। पैसेकी प्राप्ति और लौकिक ज्ञानकी प्राप्ति वर्तमानका पुरुषार्थ फल नहीं है, परन्तु पूर्वका फल है। वर्तमानमें स्वकी ओर रुचि करके प्रतीति करे यह वर्तमान नये पुरुषार्थसे हो होसकता है। बाह्य संयोगोंकी प्राप्ति होना पूर्वपुण्यके आधीन है, परन्तु अंतरंगमें सच्ची समझकी रुचिका पुरुषार्थ करना पूर्वकर्मके आधीन नहीं है। संसारके लिये जितना राग करता है, वह विपरीत पुरुषार्थ है, उसका फल नया बंध है। यदि बाह्य सामग्री प्राप्त करनेके लिये राग, द्वेष, मोह करे तो उस वर्तमान विपरीत पुरुषार्थका फल नया बंध होता है। राग-द्वेष स्वयमेव नहीं हो जाते या कोई बलात् नहीं कराता, परन्तु स्वयं बुद्धिपूर्वक उसे करता है, इसलिए जो वर्तमान राग-द्वेष होते हैं वे विपरीत पुरुषार्थसे होते हैं।

इसप्रकार दो बातें हुईं:-(१) पूर्व कर्मके फलरूप बाह्य संयोगकी प्राप्ति और (२) उसके प्रति नई खटपट अर्थात् राग-द्वेषकी प्रवृत्ति करनी (जो कि नवीन बंध है)।

अब तीसरी बात यह है कि वर्तमानमें लौकिक ज्ञानका प्रागटच अधिक दिखाई देता है, वह पहले शुभभावोंसे जो आवरण कम किये थे उसका फल है। वह पूर्वकी प्राप्तिरूपमें भीतर विद्यमान था जो कि अमुक कालमें बाहर दिखाई देता है, वह वर्तमान बुद्धिमत्ताका फल नहीं है। डाक्टर बननेकी कला सीखनेके लिए बंदरके शरीरके अवयवोंको काटता है, मेंढ़कोंको चीरता है, तथापि उसके फलस्वरूप कला प्रगट होती है और पैसा भी मिलता है, यह कैसे हो सकता है ?

कसाई हजारों गायोंको काटकर पैसा कमाता है और आनन्द करता हुआ दिखाई देता है, वकील झूठ बोलकर हजारोंकी आमदनी करते हैं; व्यापारी धोखा करके कमाई करते हैं; तो विचार करो कि वर्तमानमें जो यह सब पाप करते हैं, तो क्या पापके फलसे सुविद्या, बुद्धि या पैसा मिल सकता है ? कदापि नहीं। फिर भी मनुष्य "वर्तमान पुरुषार्थसे हमने यह प्राप्त कर लिया या बुद्धिमान बन गये" ऐसा मानते हैं। किन्तु यह मान्यता मिथ्या है। जिसके कारणमें पाप है उसका फल तो पापबन्ध ही होता है। वर्तमानमें तो पूर्वके संग्रह किये हुऐ पुण्यका फल भोगता है।

अनन्तकालमें आत्मा कौन और कैसा है यह नहीं समझा है, इसलिये उसका समझना अपूर्व है। उसमें वर्तमान नया पुरुषार्थ काम करता है। उसे समझे बिना अनन्तबार पुण्य-पाप करके उसके फलरूप अनंत भव किये; अनंतबार धर्मके नामसे पुण्य किया; उसके फलसे उच्च देव और राजा हुआ; महान् बुद्धिशाली मंत्री हुआ; परंतु अपूर्व तत्वको नहीं समझा। यथार्थ समझके लिए एकबार ज्ञानीसे सत्‌का उपदेश सुनना चाहिये।

> तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
> निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥

(पद्मनन्दि-पंचविंशतिका)

जिस जीवने प्रसन्नचित्तसे इस चैतन्यस्वरूप आत्माकी बात

भी सुनी है, वह भव्य पुरुष भविष्यमें होनेवाली मुक्तिका अवश्य भाजन होता है। प्रसन्नचित्तसे अर्थात् अंतरंगके उत्साहसे, कि 'अहो! सत्समागम द्वारा पहले ऐसा कभी नहीं सुना'। अपने आप पढ़कर समझले सो बात नहीं है परन्तु जो साक्षात् ज्ञानीसे शुद्ध आत्माकी बात सुनकर अन्तरंगमें निर्णय करता है वह भावी मुक्तिका भाजन होता है। चारों गतिमें फिरते हुए सबसे कम मनुष्यभव किये, (कोई जीव शुभभावोंकी टिका रखे तो लगातार अधिकसे अधिक मनुष्यके आठ भव होते हैं) तो भी जीव अनन्तबार मनुष्य हुआ। मनुष्यभवसे असंख्यगुने नरकके भव धारण किये। (पंचेन्द्रियका वध, शिकार, गर्भपात इत्यादि तीव्र पापोंका फल नरकगति है। यह उक्ति वहुतवार कही जाती है। मनुष्योंको दुःखका भय दिखानेके लिए यह कल्पना नहीं की है), इन नरकके भवोंसे भी असंख्यगुने स्वर्गके भव धारण किये, और वे भी अनन्तबार किये। और इन स्वर्गके भवोंसे भो पशु तिर्यंचोंमें एकेन्द्रिय (वनस्पति इत्यादि) में अनन्तानन्त भव धारण किये हैं; ऐसा सर्वज्ञ भगवान कहते हैं। पूर्वमें तीव्र कपट, वक्रता इत्यादि की, उसके फलस्वरूप तिर्यंचोंके टेढ़ेमेढ़े शरीर मिले हैं।

प्रश्न—पूर्वभव कैसे माना जाय?

उत्तर—आत्मा वर्तमानमें है। और जबकि है तो उसका आदि नहीं है तथा अन्त भी नहीं है। जबकि यह भव है तो पूर्वभव भी था ही। जैसे घी का फिर मक्खन नहीं बन सकता उसीप्रकार यदि मोक्षदशा प्रगट करली हो तो फिर अवतार नहीं हो सकता। आत्मा अनादिसे संसारदशामें अशुद्ध है। शुभ-अशुभरूप अशुद्धभावका फल चार-गतिका भ्रमण है। अनन्तकालसे अपनेको नहीं समझा इसलिए आत्मा संसारमें रुलता फिरा है।

जैसे डिबियामें रखा हुआ हीरा डिबियासे अलग है उसीप्रकार मन, वाणी, देह और पुण्य-पाप विकार आदिसे भगवान-चैतन्यमूर्ति आत्मा अलग है, वह देहरूपी डिबियासे अलग है।

यह सातवीं गाथा जिसे बराबर समझमें नहीं आती वह विरोधमें कहता है कि इस गाथामें तो कहा है कि दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माके नहीं हैं, तो क्या आत्मा दर्शन, ज्ञान, चारित्र रहित अर्थात् जड़ है? विकल्प और गुणके भेद उस अभेद आत्माका स्वरूप नहीं हैं, यह कहा है, ऐसा लक्ष्यमें न लेकर वे ऐसा कुतर्क करते हैं कि गुणोंको तो उड़ा ही दिया; पहला घड़ा उल्टा रखा जावे तो उसके ऊपर जितने घड़े रखे जावेंगे वे सब उलटे ही रखे जावेंगे। इसीप्रकार चैतन्य-भगवान आत्मा परसे भिन्न और अपने अनन्तगुणोंसे अभिन्न है। इस बातको जो वास्तविकरूपसे नहीं समझे तो उसके जितने भी तर्क होंगे वे सब विपरीत ही होंगे।

बाह्यसे धर्म होता है ऐसा लोगोंने अनादिसे मान रखा है, उससे यह जुदी बात है। कोई आत्मा परकी क्रिया नहीं कर सकता। ज्ञानी पुण्य-पाप-विकारका स्वामी नहीं है, इसलिए वह उसका कर्ता नहीं होता किन्तु वह अपने अविकारी स्वभावका कर्ता होता है। अविकारीकी श्रद्धा द्वारा विकारका निषेध होने पर भी पुरुषार्थकी मन्दता है इसलिये पुण्य-पापका भव होता है, परन्तु उसका स्वामी या कर्ता ज्ञानी नहीं होता। जो अपनेको विकारोंका और शरीरादि जड़की क्रियाका कर्ता मानता है उसे अविकारी-ज्ञायक स्वरूपका भान नहीं है।

यह सच्ची श्रद्धाका विषय है। मुनित्व, श्रावकत्व और चारित्रकी योग्यता तो सच्ची श्रद्धाके बाद ही आ सकती है। आचार्य कहते हैं कि जिसे सच्ची श्रद्धा नहीं है उसे सच्चा मुनित्व, श्रावकत्व या चारित्र नहीं हो सकता।

अविकारी-निरावलम्बी वीतरागस्वभावकी यथार्थ श्रद्धा और अंशरूप स्थिरता होने पर भी निम्नदशामें पुण्य-पापका विकार होता है, तो परन्तु उसे अखण्ड प्रतीति है मेरा ज्ञायकस्वभाव पुण्य-पापका नाशक है, रक्षक नहीं। जबतक पहले ऐसी श्रद्धा न करे

तबतक आत्मस्वभाव समझनेकी और उसे प्राप्त करनेकी योग्यता भी नहीं आती।

यहाँ कहते हैं कि चिदानन्द भगवान आत्माको क्षणिक-विकार कहनेकी बात तो दूर रही, परन्तु गुण-गुणीके भेदका लक्ष भी छोड़ो। आत्मा स्वरूपसे अनन्तगुणोंका अखण्ड पिण्ड है, उसमें अभेद लक्ष न करे, और ज्ञान, दर्शन, चारित्रके विकल्पोंके द्वारा तीन भागों पर दृष्टि रखे तो उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं होती। जिसका परमार्थ स्वरूप निर्मल है, वैसा उसका भान न करे और पुण्य-पाप-की प्रवृत्तिमें समय बिता दे तो उस जीवनका क्या मूल्य है? मात्र लोगोंमें दिखावट "हास्य और स्पर्धा" करके धर्म मानता है, कोई बाह्य लौकिक नीति द्वारा ही सब कुछ मान लेता है, परन्तु यह कोई अपूर्व बात नहीं है।

किसी बड़े-बूढ़ेके मरने पर लोग कहते हैं कि वेचारा बूढ़ा हरी-भरी वाटिका (घर-परिवार) छोड़कर चला गया है, परन्तु ममताको लेकर और पूर्व-पुण्यको जलाकर आत्मा दुर्गतिमें गया है, यह कोई नहीं विचारता। अहो! जो ऐसे परम सत्यकी महिमा एक-बार सुने, अन्तरंगसे प्रतीति करे, उसके लिए मोक्षकी फसल पक सकती है। अपूर्वश्रद्धा द्वारा जिसने सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया उसे बहुमूल्य मनुष्य भव मिला, परन्तु वह व्यर्थ ही गया।

लोग कुनैन पीनेसे पूर्व ही यह विश्वास कर लेते हैं कि कुनैन पीनेसे बुखार उतर जाता है, इसीप्रकार पहलेसे ही यह विश्वास करना चाहिये कि मैं राग-द्वेष-अज्ञानसे रहित ज्ञायक हूँ।

कोई कहे कि कुनैनसे बुखार उतरता है, तब परमाणुओंमें होने वाले सूक्ष्म परिवर्तनको हम नहीं देख सकते, परन्तु उससे बहुतों-का बुखार उतरा है, इसलिये ऐसा मान लेते हैं। उसीप्रकार विकारका सर्वथा नाश करके सम्पूर्ण निर्विकारी शुद्धस्वरूप अनन्त आत्माओंने प्रगट किया है, इसलिये ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा राग-द्वेष, अज्ञान-रहित मात्र ज्ञायक है, ऐसा मानना चाहिये।

व्यवहारसे कहा जाता है कि ज्ञानीको दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है, परन्तु परमार्थसे देखा जाय तो अनन्त पर्यायोंको एक द्रव्य अपनेमें समागया है, इसलिये एकरूप किंचित् एकमेक मिला हुआ आस्वादरूप अभेद ज्ञायकत्व ही है। आत्मामेंसे गुण नया प्रगट नहीं होता, परन्तु पर्याय प्रगट होती है, ज्ञानीका अखण्ड द्रव्यपर लक्ष है, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आत्माकी पर्याय है, व्यवहार है, उस भेदको गौण करके आत्मा अखण्डानन्द, पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्रसे अभिन्न है, उसे श्रद्धामें (लक्षमें) लेना ही धर्मका मूल है। गुणके भेदरूप विकल्पका राग तोड़कर अन्तरंगमें एकाग्रतासे स्वको लक्षमें ले तो वुद्धिपूर्वक विकल्प टूटकर परमार्थस्वरूप निर्विकल्प अभेद स्वादरूप मालूम होता है। ऐसी वात कभी सुनी भी नहीं है, इसलिये मनुष्यको ऐसा लगता है कि सम्यग्दर्शन वहुत मँहगा कर दिया ! लोगोंने अपनी कल्पनामें वाह्यसे समकित मान रखा है।

लोग परस्पर एक दूसरेको अभिप्राय देते हैं कि तुम सम्यग्-दृष्टि हो; परन्तु सर्वज्ञदेवने कहा है कि वैसा यथार्थस्वरूप जाने विना वह श्रद्धा ऐसी है जैसे खरगोशके सींग !

यह तो "वीज" रूप वात कही जा रही है, उसका 'पोषण' करनेके लिये वहुतवार सुने और समझमें उसका मेल विठाये तभी 'फल' मिलता है।

यहां निर्विकल्प श्रद्धा करनेका अभेद विषय क्या है, यह वताया है। उसे समझने पर ही छुटकारा मिल सकता है। अद्भुत महिमाको वताने वाला यह समयसार अमृतका कुण्ड है, मधुर समुद्र है; यदि उसे स्वयं न जाने तो क्या लाभ ? श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने अचिन्त्य महिमा स्पष्ट करके वतादी है।

जिसे सुनते ही सहज चैतन्य–रत्नाकर भगवानकी महिमा उल्लसित होती है। जो अन्तरंगसे समझता है उसे अतीन्द्रिय स्वाद आये विना नहीं रहता। अपनी कल्पनासे शास्त्ररूपी समुद्रका विडोलन करके भीतरसे मिथ्या तर्क उठावे तो "पापकी मुट्ठीमें तो वस केवल

शंख समायें !" एकमात्र समयसार शास्त्रको पात्रता धारण करके सत्समागमसे सुनै और परमार्थको समझे तो अनन्त भवोंको तृष्णा-की भूख भाग जाये"।

जिसकी महिमा तीनों कालमें अनन्त सर्वज्ञ परमात्माओंने गाई है, उसकी वार्ता साक्षात् सुननेको मिलने पर भी अविकारी ध्रुव-स्वभावकी श्रद्धा न करे, यह कैसे हो सकता है ?

कच्चे चनेमें स्वाद भरा हुआ है, यह जानकर चनेको भून डाले तो फिर वह बोनेसे नहीं उगता किन्तु स्वाद देता है, वैसे ही आत्मामें अखण्ड आनन्द भरा है, वर्तमान अवस्थामेंसे भूलरूप कचास और अशुद्धता निकाल दे तो उसका प्रगट स्वाद आवे; इसलिये पहले मैं अखण्डानन्द पूर्ण हूँ, अविकारी हूँ, इस बातकी अन्तरंगमें श्रद्धा करनी चाहिए। पूर्ण निर्मल स्वभावकी श्रद्धा होते ही राग-द्वेष सब टल नहीं जाते, परन्तु अखण्ड गुणकी प्रतीतिके बलसे क्रमशः स्थिरता होने पर विकारका नाश होता है।

जैसे चनेमें स्वादकी उत्पत्ति, कचासका व्यय और उसके मूल स्वरूपकी स्थिरतारूप ध्रौव्यत्व विद्यमान है, उसीप्रकार आत्मामें मैं राग-द्वेषरहित निर्मल स्वरूप हूँ, ऐसी श्रद्धाके अपूर्व स्वादका उत्पाद, अज्ञानका व्यय और सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा ध्रुवरूप है ऐसी श्रद्धाकी महिमा सुने और माने तो आत्माका यथार्थ स्वरूप समझमें आ जाये।

ज्ञानमूर्ति आत्मामें भिन्न-भिन्न अनन्त गुण हैं, परन्तु उनका भिन्न-भिन्न विचार करनेसे एक अखण्ड वस्तु नहीं जानी जा सकती। गुण-गुणीके भेद करनेमें लगे रहना रागका विषय है, इसलिए उसके द्वारा निर्विकल्प अनुभव नहीं हो सकता। अखण्ड-स्वरूपके लक्ष-के विना निर्मल, निरपेक्ष वस्तु ध्यानमें नहीं आती और यथार्थ प्रतीति-के बिना आत्मामें स्थिर नहीं हुआ जाता।

जैसे राजाको उसके योग्य अधिकार और मानसे न बुलाएँ तो वह उत्तर नहीं देता; वैसे ही भगवान आत्माके सर्वज्ञको न्यायके

अनुसार जानकर, अनन्त गुणोंसे एकत्व पहिचानकर, उसका अभेदरूप लक्ष न किया जाय तो वह भी उत्तर नहीं देता अर्थात् साक्षात् निर्विकल्प अनुभव नहीं होता।

'मैं विकार हूं' ऐसा माने अथवा गुण-गुणीके भेदका लक्ष करे तो रागका विषय रहता है।

प्रश्न—जबकि निम्नदशामें राग रहता है तब फिर रागरहित दयाकी पहचान कैसे हो ?

उत्तर—वह सम्यग्दर्शन होने पर मालूम होती है। जबतक मनके सम्बन्धमें युक्त था तबतक बुद्धिपूर्वक राग रहता था। उसका लक्ष छोड़कर स्वमें अभेद लक्ष होनेपर बुद्धिपूर्वक राग छूट जाता है, और निर्विकल्पता आ जाती है, यही सम्यग्दर्शन है। आत्मसाक्षात्कार सर्वप्रथम चौथे गुणस्थानमें गृहस्थको होता है। गृहस्थदशामें राग होते हुए भी आत्मामें आनन्दका स्वाद आता है। प्रथम अल्पज्ञ दशामें ज्ञानका जो स्थूल व्यापार है, उस अपने ज्ञानको सूक्ष्म करके, ज्ञानके व्यापारको अन्तरंगमें अपनी ओर लगाकर निर्मल, अभेद स्वरूपका लक्ष करे तो वह बुद्धिपूर्वकके विकल्प छूट जाते हैं। ऐसी कोई अचिन्त्य महिमा गृहस्थदशामें हो सकती है और वह जन्म-मरण टालनेका उपाय है।

यदि कोई कहे कि "बहुत सूक्ष्म तत्व समझकर क्या करना है ? अन्तमें तो ध्यान ही करना है न ? इसलिये हम पहले से ही ध्यानमें लगें तो ?' परन्तु समझे विना ध्यान किसका करोगे ?

बहुत से लोग कहते हैं कि "चित्तवृत्तिका निरोध करो," परन्तु उनकी बात दोषपूर्ण है, क्योंकि वह बात नास्तिसे है। अपनी "अस्ति" क्या है, इसे प्रथम जाने विना चित्तवृत्तिका निरोध नहीं होता। पहचान होनेके बाद एकाग्रतारूप अन्तरंग व्यपारमें लगना, सो स्वमें स्थिरतारूप ध्यान है। उसमें चित्तवृत्ति सहज ही रुक जाती है, उसका निरोध नहीं करना पड़ता। हमें तो मनको बाहर जाते हुए

रोकना है। इसप्रकार परसे मनको दूर हटानेकी बात कितने ही लोग करते हैं, परन्तु स्वयं अस्ति क्या है? ज्ञायकस्वरूपमें स्थिर होना क्या है? इसकी जिन्हें खबर नहीं है उनका मन बाह्यकी ओर जायगा ही। परका अभाव विचारे, परन्तु स्वका सद्भाव कैसा है क्या है? इसके विचारके विना वह अनित्य जागृति है। वह राग–द्वेषको निकालना चाहता है, परन्तु किसको रखना है, और वह कैसा है, कैसा नहीं, वह क्या कर सकता है और क्या नहीं, इसकी खबरके विना वह जो कुछ मानता है, जो कुछ जानता है, जो कुछ आचरण करता है वह सब मिथ्या है। यथार्थ स्वरूपको जाने विना अनन्तबार जैन साधु हुआ परन्तु फिर भी संसारमें ही रुलता रहा।

आत्माको समझे विना राग–द्वेषको नहीं टाला जा सकेगा। यदि वस्तुको यथार्थ समझ ले तो राग–द्वेष सहज ही टलने लगेंगे। प्रथम श्रद्धामें निर्विकारी अखण्ड की उपस्थिति हो जाने पर सर्व बातों-को यथार्थरूपसे जान लेता है। न समझते हुए भी यदि कोई यह कहे कि हम तो "चित्तवृत्तिनिरोधरूप ध्यान करते हैं" तो उसका ध्यान नीमके वृक्षके मूढ़तापूर्ण ध्यानके समान है। "चित्तवृत्तिनिरोधो ध्यानम्" यह तो नास्तिसे बात हुई। सर्वज्ञका कथन तो यह है कि "एकाग्र-चिन्तानिरोधो ध्यानम्" (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९, सूत्र २७) इनमें अस्ति-से बात कही है। एकमें चित्तको एकाग्र करना, सो ध्यान है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द स्वरूपी है। उसके लक्षमें स्थित होने पर राग दूर होकर भीतर स्थिरता हो जाती है और रागका नाश सहज-में ही हो जाता है। इसप्रकार 'अस्ति' और 'नास्ति' दो होकर अखण्ड स्वरूप है

अनंतकाल तक यह बात सुननेको मिलनी कठिन है, जो इस समयसारमें स्पष्टरूपसे कही गई है। साक्षात् सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभुके मुखकमलसे निकली हुई वाणी सुनकर श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने चारित्र सहित अन्तरंगदृष्टिसे अनुभव की हुई बात जगतके सामने रखकर साक्षात् सर्वज्ञके न्यायका अमृत बहाकर धर्मके झरने प्रवाहित

क्रिये हैं । अनन्तकालकी भूख जिसे नाश करनी हो उसे सत्समागम-से सुनकर अविकारी आत्माको अखण्डरूपसे लक्षमें लेना चाहिये ।

मनके संबंधसे किंचित् पृथक् होकर गुण-गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेदरूपसे आत्माका अनुभव करना चाहिये ।

प्रश्नः—यदि आँख, कान बन्द करलें तो क्या विकल्प रुक सकते हैं ?

उत्तरः—'भीतर कौन है' इस बातको समझे और उसमें स्थिर रहे तो नाक-कानके कार्यकी ओर लक्ष न जाय, और तब वे बन्द हुए ही हैं, बन्द नहीं करने पड़ते । वनस्पति आदि एकेन्द्रिय जीवोंको भी तो इन इन्द्रियोंके चिन्ह नहीं हैं, तो क्या इसमें उन्हें राग-द्वेष नहीं है ? उन जीवोंके तो अनन्त मूढ़ताकी विकलता विद्यमान है ।

आत्मा अपने अनन्त गुण-पर्यायोंका पिण्ड है । पहले उसे यथार्थ जाने और जाननेके बाद रागसे दूर रहकर स्वभावमें एकाग्र हो जाय तो संकल्प-विकल्पकी आकुलता सहज ही टल जाती है । सत्‌के लक्षसे असत् (राग-द्वेषादि) टलता है । आत्मा परसे भिन्न है, यह जाने बिना परमार्थतः राग दूर नहीं होता । एकान्तमें जाकर अपनी कल्पनासे माने कि मुझे संसारका राग नहीं है, विकल्प नहीं है, परन्तु परमार्थसे आन्तरिक अभिप्रायमें राग-द्वेष घटा नहीं है, तो इसके परिणामस्वरूप वह जीव मूढ़ हो जायगा ।

आत्माका निर्विकल्प, निरावलम्बी, सहजस्वरूप समझे बिना जैन साधु होकर कषायकी इतनी मंदता की है कि अगर कोई जला भी दे तो उसपर क्रोध न करे, फिर भी भव कम नहीं हुए, धर्म नहीं हुआ क्यों कि 'मैं सहन करता हूँ' ऐसा जो विकल्प है सो राग है, धर्म नहीं । पहले राग-द्वेष पर लक्ष न करते हुए 'स्वाभाविक अस्ति' वस्तु त्रिकालमें क्या है यह जानना चाहिये । उसको जाने बिना ही रागादिका अभाव चाहता है, इसलिये नास्ति पक्ष (रागादिका नाश) नहीं हो सकता ।

'यह तो बहुत सूक्ष्म है' समझमें नहीं आ सकता । ऐसा मत मानो । यह बात सत्य है, त्रिकालमें सत्य है, अनन्तकालमें कभी नहीं

सुनी थी ऐसी यह बात है। तेरी महिमा बताकर तेरी लोरियां गाई जारही हैं। "मेरा पुत्र बड़ा सयाना है, चौकी पर बैठकर नहा रहा है, मामाके घर जायगा, खाजा, जलेबी खाएगा" ऐसे गीत बालकको सुलानेके लिए माता प्रशंसा करती हुई गाती है; किन्तु तुझे अनादिकी नींदमेंसे जागृत करनेके लिये सर्वज्ञ भगवान गीत गाते हैं कि 'तू आत्मा चिदानंद प्रभु है, परके आधीन नहीं है। तू तीनों कालमें स्वाधीन है'। यह तेरे स्वभावरूप धर्मकी जागृतिके गीत हैं। अनन्तकालसे तू अपनेको नहीं पहचान रहा है। गुण–गुणीके भेदके विचारमें या शुभरागमें अटका हुआ है, तब धर्म कहांसे हो सकता है।

इसी सातवीं गाथामें यह बताया है कि–परमार्थस्वरूपका आत्मामें अभेद अनुभव कैसा है। उसे नहीं समझने वाले अनेक कुतर्कोंसे शंका उठाते हैं। जिसे खोटी प्राप्ति हुई है वह उसको (खोटेपनको ही) प्रगट करता है। यहाँ श्री कुंदकुंदाचार्यने त्रिलोकनायक तीर्थंकर भगवानके पाससे जो सनातन सत्य प्राप्त किया है उसे जगतके समक्ष प्रगट किया है कि प्रत्येक वस्तु परसे भिन्न और स्वसे एकरूप है। आत्माके कोई गुण भिन्न नहीं हैं, तीनों कालकी पर्यायोंको अभेद करके अंतरंगके अनुभव द्वारा कहते हैं कि ज्ञानीको दर्शन, ज्ञान, चारित्र नहीं हैं, अर्थात् वे भिन्न–भिन्न नहीं हैं, वे सम्पूर्ण द्रव्यस्वरूपमें समा जाते हैं।

दर्शन, ज्ञान, श्रद्धा, चारित्र, वीर्य, अस्तित्व द्रव्यत्व इत्यादि समस्त गुण वस्तुस्वरूपसे एक हैं तथापि कार्यरूपसे कथंचित् भिन्न हैं। जैसे कि श्रद्धाका कार्य प्रतीति करना है, ज्ञानका कार्य जानना है, आनंदका कार्य आह्लाद अनुभव करना है, दर्शनका कार्य सामान्य प्रतिभास है, अस्तित्वका कार्य होनेरूप है। ज्ञान द्वारा समस्त गुण-भिन्न–भिन्न और किंचित् एकरूप हैं, ऐसा ज्ञात होता है। समस्त गुणोंका आनंद भिन्न–भिन्न है, तथापि ज्ञान सब गुणोंका एकरूप कैसे है, यह समझकर एकत्वको लक्षमें लेनेकी यह बात है। इस समझनेकी

विधिके अतिरिक्त तीन काल और तीन लोकमें और कोई उपाय नहीं है ।

एक होय त्रयकालमें, परमारथकौ पंथ ।
प्रेरे वह परमार्थको, सो व्यवहार समंत ॥
(आत्मसिद्धि गाथा-२६)

तत्वमें अविरोधरूप समझपूर्वक जो निर्मल ज्ञान है वही पुण्य-पापरहित अविकारी स्वरूपमें स्थिर रहनेको प्रेरित करता है । वह ज्ञानका स्थिरतारूप व्यवहार ज्ञानीको स्वीकार है । इसप्रकार स्वरूपको समझकर एकबार तो अन्तरंगमें लक्ष करले ! उसमें विकार तो क्या परन्तु गुण-गुणीकी भिन्नता भी नहीं है । वर्तमानमें ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभावका अनुभव करते हुए वस्तुमें जो अनंतगुण हैं वे किंचित् अभिन्न और गुणोंके स्वादभेदसे भिन्न हैं । एक स्वभावरूपसे अनुभवमें आने पर दर्शन, ज्ञान, चारित्रके भिन्न-भिन्न प्रकार अनुभवमें नहीं आवेंगे ।

सुख तो आत्मामें ही है । उसकी जगह लोग वाह्य पदार्थोंसे सुख मानते हैं, किन्तु वह कल्पना मात्र है । यह मकान ठीक है, लड़के-बच्चे अच्छे हैं, स्त्री अच्छी है, प्रतिष्ठा भी अच्छी है, इत्यादि कल्पना करके सुख मान रखा है । यद्यपि सुख अंतरंगमें है, किन्तु उससे विपरीत पर-निमित्तमें सुख मान रखा है । अज्ञानीने भ्रमके वशीभूत होकर सुखकी कल्पना करली है । लोग जैसा कहते हैं, वैसा वह मान लेता है, वाह्य अनुकूलतामें सुख-सुविधा समझकर अज्ञानी सुख मान लेता है । उस विकारके लक्षको और उसके स्वामित्वको छोड़कर मेरा अनन्त सुख मुझमें है, और वह मुझसे ही है, मुझमें अनंत गुणोंका अनन्त सुख है, इसप्रकार ज्ञानी अपने गुणको अखण्ड द्रव्यमें समाविष्ट करके अनंत आनन्दका अनुभव करता है । यद्यपि निम्नदशामें प्रगट आनंद अल्प है, किन्तु वह लक्षमें पूर्ण है ।

श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, विभुत्व, स्वच्छत्व, प्रकाशत्व अगुरुलघुत्व, प्रभुत्व, जीवत्व, चेतनत्व

इत्यादि समस्त गुणोंका स्वभाव भिन्न-भिन्न है, तथापि वस्तु एक-रूप है।

मनके शुभ भावसे कुछ छूटकर स्वभावका लक्ष करने पर वुद्धिपूर्वक विकल्प नहीं रहते, उस दशाको अनुभव कहा जाता है। ऐसे एकरूप अनुभवमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रका भेद नहीं है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र पर्याय है। इस पर्यायके भेदपर लक्ष जाना सो व्यवहार है। उस (भेद) के लक्षसे निर्मलता नहीं होती।

समयसारकी एक-एक गाथा अपूर्व है। अनन्तकालमें आत्मा इस वस्तुस्वभावको नहीं समझ सका, किंतु उसे समझनेके लिए अनंत-कालकी आवश्यकता नहीं होती। अज्ञानमें परिभ्रमण करते हुए अनंतकाल व्यतीत कर दिया, किंतु स्वाधीन आत्मप्रतीति करके मुक्त होनेमें अधिक कालकी आवश्यकता नहीं होती। अनन्त भवका अन्त करनेवाली वातको भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगतके समक्ष स्पष्ट प्रगट करते हैं कि विकार और गुणके प्रकारके भेदसे रहित मात्र ज्ञायक हूं; ऐसी दृष्टिके द्वारा अखण्ड स्वभावकी श्रद्धा करना ही मोक्षका मूल है। व्यवहारको समझानेके लिए, अन्य पदार्थोंसे आत्माको पृथक् दिखानेके लिये कथनकी अपेक्षासे गुण-गुणीका भेद करता हैं, किन्तु वस्तुको अखण्ड ज्ञायकरूपमें देखने पर उसके अनंतगुण एकरूप अनुभवमें आते हैं। उसमें विकल्प नहीं है, वुद्धिपूर्वक विकल्पका ध्यान भी नहीं है। ऐसी श्रद्धाका वल प्रथम ही धर्मका उपाय है, और वही मुक्तिका कारण है।

भावार्थः—शुद्ध आत्माको कर्मवंधके निमित्तसे अशुद्धता आती है यह बात तो दूर ही रहे, निमित्तरूपसे कर्मवंधका अनादिकालसे संयोग-सम्बन्ध है, उसमें युक्त होनेसे वर्तमानमें विकार-पुण्य-पापके भाव होते हैं वह भी दूर रहे, उनका सम्यग्दर्शनमें विचार नहीं करना है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्रका भी भेद नहीं है, क्योंकि वस्तु अनंतधर्मरूप एक धर्मी है।

आत्मा अनन्त धर्मरूप होनेपर भी वस्तुरूपमें एक ही है,

परन्तु अज्ञानी उसे भेदरूप धर्मोंसे समझ सकें इसलिये, आत्माका प्रगट लक्षण जाना जा सके ऐसे असाधारण गुणको, दूसरेसे लक्षण-भेदरूपमें बतानेके लिये इसप्रकार व्यवहारसे भेद करके कहा जाता है कि 'जो जाननेवाला है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है।'

अषाढ़की अमावस्याकी घनघोर रात्रि हो और उस समय अंधकारसे परिपूर्ण कमरेमें कोई सो रहा हो, और ऊपरसे तीन-चार रजाइयाँ ओढ़ रखी हों तथा आँखें बन्द हों; फिर भी वह सोता हुआ कहता है कि घोर अन्धकार है। यहाँ पर विचार करना चाहिये कि यह किसने जाना? जिसने जाना है वह स्वयम् जाननेवाला ज्ञातास्वरूप है, इसलिये उसने उसीसे जाना है, क्योंकि अन्धकारसे अन्धकार दिखाई नहीं देता। देह, इन्द्रिय और मन जड़ हैं, उनसे आत्मा नहीं जाना जा सकता, तथा उनके द्वारा आत्मा जानता भी नहीं है। शरीर जड़ है, उससे आत्मा भिन्न है। यदि उसे विशिष्ट ज्ञानगुणके द्वारा पहचाने तो जल्दी पहचाना जाता है। आत्मा एक-मात्र ज्ञानगुणरूप नहीं है, किंतु आत्मामें ऐसे अनन्तगुण हैं, उन सबको अज्ञानी नहीं जानता। इसलिए जो अन्य द्रव्यमें न हों ऐसे असाधारण गुणोंके द्वारा आत्माकी भेद-कथनसे पहिचान करानी पड़ती है।

ज्ञानीके दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। इसप्रकार परमार्थको बतानेके लिए कथनके द्वारा भेद करना सो व्यवहार है। गुण–गुणी का भेद करके जो समझानेकी रीति है सो व्यवहार है। परमार्थसे अर्थात् वास्तवमें देखा जाय तो आत्मा अनंत गुणोंका अभेद पिंड-रूप है। इसलिए समस्त पर्यायोंको पी गया है, अर्थात् द्रव्यमें त्रिकाल अनन्त पर्यायें और अनन्त गुण परस्पर समाविष्ट हैं, इसलिये लक्षण और कार्य भेदरूपमें भिन्न होने पर भी वस्तुरूपमें कोई गुण भिन्न नहीं है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि पर्याय भी द्रव्यका ही भेद है। जो जाननेकी क्रिया करता है सो ज्ञान है, जो प्रतीति करना सो श्रद्धा

है, और उसमें स्थिर होना सो चारित्र है। यह सब आत्माके ही गुण हैं, अवस्तु नहीं हैं, तब फिर उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? अपनी वस्तुके रूपमें अपने गुण अपने आश्रित हैं, उसे निश्चय कहना चाहिये। उसे व्यवहार कैसे कहा जा सकता है? शरीर, मन, वाणी तथा राग-द्वेषको जीवके व्यवहारसे कहो तो ठीक है, क्योंकि जो परभावके आश्रित है, उसे व्यवहार कहा जाता है, किन्तु ज्ञान-श्रद्धा-चारित्र जो कि निजवस्तुके आश्रित हैं उसे व्यवहार कैसे कहते हो?

समाधान।—यह सच है कि यह गुण आत्माके हैं, किंतु यहाँ आत्माको इसप्रकार बताना है कि द्रव्यदृष्टिसे अभेद निर्मल एकरूप स्वभाव सामान्य लक्षमें आता है। अभेददृष्टिमें भेदको गौण करनेसे ही अभेद वस्तुस्वरूप भलीभाँति मालूम हो सकता है। अनंत गुणसे अभेद आत्माको एकरूप समझाते समय भेदकथन गौण हो जाता है। इसलिये यहाँ पर गुण-गुणीके भेदको गौण करके उस भेदको व्यवहार कहा है। यहाँ पर यह अभिप्राय है कि भेद करने वालेके लक्षमें निर्विकल्पदशा नहीं होती और सरागीके विकल्प बना रहता है। गुणके विकल्प करते रहनेसे पुण्य होता है, निर्विकल्प अनुभव नहीं होता। छद्मस्थके राग रहता है इसलिये भेदपर लक्ष करनेसे रागमें रुक जाता है, इसलिये जबतक रागादिक न मिट जायें तबतक वर्तमान अवस्थाके विकार और उनके भेदको गौण करके अभेदस्वरुप निर्विकल्प अनुभव करनेका उपदेश दिया गया है। वीतराग होनेके बाद भेदाभेदरूप वस्तुका ज्ञाता हो जाता है। यदि पराश्रयके विकल्प किया करे तो मनके सम्बन्धका राग उठता है, यदि उसे हठसे छोड़ना चाहे तो नहीं छूटता। यदि समझे बिना एकाग्र होना चाहे तो मूढ़ता बढ़ जाती है।

अखण्ड निर्मलके लक्षसे निर्मल श्रद्धा-ज्ञान प्रगट होता है और फिर निर्मल चारित्रकी पर्याय प्रगट होती है। अनन्त धर्मस्वरूप अखण्ड वस्तु, उसके गुण तथा अनंत पर्यायोंका ज्ञान एकसाथ वीतराग-

के होता है, उनके ज्ञानमें क्रम नहीं होता, किंतु सरागी जीव भेद पर लक्ष करता है तब वहाँ एक पक्षका राग रहता है। पहले श्रद्धामें निर्विकल्प होनेके बाद जब चारित्रमें विशेष स्थिर नहीं रह सकता तब अशुभसे बचनेके लिए शुभमें लगता है, किंतु दृष्टि तो अखण्ड-स्वभाव पर ही रखता है, और उस अभेददृष्टिके बलसे चारित्रको पूर्ण कर लेता है।

छट्ठी गाथामें क्षणिक वर्तमान अवस्थामें विकारका लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूपका लक्ष करनेको कहा है और इस सातवीं गाथामें गुण-गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेद अखण्ड ज्ञायक-स्वरूपका लक्ष करनेको कहा है। इस अभेददृष्टिके बलसे क्रमशः रागका नाश और निर्मलताकी वृद्धि होकर केवलज्ञानकी पूर्णता प्रगट होती है।

प्रश्नः—ज्ञानीके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र क्यों नहीं हैं ?

उत्तरः—श्रद्धाका विषय त्रिकाल निरपेक्ष द्रव्य है और सामान्य ध्रुवस्वभाव अभेदरूपमें निर्मलरूपमें लक्षमें लेना है, तथा निश्चयका विषय भी अभेद निर्मल है, किन्तु निश्चयका विषय श्रद्धा-सम्यग्दर्शन नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्याय है और सम्यग्ज्ञान तथा चारित्र भी पर्याय हैं। एवं पर्यायके जो भेद हैं, वह व्यवहारका विषय है। ज्ञानीके दर्शन, ज्ञान, चारित्र विद्यमान नहीं हैं, क्योंकि वह पर्याय हैं, खंड है, व्यवहारनयका विषय है, और अभेददृष्टिमें-निश्चयमें बंध-मोक्ष, साध्य-साधक इत्यादि सब पर्यायें गौण हो जाती हैं। सामान्य-विशेष एक ही समयमें होते हैं उनमेंसे निश्चयके विषय पर दृष्टि करने वाला सम्यग्दृष्टि है, एक समयमें एक पर्याय प्रगट होती है, पर्याय-का भेद व्यवहारका विषय होनेसे अभूतार्थ है अर्थात् त्रिकाल विद्य-मान नहीं है, इसलिए शुद्धनयके द्वारा भेदको गौण किया जाता है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी पर्यायके ऊपरका जो लक्ष है वह निर्मलताका कारण नहीं है, उसमें शुभराग होता है; किंतु रागका अभाव नहीं होता। अखण्ड द्रव्य-सामान्यके ऊपरकी जो दृष्टि है,

वह सम्यग्दर्शन, चारित्र और केवलज्ञानका कारण है, सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड निर्मल सामान्य एकरूप है, इसलिये निर्मल पर्याय प्रगट होकर सामान्यमें मिल जाती है। सामान्य निर्मलके लक्षसे निर्मलता प्रगट होती है और भेदके लक्षसे राग रहता है। अखण्डके बलसे चारित्र प्रगट होता है, वह व्यवहार है, गौण है। व्यवहार मात्र ज्ञान करनेके लिए और उपदेशमें समझानेके लिए है। 'पूर्ण निर्मल हूँ' ऐसी अखण्डकी दृष्टि ही मोक्ष देनेवाली है। दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी निर्मल पर्याय अखण्डके बलसे प्रगट होती है, वह पर्याय सद्भूत-व्यवहार है और वह भी दृष्टिमें गौण है। दृष्टिमें साध्य–साधकका भेद नहीं है। संसार और मोक्ष पर्यायें हैं, वे भी अभूतार्थके विषय हैं इसलिये गौण हैं।

सम्यग्दर्शन और शुद्ध आत्मा एक नहीं हैं, क्योंकि शुद्ध आत्मा अनन्तगुणोंका अभेद पिण्ड है और सम्यग्दर्शन श्रद्धागुणकी पर्याय है, वह निश्चयदृष्टिमें गौण है। ज्ञानी अभूतार्थको अर्थात् जो त्रिकाल विद्यमान नहीं रहता उस भेदको मुख्यतासे लक्षमें नहीं लेते।

अखण्ड द्रव्यदृष्टिके बलसे—निजके अस्तित्वके बलसे—निर्मल पर्याय अवश्य होती है, ऐसी श्रद्धाका होना सो सम्यग्दर्शन है और ऐसी श्रद्धा भेदके लक्षसे अथवा विकल्पसे नहीं होती।

यहाँ पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ऐसा है तो एक परमार्थका ही उपदेश करना चाहिए, उपदेशमें व्यवहारका आश्रय क्यों लिया जाता है? इस प्रश्नका उत्तर आठवीं गाथामें बड़े ही अद्भुत ढंगसे दिया गया है।

आठवीं गाथाकी भूमिका

छट्ठी गाथामें विकारसे भिन्न अभेद ज्ञायक आत्माका वर्णन किया गया है। उसमें यह लक्षमें लेनेको कहा गया है, कि आत्मा ज्ञानादि गुणोंका अखंड पिंड है, आत्मा क्षणिक एक अवस्था-मात्रके लिए नहीं है, इसलिये उस भेदको गौण करके एक आत्माको

निर्मल, असंयोगी, अविकारीके रूपमें लक्षमें लेना चाहिये, यही श्रद्धाका विषय है। शरीर आदिका संयोग आत्मासे बहुत दूर है। उस ओरकी आसक्तिको पहलेसे ही कम करना चाहिये। मैं किसी देहादिके संयोगरूप नहीं हूँ, उसके कोई कार्य मेरे आधीन नहीं हैं। आचार्यदेवने यह मान लिया है कि यह सब सुनने वालेके इतनी समझ तो होती ही है।

आत्माका परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परवस्तु अपनेसे (आत्मासे) त्रिकाल नास्तिरूप है। वर्तमान विकारी अवस्था भी आत्मामें नहीं है। देहमें आत्मा नहीं है, किन्तु निमित्तसे कहा जाय तो एक आकाश-क्षेत्रमें आत्मा और देहादिक जड़पदार्थ संयोगरूपमें विद्यमान हैं। तथापि प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा वस्तुकी अपेक्षासे पृथक्-पृथक् हैं। जो आत्मासे पृथक् है वह आत्माका नहीं हो सकता। ऐसे स्थूल व्यवहारिक मिथ्यात्वका त्याग तो समयसारके जिज्ञासुके होता ही है। कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र मेरे लिये किसी भी प्रकारसे हितकर नहीं हैं, देहादिक मेरा स्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर व्यवहारिक भूलको छोड़कर ही इस परमार्थस्वरूपको समझनेके लिए जिज्ञासु आया है।

आचार्य महाराजने ऐसी बात कही है कि जिससे भवभ्रमण दूर होसकता है, और इसीलिए उनने अनादिकालीन विपरीत मान्यता पर प्रहार किया है।

आत्माका परवस्तुके साथ संबन्ध नहीं है, किंतु पराश्रितभावको लेकर जो विकार होता है, वह वर्तमान अवस्थामें आत्मामें होता है, तथापि जो अपनेको उतना ही माने, शुभ-अशुभभावोंको अपना स्वरूप माने उसके शुद्ध आत्माकी श्रद्धा नहीं है। आत्मा तो अविकारी, परमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित, चिदानन्द, निर्विकल्प ज्ञायक है।

परवस्तु मेरी नहीं है, यह समझानेके बाद छट्ठी गाथामें यह समझाया है कि शुभ-अशुभ विकार भी मेरे नहीं। मैं निर्मल हूँ, पर-

से भिन्न हूँ, एकरूप ज्ञानानन्द हूँ, इसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, इसप्रकार यदि जीव गुण-गुणीके भेदके विचारमें लग जाय तो उसे अपना सम्पूर्ण तत्व एक ही साथ लक्षमें नहीं आ सकता, -यह बात सातवीं गाथामें बताई है।

यहाँ पर भेददृष्टिके विकार और प्रकारकी ओरसे लक्षको बदलकर, गुण-गुणीके भेदका लक्ष गौण करके, रागसे कुछ अलग होकर, निर्मल अभेद स्वरूपकी निर्विकल्प श्रद्धा कराते हैं, संयोगरहित, असंयोगीका लक्ष कराते हैं, विकाररहित, अविकारी स्वरूपको बताते हैं, भेददृष्टिरहित, अखण्ड निर्मल वस्तुको बताते हैं। यदि रागी जीव गुण-गुणीके भेदके विचारमें अटक जाय, तो उसके लक्षमें यह नहीं आ सकता कि रागरहित, भेदरहित, वीतराग अभेदस्वरूप क्या है।

प्रश्नः—तब क्या हमें घर छोड़कर निकल भागना चाहिये?

उत्तरः—जिस अज्ञानसे छूटना है उसका तो भान नहीं और घरसे छूटनेकी बातें करता है यह विपरीतदृष्टि है, महामिथ्यात्व है। जिसकी बुद्धिमें यह बात है कि मैं संयोगी पदार्थको छोड़ दूँ या अमुक वस्तुका त्याग कर दूँ, तो अन्तरंगमें निवृत्ति आ जायगी यह निमित्ताधीनदृष्टि मिथ्यात्व-शल्य है। परके लक्षसे यदि कदाचित् कषाय मन्द हो जाय तो पुण्य हो सकता है, किन्तु अनादिकालीन भूल दूर नहीं हो सकती। जो यह मानता है कि यदि संयोगसे दूर हो जाऊँ तो गुण उत्पन्न हो जायेंगे, उसे अपनेमें जो अनन्तगुण भरे हुए हैं उनकी श्रद्धा नहीं है। यह मान्यता मिथ्या है कि संयोगोंके दूर होनेपर गुण होते हैं। जो जीव परलक्षसे, परकी अपेक्षासे कुछ करना चाहता है उसे निरावलम्बी, निरपेक्ष तत्व समझमें नहीं आ सकता। पहले अपनी ओर दृष्टि करनी होगी कि मुझमें 'अनन्तगुण भरे हुए हैं, मैं अखण्ड, निरपेक्ष, निर्मल हूँ।' ऐसे ज्ञायकके लक्षसे पराश्रयकी दृष्टि बदल जाती है। संयोगने मेरे गुणको रोक रक्खा है, इसलिये संयोगको छोड़ दूँ तो मेरा गुण प्रगट हो जायगा, इसप्रकार मानना सो तीव्र

मिथ्यात्व है । शुभ-अशुभभाव जो कि विकार है वह मुझे गुण करता है, इसप्रकार वह विकार और गुणको एक मानता है । तू निर्विकार है, तूने अपने परम माहात्म्यकी बातको कभी नहीं सुना, अन्तरंगसे तुझे महिमाका कभी उद्भव नहीं हुआ । वीतराग सर्वज्ञ प्रभूने तेरी अनन्त महिमा गाई है, परन्तु तूने उसे अन्तरंगसे परमार्थतः कभी नहीं सुना ।

समयसारकी छट्ठी-सातवीं और आठवीं गाथायें आत्मधर्म-रूपी वृक्षकी जड़ें हैं । जिसने यह माना है कि आत्मा परवस्तुको ग्रहण कर सकता है अथवा छोड़ सकता है उसने परको और अपनेको एक माना है । परवस्तु मेरे आधीन नहीं है, उसका स्वामित्व मेरे नहीं है, विकार भी मेरा स्वरूप नहीं है, इसप्रकार एकके वाद दूसरे गुणके भेदका विचार करे तो भी अभेदकी श्रद्धा प्रगट नहीं हो सकती । इसलिये अभेद-निर्मलकी श्रद्धा करना ही सम्यग्दर्शन है । जहाँ सम्यग्दर्शनरूपी बीज नहीं है वहाँ व्रतरूपी वृक्ष कहाँसे उग सकता है ? समझे विना व्रत और तप बालव्रत और वालतप हैं । देह, मन, वाणीकी प्रवृत्ति आत्माके लिए लाभ या हानिकारक नहीं है । रागकी प्रवृत्ति आत्माके लिए लाभकारक नहीं परन्तु हानिकारक है । आत्मा जब अन्तरंग-दृष्टिकी प्रतीतिको प्राप्त होता है तब "मैं रागका नाशक हूँ" इस-प्रकारकी प्रतीतिके वलसे परवस्तुका राग छूट जाता है । रागके छूट जानेपर परवस्तु अपने निजके कारण छूट जाती है । मैं परवस्तु-का त्याग कर सकता हूँ इसप्रकार परके स्वामित्वकी मान्यता अनन्त-संसारका मूल है । त्याग सहज है, स्वभावमें हठाग्रह नहीं होता, लोग तत्वको नहीं समझे इसलिये तत्व दूसरा नहीं हो सकता, वह जैसाका तैसा बना रहता है ।

वस्तुके सहजस्वभावकी पहचानसे निजमें स्थिरता बढ़ती है और रागका अभाव होता है । अभेददृष्टिसे, अखण्ड स्वभावको लक्ष-में न लें किन्तु गुण-गुणी भेदको लक्षमें लें तो दृष्टिमें राग रहता है और इसीलिए सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता । मैं परसे भिन्न हूँ, ऐसा

विचार करे अथवा "मैं रागको दूर करूं-मैं रागको दूर करूं" इस-प्रकार कहा करे तो वह भी राग है। जहाँ रागकी ओर झुकाव होता है वहां वीतरागस्वभावका निर्विकल्प लक्ष नहीं होता। किन्तु रागसे पृथक् होकर "मैं निर्मल हूँ" इसप्रकारकी दृष्टिके बलसे यदि आगे बढ़ता चला जाय तो पूर्ण निर्मल हो जाता है। अविरोधरूपसे तत्त्व-को जान लेनेके बाद "मैं अखण्ड पूर्ण निर्मल हूँ" ऐसे स्वलक्षके बलसे निर्विकल्प स्वरूपस्थिरता (चारित्रकी निर्मलता) सहज प्रगट हो जाती है। अखण्डदृष्टिका बल अल्पकालमें मोक्षको प्राप्त करा देता है। रागको दूर करनेका विचार नास्तिपक्षकी ओर झुकाव है। यदि शुद्धदृष्टिसहित रागको दूर करनेका विचार हो तो भेद-दृष्टि होनेसे शुभभाव होता है, किन्तु रागका अभाव नहीं होता।

यहाँ तो पहले ही शुद्ध अखण्डकी दृष्टि करनेको कहा है, उसमें शुभ करनेकी तो कोई बात ही नहीं है, किन्तु आन्तरिक स्थिरतारूप चारित्रको भी गौण कर दिया है। दृष्टिमें निरावलम्बी अभेदभावको लक्षमें लेनेके बाद उसीके बलसे निरालम्बी निर्मल चारित्र प्रगट होता है।

प्रश्न:—क्या यह ठीक है कि पहले सराग चारित्र और उसके बाद उससे वीतराग चारित्र होता है?

उत्तर:—नहीं, राग तो विकार है, उससे चारित्रको कोई सहायता नहीं मिलती। चारित्र तो अकषायस्वरूप है अकषायदृष्टिके खुलने पर जो व्रत आदिका शुभराग रहता है उसे उपचारसे व्यव-हार चारित्र कहा जाता है, तथापि जो यह मानता है कि शुभभावका करनेवाला मैं हूँ और वह मेरा कार्य है, वह धर्मको अविकारी वीत-रागरूप नहीं मानता, और अपनेको अविकारी नहीं मानता इसलिये वह दृष्टि मिथ्या है। चारित्र आत्माका वीतरागभाव है, और व्रता-दिका शुभराग विकारी बन्धनभाव है, चारित्र नहीं है।

आत्मा तो सदा अरूपी ज्ञाता है, ज्ञातास्वरूप है, उसमें पर-का लेना-देना कुछ नहीं है। मैं इसे दूर कर दूँ, इसे छोड़ दूँ, इसे

रख छोड़ूं-इत्यादि शुभाशुभभाव कषाय हैं, इसलिए वे आत्मगुणरोधक हैं। चारित्र तो अकषायदृष्टिके बलसे प्रगट होता है। 'मैं अखण्ड हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विकल्प, दृष्टिके विषयमें लगनेके लिये और पूर्णस्थिर होनेसे पूर्व आते तो हैं किन्तु वे स्थिरतामें सहायक नहीं होते। निर्मल अभेददृष्टिके बलसे वीतरागता होती है, किन्तु 'मैं पूर्ण हूँ' ऐसे विकल्पसे चारित्र प्रगट नहीं होता और शुद्धदृष्टि भी नहीं खुलती। अभेद निर्मलके आश्रयसे वर्तमान पर्याय निर्मल होकर सामान्यमें मिल जाती है, इसलिये भेददृष्टिको गौण करनेको कहा है।

प्रश्नः—हे प्रभु ! जब आपने भेदरूप व्यवहारको बिलकुल गौण कर दिया तो फिर एकमात्र परमार्थका ही उपदेश देना था, व्यवहारके उपदेशकी क्या आवश्यकता थी ?

इसका उत्तर आठवीं गाथामें देते हुए कहा है किः—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥ ८ ॥

अर्थः—जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्यको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप ग्रहण करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश करनेको कोई समर्थ नहीं है।

यहां शिष्यने (परमार्थसे ही लाभ होता है इतना समझकर) प्रश्न किया है, जिसका उत्तर यह है-जैसे अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्यको अनार्य भाषाके बिना किसी भी वस्तुका स्वरूप समझाना शक्य नहीं है, उसीप्रकार व्यवहारके बिना (समझानेके लिये भेद-कथनरूप उपदेशके बिना) परमार्थको कोई समझ नहीं सकता। जैसे कोई अंग्रेजी भाषा ही समझता हो तो यदि उसे उसकी भाषामें

कहो तभी वह समझता है, इसीप्रकार अनार्यको अर्थात् परमार्थसे अनभिज्ञ व्यवहारी पुरुषको व्यवहारसे गुण-गुणीका भेद बतलाकर समझाया जाता है।

जैसे किसी म्लेच्छसे कोई ब्राह्मण 'स्वस्ति' शब्द कहे तो वह म्लेच्छ शब्दके वाच्य-वाचक सम्बन्धके ज्ञानसे रहित होनेसे कुछ भी न समझकर ब्राह्मणके सामने मेंढ़की भाँति आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है (मेंढ़की भाँतिका अर्थ अनुसरण करनेकी सरलता है। इतना ही लेना चाहिये) 'स्वस्ति' क्या कहता है यह समझनेका आदर है, जिज्ञासा है, आलस्य नहीं है; आँखें बन्द करके नहीं सुनता, किन्तु समझनेकी पूर्ण तैयारी-पात्रता है। अन्धश्रद्धा वाले और सत्य समझनेकी अपेक्षासे रहित श्रोता नहीं हो सकता, यह ऊपरके कथनसे समझना चाहिये।

वह म्लेच्छ 'स्वस्ति' का अर्थ समझनेके लिये ब्राह्मणके सामने टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, बाह्यमें मनकी दूसरी ओर नहीं दौड़ता। किन्तु मनको स्थिर रखकर भीतरसे 'स्वस्ति'-को समझनेकी जिज्ञासा है, लापरवाह नहीं है, निरुत्साह नहीं है। जैसे मेंढ़ेको अनुसरण करनेकी आदत होती है, उसीप्रकार ब्राह्मण क्या कहता है यह समझनेका म्लेच्छका भला भाव है, इसलिए आँखें फाड़कर (प्रेमसे आँखें खुली रखकर) ब्राह्मणके सामने वह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। उसके अन्तरंगमें एक ही आकांक्षा है कि ब्राह्मण जो कहता है उसका अर्थ धीरजसे समझलूँ; लौकिकमें भी इतनी विनय है।

जैसे प्रधानमंत्री, राजा और प्रजाके बीचमें मेल करानेवाला है उसीप्रकार गणधरदेव, तीर्थंकर भगवान और श्रोताओंके बीच संधि कराने वाले धर्ममंत्री हैं। वे तो सबको हित ही सुनाते हैं (किसीको तीर्थंकर भगवानका सीधा वचन भी सुननेको मिलता है।) इसी-प्रकार दोनोंकी (ब्राह्मण और म्लेच्छकी) भाषाका जाननेवाला अन्य कोई तीसरा पुरुष अथवा वही ब्राह्मण म्लेच्छको 'स्वस्ति' का

अर्थ उसकी म्लेच्छ भाषामें समझाता है कि 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ यह है कि 'तेरा अविनाशी कल्याण हो।'

व्यवहारके उपदेशमें भी 'सु+अस्ति' का लक्ष करने वालेका अविनाशी कल्याण हो ऐसा आशीर्वाद है। 'तेरी पवित्रस्वरूप लक्ष्मी प्रगट हो' ऐसा उस आशीर्वादका भावार्थ है।

'स्वस्ति' शब्दका ऐसा अपूर्व अर्थ सुनते ही (वह पात्र था इसलिये) अत्यन्त आनन्दमय आंसुओंसे उसके नेत्र भर आते हैं। यदि हम हर्ष प्रगट न करें तो उसे समझानेकी उमंग न हो, ऐसी उसमें कृत्रिमता नहीं है। किन्तु यहां म्लेच्छके तो "अहो! तुम्हारा ऐसा कहना है" ऐसे अपूर्व आदरके साथ हर्षाश्रुओंसे नेत्र भर जाते हैं। ऐसा यह म्लेच्छ स्वस्तिका अर्थ समझ जाता है। इसीप्रकार व्यवहारी मनुष्य भी वाणीके व्यवहारसे परमार्थको कैसे समझ लेते हैं यह आगे कहेंगे।

जब कोई मनुष्य म्लेच्छको म्लेच्छकी भाषामें 'स्वस्ति' अर्थात् 'तेरा अविनाशी कल्याण हो' ऐसा अर्थ सुनाये तब म्लेच्छ 'स्वस्ति' शब्दका अर्थ जैसा कहा वैसा समझ जाता है। अब उसपरसे यह सिद्धान्त घटित होता है कि:—

जिस जीवने, सर्वज्ञ भगवानने जैसा आत्मा कहा है उसीप्रकार आत्माको कभी नहीं जाना, ऐसे व्यवहारी पुरुष को "आत्मा" शब्द कहने पर जैसा "आत्मा' शब्दका अर्थ है उस अर्थके ज्ञानसे रहित होनेसे, कुछ भी न समझकर मेंढ़ेकी भांति आंखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है।

धर्मके नाम पर पुण्यमें राजी हुआ, पैसा इत्यादि बाह्य अनुकूलतामें लोलुपी बना, जाप जपनेकी कहें तो वैसा करता है। ('नमो अरिहन्ताणं' का जाप जपनेसे पैसा नहीं मिल जाता, किन्तु धनकी तृष्णा हुई सो पाप है) लाग धर्मके फलमें संयोग चाहते हैं, उनके पुण्यबंधकी मिठास है। जो परसे सुख चाहता है वह अपनेको निःसत्व मानता है, इसलिये पराधीनताका आदर करता है। हम तो

क्रिया करते हैं, मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति करते हैं, देहको कुछ क्रिया करें चलें बोलें उसे ही वे आत्मा मानते हैं किन्तु देहादि हलन-चलन करता है, स्थिर रहता है, बोलता है, या खाता है, यह समस्त क्रिया जड़ करता है। भीतर पुण्य-पापका संवेदन होता है उस क्षणिक विकाररूप भी आत्मा नहीं है। वीतरागने जैसा आत्माका स्वरूप कहा है वैसा लोग नहीं समझे। आत्माके धर्ममें उपाधिका नाश है, आत्माका भान होने पर जीव वर्तमानमें पूर्णशान्ति और भविष्यमें भी निराकुल पूर्णशान्ति प्राप्त करता है। आत्मा अखण्ड, ज्ञायक है, पूर्ण आनन्दघन है, परसे भिन्न है-ऐसी जिसे खबर नहीं है वह व्यवहारी पुरुष है; उसे 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने पर उसके अर्थके ज्ञानसे अनभिज्ञ होनेसे वह मेंढ़की तरह आँखें फाड़कर 'आत्मा' शब्द कहने वाले ज्ञानीके सामने टुकुरमुकुर देखता ही रहता है। ज्ञानी क्या कहता है, वही उसे समझना है, अभी कुछ भी अर्थ समझा नहीं है, इसलिये समझनेके लिये ज्ञानीके सामने आँखें फाड़कर टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, समझनेकी तैयारी है, न समझनेका आलस्य नहीं है। इसमें प्रारंभमें तत्व सुनने वाला जिज्ञासु कैसा होना चाहिये यह भी आगया। तत्वश्रवणमें जागृति और समझनेकी उमंग तथा पात्रता चाहिये।

"आत्मा अभेद है, सिद्ध भगवानकी तरह पूर्ण है, उसमें पुण्य-पापका विकार नहीं है, वह परका कर्ता नहीं है," इसप्रकार जब ज्ञानी कहता है तब व्यवहारी पुरुष उसका मतलब समझ लेना चाहता है। किन्तु 'यह बकवाद कर रहा है, हम समझ सकें इस तरह कहता नहीं इसप्रकार जो वक्ताका दोष निकाला करे वह पात्र नहीं है, सत्य समझनेके योग्य नहीं है। यहाँ टकटकी लगाकर देखता ही रहता है, उसमें आलस्य नहीं है, किन्तु क्या कहता है यह समझनेका आदर है। मुझे 'आत्मा' कहनेमें उसकी भूल है, यह न मानकर मुझे समझमें नहीं आता यह मेरा दोष है, ऐसा मानना चाहिये। जिसे निजको समझनेकी रुचि नहीं है वह "इसे समझाना

नहीं आता" इसप्रकार दूसरेका दोष निकालता है उसे समझनेका अवकाश नहीं है।

मुझमें समझनेकी धीरज एवं विनय होना चाहिये, मैं समझ नहीं सकता यह मेरी ही त्रुटि है, मैं समझनेकी तैयारी करूँ तो अवश्य समझ सकता हूँ, इसप्रकार पूर्णको समझनेकी पूर्ण ताकत रखकर तैयार हो, ऐसा योग्य सुनने वाला होना चाहिये।

अपने आप कोई शास्त्र पढ़कर चाहे जहाँसे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु साक्षात् ज्ञानीकी वाणीसे 'आत्मा' का अर्थ समझना चाहिये। कानसे शब्द तो सुना किन्तु समझा नहीं; स्वयं ज्ञानकी प्रकाशता है, उसमें पात्रता चाहिये। पहले "सत् क्या है, यह समझनेकी जिज्ञासा होनी चाहिये। जिसकी कषाय मंद हुई है, वह दूसरेको दोष देनेके लिये नहीं रुकता किन्तु म्लेच्छकी तरह (म्लेच्छके पात्रता थी) अपनेमें दोष है, ऐसा मानकर समझनेके लिये सरल हुआ है। परमार्थतत्व क्या है यह सुननेका बहुत प्रेम है, "यह क्या कहना चाहते हैं" यह समझनेके लिये जो आँखें फाडकर धैर्यसे देखनेके लिये खडा रहता है वह जीव योग्य है ऐसा जानना चाहिये।

'टकटकी लगाकर देखता ही रहता है' इसमें एक ही भाव रखता है, देहकी अनुकूलताके, संसारकी ओरके भाव इत्यादि दूसरे विचारोंको नहीं आने देता। स्वयं कुछ अपनी ओर झुकाव करनेके लिये कषाय मंद करता है, दूसरेको दोष नहीं देना चाहता।

स्वयं समझनेका इच्छुक होकर एकटक देखता ही रहता है। इसमें प्रथम देशनालब्धि होने पर पाँचों लब्धियोंका मेल बताते हैं:—

१-क्षयोपशमलब्धि।—आँखें फाड़कर देखता ही रहता है यह ज्ञानका विकासरूप क्षयोपशम लब्धि है; इसमें हित स्वरूप क्या है, यह समझनेकी शक्ति बताई है।

२-विशुद्धिलब्धि:—कषाय मंद करनेके बाद तत्वका विचार करनेकी पात्रता आती है।

३-देशनालब्धिः—सम्पूर्ण आत्मा कैसा है यह सुना सो देशनालब्धि है ।

४-प्रायोग्यलब्धिः—एकटक देखता ही रहता है, इसमें तत्व सुननेमें एकाग्र होने पर कर्मको स्थिति और रस कम करता है ।

५-करणलब्धिः—इस अन्तरपरिणामकी शुद्धतासे स्वको ओर ढलता हुआ भाव है । यह लब्धि सम्यग्दर्शन होनेके पूर्वमें होती है ।

जो जिज्ञासु है वह आँखें फाड़कर एकटक देखता ही रहता है उसमें सिर्फ उसके ऐसे भाव नहीं होते कि वह मात्र आत्माकी ही वात करता है । उससे नीचेकी वात क्यों नहीं करता ।

किसीको ऐसा लगता है कि यह तो आत्माकी ही धुन लगाई है, समाजका कुछ करना चाहिये, किसीको सहायता पहुँचाना चाहिये, दूसरा कुछ करना चाहिये, ऐसा कुछ कहते ही नहीं हैं; किंतु ऐसा तो अनादिकालसे सुनकर परमें कर्तृत्व मानकर जीव परिभ्रमण करता है । आत्माको भूलकर दूसरा सब अनन्तवार कर चुका, फिर भी अभी भवसे विश्राम नहीं, इसलिये उसे तत्वकी वातका आलस्य आता है। पात्र जीव तो एक आत्माको समझनेके लिये एकटक देखता ही रहता है, दूसरा भाव नहीं आने देता ।

जो व्यवहारी पुरुष शास्त्रीय भाषा–आध्यात्मिक परिभाषा नहीं समझता उसे भेद करके समझाते हैं । जिस अनार्यको आर्यभाषा-में समझमें नहीं आता उसे अनार्यकी भाषामें कहना पड़ता है । 'आत्मा अखण्ड निर्मल है' यह आर्यभाषा है, इसमें कुछ नहीं समझता वह आंखें फाड़कर एकटक देखता है, इससे यह सूचित होता है कि उसे समझने उमंग है । जवतक आत्माको न समझ लूँ, तवतक दूसरा कुछ न आने दूँगा, इसप्रकार समझनेके विचारमें क्रोधादि–कषाय मंद की है और अशुभको आने नहीं देता ।

श्रोता स्वयं ऐसी आशा नहीं करता कि इसप्रकार कहो कि जो हमें जल्दी समझमें आजाय और हृदयमें जम जाय; किंतु विनयसे

धैर्यपूर्वक समझनेकी जिज्ञासा प्रगट करता है। और जीव ऐसा होता है तब उपदेशक भी विचार करता है कि यह इतनी विनयके साथ कह रहा है इसलिये इसके सच्ची जिज्ञासा है, 'यह इस भावसे नहीं समझता तो दूसरे भावसे समझेगा' इसप्रकार दूसरे भावके द्वारा समझनेकी भावना उत्पन्न हुये बिना नहीं रहती। उन दोनोंके बीच ऐसा मेल बैठ जाता है। किन्तु यदि सुनने वाला कहे कि हम समझ सकें ऐसा कहो तो समझना कि वह योग्य नहीं है।

जो आत्माको नहीं जानता ऐसे मिथ्यादृष्टिको सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेके लिये समयसारका उपदेश है। अनादिकालकी भूख मिटानी हो तो यही समझने योग्य है। श्रीकुन्दाकुन्दाचार्य त्रिलोकीनाथ तीर्थंकरदेवके मुखकमलसे निकला हुआ और उनके द्वारा गृहीत तत्व कहते हैं।

'मुझे समझना है' ऐसा कहने वाले जीवमें सरलता विनय और समझनेकी आकांक्षा है, ऐसे जीवको जब आत्माका स्वरूप समझना है तब व्यवहार-परमार्थमार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथको चलाने वाले सारथीकी तरह अन्य कोई आचार्य अथवा उपदेशक स्वयं ही व्यवहारमार्गमें विकल्पसहित छट्ठे गुणस्थानमें रहकर परमार्थका लक्ष करानेके लिये व्यवहारसे कहते हैं कि पुण्य-पाप रहित निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्रको नित्य प्राप्त हो वह 'आत्मा' है। ऐसा आत्मा शब्दका अर्थ आचार्य समझाते हैं तब तत्क्षण ही उत्पन्न होनेवाले अत्यन्त आनन्दसे जिसके हृदयमें सुन्दर बोधरूपी तरंग (ज्ञानतरंग) उछलती है, ऐसा वह व्यवहारी पुरुष, आत्मा शब्दका अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है।

आचार्य सम्यग्ज्ञानरूपी महारथको चलाने वाले महासारथीके सदृश हैं, ऐसे सारथीके रथमें जो बैठता है उसे सारथी ले जाता है। जो ज्ञानीके पास सत्को समझनेके लिये बैठा है मानों वह ज्ञानीके साथ ज्ञायकस्वरूपके रथमें बैठा है वास्तवमें छट्ठे-सातवें गुणस्थानमें अथवा व्यवहार-परमार्थरूपी मार्गमें प्रवर्तमान जो मुनि हैं, वे जो

कहना चाहते हैं उस भावको समझनेके लिये जो बैठा है मानों वह उनके साथ ही बैठा है।

ज्ञानीकी दृष्टि अखण्ड पर है, वे व्यवहारसे भेद करके समझाते हैं। समझनेवाला स्वयं ज्ञानीका कहा हुआ समझना चाहता है, अपनी कल्पना बीचमें नहीं लाता, वह पात्र जीव 'आत्माको भगवानने ऐसा कहा है' इसप्रकार भेद करके कथन करने पर जल्दी ही परमार्थ अभेदस्वरूपको समझ लेता है।

साक्षात् सर्वज्ञ भगवानसे सुनकर गणधरदेव जगत्को सुनाते हैं। कोई जीव तीर्थंकर भगवानसे सीधा सुनता है। यहाँ उपदेश देने-वाला स्वयं व्यवहारमार्गमें रहकर अर्थात् व्यवहारमें आकर समझाने-के लिये विकल्प द्वारा भेद करके कहता है, क्योंकि वह स्वयं केवली नहीं है, किन्तु छद्मस्थ है; फिर भी वह मात्र व्यवहारमें ही रत नहीं है, किंतु परमार्थके अभेद अनुभव वाला है। सातवें गुणस्थानमें निर्विकल्पताके छूटने पर उसे जरा विकल्पमें आना पड़ता है। वे कहते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रको नित्यप्राप्त है वह आत्मा है।

पुत्रका, स्त्रीका विश्वास जम गया है इसलिये अज्ञानी यह कल्पना किया करता है कि उनसे यह होगा और वह होगा, किंतु अनु-कूल होना तो पुण्याधीन है, यदि अपना पुण्य खतम हो जाय तो कोई अनुकूलता नहीं दे सकता। अपनी मान्यताके अनुसार कुछ नहीं होता फिर भी परमें विश्वास करता है। ज्ञानी कहते हैं कि परमें विश्वास करता है उसके बदले तेरेमें-निजमें विश्वास कर। मैं विकारी नहीं हूँ, पुण्य-पाप नहीं हूँ, देह-मन-वाणीकी प्रवृत्तिके आधीन नहीं हूँ, ऐसा अखण्डानन्द आत्मा नित्य अपनी श्रद्धाको प्राप्त है, क्षणिक परसंयोगमें जो विश्वास है उसे तू सदैव प्राप्त नहीं है, क्योंकि आत्मा नित्य है, असंयोगी है और संयोग क्षणिक है, असंयोगीको कोई पर-वस्तु शरणभूत नहीं होती।

परमें अनादिसे विश्वास किया है। अब परसे भिन्न अवि-कारी पूर्णकी श्रद्धा कर, परसे पृथक्त्वका ज्ञान कर तथा परके आश्रयसे रहित-रागरहित स्वमें स्थिरता कर। स्वाश्रित दर्शन-ज्ञान-चारित्र-

को जो सदा पाया हुआ है वह आत्मा है, ऐसा मात्र उपदेश करनेके लिये गुण-गुणीका भेद डाला सो व्यवहार है। इसप्रकार जैसा आत्मा शब्दका अर्थ है वैसा समझाते हैं। उसे समझकर ही पात्र जीवके अन्तरंगसे बहुमान आता है। कथनमें भेद होता है किन्तु जब वह अभेदको पकड़ लेता है तब गुरु-शिष्य दोनोंका अभिप्राय एकसा हो जाता है।

'आत्मा पुण्य-पाप, राग-द्वेषको प्राप्त है, परमाणु, देह इत्यादिकी क्रियाको प्राप्त है, शरीर, कुटुम्ब, समाज इत्यादिके कर्तव्यको प्राप्त है' ऐसा आत्माको नहीं कहा, किन्तु आत्मा तो परसे पृथक स्वमें एकरूप ज्ञायक ही कहा गया है। उसका लक्ष करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र अखण्ड ज्ञायकके लक्षसे प्राप्त होता है।

यदि यह बात जल्दी समझमें न आये तो उसका आलस्य नहीं आना चाहिये। नाटक देखनेका प्रेम हो तो उसे बारबार देखता है, नाच, मुजरासे प्रेम हो तो उसे बारबार देखते-सुननेके लिये 'वंशमोर' करता है। जिसकी जिसे प्रीति है उसे वह किसी भी मूल्य पर बारबार देखना चाहता है। वहाँ एककी एक बात बारबार परिचयमें लेने पर आलस्य नहीं आता, किन्तु उसकी चाह करता है। परंतु जो पात्र जीव होता है वह उससे पलटकर-सीधा होकर भगवान आत्माकी प्रत्येक बात अनेक तरहसे सुनता है, बारबार सुनता है और बराबर समझनेका प्रयत्न करता है। अनन्त जन्म-मरणके चक्करको दूर करनेके लिये सच्ची समझके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे समझनेका आलस्य नहीं होता किंतु खूब आनन्द होता है। नये नये न्याय सुनकर विशेष दृढ़ता करके अन्तरमें उछल-उछलकर उसका ही माहात्म्य गाया करता है।

जैसे माता-पिता किसी बातमें हर्ष करते हों तो पासमें बैठा हुआ छोटा बालक भी उनकी बातको बिना समझे ही हँसता है, उसीप्रकार आत्माकी बात सुनकर उसके आशयको समझे बिना जो

देखादेखीसे हर्ष करता है वह भी बालक जैसा ही है। तत्वज्ञानका विरोध करनेवाला उसके अपने भावका ही विरोध करता है।

यहाँ तो ऐसे योग्य जीव लिये हैं कि जो आत्माकी बात अपूर्व उमंगसे बराबर सुनें और समझकर तुरंत ही आनन्द प्राप्त करें, जो विलम्ब करते हैं उन्हें यहाँ नहीं लिया है।

आचार्य ऐसा कहते हैं कि सुननेवालेको उसी समय स्वतंत्र-सुखका भान हो। दर्शन-ज्ञान-चारित्रको जो नित्यप्राप्त है ऐसे आत्माको उसमें प्राप्तकी प्राप्ति है, बाहरसे कुछ प्राप्त नहीं करना है।

सांसारिक बातोंमें कैसा खुश होता है! जब पांच लाखकी लोटरी पक जाती है तब वह ऐसी सुहाती है कि उसीकी महिमा गाया करता है और कहता है कि आज मिष्टान्न उड़ने दो। इसप्रकार बाह्यमें अपने हर्षको व्यक्त किया करता है। लड़का मेट्रिककी परीक्षामें पास होजाय तो उसमें हर्ष करता है, किंतु यह तो दुनियामें परिभ्रमण करनेकी बातका हर्ष है जो कि नाशवान-क्षणिक है।

आत्माकी अचिंत्य महिमा सुनकर उसके बहुमानसे उछल पड़े और कहे कि अहो! अनन्त ज्ञानानन्दरूपी रिद्धि मेरे पास ही है, उसमें किसी संयोग, किसी क्षेत्र, किसी काल अथवा विकारकी कोई उपाधि नहीं है। 'मैं पूर्ण अखण्ड अविनाशी हूँ, ऐसा सुना और उसका ज्ञान किया कि तुरन्त ही अत्यन्त आनन्दसे उसका हृदयकमल खिल जाता है। आचार्य महाराज तत्काल मोक्ष हो ऐसी अनोखी बात कहते हैं कि जिसे सुनते ही पात्र जीवके तुरन्त ही सम्यग्दर्शन होजाता है, अपूर्व देशनालब्धिको प्राप्त करने बाद बीचमें कोई अन्तर नहीं रह जाता, समझनेके लिये तैयार होकर आया और समझाने पर न समझे ऐसी बात यहाँ नहीं है।

जैसे शुभ्र मधुर समुद्रकी तरंगें उछलती हैं और ज्वारभाटा आजाता है, इसीप्रकार पहले कुछ नहीं समझता था और उसे समझा कि तत्क्षण ही निर्मल सम्यग्ज्ञानज्योतिका आनन्द प्रगट होकर वृद्धि

प्राप्त करके अल्पकालमें ही केवलज्ञानका ज्वारभाटा आयगा। इस प्रकार पूर्ण होनेसे पहले पूर्णको उमंग होती है।

सच्चा तत्त्व समझनेवाला सुनते ही तुरन्त समझ जाता है और उसके साथ ही सम्यग्दर्शन और आनन्द प्राप्त करता है। नेत्र खोलकर देखता ही रहता है अर्थात् उसे पुण्य-पापका अथवा बड़प्पनकी कोई पदवी इत्यादि अन्य कुछ नहीं चाहिये।

'काम एक आत्मार्थका अन्य नहीं मन रोग'

आत्माका निर्मल पूर्णस्वरूप जैसा ज्ञानीने कहा वैसा ही पात्र जीवने समझा, उसमें समझनेकी पात्रता अपनी ही थी। समझते ही हृदयमें सुन्दर बोधरूपी तरंगें तत्काल उछलने लगती हैं। उसमें ऐसा अर्थ निहित है कि केवलज्ञान प्राप्त करनेमें देर न लगे ऐसी पूर्ण शक्तिकी महिमा लक्षमें लेकर निर्मलताकी वृद्धि प्राप्त करता है। उसे यह पूछनेकी जरूरत नहीं रहती कि हमारी समझनेमें कैसे आयगा।

जैसे अनार्यकी भाषामें अनार्यको समझाया जाता है उसीप्रकार व्यवहारसे भेद करके व्यवहारीजनको उसकी भाषामें लक्ष कराया जाता है। पहले जो कुछ भी नहीं समझता था उसे समझनेका यह उपदेश है। यदि कोई कहे कि समयसारमें तो सातवें गुणस्थान वालोंके लिये अथवा केवलियोंके लिए कथन है, तो वह असत् सिद्ध होता है। इसप्रकार जगत् म्लेच्छ भाषाके स्थान पर होनेसे और गुणके भेद करके अखण्ड निर्मल आत्माकी पहिचान करानी है इसलिये वह व्यवहारनय भी म्लेच्छ भाषाके स्थानमें होनेके कारण परमार्थका कथन करनेवाला होनेसे व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है; इसीप्रकार ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं होना चाहिये, इस वचनसे वह (व्यवहारनय) अनुसरण करने योग्य नहीं है। देहकी क्रियासे पुण्यसे अथवा विकारसे आत्माको पहिचानना सो तो व्यवहार भी नहीं है। आत्मा अनन्तगुणका अखण्ड पिंड है, उसमें गुणके भेदका थोड़ा सा विकल्प करने पर व्यवहार होता है, इस कथनसे जो पूर्णको

समझा उसे वह व्यवहार, परमार्थके कहनेमें निमित्त हुआ है।

जो भाव ज्ञानीको कहना है वही भाव समझने पर जोर दिया है। बाह्यक्रिया, पुण्य, तथा शुभविकल्पको अवकाश नहीं है। समझमें न आये इसलिये उकताना नहीं चाहिये, इसे समझे बिना किसीका गुजारा नहीं है।

मैं इसका भला-बुरा कर दूँ, परका ऐसा न होने दूँ, ऐसा मानना सो अनन्त स्व-हिंसाका भाव है। मान्यतामें अन्तर पड़ता है किन्तु वस्तुमें कुछ फर्क नहीं पड़ता। अनादिकी विपरीत मान्यताको सुलटी मान्यताके द्वारा बदलना पड़ता है।

श्रद्धाका विषय सम्पूर्ण ज्ञायक आत्मा है; इसप्रकार पूर्ण आत्माको लक्षमें लेना सो परमार्थ है और उसे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र-का भेद करके लक्षमें लेना सो व्यवहार है। सम्यग्दर्शन निश्चयनय-का विषय नहीं है, जो निर्मल, अखण्ड, परमार्थ आत्मा है वह निश्चय-नयका विषय है। अतः जो सम्यग्दर्शनका विषय है वह निश्चयनयका विषय है।

गुण-गुणीके भेदका लक्ष छोड़कर अभेद स्वरूपको खयालमें लेना ही परमार्थ है। उसमें अभेदकी जो श्रद्धा है वह भी परमार्थ नहीं है। क्योंकि वह भी गुणकी एक अवस्था है इसलिये व्यवहार है। देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि भी परमार्थके विषय नहीं हैं।

देखो भाई! यह विषय अनादिकालसे जीवोंने न तो सुना है और न समझा है; यदि समझलें तो दशा बदल जाय। शरीर मेरा है, उसकी क्रिया मैं कर सकता हूं इत्यादि प्रकारकी जो मान्यता है वह तो व्यवहार भी नहीं है, किन्तु मात्र अज्ञान ही है। देव, गुरु, शास्त्रका विचार और नवतत्त्वके भेदसे युक्त श्रद्धा करना सो भी शुभभाव है, उसका परमार्थमें प्रवेश नहीं है, क्योंकि वह असद्भूत व्यव-हार है। सम्यग्दर्शनने अखण्ड ज्ञायक पूर्ण आत्मा लक्षमें लिया सो परमार्थ है, किन्तु लक्ष्यमें लेनेवाला सम्यग्दर्शन परमार्थ नहीं है, किंतु व्यवहार है—पर्याय है, वह निश्चयसे अभूतार्थ है क्योंकि वह त्रिकाली

नहीं है। त्रिकाल रहने वाला अखण्ड ध्रुव जो सामान्यस्वभाव है सो परमार्थ है। भेददृष्टि गौण करने पर भी अभेद समझाने पर बीचमें यह व्यवहार आता ही है, क्योंकि इस भेदके द्वारा समझे बिना अभेद समझमें नहीं आता।

भेदके लक्ष्यसे निर्मलता अथवा सम्यग्दर्शन नहीं होता। भेदके लक्ष्यसे (मोक्षमार्गको पर्यायके लक्ष्यसे) मोक्षमार्ग प्रगट नहीं होता और मोक्षमार्गके लक्ष्यसे मोक्ष प्रगट नहीं होता। क्योंकि वह हीन अवस्था है और हीन अवस्थाके द्वारा पूर्ण अवस्था–(मोक्ष) प्रगट नहीं होती।

अवस्था क्षणिक होती है, एक समयमें एक अवस्था प्रगट होती है; जब हीनता होती है तब पूर्ण अवस्था नहीं होती। अधूरी पर्याय कारण और पूर्ण पर्याय कार्य यह परमार्थसे नहीं होता। आत्मा निर्मल अखण्ड परिपूर्ण है, उस पूर्णताके बलसे पूर्ण मोक्ष-दशा प्रगट होती है। वर्तमानमें भी प्रत्येक समय द्रव्यमें अनन्त अपार सामर्थ्य विद्यमान है, त्रिकाली अखण्ड आत्मा अनन्त गुण प्राप्त है ही। उसमें "प्राप्त करूँ" यह भेद नहीं है, और श्रद्धाके विषयमें भेद नहीं है।

इस जीवने अनादिसे भेदके ऊपर लक्ष्य किया है, भेद-दृष्टिका अर्थ है व्यवहारका अवलम्बन। उससे शुभविकल्प होता है किन्तु अभेद निर्मलका लक्ष्य नहीं होता। परमार्थ स्वरूपको जान-कर भेदको गौण करके अखण्ड वस्तुकी महिमा करनेसे, अखण्ड निर्मलके लक्ष्यसे सम्यग्दर्शन प्रगट होता है।

'जो पीला है वह सोना है' यह कहा जाता है, किन्तु मात्र पीला ही सोना नहीं है, लेकिन पीले गुणका भेद करके उस पीलाश-के द्वारा बताया हुआ जो पूर्ण सोना है, वही सोना है, ऐसा खयालमें आता है। इसीप्रकार अखण्ड परमार्थ स्वरूप आत्माको पहचाननेके लिये भेद करके कहना पड़ता है। उस भेदका लक्ष्य छोड़कर अभेद निर्मल पर जो जीव लक्ष्य करता है उसे व्यवहार निमित्तरूपसे कहा

जाता है। निश्चयसे मोक्षमार्गसे मोक्ष नहीं होता, अखण्डके आश्रय-से मोक्षमार्ग और मोक्ष होता है, यह मोक्षमार्ग और मोक्ष भी व्यवहार है। मोक्षका अर्थ है पूर्ण अवस्था, उसका कारण मोक्षमार्गको हीन अवस्था नहीं है किन्तु उस पूर्ण पर्यायको प्रगट करनेका कारण अखण्ड द्रव्य ही है।

भेदका आश्रय तो अज्ञानीके अनादिसे था और वह भेदको ही जानता था, उसे इसप्रकार भेदके द्वारा अभेदत्व समझाया; इतना व्यवहार बीचमें आता है, किन्तु 'ब्राह्मणको म्लेच्छ नहीं होना चाहिये' अर्थात् व्यवहारसे समझनेके लिये भेद किया है, किन्तु भेद ही वस्तु है, ऐसा नहीं समझना चाहिये और समझाने वालेको भी विकल्पके भेदमें नहीं पड़ा रहना चाहिये।

पूर्ण त्रिकाली स्वभावमें कुछ अन्तर नहीं पड़ा किन्तु अपनी मानी हुई विपरीतदृष्टिसे फर्क दिखाई देता है, यदि सत् समागमके द्वारा विपरीतदृष्टिको बदल डाले तो स्वयं त्रिकाल सर्वज्ञस्वरूप है। उसकी निर्मल अवस्थाको प्रगट करनेका मार्ग अपूर्व है यदि उसे समझना चाहे तो मुश्किल नहीं है। जिसे अपना हित करनेकी इच्छा है वह कठिन–कठिन नहीं पुकारता, जिसे समझनेकी रुचि है उसे सत्य समझानेवाले मिले बिना नहीं रहते, जो अपनेमें तैयारी और सामर्थ्य-को नहीं देखता वह निमित्तको याद करता है, वास्तवमें तो निमित्त उपस्थित होता ही है। निमित्तकी प्रतीक्षा करनी पड़े ऐसी कुछ पर-तन्त्रता नहीं है। जो अंकुर बीजमेंसे बढ़नेके लिये प्रस्फुटित हुये हैं तो वहाँ वर्षा हुये बिना नहीं रह सकती, उगनेकी शक्ति उसमें थी वही प्रगट हुई है, वह पानीसे नहीं आई। यदि पानीके द्वारा उगने की शक्ति आती हो तो अकेला पत्थर भी उसके ऊपर पानी पड़नेसे उगना चाहिये किन्तु वैसा नहीं होता। इसप्रकार सच्ची जिज्ञासाके अंकुर फूटें (पात्रता हो) और पूर्ण सत्यकी दृष्टिके समझनेकी तैयारी हो तो उसे समझानेवाला मिले बिना नहीं रहता। बाह्य संयोग पुण्यके आधीन हैं। पुरुषार्थ करनेमें परकी प्रतीक्षा नहीं की जाती, परकी

अपेक्षासे रहित अपनी सामर्थ्यकी तैयारी देखी जाती है।

अखण्ड निर्मलदृष्टि होनेके पहले, विकल्पका व्यवहार नहीं छूटता। अभेददृष्टि होते व्यवहार छूट जाता है। पहले परसे पृथक् आत्माको जानना चाहिये, फिर क्षणिक विकारकी ओर नहीं देखना चाहिये, निर्मल पर्यायके विचारमें नहीं रुकना चाहिये, अभेददृष्टिके लिये भी गुणके भेद पर लक्ष्य नहीं करना चाहिये, भेदको गौण करके अखण्ड पर दृष्टि करनी चाहिये यह सब पहले समझना होगा।

भावार्थः—लोग शुद्धनयको नहीं जानते क्योंकि शुद्धनयका विषय अभेद-एकरूप वस्तु है। एकरूप निर्मल पूर्णस्वभावको देखने पर वर्तमान अवस्थाका विकार गौण होजाता है। संयोग, विकार और गुणके भेदके लक्ष्यको गौण करके अखण्ड पूर्ण वस्तुको लक्ष्यमें लेनेकी शुद्ध दृष्टिको अज्ञानी जन नहीं जानते, वे तो भेदके द्वारा भेद-विकारको ही जानते हैं। वे मानते हैं कि जो बोलता है, चलता है सो आत्मा है, जो राग करता है सो आत्मा है, इसके अतिरिक्त अन्य अरूपी आत्मा कैसा होगा यह वे नहीं जानते।

शरीर देहादि परकी क्रिया कोई आत्मा कर नहीं सकता, किंतु अज्ञानभावसे जीव राग-द्वेषका कर्ता होता है, फिर भी राग-द्वेष नित्य स्वभावरूप नहीं है। अज्ञान और राग-द्वेष क्षणिक अवस्थामात्रके लिये होनेसे अविनाशी आत्माके स्वभावके लक्ष्यसे दूर होने योग्य हैं।

लोग अशुद्धनयको ही जानते हैं क्योंकि उसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है, इसलिये वे व्यवहार द्वारा ही परमार्थको समझ सकते हैं, इसलिये व्यवहारको परमार्थका कथन करनेवाला जानकर उसका उपदेश किया जाता है। यहाँ यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवहारका अवलम्बन कराते हैं। लोग यह मानते हैं कि यदि व्यवहारकी प्रवृत्ति अर्थात् बाह्यमें कुछ क्रिया करें तो धर्म हो किंतु यह बात गलत है। जब समझनेवाला स्वका अभेद लक्ष्य करके

समझे तब भेदरूप व्यवहारको परमार्थके समझनेमें निमित्त कहा जाता है।

समझानेके लिये जो भेद किया सो व्यवहार है, वह कहीं परमार्थका सच्चा कारण नहीं है, क्योंकि भेद-अभेदका कारण नहीं होता, खण्डदृष्टि अखण्डका कारण नहीं होती, भेददृष्टिका विषय राग है, और राग विकार है, तथा विकारके द्वारा अविकारी नहीं हुआ जा सकता।

जहाँ परमार्थके समझनेकी तैयारी होती है वहाँ व्यवहार होता है अर्थात् अखण्ड निर्मल परमार्थको समझानेमें वह बीचमें आता है, इसलिये ऐसा नहीं समझना चाहिये कि व्यवहार आदारणीय है। यहाँ तो यह समझना चाहिये कि व्यवहारका आलम्बन छुड़ाकर परमार्थमें पहुँचाना है।

छट्ठी गाथामें कहा है कि सिर्फ अकेला ज्ञायक आत्मा है, उसमें सम्यग्दर्शन-मिथ्यादर्शन, विरत-अविरत, प्रमत्त-अप्रमत्त, सकषाय-अकषाय, बन्ध-मोक्ष ऐसे पर्यायके भेद नहीं हैं। छद्मस्थके निर्मल पर्याय पर दृष्टि जाने पर अशुद्धता (विकल्प) आती है। पर्यायके (भेदके) लक्ष्यसे अशुद्धता दूर नहीं होती।

पर्यायके भेद पर लक्ष करना सो अभूतार्थ है, उसके लक्ष्यसे विकल्प उत्पन्न होता है। और स्वभाव एकरूप, अखण्ड, निर्मल, ध्रुव है। उसके (स्वभावके) लक्ष्यसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी निर्मल पर्याय प्रगट होती है। उस निर्मल पर्याय पर लक्ष्य करनेसे अशुद्धता-राग होता है इसलिये निर्मल अवस्था पर भी अशुद्धताका आरोप कर दिया है।

सातवीं गाथामें अखण्डस्वभावकी दृष्टिका एकरूप विषय अखण्ड ज्ञायक पूर्णरूप आत्मा बताया है, उसमें गुण भेदको व्यवहार-अभूतार्थ कहा है। वस्तुस्वरूप तो अनन्तगुण मय अखण्ड है, पृथक् तीन गुणरूप नहीं है। आत्मा एक गुण जितना नहीं है, विकारके भेदसे रहित एकरूप विषय करना सो ज्ञायक ही है।

भाइयो ! यह ऐसी अपूर्व बातें हैं जिससे अनन्तकालकी भाव-दरिद्रता दूर हो सकती है। बाह्यसंयोग-वियोग तो पूर्वकर्मके आधीन हैं; ऐसे संयोग-वियोग तो अनेक तरहके हुआ करते हैं। संयोग तो ऐसे भी होते हैं कि-मुनिको सिंह फाड़कर खा जाता है, इससे आत्माको क्या ? आत्मा तो सदा ज्ञायकरूप है उसे संयोगके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञभगवानने आत्माका जैसा परिपूर्ण निर्मल स्वभाव कहा है वैसा इस जीवने न तो कभी सुना है न समझा और न उसे जाननेवाले अनुभवी ज्ञानियोंका परिचय भी किया है। यह मनुष्य-जन्म और आत्माकी सत्य बात सुननेका अवसर बारंबार नहीं मिलता। यदि जन्म-मरणकी भूख मिटाना हो तो अखण्ड ज्ञायक आत्माकी बात रसपूर्वक समझनी चाहिये।

जिसमें सर्व समाधानस्वरूप अनन्त सुख है, ऐसे अमृतका कुण्ड भगवान आत्मा अज्ञानरूपी आवरणसे आवृत्त होकर देहकी ओटमें छिपा हुआ है। उसकी स्वाधीनताकी महिमा सुनकर समझनेकी तीव्र आकांक्षा होनी चाहिए, अनन्त उत्साह जागृत होना चाहिए।

चैतन्यके अपूर्व स्वभावको सुननेमें, समझनेमें कठिनाई मानकर उकता मत जाना। सर्वज्ञके न्यायसे अनेक पहलुओंसे, जैसा है वैसा, जो विधि है उस विधिसे और जितना है उतना बराबर लक्ष्यमें ले तो कृतकृत्य हो जाय अर्थात् उसे अनन्त सुख मिले। जो विपरीत मानता है वह उपाय भी विपरीत ही करता है और उसका फल भी विपरीत ही होता है, इसलिये सत्यको जिज्ञासासे समझ लेना चाहिए।

अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्माको गुणके द्वारा भेद करके पहचाननेके लिये व्यवहार कहा है किन्तु उस भेदमें (भेदका लक्ष्य करने पर जो शुभराग आता है उसमें) अटक जानेके लिए व्यवहार नहीं कहा है, किन्तु भेदका लक्ष्य छोड़कर अखण्ड ज्ञायकमें एकाग्र लक्ष्य करके उसके भीतर स्थिर होनेका उपाय बतानेके लिए कहा है।

वस्तुमें परमार्थसे किसी गुणके भेद नहीं हैं, विकल्प नहीं है, फिर भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र गुणके भेद करके पूर्ण आत्माको बताया जाता है इतना व्यवहार बीचमें आता है, वह भी आदरणीय नहीं है किन्तु अभेदमें एकाग्र होकर छोड़नेके लिये है। अभेदकी श्रद्धामें व्यवहारको प्रथम छोड़ने योग्य माननेके बाद गुणके द्वारा गुणीका लक्ष्य करनेके विचाररूप जो व्यवहार आता है, ज्ञानी उसका ज्ञान करता है।

आत्मा तो अखंड, अनन्तगुणका पिंड है, वही परमार्थ है। उसे अनादिकालसे जिसने नहीं समझा उसे 'दर्शन-ज्ञान-चारित्रको जो नित्य प्राप्त हो सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहारमात्रसे भेद करके समझाते हैं। समझानेवाला यदि अभेदरूप परमार्थको समझले तो परमार्थ आश्रित व्यवहार हुआ कहलायगा।

ऐसी बात सुनना दुर्लभ है। उसे समझनेका जिसे प्रेम नहीं है वह जगत्के घूरेको बखेरनेमें उत्साहसे लगा रहता है। जैसे सांड विष्टामय घूरेमें मस्तक मारकर उसे छिन्न-भिन्न करता रहता है उसीप्रकार संसारमें ममतासे ओहो हो! हम तो बहुत बड़े हो गये हैं; इसप्रकार पुण्य प्रतिष्ठा आदिसे बड़प्पन मानता है, उसमें अपना सयान बताता है, किन्तु अभेद गुणीका लक्ष्य कैसे हो यह नहीं समझना चाहता।

शिष्य प्रश्न करता है कि गुणके भेदको बतानेवाला व्यवहार परमार्थ स्वरूपसे अखण्ड वस्तुको कहने वाला कैसे है? उसका उत्तर ९ वीं और १० वीं गाथामें इसप्रकार दिया हैः—

जो हि सुएणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं।
तंसुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥
जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥ १० ॥

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तुं श्रुतकेवलिनमृषयो भणंति लोकप्रदीपकराः ॥ ९ ॥
यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्याच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥ १० ॥

अर्थः—जो जीव निश्चयसे श्रुतज्ञानके द्वारा इस अनुभवगोचर मात्र एक शुद्ध आत्माको सन्मुख होकर जानता है उसे लोकको प्रत्यक्ष जाननेवाले ऋषीश्वर श्रुतकेवली कहते हैं जो जीव सर्व श्रुतज्ञानको जानता है उसे जिनदेव श्रुतकेवली कहते हैं, क्योंकि ज्ञान सब आत्मा ही है इसलिये (वह जीव) श्रुतकेवली है।

आत्मामें गुण भरे पड़े हैं उसकी प्रतीति न होनेसे लोग मानते हैं कि बाह्यमें कोई प्रवृत्ति करें अथवा बहुतसे शुभभाव करें तो गुण होते हैं। भगवानकी पूजा करूँ, स्तुति करूँ, जाप जपूं, किसीकी सेवा करूं तो गुण प्रगट हो, ऐसा जो मानते हैं उनका अक्रिय अखण्ड अविकारी आत्मा पर लक्ष्य नहीं है, भीतर गुण पड़े हैं उसका विश्वास नहीं है, इसलिये यह मानता है कि परलक्ष्यकी प्रवृत्तिसे गुण होते हैं। हीरेको डिब्बीमें रखें तो भी वह हीरा ही है और उसे खुला रक्खें तो भी हीरा ही है, इसीप्रकार भगवान आत्मा स्वभावसे ही परसे भिन्न है, रजकण, देह-मन-वाणीके सम्बन्धसे रहित और अखण्ड ज्ञायकरूपमें विराजमान है, यह विषय ऐसा है कि यदि ध्यान रखा जाय तो समझमें आसकता है। यह कोई राजा-रानीकी बात नहीं है, कई लोग तत्त्वकी बात सुनते हैं किन्तु बराबर मनन नहीं करते इसलिये बाहर जाकर भूल जाते हैं। यदि कोई पूछे कि क्या सुना! तो कहते हैं कि बहुत अच्छी बातें थीं आत्मध्यानकी बातें थीं किन्तु वे कुछ याद नहीं हैं। यदि कोई कथा कहानी या दृष्टांत हो तो उसे जल्दी याद रखता है। जैसे-एक राजा था, उसकी रानी बहुत सुन्दर थी, दोनोंने उपदेश सुनकर दीक्षा लेली फिर उनने ग्रीष्म ऋतु के घोर तापमें बालूमें बैठकर तप किया, उन्हें खूब पसीना आया,

छहमास तक आहार नहीं लिया बादमें राजाको केवल ज्ञान होगया। ऐसी बाह्य बातों पर ध्यान रखता है किन्तु क्या इससे केवलज्ञान हो सकता है?

अन्तरंगको समझता नहीं है, निर्मल केवलज्ञान तो भीतर ही विद्यमान है, अखण्ड पर दृष्टि थी, उसीके बलसे केवलज्ञान प्रगट हुआ है। बाह्य संयोगों पर मुनिकी दृष्टि नहीं है। बाह्यमें कितने परिषह आते हैं यह जानने देखनेकी मुनिको कोई अवश्यकता नहीं होती अर्थात् देह पर उनका लक्ष्य नहीं होता। अखण्ड आनन्दमें स्थिर होनेसे वीतरागदशा प्रगट हुई है, किन्तु जो यह मानते हैं कि परीषह सहन की इसलिये ज्ञान हुआ अथवा शरीर पर खूब गर्मी पड़ी, शरीर सूख गया, छहमास तक रोटी नहीं खाई इसलिये केवलज्ञान हुआ यह बात गलत है। मुनिके अन्तरंग में अखण्डके ऊपर दृष्टि गई है और 'मैं अखण्डानन्द ज्ञायक हूँ' शुभविकल्प भी मेरा स्वरूप नहीं है, मैं परके अवलम्वनसे रहित निर्मल हूँ, इसप्रकार माना जाना और उसमें स्थिर हुआ इसलिए अभेदके लक्षसे-अभेदके बलसे केवलज्ञान हुआ है। बाह्यकी किसी भी क्रियासे अथवा पुण्यादिक की सहायतासे मोक्ष नहीं होता। ऐसा सत्य जगत्के सामने प्रगट किया है, परमार्थ की बात यहाँ अनेक तरहसे कही जाती है।

नवमी तथा दशमी गाथाका शब्दार्थः—जो जीव निश्चयसे (वास्तवमें) श्रुतज्ञानके द्वारा (विकल्प नहीं शब्द नहीं किन्तु भाव श्रुतज्ञानका आंतरिक उपयोग अर्थात् ज्ञानका निर्मल अन्तरका जो व्यापार है उसके द्वारा) इस अनुभवगोचर केवल एक शुद्ध आत्माको अंतरंग में युक्त होकर अखण्डस्वरूपमें जानता है, वह निश्चयसे श्रुतकेवली है इसप्रकार श्री सर्वज्ञभगवान कहते हैं।

जिसने निश्चयसे श्रुतज्ञान (भावज्ञान)के द्वारा इसप्रकार जान लिया कि अंतर एकाग्रतासे आत्मा अखण्ड एकरूप ज्ञायक ध्रुव है, वह परमार्थसे (निश्चयसे) श्रुतकेवली है।

'यह बहुत सूक्ष्म तत्व है इसलिये समझमें नहीं आता'—ऐसी धारणाको हटा देना। समझना अपनी सत्ताकी बात है। यह बात ऐसी है कि आठ वर्षका बालक भी समझ सकता है। किन्तु जो पहलेसे ही इसप्रकार निषेध कर बैठे कि मेरी समझमें नहीं आसकता उसके लिये क्या किया जाय ? यहाँ 'समझमें नहीं आसकता' इस अयोग्यताको दूर कर दिया है। और पहली गाथामें ही यह स्थापित किया है कि तू पूर्ण शक्तिमान सिद्ध भगवानके समान ही है। अनन्त जीव आत्माको समझकर सिद्ध हुये हैं इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्येक आत्मा को समझमें आ सकता है। समझमें न आये ऐसा कुछ नहीं है। सदा जाननेका जिसका स्वभाव है वह किसे नहीं जान सकता।

दसवीं गाथा

व्यवहार श्रुतकेवली = जो गुण-गुणीके भेदसे परमार्थमें जानेका विचार करते हैं, सम्यग्ज्ञानीके अपने आत्माके ज्ञानके द्वारा अखण्डको लक्ष्यमें लेकर पूर्णको प्राप्त करनेका विकल्प उठता है और जो निश्चयमें स्थिर होनेके लिये स्वरूपके सन्मुख होनेके विचारके प्रवाहवाले हैं उनको जिनदेव व्यवहार-श्रुतकेवली कहते हैं।

निश्चयभाव श्रुतरूप होकर स्थिर नहीं हुआ है, किन्तु स्थिर होनेके लिये मैं ज्ञान हूँ, दर्शन हूँ, निर्मल हूँ—ऐसा विकल्प पूर्ण आत्माकी ओर करता है वह अल्प श्रुतज्ञानका विकल्प वाला सर्व श्रुतज्ञानरूप अखण्ड आत्मवस्तुको ध्यानमें लेकर उसीमें स्थिर होना चाहता है इसलिये वह व्यवहार श्रुतकेवली है।

अखण्डके लक्षसे भेदके विचारमें रहना सो व्यवहार है। परकी भक्ति, और परके अवलम्बनका जो विचार है उसे यहाँ व्यवहार नहीं कहा है।

आत्मा अखण्ड निर्मल है, ऐसे पूर्ण आत्माको लक्षमें लेनेका जिस ज्ञानीके विचार है वह भी व्यवहार श्रुतज्ञानी है। आचार्य कहते हैं कि जो अखण्ड ज्ञानानन्द आत्माको सर्वज्ञके न्यायसे बराबर

जानकर श्रुतज्ञानको अखण्डमें मिलाकर पूर्ण आत्माको पकड़ना चाहता है (प्राप्त होना चाहता है), उसमें स्थिर होना चाहता है, उसे चाहे द्रव्यश्रुतका अल्पभाग हो तथापि वह पूर्ण स्व-विषयको ग्रहण कर उसमें ही स्थिर होना चाहता है इसलिये 'व्यवहार श्रुतकेवली' है और जो परमार्थको जानकर अखंडके लक्षसे स्थिर हुआ वह 'परमार्थ श्रुतकेवली' है।

जिसके ज्ञानमें आत्माको जाननेका रागमिश्रित विचार रहता है, इसके अतिरिक्त जिसे दूसरा कुछ नहीं चाहिये वह अपने स्वरूपमें निर्विकल्पताके सन्मुख होनेके कारण वर्तमानमें द्रव्यनिक्षेपसे (व्यवहारसे) श्रुतकेवली है। जिनने परमार्थका आश्रय किया उन सबके परमार्थ प्रगट होता है।

'मैं अखण्ड ज्ञायक निर्विकल्प हूँ, निर्मल हूँ,' ऐसा जो विचार है सो मनके द्वारा होने वाला ज्ञान है, तथापि ज्ञान अपना ही है, रागका नहीं है। परकी ओरका रागरूप ज्ञान नहीं है, किन्तु सिर्फ आत्माकी ओर वह ज्ञान प्रवर्तता है इसलिये वह परमार्थको बतलाने वाला है। पूर्ण श्रुतकेवलीको भी आत्माको ही पकड़कर स्थिर होना है।

इसी प्रकार अपूर्ण श्रुतज्ञानमें अखण्ड आत्माको ज्ञानमें समाविष्ट करनेका विचार जिसके विद्यमान है उस अल्पज्ञके सर्वश्रुतज्ञान है क्योंकि वह अल्प होनेपर भी सम्पूर्ण केवलज्ञानको प्राप्त कर सकता है। सम्यग्दृष्टि आत्माका विचार करते हों कि भेदसे हटकर अन्तरंगमें अनुभवकी ओर झुकते हैं उन सबको अल्प भावश्रुतज्ञानकी प्रगटतामें भी श्रुतकेवली कहा जाता है, क्योंकि जो स्वरूपके सन्मुख हुआ उसका समस्त ज्ञान आत्मा ही है। जो ज्ञायकस्वभावको ही लक्षमें लेना चाहता है उसने निश्चयसे चाहे आत्माको नहीं प्राप्त किया, स्थिर नहीं हुआ तथापि भविष्यमें श्रुतकेवली होगा इसलिये उसको वर्तमानमें भी व्यवहारसे श्रुतकेवली कहा है।

ज्ञान अखंड आत्माकी ओर ढलता है, इसलिये विचाररूप सर्व-श्रुतज्ञान-सम्पूर्णज्ञान आत्माका ही है अतएव ऐसा कह दिया है कि वह श्रुतमें परिपूर्ण है। अभेदरूपमें स्थिर न होनेके कारण व्यवहार कहा है। नवमी गाथामें निश्चय परमार्थसे कहा और दशमी गाथामें व्यवहारसे कहा है, दोनोंकी संधि करके आचार्यदेवने मानों अमृतको प्रवाहित किया है।

टीका।—पहले 'जो निर्मल ज्ञानरूप भावश्रुतसे केवल शुद्ध आत्माको जानता है वह परमार्थसे श्रुतकेवली है।' पहले स्थिर होनेके लिये भीतर स्वकी ओर झुकनेका विकल्प तो आता ही है फिर जब अभेदको स्व-विषय करके (अन्तरंग) स्थिर होता है तब उसे सर्वज्ञ भगवान निश्चयसे श्रुतकेवली कहते हैं, यही परमार्थ है। निश्चय

जो 'आत्माको' पूर्ण निश्चयसे जाननेके प्रयत्नमें रहता है उसके अखण्डके प्रति झुकनेवाला-पूर्णभाव है अर्थात् जिसके आत्माको प्राप्त करनेके लिये विचार होता है वह भी आत्मसन्मुख होनेसे व्यवहार श्रुतकेवली है। क्योंकि उसका प्रयोजन मात्र परमार्थमें पहुँचनेके लिये ही होता है। स्वोन्मुख एवं परमार्थ ग्रहण करनेका भाव अपूर्ण होने पर भी पूर्णको पकड़ने (प्राप्त करने) वाला होनेसे श्रुतमें पूर्ण है अर्थात् व्यवहारनयसे श्रुतकेवली है।

यहाँ-ऊपर कहा गया सर्वज्ञान आत्मा है या अनात्मा? इसप्रकार दो पक्ष उठाकर परीक्षा करते हैं।

सच्ची समझ करके यथार्थ अनुभव करनेके लिये विकल्पसे छूटकर भीतर स्थिर होनेकी जो विचार-धारा चलती है वह आत्मा है, क्योंकि वह ज्ञान रागका नहीं है, जड़-इन्द्रियोंका नहीं है, परका नहीं है, परको ओर झुकनेवाला नहीं है। किन्तु आत्माकी ओर झुका है आत्माको ही जानता है, इसलिये वह ज्ञान आत्माका ही है।

अब यह बताते हैं कि श्रुतज्ञान यदि अनात्माकी ओर झुकनेवाला हो तो यह यथार्थ नहीं है।

यदि ज्ञान अनात्माकी ओर झुकाववाला हो तो वह व्यवहार नहीं है। पहले आत्माकी ओरका ज्ञान क्या है, इसे समझे बिना अनात्माका ज्ञान क्या है यह समझमें नहीं आ सकता।

यहाँ पर जो आत्माको ग्रहण करनेकी अमुक तैयारी वाला है वह, तथा सत्समागमके द्वारा सर्वज्ञके न्यायानुसार ठीक समझनेके बाद अन्तरंगमें अनुभवयुक्त निजकी ओर स्थिर होनेके लिये जो स्वोन्मुख ज्ञान है वह समस्त ज्ञान आत्माका है।

यदि उपरोक्त सर्वज्ञानको अनात्मारूप जड़के पक्षमें लिया जाय तो वह यथार्थ नहीं है, क्योंकि अचेतन–जड़ आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, उनका ज्ञानके साथ तादात्म्य ही नहीं बनता। (क्योंकि उन पाँच अचेतन द्रव्योंमें ज्ञानलक्षण निश्चित् नहीं होसकता) यह सर्वज्ञान तो आत्माके साथ तादात्म्य करनेके लिये है, स्वको जाननेके विचारमें प्रवर्तनेवाला ज्ञान है किन्तु परविषय तथा रागादि आत्माकी ओर-का लक्ष करनेके लिये नहीं है।

मैं पुण्य-पाप विकारका कर्ता हूँ, मैं देहादिकी क्रिया करता हूँ, ऐसा जो विचार है और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंकी ओर ढलना सो अज्ञान है। जड़-अनात्मामें ज्ञान सिद्ध ही नहीं होता किन्तु अकेले ज्ञायक स्वभावकी ओरका विचार करता है, उसके द्वारा आत्माको जानता है, इसीसे ज्ञान आत्मा ही है ये पक्ष सिद्ध होता है। परमार्थको जाननेके विचाररूप होनेवाला सर्वज्ञान, उसके तादात्म्यपना स्वरूपको जाननेरूप ज्ञायक आत्माके साथ सिद्ध होता है, इसलिये सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है, ऐसा निश्चय होनेसे जो आत्माको जानकर उसमें स्थिर होनेका तत्परतारूप ज्ञान करता है वह पुण्य–पापके पक्षको उप-स्थित नहीं करता किन्तु संयोगको तोड़कर असंयोगी निर्मल आत्मा-का पक्ष नित्य उपस्थित करता है।

अखण्ड तत्वस्वरूपमें स्थिर होनेके लिये जो विचार होता है वह आत्माकी ओर ढलनेवाला सर्वज्ञानका पक्ष है। स्वरूप सन्मुखके

श्रुतज्ञानके जो विचार हैं वह भी आत्मा ही हैं। ऐसा होनेसे जो आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है और वह परमार्थ है।

अब यहाँ व्यवहार श्रुतकेवलीके दो प्रकार कहे जाते हैं।—

(१) जिसने सर्वज्ञके न्यायानुसार आत्माको जाना और उसमें अखण्डके लक्षसे स्थिर होनेके लिये बिल्कुल सन्मुख हुआ है किन्तु यथार्थ अनुभवसे निर्विकल्प होकर निश्चय श्रद्धाके द्वारा अभेद परमार्थका विषय नहीं किया तथापि जिसके पूर्णको पहुँच जानेका विचार रहता है उस अपूर्णभावको पूर्णके लक्षसे पूर्णका कारण मानकर व्यवहारसे उसे श्रुतकेवली कहा है।

(२) जिसने यथार्थरूपसे अन्तरमें अखण्डका लक्ष करके अनुभव तो किया है और फिर भाव श्रुतज्ञानके अन्तर उपयोगमें आनेके लिये, अखण्ड स्वभावकी दृष्टिके बलसे भीतरमें (अंतरंगमें) एकाग्र होकर स्थिर होनेके विचारमें रहता है, साथ ही जिसके मनके सम्बन्धका अल्पराग रहता है किन्तु उस ओर झुककर अन्तरमें स्थिर होनेके लिये जो अखण्डका विचार करता है, वह भी व्यवहार श्रुतकेवली है।

परमार्थ श्रुत अखण्ड आत्मा है। उसमें स्थिर होनेके लिये, पूर्ण निर्मलभाव प्रगट करनेके लिये विचारमें भेद होता है किन्तु लक्ष तो अभेद परमार्थकी ओर ढलनेका ही है। गुण-गुणीका भेद डालकर अखण्ड ज्ञायकको ओर झुकनेवाला, अखण्ड ज्ञायकको कहनेवाला जो व्यवहार अंतरंगमें स्थिर होनेसे पहले बीचमें आता है, वह सर्व-श्रुतज्ञानका अपूर्णभाव व्यवहारमें पूर्ण श्रुतकेवली है।

जिसे अनुभवके द्वारा आत्मामें स्थिर होना है और पूर्ण परमार्थको पहुँचना है उसे गुण-गुणीके भेदके द्वारा अभेदमें जानेके लिये यह व्यवहार कहा है किन्तु वह व्यवहार दूसरा कुछ कहता या करता नहीं है।

अभेदके लक्षसे परमार्थ प्रगट होता है, किन्तु परमार्थमें जाने पर उसका विचार करनेमें निमित्तरूपसे ज्ञानका विचार आये

विना नहीं रहता, इस अपेक्षासे 'जो सर्वश्रुतज्ञानको जानता है वह श्रुतकेवली है,' ऐसा जो व्यवहार है वह परमार्थमें स्थिर होनेमें बीच-में अपनेको दृढ़रूपसे स्थापित करता है। परमार्थका प्रतिपादन सविकल्पसे होता है इसलिये दृढ़रूपसे व्यवहार आये बिना नहीं रहता। सर्वज्ञके, न्यायके अनुसार नय-प्रमाण और निक्षेपके द्वारा नवतत्व तथा द्रव्य-गुण-पर्यायका स्वरूप जानकर परमार्थरूप अखण्ड-को ध्यानमें लेकर उसकी ओर एकाग्र पकड होनी चाहिये; जैसा है वैसा जाने बिना पूर्ण आत्मा लक्षमें नहीं आता, इसलिये आत्माको परमार्थ स्वरूपसे जैसा है वैसा कहनेवाला सर्वश्रुतरूप व्यवहार दृढ़-रूपमें आता है।

श्रुतरूप चौदहपूर्वका ज्ञान भी मात्र आत्मानुभव करनेके लिये है। जिस कार्यके लिये श्रुतकेवलीका ज्ञान काम करता है वही कार्य अपूर्ण श्रुतज्ञान करता है इसलिए वह सर्वश्रुत है। आत्माको प्राप्त करनेके लिये नवतत्वका यथार्थ स्वरूपका थोड़ा या बहुत चाहे जो विचार हो तो भी उसे व्यवहारसे सर्वश्रुत कहा जाता है।

अहो! श्री अमृतचन्द्राचार्यने इस समयसार शास्त्रकी अद्-भुत टीका करके यथार्थ वस्तुस्वरूप बताया है। अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है और इस समसारजीमें महामोक्षको अवतरित कर दिया है।

यह ऐसा अपूर्व विषय है जिसे अनंतकालसे नहीं सुना। जैसे किसीके इकलौते पुत्रका विवाह हो रहा हो तब उसमें यदि पच्चीस हजार रुपये खर्च करना हो तो वह कितना हर्ष करता है, उस हर्षमें विभोर हो जाता है। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा परसे भिन्न, निर्मल, त्रिकाली अखण्ड ज्ञायकस्वरूप है उसे सर्वज्ञ भगवानने जैसा कहा है वैसा यदि सुननेको मिले तो योग्य जीवके हर्षका पार नहीं रहता, समझनेमें विरोध नहीं आता; किन्तु जिसे अनादिसे अन्यथा मान रखा है, और उसका दृढ़ आग्रह होता है, वह सत्यको नहीं सुनना चाहता। तत्त्वज्ञानका विरोध करनेवाले जीव अनन्तकालसे लट,

जोंक भी न हो ऐसे निगोद में (अनन्त जन्म-मरणके स्थानमें) जाता है।

प्रश्नः—यह कैसी सूक्ष्म बातें किया करते हो?

उत्तरः—यह सूक्ष्म बात तो है किन्तु हितकारी है और वह तेरी ही है और इसलिये तुझे वह समझमें न आये यह नहीं हो सकता। समस्त आत्मा सिद्ध भगवानके समान ही हैं तुम भी वैसे ही स्वतंत्र और पूर्ण हो, इसप्रकार प्रत्येक आत्मामें सिद्ध परमात्मत्व स्थापित करके समयसारका प्रारम्भ किया है और छट्ठी सातवीं गाथामें तो अद्भुत बात कही है।

अरे भाई! संसारके कार्यमें तुझे हर्ष होता है, और इस अमूल्य सत्यको समझनेका सुअवसर मिला, तथा अनन्त जन्म-मरणको दूर करके अल्पकालमें मोक्षप्राप्त करानेवाली ऐसी अपूर्व बात सुनकर अन्तरसे हर्ष नहीं आये तो इस जीवनकी सफलता क्या है? यों तो जगतमें कीड़े-मकोड़ेकी तरह बहुतसे जीव जन्मते और मरते हैं सत्यको समझे बिना जिसका समय व्यतीत होता है उसका जीवन कीड़े-मकोड़ेके जीवनकी तरह समझना चाहिये।

यदि कोई एकबार सत्यको सुनकर और उसे अन्तरंगसे समझकर हाँ कहे तो उसके अनन्त परिभ्रमणका अन्त हो जाता है। यह कथन ऊँचो भूमिका वालेके लिए नहीं है, तथा केवलज्ञानीके लिये भी नहीं है, अभी चारित्रका विषय दूर है, यह तो पहले सम्यग्दर्शन कैसे हो उसकी बात चल रही है। सर्वज्ञ भगवानने जैसा तत्व कहा है यदि वैसा ही जाने तो कोई भ्रम न रहे। समस्त पहलुओंसे विरोधको दूर करके सत्यको समझे तो अन्तरंगसे ध्वनित हो उठे कि 'बस! अब भव नहीं रहा'। ऐसी प्रतीति होनेके लिये ही आचार्य कहते हैं, व्यवहारसे भी कोई आत्मा परकी क्रिया नहीं कर सकता। जो कर्तृत्वका भाव करता है वह भी अभूतार्थ है। आत्मा तो परसे त्रिकाल भिन्न, अखण्ड ज्ञायकरूप है: शरीर, मन, वाणी और पुण्य-पापकी प्रवृत्ति तथा कर्मरूप नहीं हैं। राग-द्वेषका जो विकारी भाव

है वह त्रिकाली ज्ञायक आत्माका स्वभाव नहीं है इसलिए वह पर है और इसीलिये वह दूर किया जासकता है।

जैसे चन्दनको लकड़ीकी पहिचान करानेके लिये उसके एक गुणको कहकर उसे भिन्न करके कहा जाता है कि जो सुगन्धमय है वह लकड़ी चन्दन है। यहाँ पर चन्दन और सुगन्धिमें जो भेद किया गया सो व्यवहार है अखण्ड चन्दनको समझना सो परमार्थ है। इसीप्रकार आत्मा अनन्तगुणका पिण्ड है उसे 'जो ज्ञान है सो आत्मा है, जो श्रद्धा करता है सो आत्मा है, जो स्थिरता करता है सो आत्मा है' इसप्रकार व्यवहारसे भेद करके अखण्ड आत्माको समझाते हैं। गुणभेद कथन व्यवहार है, उस परसे अभेद आत्माको समझले तो उसमें जो व्यवहार हुआ सो वह निमित्तरूप ठहरता है, ऐसा व्यवहार परमार्थमें कैसे आता है? इसका उत्तर देते हैं:—

यदि पहले भावश्रुतज्ञानके द्वारा देखें तो आत्मा ज्ञानमूर्ति, अखण्ड आनन्दकन्द है। अशरीरी सिद्धभगवानके समान ही प्रत्येक आत्मा है। किसी आत्मामें परमार्थसे अन्तर (छोटा-वड़ापन) नहीं है। किन्तु परमें विश्वास करके अपनी विपरीत मान्यतासे अन्तर माना है। परकी क्रिया मैं कर सकता हूँ, मैं पुण्य-पाप विकारका कर्ता हूँ इसप्रकार परको अपना मानकर, अपने एकरूप ज्ञायक स्वभावको भूला है इसलिये मैं परका कर्ता नहीं किन्तु ज्ञायक ही हूँ, और परके अवलम्बनसे गुण नहीं होता यह वात अंतरंगमें बैठनी कठिन मालूम होती है।

लोगोंने वाह्यसे गुण माना है, इसलिये भीतर गुण है इस वातका विश्वास नहीं होता। वे कहते हैं कि यदि भीतर गुण भरे ही हों तो फिर हमसे गुण प्रगट करनेके लिये क्यों कहते हो? हमें तो यह समझमें आया है कि गुणके लिये वाह्यप्रवृत्ति करनी चाहिये।

क्या किया जाय? अनादिसे वाह्य पर दृष्टि पड़ी है, इसलिये सब वाह्यसे ही देखकर निश्चय करता है, वास्तवमें तो निश्चय

करनेवाला भीतरसे निश्चय करके, परमें कल्पना करता है। ऊपरकी दृष्टिसे मानता है कि मैंने इतने जीवकी दया पाली, यह बांचा, पूजनकी, दान किया, उठ बैठ करके वंदनाकी, ऐसी ही अनेक बाह्यक्रियासे गुण हुआ मानता है; किन्तु भीतर आत्मा अक्रिय, अनन्तगुणका पिण्ड है, उसमें अन्तर्मुख अभेददृष्टि करके अनादिसे कभी भी नहीं देखा।

प्रश्न:—क्या बातें करनेसे धर्म होता है? क्रिया तो होनी ही चाहिये। यदि आत्मा वर्तमानमें पवित्र हो तो फिर हमें किसलिये समझाते हो?

उत्तर:—लोग क्रिया-क्रिया चिल्लाते हैं किन्तु कौनसी क्रिया वास्तविक है यह नहीं समझते। गुण प्रगट करनेके लिये बाह्य-क्रिया चाहिये, ऐसी बात नहीं है। देहाश्रित प्रवृत्तिमात्र आत्माका स्वरूप नहीं है, वह आत्माके आधीन नहीं है। जो यह मानता है कि देहकी क्रियासे धीरे धीरे आत्मगुण प्रगट होगा उसे अन्दरके (अन्तरंगके) अनन्त अविकारी गुणकी श्रद्धा नहीं है। यहाँ यह बताते हैं कि आत्माकी क्रिया आत्मामें होती है। जो अंतरंग परमार्थको नहीं समझता उसे अन्तरंगका लक्ष कराते हैं, 'जो यह विश्वास करता है सो आत्मा है। परसे लाभ-हानि मानकर जो परमें विश्वास करता है उसे स्वोन्मुख कर तुझमें परवस्तु की नास्ति है, तू सदा श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र इत्यादि अनन्त गुणोंका पिंड है' इसप्रकार भेदसे अभेदका लक्ष करके गुण-गुणीकी एकता करता है, यह आत्माकी अरूपी क्रिया है। वहाँ अखंड आत्माका पहले श्रद्धान होता है और रागसे कुछ भिन्न होकर निर्विकल्प आनंद आता है, यह आत्माकी क्रिया है। यह मात्र बातें नहीं हैं यह तो यथार्थ अन्तर की क्रिया है। जिसके ऐसी महिमा होती है वह कहता है कि अहो! ऐसा अखण्ड स्वभाव भीतर ही है, मैं उसे बाहर ढूँढ़ता था। ऐसे वस्तुस्वभावको प्राप्त करनेके लिये बाहरके किसी साधनकी या शुभविकल्पकी आवश्यकता नहीं पड़ती। ऐसे निर्मल भाव:

श्रुतज्ञानसे वह सिर्फ शुद्ध आत्माको ही जानता है वह श्रुतकेवली है, वही परमार्थ है। केवलज्ञान होनेसे पहले आत्माके स्वभाव-भावका ज्ञाता होनेसे श्रुतकेवली है।

भीतर अभेदस्वरूपके लक्षसे गुणके द्वारा गुणीको जानकर उसमें एकाग्र हुआ है इसलिये यह परमार्थ श्रुतकेवली है।

जैसे 'मिश्रो' शब्दका ज्ञान मतिज्ञान है। फिर जब यह जाना कि मिश्रो पदार्थ ऐसा है सो वह श्रुतज्ञान है इसीप्रकार 'आत्मा' शब्दका जो ज्ञान है सो मतिज्ञान है और 'आत्मा' अखण्ड, निर्मल, एकरूप ज्ञायक वस्तु है ऐसा जो ख्याल किया सो श्रुतज्ञान है उसमें बाहरका कोई साधन नहीं है, अकेले ज्ञानने ही उसमें कार्य किया है। जैसे मिश्रीका स्वाद लेते समय दूसरेके स्वादका, लक्ष नहीं है, उसीप्रकार मनके संयोगके बुद्धिपूर्वकके विकल्पसे जरा छूटकर एकरूप आत्माको जब अन्तर लक्षमें लिया और स्थिर हुआ तब अन्तरंगमें निराकुल शांति होती है, यह उस समयकी 'परमार्थ श्रुत' की बात है।

जैसे श्रुतसे मिश्री पदार्थको जाना था, (मिश्री पृथक् वस्तु है) उसीप्रकार स्वोन्मुखताके द्वारा भावश्रुतमें अखंड वस्तुको ख्यालमें लेने पर 'आत्मा ऐसा ही है' ऐसे अभेदके लक्षसे जब स्थिर होता है तब अखण्ड आनन्द आता है, ऐसी अवस्था चतुर्थ गुणस्थान-में भी होती है।

यदि कोई कहे कि यह बात केवलज्ञानकी-तेरहवें गुणस्थान की है तो उसका कहना ठीक नहीं है। समयसारमें यह सम्यग्दर्शनकी ही बात कही है; इसमें परमार्थसे जो स्थिर हुआ उसके भावश्रुत उपयोग निम्न अवस्थामें है, तो भी पूर्णके कारणरूप है इसलिये परमार्थसे श्रुतकेवली है।

अरे भाई! अनन्तकालकी महामूल्य जो यह बात कही जा रही है उसे समझनेका उत्साह होना चाहिये। जैसे उन्मत्त सांड घूरे-को बखेरकर उसकी धूल, राख, बिष्ठा आदि कूड़ा अपने ही मस्तक पर

डाले; राख, कूड़ा-कचरा आदिके बड़े घूरेमें मस्तक मारकर डकारे और यह माने कि मैंने कैसा बल लगाया, कितना सारा तोड़ा-फोड़ा और बखेरा किन्तु सांडका वह व्यर्थका तूफान है। उसीप्रकार हम संसारके कुछ काम कर डालें ऐसे अभिमान लेकर व्यर्थके कार्य करके उसमें हर्ष मानते हैं। अज्ञानभावमें संसारके घूरे को उछालनेका बल करके जगत् व्यर्थ ही कूदा करता है किन्तु उसमें कुछ हाथ नहीं आता। भीतर जहाँ माल भरा हुआ है वहाँ जीव ढूंककर भी नहीं देखता।

आत्मा एकरूप ज्ञायक, ध्रुव टंकोत्कीर्ण वस्तु है, उसे विवेकका मस्तक मारकर जागृत करना है। अनादिकालसे अज्ञानमें कूद-फांदकी है। अब परकी ममतामें ही सोते रहनेसे काम नहीं चलेगा?

पहले सर्वज्ञके न्यायसे विरोधरहित सच्चा ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके द्वारा आत्मामें स्थिर होनेका प्रयत्न करता है, वह ज्ञान ही सर्वश्रुत है, क्योंकि सर्व आगम-शास्त्रोंका रहस्य पूर्ण आत्माको जानकर उसमें स्थिर होना है, इसलिये अपूर्णदशामें पूर्णको प्राप्त करनेका अभिप्राय रहता है, अतः उसे सर्वश्रुत जो द्वादशांग है उसका रहस्य प्राप्त होगया है। स्थिर होनेके विचारके समय रागका अंश है, किन्तु स्थिर होनेके बिल्कुल सन्मुख हुआ जो ज्ञान है वही स्थिर होनेका कारण है, इसलिये उसे सर्वश्रुत कह दिया है।

जो कार्य उत्कृष्ट श्रुतकेवली करता है वही कार्य अल्प श्रुतज्ञानी भी करता है, उसने बारह अंगका रहस्य जाना है इस आशयसे सर्वश्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ही जाननेके लिये भेद करके विचार करे किन्तु जो उसमें स्थिर नहीं हुआ वह व्यवहार श्रुतकेवली है और जब स्थिर होगया तब परमार्थ श्रुतकेवली कहा जाता है।

यह वस्तु सूक्ष्म है, गुरुगमसे समझने योग्य है। यह तो सर्वप्रथम नींवकी बात है। आचार्यने भलीभाँति उकेल-खोलकर तत्व

समझाया है। यदि इसे समझे तो अन्तरंगसे आत्मदेवकी अपूर्व ध्वनि सुनाई दे, और इसे समझे बिना अन्य समस्त कार्य व्यर्थ हैं। सांसारिक व्यवहारमें दया, सेवा, पुण्यकी बात अंतर मार्गसे दूर ही है किंतु धर्मके नामसे जितने कर्तव्य, पुण्य, दया, दान, पूजा, प्रभावना, महाव्रत इत्यादि किये वे भी सब परमार्थके बिना अकेले व्यर्थ ही हैं, ऐसा जो परम सत्य है, वही तीनोंकालके सर्वज्ञोंने कहा है। जो उसे ठीक समझता है उसे अन्तरंग तत्त्वकी महिमा अवश्य होती है।

"सर्वश्रुत" में अद्भुत गम्भीर अर्थ निहित है। पंचेन्द्रिय पशुमें भी अल्पज्ञके श्रुतकेवलीपन है; उसके भी परमार्थ भावश्रुत–आत्माका अभेद उपयोग होता है। भले ही उसे नव तत्वोंके नाम भी न आते हों तथापि भावमें आशयमें उसे सर्वश्रुत होता है। पशुमें भी ज्ञानीपन होता है। जो पूर्णमें स्थिर होनेके विचारमें रत हैं वे चाहे तिर्यंच हों या मनुष्य, सभी श्रुतज्ञानी व्यवहारसे 'सर्वश्रुत' कहलाते हैं।

ज्ञानगुणको प्रधान करके आत्माको 'ज्ञायक' कहा जाता है। ज्ञानगुण स्वयं सविकल्प है, अर्थात् वह निजको और परको जाननेवाला है और ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी गुणमें स्व–परको जाननेकी शक्ति नहीं है, इसलिये ज्ञानके अतिरिक्त सभी गुण निर्विकल्प हैं।

यहाँ तो अन्तरंग परिणामकी धाराको देखनेकी सूक्ष्म बात है, शुभभाव पर तनिक भी जोर नहीं है। कोई यहाँ कहता है कि हमारे शुभभावको ही उड़ा देना चाहते हो, किन्तु भाई! यहाँ तत्वके समझनेमें, उसके विचारमें जो शुभभाव सहज ही आते हैं, वैसे उच्चशुभभाव क्रियाकाण्डमें नहीं हैं। यदि एक घण्टे भी ध्यान लगाकर तत्वको सुने तो भी शुभभावका पार न रहे और शुभभावकी सामायिक हो जाय! तब फिर यदि चैतन्यको जाग्रत करके निर्णय करे तो उसका कहना ही क्या है?

तत्वज्ञानका विरोध न करे, और मात्र यह सुने कि ज्ञानी क्या कहता है, तो उसमें शुभरागका जो पुण्यबन्ध होता है उससे परमार्थके लक्षसे युक्त सुनने वालेके उत्कृष्ट पुण्यके शुभभाव हो जाते है। तत्वके सुननेमें शुभभाव रखे तो ऐसा शुभ सुननेका योग पुनः मिल जाता है, किन्तु उस पुण्यका क्या मूल्य है? पुण्यसे मात्र सुननेका योग मिले, किन्तु यदि उसमें अपनेको एक-मेक करके सत्यका निर्णय न करे तो व्यर्थ है।

पुण्यसे धर्म होता है, अथवा अन्तरंग गुणमें वह सहायक होता है, इस मान्यताका निषेध अवश्य होता ही है! पुण्यबंध विकार है, उसे धर्म माननेका निषेध त्रिकालके ज्ञानियोंने किया है। पुण्य विकार है, उससे अविकारी आत्मधर्म नहीं हो सकता, इसलिये पुण्यका निषेध किया गया है, किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि पुण्यको छोड़कर पाप किया जाय। अज्ञानीके भी अशुभसे बचनेके लिये शुभ भाव होता है, किन्तु यदि कोई यह माने कि उससे धर्म होगा और इसलिये शुभभाव करे तो उससे अविकारी आत्माको कदापि कोई लाभ नहीं हो सकता।

कभी भी ऐसा उपदेश सुननेकी आन्तरिक इच्छा नहीं हुई, और दुनियांमें पुण्य-पाप करनेकी बातें सुनता रहा, ऐसी स्थितिमें ज्यों-त्यों कर यहाँ धर्म श्रवण करने आया तब उसे यहांकी बातें अतिसूक्ष्म लगती हैं, इसलिये पहलेसे ही ऐसी धारणा बाँध लेता है कि यह तत्वचर्चा अपनी समझमें नही आसकती। तथापि वह लौकिक-कलामें तो किंचित् मात्र भी अजान नहीं रहता।

लोक-व्यवहारमें भले ही देशकालानुसार कायदे-कानून बदल जाते हैं, किन्तु यह तो परमार्थकी बात है, साक्षात् सर्वज्ञसे समागत बात है, उसके कायदे-कानून तीनलोक और तीन कालमें नहीं फिर सकते।

अमूल्य तत्व बताकर, अनन्त कालमें दुर्लभ वस्तुको कहकर और आत्माकी महिमा बताकर अभ्यास करनेको कहा है। उसकी

पहिचानकी महिमाका वर्णन करके उसमें स्थिर होनेकी बात कही जारही है। यदि सच पूछा जाय तो स्वभावमें यह मँहगा नहीं है।

जैसे स्वप्नके समय यह नहीं कहा जा सकता कि यह स्वप्न है; और जब कहा जाता है तब स्वप्न नहीं होता, इसप्रकार अभेदके अनुभवके समय विकल्पसे नहीं कहा जा सकता, और जब विकल्प होता है तब केवल परमार्थका अनुभव नहीं होता। परमार्थका लक्ष तो अखण्डके लक्षसे ही होता है। यद्यपि बीचमें भेद-विचार होता है किन्तु उस भेदसे अभेदका लक्ष नहीं होता। अभेदके लक्षसे भेदका अभाव करने पर अभेद परमार्थ हस्तगत होता है। भेदसे अभेद पकड़ा जासकता है, यह तो मात्र उपचारसे कहा है।

गुणकी निर्मल अवस्थाके भेद मात्र व्यवहार नयका विषय होनेसे अभूतार्थ हैं। भेदरूप व्यवहार परमार्थमें सहायक नहीं होता। परमार्थका लक्ष करके जब उसमें स्थिर होता है तब व्यवहार छूटता है। पश्चात् अन्तरंगमें जितना स्थिरताका झुकाव रहता है, उतना भेद क्रमशः दूर होता जाता है।

भावार्थः—जो विकल्पको मिटाकर भावश्रुत ज्ञानके द्वारा अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्ध आत्माको जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ (निश्चय) कथन है। जो सर्वश्रुतरूप ज्ञानको जानता है, अभेद आत्माको जाननेके विचारमें प्रवर्तमान रहता है वह सब ज्ञान भी आत्मोन्मुख होनेसे आत्माको ही जानता है, क्योंकि जो ज्ञान है वह आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान-ज्ञानीके भेदको कहनेवाला जो व्यवहार है उसे भी परमार्थ ही कहा है, अन्य कुछ नहीं कहा। परमार्थका विषय तो कथंचित् वचनगोचर भी नहीं है। परमार्थके कहनेमें व्यवहार निमित्त होता है, इसलिये अभेदका लक्ष करने वालेको व्यवहारनय ही प्रगटरूपसे आत्माको समझनेके लिये निमित्त है।

ग्यारहवीं गाथाकी भूमिका

यह ग्यारहवीं गाथा अद्भुत है। अनन्तकालसे परिभ्रमण

करते हुए जीवने आत्माके यथार्थ स्वभावको नहीं पाया। बाह्य पदार्थके निमित्तसे रहित जो निरुपाधिक गुण है सो स्वभाव है। उसे यथार्थ तया जाने विना व्रत या चारित्र सच्चे नहीं हो सकते। यहाँ पर गुणका अर्थ रजोगुण, तमोगुण अथवा सत्वगुण नहीं है, किन्तु जो आत्मस्वभाव है वह गुण है। आत्मा अनादिकालसे परमानन्द, निर्विकल्प वीतराग विज्ञान है। वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्रके लिए पुण्य-पापका शुभ-अशुभ भाव होता है, वह कर्मके निमित्ताधीन होने वाला विकारी भाव है, स्वभावभाव नहीं है।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दकी मूर्ति है, वह जैसा स्वाधीन और पूर्ण है यदि वैसा यथार्थ लक्षमें ग्रहण करे तो सहज आनन्द आये विना न रहे।

कच्चे चनेमें स्वाद भरा हुआ है और वर्तमान कचाईके कारण ही वह बोनेसे उगता है। कच्चा होनेसे उसका स्वाद मालूम नहीं होता तथापि उसमें मिठास तो विद्यमान है ही, उसे भूननेसे मिठास प्रगट हो जाती है। वास्तवमें चनेका उगनेका स्वभाव नहीं है, यदि उसका उगनेका नित्यस्वभाव हो तो भूननेके बाद भी वह उगना चाहिये। और फिर चनेमें अपना स्वाद भरा हुआ ही है, वह चनेमेंसे ही प्रगट हुआ है, रेत, अग्नि और भाड़ आदि बाह्य साधनोंसे स्वाद आता हो तो कंकड़ोंको भूननेसे उनमें भी स्वाद आना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। अन्तरंग स्वभावमें होने पर ही गुण प्रगट होता है।

भगवान आत्मा देह, मन, वाणी और इन्द्रिय इत्यादि जड़ वस्तुओंसे भिन्न है, तथा भीतर जो तैजस और कार्माण रजकणोंसे निर्मित दो शरीर हैं उनसे भी भिन्न है। वह नित्य ज्ञान-आनन्दकी मूर्ति है, उसे जाने विना अनादिके अज्ञानीको उस आनन्दका स्वाद नहीं आता, उसे तो पुण्य-पापको अपना समझनेका जो विकार है उसकी कचाईके कारण संसारका दुःखरूपी कषायला (कषाय, आकुलता) स्वाद आता है। विकार मेरा स्वभाव नहीं है, मैं अविकारी हूँ, इसप्रकार

अविकारी स्वभावको न देखकर जो अज्ञानी राग-द्वेष, पुण्य-पापकी क्रियासे आत्मस्वभावको प्रगट करना चाहता है, जो पुण्य-पापरूपी विकारकी सहायतासे गुण मानता है उसे आत्माका निर्मल मार्ग ख्यालमें नहीं आता। देहकी प्रवृत्ति अथवा किसी बाह्य साधनसे धर्म नहीं होता, धर्म तो धर्मीमें विद्यमान है। उसे प्रगट करनेका उपाय सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है उससे अज्ञानका नाश होता है। जैसे चनेको भूननेके बाद फिर वह नहीं उगता, क्योंकि उगनेका उसका स्वभाव नहीं है उसीप्रकार अज्ञानका एकबार नाश करने पर आत्माका जन्म-मरण स्वभाव न होनेसे वह भव-भ्रमणमें नहीं जाता। (यदि अल्प भव हो तो वह परमार्थ दृष्टिमें नहीं गिना जाता) भव-भ्रमणका कारण पुण्य-पापको अपना मानना और परमें ममता करना है। वह आत्माका मूल स्वभाव नहीं है। पुण्य-पाप तो परके लक्षसे, कर्मके निमित्ताधीन होनेसे होता है। अज्ञानी अज्ञानसे परको बन्धका निमित्त बनाता है। उस अज्ञानका नाश नित्य अखण्ड ज्ञायकस्वभावकी प्रतीतिसे होता है अज्ञानका नाश होता है इसलिए आत्माका नाश नहीं हो जाता, आत्मा तो त्रिकाल स्थाई अखण्डित द्रव्य है। इसलिए आचार्यदेव प्रथम सम्यग्दर्शनको प्राप्त करनेके लिए आत्माका अखण्ड स्वभाव बताते हैं, उसे परसे तथा विकारसे भिन्न जानकर उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें रमणता करानेके लिए अलौकिक रीतिसे समयसारकी रचना की है।

ज्ञान, आनन्द, श्रद्धा, वीर्य (आत्मबल), अस्तित्व (त्रिकालमें होना), वस्तुत्व (प्रयोजनभूत स्वाधीन स्वभाव, कार्य करनेमें अपनी समर्थता) प्रदेशत्व (अपना स्वतंत्र आकार, विस्तार) इत्यादि अनंत गुणोंका पिंडरूप आत्मा है। गुणके भेद किये बना अखण्ड तत्व नहीं समझाया जा सकता, इसलिए व्यवहारमें भेद करके कहते हैं कि 'जो विश्वास करता है वह भगवान आत्मा है।' परमें विश्वास करता हूँ कि यदि कल पापका उदय आगया तो क्या होगा? इसलिये रुपया-पैसा संग्रह करके रखना चाहिए। इसप्रकार परका विश्वास

करनेवाला भले ही आत्माका विश्वास न करे किन्तु वह अप्रगटरूप पूर्व कर्मका अस्तित्व स्वीकार करता है और इसप्रकार उसमें अप्रगटरूप-से यह भी स्वीकार हो जाता है कि आत्माका अस्तित्व भी पहले था।

पहले कोई पापके भाव किये हों तो प्रतिकूलता होती है, यद्यपि ऐसा कोई प्रतिकूलता न तो देखी है और न आई है तथापि उसका विश्वास करता है। जड़ कर्मों को कुछ खबर नहीं है कि हम कौन हैं और हमारा कैसा फल आयेगा, किन्तु अज्ञानी जीव अपनेको भूलकर परमें अपनी अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता मान बैठा है। आत्मा ध्रुव है, स्वतन्त्र तत्व है, पर-संयोगाधीन नहीं है, उसे किसी संयोगकी आवश्यक्ता नहीं होती, चाहे जब स्वभावका विश्वास करना हो तो कर सकता है, उसे कोई कर्म बाधक नहीं होते। जो परका विश्वास करता था वह अपने गुणको समझनेके बाद अपने नित्य स्वभावका विश्वास करता है।

ज्ञानगुण आत्माका स्वाधीन गुण है। मकान बनवानेसे पूर्व उसका प्लान (नकशा) बनवाकर मकानका ज्ञान कर लिया जाता है, वह ज्ञान अपनेमें किया जाता है, तो ज्ञान स्वाधीन हुआ या पराधीन? तेरा ज्ञान पराधीन नहीं है, तू नित्य ज्ञाता स्वरूप है, तेरा ज्ञान तुझमें ही नित्यप्राप्त है।

चारित्र आत्माका त्रैकालिक गुण है। परमें अच्छे-बुरेकी कल्पना करके पुण्य-पापरूप विकारी भावनाओंकी जो प्रवृत्ति होती है वह चारित्र गुणकी विपरीत अवस्था है। जो निर्विकारीरूपमें स्थिर रहती है, वह शुद्ध प्रवृत्ति चारित्र गुणकी निर्मल अवस्था है। आत्मा चारित्र गुण स्वभावके रूपमें त्रिकाल रहता है। इसप्रकार आत्मामें तीन गुणके भेद करके उन्हें पृथक् बताया है, किन्तु वस्तुमें वे तीनों गुण पृथक्-पृथक् नहीं हैं, वे एक ही साथ आत्मामें विद्यमान हैं, तथापि भेद किये बिना यदि मात्र आत्माको कहा जाय तो अज्ञानी उसे समझ नहीं सकता, इसलिये व्यवहारसे भेद करके यों

कहा जाता है कि जो दर्शन, ज्ञान, और चारित्रको नित्य-प्राप्त है वह आत्मा है। यद्यपि इसप्रकार मुख्य तीन गुणोंसे भेद करके समझाया जाता है, किन्तु परमार्थतः वस्तुमें भेद नहीं है।

यह कहना कि आत्मा, शरीर, मन, वाणीकी प्रवृत्ति करता है, सो तो व्यवहार भी नहीं है और मात्र शुभराग भी सद्भूत व्यवहार नहीं है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दमय परमार्थस्वरूप, निर्विकल्प, अभेद है, उसे गुणके नामोंसे भेद करके समझना सो व्यवहार है।

'मैं ज्ञायक हूँ, निर्मल हूँ' ऐसे विचारमें मनके सम्बन्धका शुभराग हो आता है, वह शुभराग आदरणीय नहीं है किन्तु अखण्ड वीतरागी एकरूप ज्ञायक वस्तु जो अपना आत्मा है वही परमार्थ वस्तु आदरणीय है। उस परमार्थरूप अभेद स्वरूपका अनुभव करते समय व्यवहारके विकल्प छूट जाते हैं।

चाहे जैसे उग्र-पुरुषार्थके साथ अभेद आत्मामें स्थिर होने जाय तो भी अन्तर्मुहूर्त मात्रके लिये बीचमें छद्मस्थके व्यवहार आए बिना नहीं रहता।

शरीरके द्वारा लेना-देना और खाना-पीना इत्यादि शरीर की सभी प्रवृत्तियां शरीरके ही परमाणु करते हैं। जड़की शक्ति जड़से प्रवृत्त होती है, तथापि जो ऐसा अज्ञानभाव करता है कि 'मैं करा दूं' वह मिथ्यादृष्टि है, यही मिथ्यादृष्टि संसारकी जड़ है। जीव व्यवहार-से भी किसी परवस्तुके किसी कार्यका कर्ता नहीं है तथापि अज्ञानी कर्तृत्व मानता है। जड़-देहादि किसी भी वस्तुमें आत्माका व्यवहार नहीं हो सकता।

प्रश्न:—तब फिर भगवानके द्वारा कहा गया व्यवहार कौनसा है?

उत्तर:—आत्मा अनन्त गुणका अखण्ड पिंड, त्रिकाल स्थिर, ध्रुवस्वरूप है, उसे सत्समागमके द्वारा ठीक जाननेके बाद अभेद दृष्टि करके उसमें स्थिर होते समय बीचमें जो विकल्पसहित ज्ञानका विचार आता है सो व्यवहार है। अभेदमें स्थित होते समय वह भेदरूप

व्यवहार बीचमें आना तो है; किन्तु वह भेद, अभेदका कारण नहीं है। अभेदका लक्ष ही अभेद स्थिरताको लाता है, तब उस व्यवहार को निमित्त कहा जाता है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—

पहले यह कहा था कि व्यवहारको अंगीकार नहीं करना चाहिये किन्तु यदि वह परमार्थके समझानेमें तथा स्थिर करनेमें निमित्त सिद्ध होता है तो ऐसे व्यवहारको क्यों न अंगीकार किया जाय? परसे भिन्नरूप एक अखण्ड वस्तुमें लक्ष करना और मैं ज्ञान हूँ, मैं दर्शन हूँ, ऐसे भेद करना सो व्यवहार है। ऐसा भेदरूप व्यवहार उस अभेदरूप परमार्थमें निमित्त कैसे होता है?

उत्तर—पहलेसे ही भेदको हेय जानकर अखण्ड तत्वको दृष्टिमें लिया जाय तो बीचमें समागत व्यवहार निमित्त होता है। शुभ विचार निमित्तरूपमें पहले उपस्थित होता है किन्तु उसके अवलम्बनसे कार्य नहीं होता। अवलम्बनसे दूर हटना है, (व्यवहारका अवलम्बन छोड़ता है) तब अभेदके लक्षसे परमार्थको प्राप्त होता है। जैसे कोई वृक्षकी ऊँची डालीको पकड़ना चाहता हो, तो वह डाली नीचेके आधारको छोड़कर कूदने पर ही पकड़ी जा सकती है, वहाँ पर आधारकी उपस्थितिको निमित्त कहा जाता है। किंतु यदि आधार पर ही चिपका रहे और कूदे नहीं तो डाली नहीं पकड़ी जा सकती और उस आधारको निमित्त भी नहीं कहा जाता। इसप्रकार आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, वह भेद किये विना ग्रहण नहीं किया जा सकता, इसलिये सर्वप्रथम यदि अखण्ड वस्तुको समझना चाहे तो प्रत्येक गुणका विचार आता है, सो व्यवहार है।

लोग कहते हैं कि 'समयसारमें व्यवहारको उड़ा दिया है' किन्तु वह किस अपेक्षासे? व्यवहार असत्यार्थ है उसे भूतार्थको जानने वाले ही समझ सकते हैं, यही बात यहाँ कही जा रही है यह बात ऐसी अपूर्व है कि जीव अनन्तकालमें भी नहीं समझ पाया यदि आन्तरिक तैयारीके साथ एकबार समझले तो मोक्ष हुए बिना न

रहे, परमार्थको जानते हुए बीचमें जो ज्ञानादिके भेद होते हैं सो व्यवहार है। लोगोंने वाह्यक्रियामें व्यवहार मान रखा है किन्तु वह सब धर्मसे भिन्न है। यदि अन्तरंगके अपूर्व धर्मको धीरज धरके समझना चाहे तो समझा जा सकता है। वर्तमानमें तो सर्वज्ञ भगवानका आशय लगभग भुला ही दिया गया है, पक्षापक्षीके कारण जिनशासन छिन्न-भिन्न हो रहा है, परम सत्य क्या है, यह सुनना दुर्लभ हो गया है, इस सबका कारण अपनी पात्रताकी कमी है और इसीलिये लोग परमार्थमें बीचमें आने वाले व्यवहारको नहीं समझते और विरोध करते हैं। गुणमें विचारके द्वारा भेद करके अखण्डको समझना सो व्यवहार है, दूसरा कोई व्यवहार नहीं है, यही बात आचार्यदेव यहाँ पर कहते हैं। वह व्यवहार भी अभूतार्थ है यह बात ग्यारहवीं गाथामें कहेंगे।

संसारमें जो बात अपनेको अनुकूल पड़ जाती है उसकी महिमा सब गाते हैं। पिताजी सब हरा भरा छोड़कर गये हैं, हमें सब चिंताओंसे मुक्त करके गये हैं; यों मानकर दुनियाँ अपनी अनुकूलताकी प्रशंसा करती है, किन्तु उसमें आत्माका किंचित्‌मात्र भी हित नहीं है। मरने वाला तो अपनी ममताको साथ लेकर गया है। संसारमें जिस वस्तुके प्रति प्रीति होती है उसमें बुराई दिखाई नहीं देती। जिसमें प्रीति होती है उसका विश्वास करता है। छोटा बच्चा अच्छा दिखाई देता है तो प्रशंसा की जाती है कि लड़का बहुत होशियार है, यह कुटुम्बका दारिद्रय दूर कर देगा। यह सब प्रीतिके वश कहा जाता है, किन्तु रागके वशीभूत होकर यह कभी नहीं सोचता कि यह भविष्यमें यदि हमारी सेवा नहीं करेगा और लकड़ी लेकर मारने दौड़ेगा तो क्या होगा? संसारकी जो संयोगी (अनित्य) वस्तु है उसका विश्वास करता है, उसे पलटकर अन्तरंगमें एकबार श्रद्धा कर कि मुझमें सभी गुण पूर्णशक्तिके साथ भरे हुऐ हैं। मैं तो ज्ञाता-साक्षी ही हूँ। राग-द्वेष, ममताके रूपमें नहीं हूँ, ऐसी अन्तरंगसे श्रद्धा करके वास्तविक पूर्ण तत्वको यथार्थ जानें तो वर्तमानमें ही निश्चय हो

जाता है कि अब संसारमें परिभ्रमण नहीं करना होगा, एक-दो भवमें ही मोक्ष प्राप्त कर लूंगा।

ज्ञान अपना स्वभाव है। यदि पचास-साठ वर्ष पहलेकी बात याद करना हो तो उसे स्मरण करनेके लिये क्रम नहीं बनाना पड़ता। जैसे कपड़ेके सौ-पचास थान एक के ऊपर एक रखे हों और उनमेंसे नीचेका थान निकालना हो तो ऊपरके थान क्रमशः उठाने पर हो नीचेका थान निकलता है, इसीप्रकारका क्रम ज्ञानमें नहीं होता। पचास वर्ष पहलेकी बात याद करनेके लिए बीचके उनचास वर्षोंकी बात याद नहीं करनी पड़ती, क्योंकि ज्ञान सदा जाग्रत ही रहता है। जिसप्रकार कलकी बात याद आती है उसीप्रकार ज्ञानमें पचास वर्ष पूर्वकी बात भी याद आसकती है। ज्ञानमें काल-भेद नहीं होता। कालसे परे अरूपी, ज्ञानमूर्ति आत्मा है। ज्ञानमें अनन्त शक्ति है इसलिए पचास वर्ष पहलेकी बात भी फौरन याद आसकती है, उसमें न तो क्रम होता है और न बाह्यावलम्बनकी आवश्यक्ता होती है, अनन्तकालसे स्वयं ज्ञानस्वरूप ही रहा है, ज्ञान ताजाका ताजा बना रहता है, ज्ञानके लिए किसी भी समय परसंयोग, परक्षेत्र अथवा परकालका आश्रय नहीं लेना पड़ता।

ज्ञान अरूपी है इसलिये वह चाहे जितना बढ़ जाय तो भी उसका वजन मालूम नहीं होता, पचास वर्षमें बहुत पुस्तकें पढ डालीं इसलिए ज्ञानमें भार नहीं बढ़ जाता। इसप्रकार ज्ञानका वजन नहीं है इसलिए वह अरूपी है।

ज्ञान शुद्ध अविकारी है, ज्ञानमें विकार नहीं है। युवावस्थामें क्रोध, मान, माया, लोभका खूब सेवन किया हो, विकारी भावोंसे परिपूर्ण काले कोयलेके समान जिन्दगी व्यतीत की हो, किन्तु बादमें जब वह अपने ज्ञानमें याद करता है तब ज्ञानके साथ वह विकार नहीं आता; इससे सिद्ध है कि ज्ञान स्वयं शुद्ध अविकारी है। यदि वह विकारी हो तो पूर्व विकारका ज्ञान करते समय वह विकार भी साथमें आना चाहिए अर्थात् ज्ञानके करते समय आत्मा विकारी

होजाना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं होता। आत्मा स्वयं शुद्ध अवस्था-में रहकर विकारका ज्ञान कर सकता है। अवस्थामें परके अवलम्बनसे क्षणिक विकार होता है, उसे अविकारी स्वभावके ज्ञानसे सर्वथा तोड़ा जा सकता है। जिसका नाश हो जाय वह आत्माका स्वभाव नहीं है, इसलिये विकार आत्माका स्वभाव नहीं है।

इसप्रकार ज्ञानमें तीन शक्तियाँ कही गई हैं। १-ज्ञानमें काल-भेद नहीं है, २-ज्ञानका वजन नहीं होता, ३-ज्ञान शुद्ध अविकारी है। ज्ञानका यह स्वरूप समझने योग्य है।

शिष्यका पहलेका प्रश्न है कि-ज्ञानमें भेदरूप व्यवहार आत्माको अखण्डरूपमें समझनेके लिए निमित्त होता है; तब फिर उसे क्यों न अंगीकार करना चाहिये? उसका उत्तर ग्यारहवीं गाथामें कहा है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

अर्थ:—व्यवहारनय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है, यह ऋषीश्वरोंने बताया है। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है, वह निश्चय-से सम्यग्दृष्टि है।

त्रिलोकीनाथ परमात्माके कथनानुसार भगवान कुन्दकुन्दाचार्य जगत पर अपार करुणा करके जगतका महान दारिद्र (अज्ञान) दूर करनेके लिये सच्ची श्रद्धा और उसका सर्वप्रथम उपाय बतलाते हैं।

कोई कहता है कि समयसारमें तो सातवें गुणस्थान और उससे ऊपरकी भूमिकावालेके लिए बात कही गई है, किन्तु ऐसी बात नहीं है, इसका स्पष्टीकरण ग्यारहवीं गाथामें किया गया है।

मोक्षमार्गमें सर्वप्रथम क्या आवश्यक है? इसका उत्तर यही है कि सर्वज्ञके न्यायानुसार शुद्ध आत्माकी यथार्थ श्रद्धा सम्यग्दर्शन है-

जिसके बिना सम्यग्ज्ञान अथवा सम्यक्चारित्र कदापि नहीं हो सकता। इसलिए धर्मका प्रथम उपाय सम्यग्दर्शन ही है और वही इस ग्यारहवीं गाथामें कहा गया है।

शुद्धनयका विषय त्रिकाल एकरूप परमार्थ है, इसलिए भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। आत्मा अरूपी, ज्ञायकस्वभावी ध्रुव है। मन, वाणी, देह तथा इन्द्रियोंसे सदा भिन्न है। आत्मा देहकी किसी प्रवृत्तिका कर्ता नहीं है, देह तो संयोगी वस्तु परमाणुओंका बना हुआ नाशवान पिण्ड है। जैसे पानी और कंकड़ एक जगह पर रहनेसे एकरूप नहीं हो जाते, उसीप्रकार शरीरके साथ आत्मा एक क्षेत्रमें क्षणिक संयोगी होकर रहा तथापि वह देहसे भिन्न ही है।

अखण्ड ज्ञायक वस्तु त्रिकाल एकरूप जो आत्मा है वही भूतार्थ है। रागकी मलिन अवस्था और गुण–गुणीका भेद करनेवाली ज्ञानकी अवस्था भी ध्रुव नहीं है इसलिए अभूतार्थ है। राग अभूतार्थ अर्थात् क्षणिक है, त्रिकाल स्थिर रहनेवाला नहीं है। यदि स्वरूपमें स्थिर हो तो रागका नाश हो जाता है, किन्तु ज्ञानगुणका कदापि नाश नहीं होता इसलिये राग अभूतार्थ है।

भंगरूप व्यवहार आत्माके साथ स्थिर रहनेवाला नहीं है, इसलिए अभूतार्थ है। और त्रिकाल स्थिर रहनेवाला ज्ञायक शुद्ध आत्मा ही भूतार्थ है, उसे श्रद्धाके लक्षमें लेना चाहिये। जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह निश्चयसे सम्यग्दृष्टि है।

टीका:—भूतार्थदृष्टिवाला जीव ज्ञानी है। भूतार्थ अखण्ड स्वभाव ध्रुव है, वही आदरणीय है और व्यवहार तो वर्तमान भेदरूप–विकाररूप है, क्षणिक है इसलिये आदरणीय नहीं है।

अखण्ड पदार्थका लक्ष करते हुए बीचमें भेद-विचारमें शुभविकल्प हो जाता है, वह पुण्यभाव है, बन्धभाव है, अस्थाई है इसलिए अभूतार्थ है अर्थात् आदरणीय नहीं है। निश्चय आत्मामें और व्यवहार जड़में ऐसा नहीं होता। परवस्तुके साथ आत्माका

कोई सम्बन्ध नहीं है। शरीरकी कोई प्रकृति तथा कोई बाह्यक्रिया आत्माके आधीन नहीं है क्योंकि परवस्तु स्वतंत्र है वह किसीके आधीन नहीं है।

यहाँ सब न्यायपूर्वक कहा गया है। कोई यह नहीं कहता कि बिना समझे ही मान लो, यदि विचार करें तो दो तत्त्व एक-दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं।

आत्मामें एक-एक समयकी वर्तमान अवस्थामात्रका जो पर-संयोगाधीन विकार है वह भी पर है, क्योंकि जब तक आत्मा रहता है तबतक वह नहीं रहता है। इसलिये पुण्य-पाप विकार होनेके कारण अभूतार्थ हैं। इसीप्रकार आत्माका विचार करते हुए गुण-गुणीके भेदरूप विचार विकल्प और अधूरी अवस्थाके जो भेद हैं वे भी व्यवहारनयका अस्थाई विषय होनेसे अभूतार्थ हैं, और त्रिकाल एक-रूप स्थिर रहनेवाली वस्तु जो शुद्ध ज्ञायक आत्मा है सो भूतार्थ है। उसीको ग्रहण करके उसीकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है वह मोक्षको सर्वप्रथम सीढ़ी है, आत्माके मोक्षकी नींवकी ईंट है, यों सर्वज्ञ भगवानने कहा है।

जैसे मंजिल पर चढ़ते समय बीचमें जो जीनेकी सीढ़ियाँ आती हैं वे छोड़नेके लिए हैं, पैर रखे रहनेके लिए नहीं हैं। यह पहलेसे ही ध्यानमें रहता है कि जो मैं पैर रख रहा हूँ वह उठानेके लिए है, इसीप्रकार जो अनादिसे अज्ञानी है, उसे परसे भिन्न अखण्ड परमार्थस्वरूप आत्माका स्वरूप समझाते हुए बीचमें जो भेद आता है वह छोड़ देनेके लिये है रखनेके लिए नहीं। समझनेवालेको अभेद परमार्थकी ओर पहलेसे ही यह लक्ष रखना चाहिये कि अपनेको भी जितने विकल्प हैं उनका आदर नहीं है। जिसकी परमार्थ पर दृष्टि नहीं है वह पुण्यमें अथवा भेदमें ही रुक जाता है। वह त्रिकाल नहीं है, अभूतार्थ है। अभूतार्थ भूतार्थका काम नहीं करता, शुद्धनयका विषय भूतार्थ है इसलिये अखण्ड, ध्रुव, ज्ञायक निर्मल स्वभावको प्रथम ज्ञानमें ग्रहण करना चाहिये।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि जब अरूपी आत्मा आँखोंसे दिखाई नहीं देता तब उसे कैसे माना जाय ? समाधानः—स्त्री, धन, पुत्र, प्रतिष्ठा इत्यादिमें जो सुख माना जाता है वह किसमें देखकर माना जाता है ? वह परमें देखकर निश्चय नहीं किया गया है, सुख आँखोंसे दिखाई नहीं देता फिर भी उसे मानते हैं। 'सुख इसमें है, ऐसी कल्पना किसने की ? जिसने निश्चय किया वह निश्चय करने वाला ही आत्मा है। मुझे अपनी खबर नहीं है, यह किसने जाना ? यह जानने वाला सदा ज्ञातास्वरूप है, अरूपी साक्षीके रूपमें है, किन्तु स्वयं अपनी परवाह नहीं की इसलिये जानता नहीं है। यदि समझनेकी तत्परता हो तो अपना सत्व स्वयं ही है वह अवश्य समझमें आने योग्य है।

ज्ञानी कहते हैं कि-कल लड़का बड़ा हो जायगा फिर यह बहुत बड़ा वेतन लायगा, इसप्रकार परके क्षणिक संयोगका आश्रय करता है, उसे छोड़कर भीतर जो पूर्ण सुखस्वभाव है उसमें लक्ष करके स्थिर हो जा, तो सिद्ध परमात्माके गुणोंका अंश प्रगट होकर पूर्णके लक्षसे तू भी परमात्मा हो जायगा।

परको माननेमें विकारसे पराधीनता आती है। निजको माननेमें विकारकी पराधीनता नहीं है। विकारहीन दृष्टिका विषय त्रिकाल ज्ञायक अखण्ड आत्मा है, वह निर्मल एकरूप ध्रुवस्वभाव ही आदरणीय है, जिसे ऐसी श्रद्धा है वह धर्मी जीव सम्यक्‌दृष्टि है।

आज (अषाढ़ वदी एकम्) भगवान महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनिका प्रथम दिन है। उन्हें वैशाख शुक्ला दसवींको केवलज्ञान प्रगट हुआ था, उस समय इन्द्रोंने समवशरणकी अद्‌भुत रचना की थी, उसे धर्मसभा कहते हैं। वहाँ (समवसरणमें) एक ही साथ अनेक देव-देवियाँ, मनुष्य, तिर्यंच धर्म सुननेको आते हैं—ऐसी धर्मसभाकी रचना तो हो गई, किन्तु (केवलज्ञान-होनेके बाद) छ्यासठ दिन तक भगवानके मुखसे वाणी नहीं खिरी। भगवानकी दिव्यध्वनि

विना इच्छा खिरती है; होठ बंद रहते हैं, सर्वांगसे ओंकारस्वरूप एकाक्षरी वाणी निकलती है, उसे सुननेवाले अपनी-अपनी भाषामें अपनी योग्यतानुसार समझ लेते हैं। तीर्थङ्कर भगवानके तेरहवें गुणस्थानमें दिव्यध्वनिका सहज योग होता है। उनके ऐसा अखण्ड ज्ञान होता है कि वे तीनकाल और तीनलोकके सर्व पदार्थोंको एक ही साथ एक ही समयमें जानते रहते हैं।

'मैं पूर्ण होऊँ, और दूसरे धर्मको प्राप्त करें' ऐसे अखंड गुणके बहुमानकी भूमिकामें (शुभरागमें) तीर्थङ्कर नामकर्मका वन्ध होता है। तीर्थङ्कर होनेसे पहलेके तीसरे भवमें उस कर्मका वन्ध होता है।

भगवान महावीरको केवलज्ञान प्रगट हो गया था, फिर भी छयासठ दिन तक दिव्य-ध्वनि नहीं खिरी थी; इसका कारण यह था कि उस समय सभामें भगवान्की वाणीको झेल सकनेवाला कोई महान पात्र उपस्थित नहीं था। धर्मसभामें उपस्थित इन्द्रने विचार किया तो मालूम हुआ कि भगवानकी वाणीको झेलनेके लिए समर्थ सर्वोत्कृष्ट पात्र जीव इस सभामें उपस्थित नहीं है, और उनने अपने अवधिज्ञानसे निश्चय किया कि ऐसा पात्र जीव इन्द्रभूति है, इसलिए वे ब्राह्मणका रूप धारण करके इन्द्रभूति (गौतम) के पास गये। उनमें (गौतममें) तीर्थंकर भगवानके मंत्री अर्थात् गणधर होनेकी योग्यता थी, किन्तु उस समय उन्हें यथार्थ प्रतीति नहीं थी। वे हजारों शिष्योंके बीच यज्ञ करते थे, वहाँ पर इन्द्रने ब्राह्मण वेशमें जाकर कहा कि पंचास्तिकाय क्या है? आदि प्रश्न पूछे, उनका उत्तर वे नहीं दे सके तब इन्द्रने कहा कि भगवान महावीरके पास चलो, गौतमने इसे स्वीकार कर लिया, और वे भगवान महावीरके पास जानेके लिये निकल पड़े, मानस्तंभके पास पहुँचते ही उनका मान गलित हो गया, मानस्तंभको पार करके गौतम जहाँ धर्मसभामें प्रविष्ट हुए कि तत्काल ही भगवानकी वाणी खिरने लगी। गौतमको आत्मभान हुआ, निर्ग्रन्थ मुनिपद प्रगट हुआ, और साथ ही मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया और गणधर

पदवी प्राप्त हो गई। गणधरपद प्राप्त होनेके बाद उनने आजके ही दिन एक ही मुहूर्तमें क्रमसे बारह अंग और चौदह पूर्वकी रचना की थी, इस सत्‌श्रुतकी रचनाका दिन और सर्वज्ञकी दिव्यध्वनि सर्वप्रथम छूटनेका दिन आज ही का है। उत्कृष्ट धर्मको समझनेके लिए जब पात्र जीव होता है तब उसके निमित्तरूप वाणी मिले बिना नहीं रहती। जब वृक्ष उगना होता है तब यह नहीं होता है कि पानी न बरसे।

उपरोक्त बात किसीको न जमे अथवा कोई इसे न माने इसलिये वह असत् नहीं हो जाती, यह बात ऐसी ही है, यह न्यायसे, युक्तिसे और आगमसे तथा समस्त प्रमाणसे निश्चित किया जा सकता है।

आत्माके अखण्ड स्वभावको लक्षमें लेना ही प्रथम धर्म है। उसके बिना जीव अन्य सब कुछ अनन्तबार कर चुका है, यह ऐसा राजा पहले अनन्तबार हो चुका है जो एक-एक क्षणमें करोड़ों रुपया पैदा करता है। यह कोई अपूर्व बात नहीं है, किन्तु चिदानन्द आत्माकी यथार्थ पहचान करना ही अपूर्व बात है।

व्यवहारनयको अभूतार्थ और परमार्थको भूतार्थ कहकर समस्त भेदरूप पर्यायका निषेध किया है। बन्ध और मोक्षपर्याय ऐसे भेद और दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी पर्याय है जो कि क्षणिक है, वह अखंड एकरूप त्रिकाल ध्रुवरूपमें स्थिर रहनेवाली नहीं है। अखण्ड ज्ञायकस्वभावकी दृष्टिसे देखने पर निर्मल पर्याय अभेद स्वभावमें समाविष्ट हो जाती है. परमार्थमें पृथक् भेद नहीं रहते और क्षणिक रागका भाव भी दूर हो जाता है। व्यवहारनय अभूतार्थ है किंतु सर्वथा अभावरूप नहीं है।

'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा जो विचार भेद पड़ता है वह रागका भाव, वर्तमान अवस्था मात्रके लिये क्षणिक है, भेददृष्टिका क्षणिक विषय अर्थात् व्यवहार त्रिकाल विद्यमान नहीं है।

शब्द, रूप, गंध, निन्दा, प्रशंसा इत्यादि किसी भी पर-पदार्थकी ओर लक्ष करके उसमें अच्छे-बुरेकी वृत्ति करना सो पर-

विषय है, और आत्माके स्वभावकी ओर लक्ष करके विकल्प-भेदरहित त्रिकाल अखण्ड ज्ञानानन्द आत्माको मानकर उसीमें स्थिर होना सो स्व-विषय है, वह स्व-विषय करनेवाली दृष्टि भूतार्थदृष्टि अर्थात् सच्ची दृष्टि है! अज्ञानभाव और पुण्य-पापके भाव आत्माका स्वभाव नहीं है, यह जानकर श्रद्धामेंसे सर्वप्रथम वे भाव छोड़ने योग्य हैं, इतना ही नहीं किन्तु अंतरंगमें स्थिर होनेके लिए जो शुभ-विकल्प होते हैं, वे भी छोड़ने योग्य हैं। आत्माके अखण्ड-स्वभावमें जो भेद होजाता है वह भी अभूतार्थ है, मलिनभाव है, इसलिये वह आदरणीय नहीं है। आत्माका जो त्रिकाल एकरूप निर्मल ज्ञायक स्वभाव है वह भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है और इसीलिए वह ग्रहण करने योग्य है।

बन्ध और मोक्ष तो अवस्था-दृष्टिसे हैं, उसमें पर-निमित्तके संयोगके होने न होनेकी अपेक्षा रहती है। उसकी ओर लक्ष करने पर राग होजाता है। मैं उस विकाररूप नहीं हूँ, किन्तु अनादि, अनंत, ध्रुव, अखण्ड, निर्मल स्वभावरूप हूँ, इसप्रकारकी दृष्टिका होना सो शुद्धनय है, और उसके द्वारा पूर्ण अभेद आत्माकी श्रद्धा होती है। ऐसी दृष्टि गृहस्थ दशामें प्रगट की जासकती है।

पहले व्यवहारकी क्रिया होनी चाहिए, इसप्रकार लोग भेदके चक्करमें धर्म मानकर अटक जाते हैं, इसीलिये अन्तरंगका परमार्थ दूर रह जाता है। आत्मा तो परके कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे रहित अरूपी आनन्दघन भगवान है, सदा ज्ञातास्वरूप है, परमें अच्छा-बुरा करनेवाला नहीं है। आत्मामें कौनसा भाव प्रवर्तमान है, यह जानने-देखनेकी खबर नहीं है, इसलिए बाहरसे निश्चय करता है। मैं धर्म करता हूँ, इसप्रकार धर्मके बहाने अनादिकालसे अभिमान कर रखा है। किन्तु धर्मका अर्थ तो पर-निमित्त रहित आत्माका पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है, इस प्रकारका ज्ञान आत्माने अनन्तकालमें कभी नहीं किया। यदि किया होता तो पूर्ण पवित्र स्वभावकी प्राप्ति हुए विना नहीं रहती। अखण्ड पूर्णस्वभावका यथार्थ लक्ष करनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

जैसे दूज समस्त चन्द्रका अंश है, वह तीन प्रकार बतलाते हैं:-

(१) दूज समस्त चन्द्रमाको बतलाती है, (२) दूज दूज को बतलाती है अर्थात् यह बताती है कि कितनी निर्मलता है, (३) यह भी बतलाती है कि कितना आवरण शेष है; इसीप्रकार आत्मप्रतीति होने पर सम्यक्ज्ञानकी कलारूपी दूज (१) समस्त ध्रुवस्वभावको इसप्रकार बतलाती है कि मैं पूर्ण निर्मल परमात्माके बराबर (२) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान, श्रद्धाकी शक्ति और स्व-परकी भिन्नता को बतलाती है और (३) यह भी बतलाती है कि आवरण तथा विकारभाव कितना है।

व्यवहारमें भेददृष्टिका आश्रय होनेसे राग उत्पन्न होता है, उसके फलस्वरूप संसारमें जन्म-मरण होता है; अखण्ड ज्ञानानन्द-की पूर्ण पवित्र दशास्वरूप मोक्ष उस भेदके अवलम्बनसे प्रगट नहीं होता। व्यवहारके सभी भेद अभूतार्थ हैं, राग तो असद्भूत व्यवहार-का विषय है। वर्तमान दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी अपूर्ण पर्याय सद्भूत-व्यवहार है। बन्ध-मोक्ष भी पर्याय है, उसका लक्ष करनेसे पुण्य-पाप-के भेदरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। पूर्ण अखण्डको जानने पर बीचमें शुभविकल्परूप व्यवहार आए बिना नहीं रहता, किंतु वह शुभराग विकार है। उससे आत्माको कोई लाभ नहीं होता, इसलिए वह ग्रहण करने योग्य नहीं है। गुण-गुणीके भेद प्रारम्भमें समझनेके लिये आते तो हैं, किंतु अभेदकी दृष्टिमें वे गौण होजाते हैं। भेदका लक्ष छोड़कर अभेदका लक्ष न करे और मात्र व्यवहारमें ही रुका रहे तो अखण्ड चिदानन्दके लक्षको लेकर ज्ञान स्थिर नहीं होता।

अनादिकालसे आत्माको नहीं जाना। वहाँ पहले पात्रता के लिए तत्त्वका विचार करनेके योग्य चित्तशुद्धि तो होनी ही चाहिये। आत्माने वैसे शुभभाव तो अनन्तवार किये हैं, किन्तु वे सब पुण्यभाव हैं, आत्मधर्मके भाव नहीं हैं, इसलिए वह त्याज्य हैं। इस-प्रकार पहलेसे ही जानना चाहिए।

प्रारम्भमें शुभभाव होते हैं, और ज्ञान होनेके बाद भी

निम्नदशामें शुभभाव रहते हैं, किन्तु वे परसंयोगाधीन क्षणिक भाव हैं, अभूतार्थ हैं, इसलिए आदरणीय नहीं हैं। आत्माका स्वभाव त्रिकाल एकरूप, ज्ञायकरूप रहनेवाला ध्रुव है और वही आदरणीय है।

जैसे अधिक कीचड़के मिलनेसे पानीका एकरूप सहज निर्मल स्वभाव ढँक जाता है, किन्तु नाश नहीं होजाता। पानी स्वभावसे तो नित्य हल्का पथ्य और स्वच्छ ही है, किन्तु कीचड़के संयोगसे वर्तमान अवस्थामें मैला दिखाई देता है। जिसे पानीके निर्मल स्वभाव की खबर नहीं है और जिसे यह श्रद्धा नहीं है कि मैलके संयोगके समय भी पानीमें पूर्ण स्वच्छ स्वभाव विद्यमान है, ऐसे बहुतसे जीव हैं, जो पानी और कीचड़की भिन्नताका विश्लेषण नहीं कर सकते और वे मलिन जलका ही अनुभव करते हैं। इसीप्रकार प्रबल कर्मके मिलनेसे आत्माका सहज एक ज्ञायकभाव ढँक गया है, नाश नहीं हो गया। आत्मा स्वभावसे तो परसे भिन्न, ज्ञायक, स्वतंत्र, निर्मल ही है किन्तु कर्मके संयोगसे वह वर्तमान अवस्थामें मलिन प्रतीत होता है। जिन्हें आत्माके सहज निर्मल एक ज्ञायकस्वभावकी खबर नहीं है और जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है कि क्षणिक विकारी अवस्थाके समय भी आत्मामें पूर्ण निर्विकारी स्वभाव विद्यमान रहता है, ऐसे बहुतसे अज्ञानी जीव हैं जो पुण्य-पाप, राग-द्वेष देहादिको अपना स्वरूप मानते हैं। उन्हें परसे भिन्न आत्माका विवेक नहीं होता इसलिए वे परको आत्मस्वरूप मानते हैं।

जैसे एक आदमी बहुतसे आदमियोंके बीचमें खड़ा रहकर भी ऐसी शंका नहीं करता कि यदि मैं सर्वरूप हो गया तो क्या होगा? इसीप्रकार परमाणु अन्ध-अचेतन हैं, तू उनके साथ एकरूप नहीं होगया। जब तू अपनेको भूलकर अज्ञानसे रागमें लीन हो जाता है तब तुझे जड़के संयोगसे बन्धका आरोप आता है, किन्तु तू उस विकारका नाशक है। जैसे अग्नि सबको जला देती है, उसीप्रकार चैतन्यमूर्ति आत्मा सर्व विकारका नाश कर देता है।

कोई कहता है कि 'सौ सौ चूहोंको मारकर बिल्ली तपको

बैठी"—यह कहावत यहाँ चरितार्थ होती है या नहीं ? समाधानः- कलका पापी आज धर्मात्मा हो सकता है। भूतकालमें चाहे जितने पाप किए हों तथापि जो समझनेके लिए तैयार हुआ है वह अपूर्व प्रतीति करके ज्ञानी हो सकता है। भूतकालमें जिसने घोर अधर्म किया हो उसके वर्तमानमें धर्म नहीं हो सकता यह बात नहीं है। जिस भावसे बन्ध किया था उससे विपरीत उत्कृष्ट भावका करनेवाला भी स्वयं ही था। यदि वह पलट जाय तो उत्कृष्ट निर्विकार स्वतंत्र स्वभावकी दृष्टि करके समस्त अशुद्धताका नाश करनेकी अपार शक्तिको प्रगट कर सकता है। जो आत्मा क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायोंमें अपने वीर्यको लगाता है उसका आत्मबल हीन होजाता है। किन्तु यदि परिवर्तन कर दे तो बन्धके विकारी भावोंके बलकी अपेक्षा अविकारी स्वभावका बल अनन्तगुना है वह प्रगट होता है। उस बलकी जागृतिसे घसियारा भी दो घड़ीमें ही केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। अग्निकी एक चिनगारीमें करोड़ों मन घासको जला देनेकी शक्ति होती है। यहाँ पर कोई कुतर्क बुद्धिवाला व्यक्ति यह कहे कि तब तो हम अभी खूब पाप करलें और फिर बादमें उन्हें क्षणभरमें नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेंगे, तो यह कदापि नहीं हो सकता।

जिसे बन्दूक चलानेका अभ्यास न हो और जो बन्दूकको पकड़ना भी न जानता हो वह समय आने पर शत्रुके सामने क्या करेगा ? इसीप्रकार जिसे वर्तमानमें सत्की रुचि नहीं है तथा विवेक और सत्शास्त्रका अभ्यास नहीं है वह मरणके समय समभाव कैसे रखेगा ?

जिसे सर्वप्रथम अनीतिका त्याग नहीं है और लौकिक सज्जनता नहीं है, उसके लिये धर्म है ही नहीं।

कोई कहता है कि—'हमारी अनेक प्रवृत्तियाँ हैं, पूर्वके अनेक कर्म विद्यमान हैं, वे हमें धर्म नहीं करने देते'। किन्तु कर्म तो पर-वस्तु है, वह तेरे स्वभावमें है ही नहीं। जो तुझमें नहीं है वह

तेरी क्या हानि कर सकता है? यदि पानी लाखों वर्ष तक अग्नि पर गर्म होता रहे तो भी उसमें अग्निको बुझानेकी शक्ति प्रतिसमय विद्यमान रहती है। यदि वर्तनसे उछल पड़े तो वही पानी उस अग्निको वुझा देता है जिससे वह गर्म हुआ था। इसीप्रकार आत्मा प्रबल कर्मके संयोगके साथ विपरीत मान्यतासे रागद्वेषके वेगमें आया हो तो भी सत् समागमके द्वारा आत्माकी महिमाको जानकर क्षणभरमें राग-द्वेष, अज्ञानका नाश कर सकता है। जिसने अनादि-कालसे धर्मको नहीं समझा उसे भी धर्मके समझनेमें अधिक कालकी आवश्यक्ता नहीं होती, वह क्षणभरमें सत्य पुरुषार्थके द्वारा धर्मको समझ सकता है।

व्यवहारमें जो विमोहित चित्तवाले पापके विकारको अपना कर्तव्य मानते हैं, पुण्यसे धीरे-धीरे धर्मका होना मानते हैं, तथा जो यह मानते हैं कि अकेले आत्मासे धर्म नहीं हो सकता, उसके लिये परावलम्बन आवश्यक है, मानों वे यह मानते हैं कि उनमें निजकी कोई शक्ति नहीं है। जो अपनेमें धर्मकी 'नास्ति' मानते हैं वे वाहरसे धर्मकी 'अस्ति' कहाँसे लायेंगे? यह धर्मकी प्राथमिक वात है। यहाँ शुभको छोड़कर पापमें प्रवृत्ति करनेको नहीं कहते; क्योंकि लौकिक सज्जनता, नीति इत्यादिकी पात्रता तो आवश्यक है ही, किन्तु उससे अविकारी स्वभावको कोई लाभ नहीं मिलता। उत्कृष्ट पुण्य करके उसके फलस्वरूप अनन्तवार नवमें ग्रैवेयक तक गया, किन्तु उसका निषेध करके जो विकाररहित पूर्णस्वभावकी, आत्माकी श्रद्धा नहीं करता, सत्यासत्यका निर्णय नहीं करता वह परमार्थतः मूढ़ जीव है।

अनादिकालसे वाह्यप्रवृत्ति पर दृष्टि है, इसलिए जहाँ अनादि-कालसे माने हुयेको देखता है वहाँ संतोष हो जाता है। और मानता है कि 'मैंने इसका त्याग किया-यह ग्रहण किया इसलिए मुझे कुछ लाभ अवश्य होगा' किन्तु यह विचार नहीं करता कि मैं भीतर अपार-शक्तिसे अखण्ड परिपूर्ण हूं। पहले श्रद्धामें निरावलम्बी वीतराग

ज्ञायक स्वभावको पूर्णतया माननेके बाद सम्यग्दर्शन होने पर भी चारित्रकी अस्थिरता जितना मोह शेष रह जाता है, किन्तु परमार्थ-दृष्टिमें वह नहीं है क्योंकि उसको दूर करनेवाला निर्मल दृष्टिका विवेक सदा जाग्रत रहता है, इसलिए वह अल्पकालमें शेष रागका भी नाश कर डालेगा।

कीचड़से लथपथ होते हुए भी जो पहलेसे स्वच्छ जलका विश्वास करता है उसकी जलकी सभी प्रकारकी मलिनताको दूर करनेकी दृष्टि पहलेसे ही खुली होती है, भले ही उसे मलिनता दूर करते हुए कदाचित् कुछ विलम्ब लग जाये। एकरूप निर्मलताको प्राप्त करनेकी रुचि मलिनता नहीं रहने देगी। जबतक मात्र पुण्य-पाप-के विचारको ही आत्माका स्वभाव मानता है और शुभभावसे गुणका होना मानता है तबतक निर्मल स्वभाव पर दृष्टि नहीं जाती और वास्तिवक रूपमें अशुद्धताको दूर करनेका मार्ग नहीं सूझता। जो अज्ञानी लोग बन्धमार्गको मोक्षमार्ग मानकर व्यवहार-व्यवहार चिल्लाते हैं और जो यह कहकर कि 'हमारा व्यवहार ग्रहण करने योग्य है' व्यवहारको ही पकड़े बैठे हैं उन्हें आचार्यदेवने व्यवहार-मूढ़ कहा है।

हे भाई! तू वीतरागी प्रभु भूतार्थ है, पराश्रयसे होनेवाले क्षणिक विकारी भावको अपना मानकर उसे जो उपादेय मानता है और उससे गुण मानता है वह अविकारी आत्मस्वभावका घात करता है।

अविकारी द्रव्यस्वभावको देखने वाली दृष्टि शुद्धदृष्टि है, सम्यग्दृष्टि है। और जो विकारको अपना स्वरूप मानता है, परवस्तुसे शुभविकारसे धर्म मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। देह इत्यादि पर-माणुकी धूल अचेतन संयोगी वस्तु है-वह संयोगी वस्तु ज्ञायकस्वरूप नहीं है और आत्मा जड़रूप नहीं है, इसलिये आत्माका परके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, परकी कोई भी क्रिया आत्मा नहीं कर सकता।

सच्चे तपकी परिभाषा 'इच्छानिरोधस्तपः' है; इच्छाका त्याग

अर्थात् इच्छाकी नास्तिका मतलब है विकारका नाश और यही तप है, यही इसका अर्थ है। जब जीव अविकारी, नित्य अस्तिरूप ज्ञायक तत्त्वकी प्रतीति करता है तब वह विकारका नाश कर सकता है।

यह महामंत्र है, किसीको साँपने काटा हो और फिर वह बिलमें चला गया हो तब गारुडी (सपेरा) ऐसे मन्त्र पढ़-पढ़कर भेजता है कि यदि उस आदमीका भाग्य हो तो साँप बिलमेंसे बाहर आ जाता है और विषको चूसकर वापिस चला जाता है। (यहाँ पर मंत्रकी महत्ता नहीं देखनी है किन्तु सिद्धान्तको समझनेके लिए दृष्टांतका अंश ही लेना है) उस मन्त्रसे यदि आयु शेष हो तभी विष उतरता है किन्तु त्रिलोकीनाथ परमात्माने सम्यग्दर्शनरूपी ऐसा महामन्त्र दिया है कि जो अनादिकालसे अज्ञानरूपी सर्पके द्वारा चढ़े हुए चैतन्यभगवान आत्माके विष (पर-भावमें ममत्वरूप जहर)को उतार देता है।

सम्यग्दर्शन किसीके कहनेसे अथवा देनेसे नहीं मिलता। स्वयम् अनन्तगुणके पिंड सर्वज्ञभगवानने जैसा कहा है, वैसा है। उसे सर्वज्ञके न्यायानुसार सत्समागमके द्वारा ठीक पहचाने और भीतर अखण्ड ध्रुव स्वभावका अभेद निश्चय करे तो सम्यग्दर्शन-आत्मसाक्षात्कार होता है, उसमें किसी परवस्तुकी आवश्यक्ता नहीं होती। यह बात गलत है कि यदि मैं इतना पुण्य करूँ, इतना शुभराग करूँ तो उससे धीरे-धीरे सम्यग्दर्शन हो जायगा। कोई बाह्यक्रिया करे, जप करे, हठयोग करे तो उससे कदापि सहज चैतन्य आत्मस्वभाव प्रगट नहीं होता, धर्म नहीं होता। धर्म तो आत्माका सहज सुखदायक स्वभाव है।

प्रश्न:—जब कि आप बाह्यक्रिया करनेको कुछ कहते ही नहीं हैं तब धर्म तो बिलकुल सरल हो गया?

उत्तर:—धर्मका अर्थ है अनन्त सुखस्वरूप आत्माका नित्य स्वभाव, उस अनन्त सुखस्वरूपके प्रगट होनेके कारणोंमें कष्ट है, —ऐसा जो मानता है वह सच्चे धर्मको ही नहीं समझा। धर्म तो

आत्माका स्वभाव है इसलिए वह कष्टप्रद नहीं है। लोग बाहरसे माप निकालते हैं कि छह मास तक आहारका त्याग किया है, धर्ममें घोर परिषह सहन करने पड़ते हैं। इसप्रकार जो धर्ममें दुःख मानते हैं वे धर्मको क्लेशरूप मानते हैं, किन्तु धर्म क्लेशरूप नहीं है। आत्माके अनाहारी ज्ञानस्वभावके आनन्दमें लीन होने पर ज्ञानीके छह मास तक आहार सहज ही छूट जाता है और जो शरीर सूख जाता है उस पर दृष्टि ही नहीं जाती। अखण्ड स्वरूपकी शान्तिमें सहज ही इच्छा रुक जाती है, इसका नाम है तप; उसमें कष्ट नहीं किन्तु अविकारी आनन्द है।

बाह्य तप, परिषह इत्यादि क्रियाओंसे मानता है कि मैंने सहन किया है इसलिये मेरे धर्म होगा, किन्तु उसकी दृष्टि बाह्यमें है, इसलिये धर्म नहीं हो सकता। जिसे शरीर पर प्रेम है उसे शारीरिक प्रतिकूलता होने पर द्वेष उत्पन्न हो जाता है। ज्ञानीको शरीरके प्रति राग नहीं होता, उन्हें तो अनुकूल-प्रतिकूल संयोग ज्ञेयमात्र होते हैं। अधिक कष्ट सहनेसे अधिक धर्म होनेकी बात तीनलोक और तीनकालमें नहीं हो सकती।

यहाँ पर सहजस्वभावी आत्माका धर्म न्यायपुरस्सर कहा जाता है। जैसे-निर्मल जलस्वभावसे अज्ञात अज्ञानी जीव कादव-मिश्रित जलको मैला मानता है वह मलिन जलको ही पाता है, किंतु निर्मल-जलस्वभावका ज्ञाता अपने हाथसे निर्मली औषधि (फिटकरी) डालकर अपने पुरुषार्थसे निर्मल जलको प्राप्त करता है, और उसीका अनुभव करता है। इसप्रकार ज्ञानानन्द आत्मा सहज ज्ञायकस्वरूप चैतन्यज्योति है, वह स्वयं कर्मके संयोगसे ढँका रहता है इसलिए मलिन प्रतिभासित होता है। आत्माको कर्मने मैला नहीं किया किन्तु स्वयं विपरीतदृष्टिसे अशुद्धरूपमें अपनेको राग-द्वेष, पुण्य-पापका कर्ता मानता है, और अपनेको रागी-द्वेषी मानकर उस विकारीभावको अपना मानता है। इसप्रकार माननेवाला व्यवहार-मूढ़ है क्योंकि उसे स्वभावकी खबर नहीं है।

अरे! यह देव-दुर्लभ मानव-शरीर मिला है, इसमें अनन्त भवका अन्त हो सकता है ऐसी अपूर्व श्रद्धाके द्वारा एक-दो भवमें ही अखण्डानन्द पूर्ण मोक्षस्वभावकी प्रगट प्राप्ति होनेवाली है, इसप्रकार यदि निःसंदेहरूपसे अन्तरंगमें दृढ़ निश्चय न करे तो जैसे कुत्ते, बिल्ली, कीड़े-मकोड़े आत्मभानके बिना मर जाते हैं उसीप्रकार आत्मप्रतीति किये बिना मनुष्य-जीवन व्यर्थ जाता है।

आत्माकी अपूर्व प्रतीति करना ही मनुष्य जीवनका वास्तविक कर्तव्य है। जिसे सच्ची श्रद्धा होती है उसे भव-विनाशमें शंका ही नहीं रहती।

जहाँ शंका वहाँ गिन संताप,
ज्ञान वहाँ शंका नहिं स्थाप।
प्रभु भक्ति वहाँ उत्तम ज्ञान,
प्रभु प्राप्तिमें गुरु भगवान।
(श्रीमद् राजचन्द्र)

जहाँ शंका है वहाँ ज्ञान नहीं है और जहाँ सच्चा ज्ञान है वहाँ शंका नहीं रहती। पुरुषार्थके द्वारा जहाँ स्वभावमेंसे सच्चा ज्ञान प्राप्त किया जाता है वहाँ गुरु निमित्तरूप होते हैं। स्वाधीन मोक्षस्वभावकी यथार्थ श्रद्धा होने पर बन्धनकी मान्यता छूटकर अन्तरंगसे यह निस्सन्देह विश्वास हो जाता है कि मैं विकार रहित, भव रहित, अबन्ध, ध्रुव स्वभावी हूँ। और ऐसी निस्सन्देह श्रद्धा आत्मामें हो सकती हैं कि बहुतसे कर्मोंके आवरण टूट गये, कुछ ढीले हो गये और शेष अल्पकालमें ही दूर करके पूर्ण परमात्मदशाको प्रगट कर लूंगा।

आत्मामें अनन्त स्वाधीन गुण भरे हुए हैं, उन्हें न देखकर बाह्य कर्मोंके निमित्तमें युक्त होनेसे-परके ऊपर दृष्टि होनेसे-अभेदमें जो भेद पड़ता है, पुण्य-पापभाव होता है, उसीको आत्माका स्वरूप मानता है, पुण्यसे ठीक हुआ मानता है, उस जीवको विकारी भावके

प्रति आदर होता है इसलिए उसे अविकारी आत्माके प्रति आदर नहीं होता। पुण्य जो शुभ रागभाव है, उसका आदर करना सो महामूढ़ता है। उन क्षणिक भावोंका आश्रय करनेवाला मिथ्यादृष्टि है।

स्वतन्त्रताके द्वारको खोलने वाला और परतन्त्रताकी बेड़ीको तोड़ने वाला मेरा परमार्थभाव है वही मेरा स्वभाव पूर्ण पवित्र सिद्ध परमात्माके समान शुद्ध है। उस ध्रुवस्वभावको ही भूतार्थदर्शीजन शुद्धनयके द्वारा अपना स्वरूप मानते हैं। शुद्धनयानुसार बोध होने मात्रसे परसे भिन्न एकमात्र ज्ञायकरूपमें अपनेको ही अनुभव करते हैं। भगवान आत्मा सदा अक्रम, अरूपी, अविकारी, निर्मल, ज्ञानमूर्ति है, उसे परमार्थ ध्रुवरूपमें देखनेवाले ज्ञानीजन भेदरूप क्षणिक विकाररूप नहीं देखते।

इसे समझनेमें यदि विलम्ब लगे तो अकुलाना नहीं चाहिये, किन्तु धीरज धरकर समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। यदि पहलेसे ही यह मानकर कि समझमें नहीं आयेगा, समझनेका पुरुषार्थ न करे तो फिर अनन्तकाल तक यथार्थ समझका द्वार बन्द कर देता है। भूल तो वर्तमान एक समयमात्रके लिये होती है, त्रिकाल स्वभाव भूलरूप नहीं हो जाता, इसलिये समझकर भूलको दूर करना चाहिये।

भूतार्थदर्शी (शुद्ध दृष्टिसे देखनेवाले) के ऐसा विवेक होता है कि 'मैं अकेला निर्मल हूँ, ध्रुव हूँ.' इसलिये अपने पुरुषार्थके द्वारा ज्ञानज्योतिसे शुद्धनयानुसार बोध होता है। उस बोधमात्रसे निर्मल ध्रुव स्वभावकी प्रतीति तथा आत्मा और कर्मकी भिन्नताका विवेक उत्पन्न करता है। अपने पुरुषार्थके द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकस्वभावको ही सम्यग्दृष्टि शुद्धनयके द्वारा अनुभव करता है, यह सम्यग्दर्शन है।

यदि कोई कहे कि समयसारमें बी. ए. और एल. एल. बी. जैसी उच्च भूमिका की बातें हैं तो यह ठीक नहीं है। जो यथार्थ आत्महित करना चाहे उसके लिये प्रथम उपायकी बात है। सभी जीव

सिद्ध परमात्माके समान हैं, तू भी सिद्ध समान है। फिर यदि तू नहीं समझे तो क्या जड़ पदार्थ समझेगा।

कोई कर्मके नामको रोता है कि मुझे कर्मने मार डाला! यदि कर्म मार्ग साफ कर दे तो धर्म सूझे। किन्तु भाई! कर्म तो जड़, अंध, और भानरहित हैं, उन्हें यह खबर ही नहीं कि हम कौन हैं और कहाँ हैं। परमार्थसे तुझे उनका कोई बन्धन नहीं है किन्तु तेरी विपरीत मान्यताका ही बन्धन है। भूलरहित त्रिकाल निर्मल पूर्ण-स्वभावको देखकर सीधी मान्यता करे तो तुझसे अशुद्धता नष्ट हो सकती है, वह अभूतार्थ है अर्थात् नित्यस्थायी स्वभावमें वह नहीं है।

मैं अखण्ड चैतन्यज्योति त्रिकाल निर्मल एकरूप आनन्दमूर्ति हूँ। इसप्रकार जो शुद्ध परमार्थदृष्टिसे अपनेको अखण्ड ज्ञायक वीतराग सिद्ध परमात्माके समान अनुभव करता है, वही अपने ध्रुवस्वरूपको मानता है और इसलिये परका-विकारका स्वामित्व नहीं करता।

दृष्टिको निर्मल करनेके बाद शुभभाव होता तो अवश्य है किन्तु उसका आदर नहीं होता। उसे यह भान है कि-अपनी वर्तमान निर्बलताके कारण शुभभाव होता है, किन्तु वह मेरा स्वभाव नहीं है; मेरा स्वभाव तो शुद्ध वीतराग है, और उस स्वभावकी दृष्टिके बलसे उसके स्वभावमें विकारका अभाव विद्यमान होता है।

जैसे काछी-कोलीके गन्दे लड़के किसीके घरके आंगनमें खेलनेके लिये पहुँच जायें तो उन्हें देखकर आत्मीयताकी ऐसी भावना नहीं होती कि वह हमारे वंशके रक्षक हैं, प्रत्युत यह जानकर कि यह मेरे घरके नहीं हैं, उन्हें घरसे बाहर निकाल देते हैं। इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मामें राग-द्वेषकी संकल्प-विकल्प वाली वृत्ति अपनी अशक्तिके कारण दिखाई देती है, उसका स्वभावःकी पूर्णताकी दृष्टिके बलसे निषेध करते हैं।

अन्तरंगमें शुभ-अशुभ भावोंमें हेयबुद्धि होनेसे और ऐसे स्वभावका आदर होनेसे कि मैं वर्तमानमें त्रिकाल, अखण्ड, निर्मल पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ—शुद्धनयके द्वारा अपनेमें पूर्ण अखण्ड दृष्टिकी प्रतीति

अर्थात् सम्यग्दर्शन होता है, यही पूर्ण मुक्ति-मन्दिरमें प्रवेश करनेका प्रथम द्वार है।

यहाँ पर शुद्धनय निर्मली औषधि (फिटकरी) के स्थान पर है। जो अन्तरंग निर्मलदृष्टि (शुद्धनय) का आश्रय लेते हैं, वे सम्यक्-अवलोकन करने वाले हैं इसलिये सम्यक्दृष्टि हैं। उसके अतिरिक्त शुभाशुभभावका आश्रय करनेवाले भेदरूप व्यवहारके पक्षपाती—व्यवहारमूढ़ हैं, मिथ्यादृष्टि हैं।

पुण्यसे धर्म होगा, पुण्य तो धर्मका प्रारम्भ है, पुण्य लगेठा है, धर्मका साधन है, गुणके लिये बाह्यक्रिया आवश्यक है, इसप्रकार विकारसे–बन्धनभावसे अविकारी अबन्ध स्वभाव प्रगट होगा, यों मानने वाले तथा देहकी क्रिया, पुण्य-पापकी क्रियाका मैं कर्ता हूँ, परसे मुझे लाभ–हानि होती है, परके अवलम्बनसे गुण होता है, ऐसे अज्ञानरूप अभिप्रायको माननेवाले सम्यग्दृष्टि नहीं हैं।

यह सब समझनेकी अपेक्षा जिसे जगत ठीक मानता है वैसा ही करना लोगोंको भी ठीक लगता है। कोई कहता है कि पाँच हजार रुपया खर्च करो तो कल्याण हो जायगा, किन्तु ऐसा कल्याण तो जीवने अनन्तबार किया है, लेकिन उससे धर्म नहीं हुआ। जीव ऐसे सूक्ष्म अन्तरंग स्वभावको नहीं समझ सका, और बाहरसे जो अच्छा दिखाई देता है उसमें धर्म मानकर सन्तुष्ट हो जाता है। प्रशंसा करनेवाले भी बहुतसे लोग मिल जाते हैं—जो कहा करते हैं कि 'आपने बहुत बड़ा परमार्थका काम किया है, अब आपका कल्याण अवश्य हो जायगा'। यदि पैसेसे धर्म होता हो तो निर्धनके धर्म नहीं होगा। सच तो यह है कि रुपया-पैसा दे देना पुण्यका कारण नहीं है, किन्तु अन्तरंगमें रुपये-पैसेके प्रति होनेवाले रागको कम करे तो पुण्य होता है। लोगोंमें अपनी प्रतिष्ठा बढ़ानेके लिए रुपया-पैसा दे, और यह माने कि मैं धर्मादा करता हूँ तो वहाँ रुपया–पैसा देने पर भी परके अभिमानके कारण पाप होता है। पैसा देनेसे ही पुण्य होता है यह बात नहीं है। रुपया-पैसा तो पर–जड़वस्तु है। शरीरादि

की प्रवृत्ति हुई इसलिए, अथवा रुपया-पैसा देनेसे पुण्य होता है यह मानना गलत है। रुपया-पैसा तो उसके (सामने वालेके) पुण्यके कारण और जड़की अवस्थाके कारण उस समय उसके पास आने-वाला ही था। दूसरेके कारणसे पुण्य नहीं होता किन्तु कषायोंके मन्द करनेसे पुण्य होता है। अन्तरग तत्त्वकी पहिचान करना और तृष्णा-रागरहित अविकारी 'मैं कौन हूं' इसकी यथार्थ प्रतीति करना सो धर्म है। स्वभावको जाने बिना शुभभावसे दान देकर तृष्णा कम की जासकती है किन्तु वहाँ वास्तवमें तृष्णा कम नहीं हो जाती। वर्तमान तृष्णा घटी हुई दिखाई देती है, किन्तु दृष्टि तो परके ऊपर होती है इसलिये वह भविष्यमें पुण्यके फलमें मूढ़ हो जायगा।

जिसे पराश्रित व्यवहारमें उपादेयबुद्धि है, जो विकारके कर्तव्यको ठीक मानता है, उसका किसी भी प्रकार हित नहीं होता। इसलिये निरावलम्वी निरपेक्ष ज्ञायकस्वभावका अनुसरण करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। शुद्धनयसे निरावलम्बी पूर्ण निर्मल स्वभावको मानने वालोंको व्यवहारनयका अनुसरण करना योग्य नहीं है।

इस गाथामें सम्यग्दर्शनका स्वरूप अत्यंत सादी भाषामें, अलौकिक रीतिसे, स्वच्छ पानी और कीचड़का दृष्टान्त देकर इस-प्रकार समझाया है कि छोटा बालक भी समझ सकता है। यदि वारम्वार सुनकर मनन करे तो चाहे जो व्यक्ति भगवान आत्माके निर्मल ज्ञायक स्वभावका स्वयं अनुभव कर सकता है।

प्रश्नः—पुण्य-पापकी वृत्तिको अभूतार्थ-अस्थायी क्यों कहते हो?

उत्तरः—पुण्य-पापके भाव क्षणिक संयोगाधीन किये हुए होने-से बदले जाते हैं, इसलिये अभूतार्थ-अस्थायी हैं, जैसे बहुतसे आदमियोंके बीच चन्दा लिखाया जा रहा हो तो उसे देखकर किसीके पाँच हजार रुपया देनेके शुभभाव हो जाते हैं, और वह पाँच हजार रुपये लिखा देता है, किन्तु घर जाकर उसका विचार बदल जाता है। जब कोई उसके पास वह रुपया मांगने जाता है तब उसको रुपया देने-की हिम्मत नहीं होती, इसलिए वह उसका दोष निकालता है और

कहता है कि तुम्हारी संस्था ठीक नहीं चलती, इसलिये अभी कुछ देनेका विचार नहीं है। इसप्रकार तृष्णाको रखकर व्यर्थ यश लूटता है किन्तु तृष्णा कम नहीं करता। किसीको संस्था अच्छी चले या न चले उससे तेरी तृष्णामें कोई अन्तर नहीं होना है, किन्तु तू जब अपनी तृष्णाको कम करना चाहे तब उसे कम कर सकता है।

इसमें सिद्धान्त इतना ही है कि पुण्य-पापके भाव क्षणिक हैं; वे संयोगाधीन किये जाते हैं इसलिये बदल जाते हैं, अतः अस्थायी-अभूतार्थ हैं. और पुण्य-पापरहित जो अखण्ड निर्मल स्वभाव है वह त्रैकालिक है, इसलिये भूतार्थ है, यदि उसे परमार्थदृष्टिसे लक्षमें लिया जाय तो नित्यस्वभावका निश्चय नहीं बदल सकता।

शुद्धनयानुसार बोध होने मात्रसे स्व-परकी भिन्नताका विवेक और शुद्धात्माका अनुभव होने लगता है। इसमें साधन तो शुद्धनयानुसार बोध होने मात्रसे कहा है, अन्य कोई परका अवलम्बन, क्रिया अथवा शुभविकल्प इत्यादि नहीं कहा।

भावार्थः—यहाँपर व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। पूर्ण-ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा ही अखण्ड वस्तु है, उसके लक्षसे हटकर, पर-संयोगके लक्षसे पुण्य-पापकी वृत्ति होती है, तब साधक भावकी धारामें खण्ड-भंग पड़ जाता है। जैसे नदीका प्रवाह अखण्ड है, किन्तु बीचमें नाला आने पर उसके प्रवाहमें खण्ड पड़ जाता है, उसी प्रकार त्रैकालिक ज्ञायक चैतन्यस्वभाव एकरूप ही है, उसमें वर्तमान क्षणिक अवस्था मात्रके लिये कर्मके निमित्ताधीन शुभाशुभभाव होते हैं, वह व्यवहार है, उस व्यवहारका विषयभेद अनेकाकार है। उसका आश्रय करनेवाला शुभाशुभ विकारको दृष्टिका विषय बनानेवाला मिथ्यादृष्टि है।

शुद्धनयका विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है, उसकी दृष्टिमें भेद दिखाई नहीं देता। निर्मल अखण्ड स्वभावकी दृष्टि करनेके बाद भी चारित्रमें कमी होनेके कारण शुभवृत्ति होती है, वह व्यवहारका विषय है। व्यवहारका भेद एक समयमात्रके लिये है,

इसलिये भूतार्थदृष्टिमें भेदरूप व्यवहार असत्यार्थ-अविद्यमान है।

'भेदरूप व्यवहार अविद्यमान है'—ऐसा कहनेका किसीको यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिये कि कोई वस्तु सर्वथा भेदरूप है ही नहीं। अविद्यमान है, अर्थात् स्वभावमें नहीं है। ऊपर असत्यार्थ कहा है वह वस्तुरूपमें है अवश्य, किन्तु नित्य स्वभावमें नहीं है। परके अवलम्बनरूप शुभाशुभ विकार यदि वर्तमान अवस्थामें भी न हो तो पुरुषार्थ करके विकारको दूर करके अविकारी निर्मल हो जाऊँ ऐसा अवकाश ही न रहे। वर्तमान अवस्थामें विकार है, किन्तु ज्ञानी उस वर्तमान भेददृष्टिको द्रव्यस्वभावरूप नहीं देखता।

जिसे अपना हित करना है उसे सत्समागम द्वारा यथार्थ वस्तुको जानकर, भेदको गौण करके, एकरूप ध्रुवस्वभाव भूतार्थका लक्ष करना चाहिये, जिसे अनन्तभवका दुःख दूर करना हो और सच्चिदानन्दमय पूर्ण सुखरूप स्वाधीन तत्त्व प्राप्त करना हो उसीके लिये यह बात कही जारही है।

सुख स्वभावमें ही है। जीव अपने स्वभावको जाने बिना अनन्तवार पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदिका भव धारण किया करता है। यदि किसी आदमीसे कह दिया जाय कि 'तू तो गधे जैसा है' तो वह झगड़ा करनेको तैयार हो जायगा; किन्तु उसे यह ज्ञात नहीं है कि अन्तरंगमें जिन विकारी भावोंका सेवन कर रहा है उनका सम्यक्ज्ञानके द्वारा जबतक नाश नहीं कर दिया जाता तबतक उसके अज्ञानभावमें गधेके अनन्तभव धारण करनेकी शक्ति विद्यमान है।

यदि अपनेमें भूलरूप विपरीत मान्यता न हो तो उस भूलके फलस्वरूप यह अवतार (जन्म-मरण) ही क्यों हो? और यदि वह भूल सामान्य हो तो उतने भव न हों, किन्तु वह भूल असामान्य-असाधारण है। निजको निजकी ही भ्रांति है। आत्मस्वभावकी पूर्ण स्वाधीनता स्वीकार करके जबतक वह भूल दूर नहीं कर दी जाती तबतक उस भूलरूप विपरीतभावमें अनन्तभव तैयार ही समझना चाहिये।

जैसे जलको मलिनरूप ही मानने वालेको स्वच्छ-मीठे जलका अनुभव नहीं हो पाता, और वह मैला जल ही पीता है, इसीप्रकार आत्मा ज्ञानानन्दमूर्ति परसे भिन्न है, किन्तु वह अपनी स्वाधीनताको भूलकर पुण्य-पाप-विकारको अपनेरूप या हितकर-करने योग्य मानता है, और उस मलिनभाव तथा उसके फलस्वरूप भव-भ्रमणकी आकुलताका ही अनुभव करता है।

अकेली वस्तुमें स्वभावसे विकार नहीं होता, किन्तु उसमें यदि निमित्तरूप दूसरी वस्तु हो तो उस निमित्तकी ओर झुकाव करनेसे विकार होता है। आत्माके विकारमें निमित्तरूप दूसरी वस्तु जड़-कर्म हैं। उन जड़कर्मोंके सम्बन्धका अपनेमें आरोप करके जीव राग-द्वेष करता है।

जड़कर्म और बाह्य-संयोगी वस्तुके अनेक प्रकार हैं। उस बाह्य-वस्तुके आश्रयसे पूजा, भक्ति, व्रत, तप, दान इत्यादि अनेक प्रकारके शुभभाव तथा हिंसा, चोरी, असत्य इत्यादि अनेक प्रकारके अशुभ भाव होते हैं। वे शुभ और अशुभ दोनों बंधनभाव हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पुण्यको छोड़कर पाप किया जाय। यहाँ तो यह बात न्यायपुरस्सर जाननेके लिए कही गई है कि पुण्य-पापकी मर्यादा कितनी है। क्योंकि ऐसा मानने और मनवानेवाले बहुतसे लोग हैं कि पुण्यसे धर्म होता है अर्थात् विकारसे-बंधनभावसे आत्माका अविकारी धर्म होता है। यहाँ तो अविरोधरूपमें यह कहा जा रहा है कि जन्म-मरण कैसे दूर हो और वर्तमानमें आत्म-साक्षात्कार कैसे हो।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान श्री सीमंधरस्वामीके पाससे जो सनातन सत्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य लाये थे उसकी अद्भुत रचना समयसार शास्त्रके रूपमें हुई है, उसी अविरोधी तत्त्वको यहाँ कहा जाता है।

अल्प आयुष्मान हे भाई! जब अपूर्व समझका सुयोग मिला तब यदि नहीं समझेगा तो फिर अनन्तकालमें भी ऐसा उत्तम सुयोग मिलना दुर्लभ है। जैसे पिता पुत्रको कहता है कि भाई, यह

दो महीने सच्चे मौसमके हैं; इसलिये कमानेके बारेमें सावधानी रख। इसीप्रकार आचार्यदेव संसार पर करुणा करके कहते हैं कि अनन्त भवोंका अल्पकालमें ही नाश करनेका यह अवसर मिला है, इसलिये सावधानीपूर्वक आत्मस्वरूपको यथार्थ पहचान ले। यदि अब चूक गया तो फिर उत्तम अवसर नहीं मिलेगा।

अशुभभावको दूर करनेके लिये शुभभावके अवलंबनका निषेध नहीं है किन्तु जीवने आत्माका निर्मल चिदानन्द अखण्डानन्द स्वतंत्रत्व सच्चे गुरुज्ञानसे पहले कभी नहीं सुना था और न माना था, न कभी अनुभव किया था इसलिये यहाँ पर उस अपूर्व तत्त्वकी बात कही जाती है।

बाह्य सुधार करो, व्यवहार सुधारो—ऐसी लौकिक बातें इस जगत्में अनादिकालसे कही जारही हैं वह अपूर्व नहीं है किन्तु यहाँ तो आचार्यदेव कहते हैं कि जो पुण्य-पापके विकारी भावोंको अपना स्वरूप मानता है, उससे अपना भला मानता है, शुभमें और पुण्यमें उत्साह दिखाता है, उसका आदर करता है, उसे अविकारी भगवान आत्माके प्रति आदर नहीं है, किन्तु अनादर ही है। उसे परमार्थ साक्षीस्वरूप आत्माकी खबर नहीं है, इसलिये परका आश्रय लेकर अभूतार्थ व्यवहारको अपना मानता है, तब भूतार्थदृष्टि-सम्यग्दृष्टि अपनी बुद्धिसे प्रयुक्त शुद्धनयके अनुसार बोध होने मात्रसे स्वभावका अनुभव करता है। यहाँ पर जिसने स्वयं पुरुषार्थ किया उसीको अंतरंग साधन कहा है, देव-गुरु-शास्त्र तो दिशा बतलाकर अलग रह जाते हैं। देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु हैं उसके आधीन तेरा अन्तरगुण नहीं है।

'हे भगवान! मुझे तार देना' यों कहने वालेने अपनेमें सामर्थ्य नहीं है यों माना अर्थात् अपनेको परमुखापेक्षी माना। परमार्थसे मैं नित्य स्वावलंबी हूँ, इसप्रकार यथार्थ समझनेके बाद यदि व्यवहारसे भगवानका नाम लेकर कहे कि तू मुझे तार देना तो यह जुदी बात है। किन्तु जो अपनेको शक्तिहीन मानकर 'दीन भयो

प्रभु पद जपे मुक्ति कहाँसे होय ?' मुझमें शक्ति नहीं है तू मुझे तार दे, इसप्रकार बिल्कुल रंक होकर प्रभु-प्रभु ! रटा करे तो मुक्ति कहाँसे होगी ? भगवान् तो वीतराग हैं, उन्हें किसीके प्रति राग नहीं है तथा कोई किसीको तार नहीं सकता। मैं स्वावलंबी पूर्ण हूँ ऐसे स्वभावकी प्रतीतिसे अज्ञानको दूर करके जिसे स्वयं भगवान होनेकी श्रद्धा नहीं है वह दीनहीन रंक बनकर दूसरेके पाससे मुक्तिकी आशा रखता है। वह भगवानसे कहता है कि हे भगवान ! तू मुझे तार देना, इसका अर्थ यह हुआ कि तू ही मुझे अभीतक चक्करमें डाल रहा है और तूने ही अभीतक मुझे दुःखी किया है। इसप्रकार वह उल्टा भगवानको ही गालियाँ देता है; वह वास्तवमें भगवानकी स्तुति नहीं करता किन्तु उसे रागी मानकर उसकी अस्तुति करता है अर्थात् वह रागकी ही पूजा और रागकी ही भक्ति करता है।

वह कहता है कि 'हे भगवान ! तू भूल दूर कर, मुझे तार दे, तू मुझे मुक्ति दे' इसका अर्थ यह हुआ कि मैंने तो भूल की ही नहीं, मुझे राग-द्वेष दूर नहीं करना है; तू मुझे तार दे या तू मुझे मुक्ति देदे, इसप्रकारके भाव उसमें अप्रगटरूपसे आजाते हैं। भगवान किसीको तार दें अथवा राग-द्वेषका नाश कर दें ऐसा त्रिकालमें कदापि नहीं हो सकता।

लौकिक व्यवहारमें विनयकी दृष्टिसे कहा जाता है कि हम तो बड़े-बूढ़ोंके पुण्यसे खा रहे हैं, किन्तु कहनेवाला अपने मनमें यह भी समझता है कि वह बड़े-बूढ़ोंके पुण्यको स्वयं नहीं भोगता। इसीप्रकार ज्ञानी सर्वज्ञ वीतरागको पहचानकर 'बोहिदयाणं' तरण-तारण हो इसप्रकार विनयसे, व्यवहारसे, उपचारसे कहता है। किंतु वह समझता है कि मैंने अपनी ही भूलसे परिभ्रमण किया है और मैं ही अपनी भूलको दूर करके स्वतंत्र स्वभावकी प्रतीतिसे स्थिर होकर वीतराग हो सकता हूँ। यदि देव-गुरु-शास्त्रसे तर सकते होते तो उनका योग तो प्रत्येक व्यक्तिको अनन्तबार मिल चुका है तथापि

मुक्ति नहीं हुई। इससे सिद्ध हुआ कि निमित्तसे किसीका कार्य नहीं हो सकता।

हे भाई! यह समझनेकी बात है, उसे ध्यान पूर्वक समझना। ऐसी बातको सुननेका सुयोग बारम्बार मिलना दुर्लभ है। इसे समझनेके लिये अपनी निजकी तैयारी होनी चाहिये। जैसे 'मिश्री' शब्द सुननेसे अथवा किसीको मिश्री खाते हुये देखनेसे मिश्रीका स्वाद नहीं आजाता किन्तु स्वयं मिश्रीका टुकड़ा लेकर अपने मुँहमें डाले और उसके स्वादका अनुभव करे तो मिश्रीका यथार्थ स्वाद ध्यानमें आता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा ज्ञाता-दृष्टा साक्षीरूप है, उसकी बात सुननेसे अथवा उसका अनुभव करने वाले किसी ज्ञानीको देखनेसे स्वभावका निराकुल सहज आनन्द नहीं आ सकता; किन्तु सत्समागमसे स्वयं जानकर और फिर नित्य असंयोगी पूर्णस्वरूपको ज्ञानमें दृढ़ करके अंतरंगमें स्वाश्रय शुद्धनयसे अभेदस्वभावका अनुभव करे तो विकल्प-भेदरहित एकाकार शुद्ध आत्मस्वरूपके आनन्दके स्वादका अनुभव होता है।

त्रिकालके ज्ञानियोंने यही सूक्ष्म तत्त्व कहा है, उसकी प्राप्तिके लिये किसी बाह्य साधनका अवलंबन है ही नहीं, ऐसा निरपेक्ष तत्त्व वीतरागके मार्गमें है। उसका विरोध करनेवालोंको तत्त्वकी खबर नहीं है। जो अनन्त शुद्धतासे विपरीत हुआ वह अशुद्धतामें अनन्त है और जो अनुकूल होता है वह स्वभावकी शक्ति में अनन्त है। जो विकारमें अनन्तगुनी विपरीतता करता है वह भी स्वतंत्र है, उसकी पात्रताके बिना अनन्त तीर्थंकरोंका साक्षात् उपदेश भी उसके लिये निमित्त नहीं हो सकता। यदि दूसरेके आधारसे समझमें आ सकता हो तो स्वतंत्रता ही न रहेगी। तत्त्वका स्वरूप भले ही ज्ञानीके पाससे ही सुननेमें आये किन्तु अपनी निजकी तैयारीके बिना समझमें नहीं आ सकता।

पर-संयोगके आश्रयसे उत्पन्न शुभभाव क्षणभरमें बदल-कर अशुभभाव होकर नरक-निगोदमें खींच ले जायगा, इसलिये

अखण्ड निर्मलस्वभावका आश्रय कर तो नित्य स्थिर रहेगा, वह किसी भी समय और किसी भी संयोगमें बदलेगा नहीं।

'अपने पुरुषार्थके द्वारा' कहकर आचार्यदेवने अद्भुत अमृत प्रवाहित किया है। कोई कहता है कि–कर्म बाधा देते हैं, जब काल पके तब धर्म हो, कोई साधन मिले तब धर्म करें। ऐसा कहने वाले सभी लोगोंका निषेध करके आचार्यदेव कहते हैं कि मात्र आत्मासे, स्वाश्रयसे चाहे जिस क्षेत्रमें चाहे जिस कालमें धर्म हो सकता है। स्वभाव तो जब देखो तब स्वयं नित्य एकरूप ज्ञानानन्द शांतिरूप ही है। पर-निमित्तके भेदसे रहित निर्विकार वीतराग ज्ञानमूर्ति है।

अहो! इस अपूर्व ग्रन्थमें कैसा तत्त्व भरा हुआ है। प्रत्येक गाथामें अपूर्व अमृत निहित हैं। ऐसी अपूर्व बात जहाँ-तहाँ सुननेको नहीं मिलती इसलिये किसीको नई लगे और यदि पूर्ण श्रद्धा न जमे तो भी तीनलोक और तीनकालमें यह सत्य बात बदल नहीं सकती। यदि समझमें न आये तो परिचय प्राप्त करके अविरोध स्वभावको समझकर मानना ही चाहिये।

यदि रुपया कमाना हो तो उसमें कोई संयोग अथवा कालकी प्रतीक्षा नहीं करता, किन्तु धर्मके लिए बहाने बताये जाते हैं कि ऐसा होना चाहिए और वैसा होना चाहिए। जिसे आत्माकी रुचि होगई है वह वायदे नहीं किया करता; वह कालदोष अथवा क्षेत्रदोष नहीं बतलाता। अनन्त जन्म-मरणरूप भवके त्राससे मुक्त होनेका उपाय सुननेको मिले और तैयारी न हो तो समझना चाहिये कि उसे आत्माकी रुचि नहीं है।

निर्विकार दृष्टिको भूलकर बाह्य प्रवृत्तिको ही धर्म माननेवाले अन्तरंगके सत्यधर्मको न पहचानें तो वस्तुका जो निरावलंबी स्वाश्रित मार्ग है वह त्रिकालमें भी नहीं बदल सकता। पुण्यसे, शुभसे, देहकी क्रियासे अर्थात् पराश्रयसे धर्म मानने वालोंको सर्वज्ञभगवानने मिथ्यादृष्टि कहा है। इसप्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यने डंके की चोट जगत्के समक्ष घोषित किया है। सत्य गोप्य नहीं है और

वह ऐसा भी नहीं है कि जिसकी बात विशाल सभामें नहीं की जा सकती हो।

जैसे कोई अपने घर पाँच सेर सोना लाये तो उसे देखकर ही स्त्रीको संतोष हो जाता है कि इसमेंसे भविष्यमें गहने बनेंगे। उन गहनोंकी सारी अवस्था नक्कासी वर्तमानमें सोनेमें निहित है। सोनेमें जेवर—गहनेरूप होनेकी पूरी शक्ति है ऐसा विश्वास वर्तमानमें है, इसीप्रकार चैतन्य आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्दकी मूर्ति है उसे त्रिकालकी संपूर्ण अवस्था और अनंतगुणके पिंडरूप वस्तुरूपमें वर्तमानमें लक्ष्य करके अभेद ध्रुवरूप देखें तो उसमें केवलज्ञान केवल-दर्शन अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इत्यादि समस्त निर्मल अवस्थाएँ वर्तमानमें ही शक्तिरूपमें प्राप्त हैं। वह क्योंकर प्रगट होंगी इसकी चिंता अखण्ड ध्रुवदृष्टि वालेको नहीं होती। अखण्ड परमार्थकी दृष्टिके बलसे निर्मल पर्याय प्रगट होकर एकरूप सामान्य स्व-द्रव्यमें मिल जाती है। इसलिये त्रिकाल एकरूप ज्ञायक आत्माको देखने वाली अखण्ड ध्रुवदृष्टिमें किसी अवस्थाके भेद अथवा प्रकारका विकल्प नहीं उठता। ऐसा आत्मदर्शनरूप श्रद्धाका जो अभेद विषय है वह परमार्थ है और वही भूतार्थ-सत्यार्थ कहने योग्य है।

यदि आत्मा एकांत नित्य ही हो और अवस्थासे बदलनेका उसका स्वभाव ही न हो तो दुःख दूर करनेका उपाय करनेको और यथार्थ ज्ञान करनेको कहना ही वृथा हो जायगा। किन्तु आत्मा एकान्तरूपसे अभेद नहीं है उसमें पराश्रयसे, अज्ञानभावसे वर्तमानमें राग-द्वेष होते हैं और अविकारी स्वभावकी प्रतीतिके द्वारा भीतर स्थिर होकर रागको दूर करके निर्मल अवस्थारूप भेद भी आत्मामें हैं।

राग-द्वेष विकार त्रिकाली ज्ञायक शक्तिरूप वस्तुमें नहीं है किन्तु वर्तमान अवस्थामें है। यदि वर्तमान अवस्थामें भी (संसारी जीवोंके) विकार न हो तो 'तू समझ; रागको दूर करके पूर्ण

निर्मलता प्रगट कर '—इसप्रकार विकारको दूर करनेकी बात ही क्योंकर कही जा सकेगी ?

शुद्ध परमार्थदृष्टिका विषय अभेद है—यह कहनेमें समस्त द्रव्यको परसे भिन्न और निजसे अभिन्न कहनेकी अपेक्षा है; किन्तु वर्तमान अवस्थामें भेदवस्तुत्व तथा विकारमें पर-निमित्तकी उपस्थिति यदि कोई वस्तु ही न हो तो जैसे वेदांत मतवाले भेदरूप अनित्यको देखकर अवस्तु मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्ध ब्रह्मको वस्तु कहते हैं वैसा सिद्ध हो जायगा। और ऐसा होनेसे सर्वथा एकांत शुद्धनयके पक्षरूप मिथ्यादृष्टिका ही प्रसंग आजायगा।

सर्वज्ञ वीतरागने पूर्वापर विरोध रहित, परसे भिन्न अविकारी स्वरूप भेद-अभेदरूपसे कहा है, उसे मध्यस्थ-शांतदृष्टि करके अविरोधी सत्यको स्वीकार करके उसका न्यायसे आदर करके अन्तरंगमें पचाना चाहिये।

एक कूटस्थ ब्रह्मको माननेमें क्या दोष है सो यहाँ बतलाते हैं:—

(१) यदि वस्तु एक ही हो और दूसरी वस्तु न हो तो समझनेवाला और समझानेवाला इसप्रकारका भेद नहीं रह सकता। भेद तो प्रत्यक्ष है फिर भी भेदको यदि भ्रम माने तो जाननेवालेका ज्ञान मिथ्या है।

(२) क्षेत्रसे यदि सब सर्वव्यापक हो तो भी उपरोक्त दोष आता है।

(३) कालसे आत्मा नित्य ही हो और वर्तमान अवस्थासे बदलना न होता हो अर्थात् यदि एकांत नित्य ब्रह्म वस्तु हो तो अशुद्धताको दूर करके शुद्धताको प्रगट करना ही नहीं बन सकेगा।

(४) भावसे यदि सभी आत्मा सदा एक शुद्ध ब्रह्मरूप पूर्ण ज्ञानगुण मात्र हो और प्रगट अवस्थामें कर्म-शरीरादिका संबंध

न हो अर्थात् सर्वथा भेदरहित, कार्य-कारण रहित हो तो इसप्रकार एकांत माननेसे मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञानका प्रसंग आयगा।

सर्वज्ञ वीतरागका निर्दोष उपदेश अपेक्षा पूर्वक यथार्थ धर्मोंको कहनेवाला हैं। एक-एक वस्तु परसे भिन्न और अपनेसे अभिन्न है। उसमें नित्य-अनित्य भेद-अभेद, और शुद्ध-अशुद्ध इत्यादि जो प्रकार हैं उसप्रकार मानना सो अनेकांत है। एक वस्तुमें वस्तुत्वकी निष्पादक (उपजाने वाली) परस्पर विरुद्ध दो शक्तियोंका प्रकाशित होना सो अनेकांत है।

आत्माको अविकारी कहने पर उसमें विकारकी अपेक्षा आ जाती है। विकार और अविकार दोनों एक भाव नहीं हैं किन्तु दो हैं। वास्तविक त्रिकाली स्वभावमें राग-द्वेष विकार नहीं है किन्तु अवस्थामें निमित्ताधीन विकार है। यदि अवस्थामें भी विकार न हो तो ससारके दुःख कौन भोगे? देह-इन्द्रियोंको सुख-दुःखकी खबर नहीं होती इसलिये प्रत्येक आत्मा भिन्न है और जड़परमाणु भिन्न हैं। यदि जीवको विकृत होनेमें निमित्तरूपसे अन्यवस्तु है ऐसा न माने और वस्तुरूपसे सबको मिलाकर एक आत्मा माने, क्षेत्रसे सर्वव्यापक जड़में भी माने, कालसे एकांत नित्य कूटस्थ माने, गुणसे नित्य ब्रह्मरूप अभेद माने, भावसे बिल्कुल शुद्ध वर्तमान अवस्थामें भी विकार रहित माने तो ऐसे एकांतवादीसे पूछना चाहिये कि राग-द्वेषकी आकुलता कौन करता है?

यदि कोई कहे कि 'भाग्य ही सुखी-दुःखी करता है, वही बनाता-बिगाड़ता है तथा इन्द्रियोंके विषयोंको इन्द्रियां ही भोगती हैं; उससे हमें क्या लेना-देना है?' तो उसे शरीर पर अग्निका डमा देकर देखना चाहिये कि कैसा समभाव रहता है? दोष (राग-द्वेष) तो करे स्वयं और उसका आरोप लगाये दूसरे पर? भाग्य और ईश्वर ही सब कुछ करता है तथा बनाना-बिगाड़ना भी उसीके आधीन है यों मानना सो मूढ़ता है, अविवेक है।

सर्वज्ञ वीतरागके मार्गमें रागादि विकल्पको अविद्यमान कहनेका कारण यह है कि जो विकल्प है सो दूर हो सकता है, क्योंकि वह संयोगाधीन है। वह वर्तमान क्षणिक अवस्थामें है। उसके अतिरिक्त अखण्ड त्रिकाली ध्रुवस्वभाव वर्तमानमें पर-निमित्तके भेदसे रहित पूर्ण निर्मल है, उस परमार्थके लक्षसे विकार दूर हो सकता है इसलिये उसे अभूतार्थ कहा है।

त्रिकाली भूतार्थ ध्रुवस्वभावको मुख्यतया लक्षमें लेकर यदि उसमें अभेद परमार्थदृष्टिका बल न लगावे तो वर्तमान विकारी अवस्था दूर नहीं होगी। इसीप्रकार यदि यह माने कि आत्मा सर्वथा भूल ही नहीं करता तो वह भूल-विकारको दूर करनेका उपाय नहीं करेगा और कभी भी भूल दूर न होगी। विकल्पको नष्ट करनेके लिये अभेदका अवलम्बन कहा है। निर्मल, निर्विकल्प, अभेदका विषय करने वाली श्रद्धाका अखण्ड लक्ष करनेके लिये तथा अखण्ड गुणमें स्थिरता-एकाग्रता करनेके लिये अखण्ड गुणरूप वस्तु पर बल करे तो विकल्प छूटकर निर्विकल्प दशाका अनुभव होता है। इसी अपेक्षासे कहा है कि भेद-अभेदरूपसे वस्तुको समझकर अखण्ड, निर्मल, ज्ञायक, ध्रुव-स्वभावमें अभेद लक्ष्य करे तो विकल्पकी पकड़ छूटकर भेदका लक्ष्य गौण होनेसे राग-द्वेष दूर हो जाता है। वहाँ ऐसे विकल्प नहीं करने पड़ते कि राग-द्वेषको दूर करूँ या पुरुषार्थ करूँ।

त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवानने व्यवहारनयको अभूतार्थ कहा है क्योंकि संयोगाधीन शुभाशुभ विकारीभाव क्षणिक अवस्था मात्र-के लिये हैं, उसका पक्ष अथवा उसके भेदका लक्ष्य रखनेका फल संसार ही है। अभेद स्वभावके लक्ष्यसे विकारीभाव दूर हो सकता है, जो दूर हो सकता है वह अभूतार्थ है।

कर्मके संयोगके आश्रयसे शुभाशुभ विकार होता है उसे अपना न माने, हितकर न माने इतना ही नहीं किन्तु गुण-गुणीके भेद पर भी लक्ष्य न करे और त्रैकालिक ध्रुव एकरूप निर्मल स्वरूपको अभेदरूपसे लक्ष्यमें ले सो शुद्धनय है।

जैसे पानी स्वभावसे गरम नहीं है, वह वर्तमान अवस्थामें अग्निके निमित्तसे गर्म है, वह उष्णता पानीका वास्तविक स्वभाव नहीं है, यदि इसप्रकार विश्वास करे तो पानीको शीतल करनेका पुरुषार्थ करके ठण्डा पानी प्राप्त किया जा सकता है। अग्निके निमित्तसे पानी गरम होता है यह न माने और अग्निको भी न माने तथा यह भी न माने कि पानीकी उष्ण अवस्था पर-संयोगसे हुई है जो कि दूरकी जासकती हैं तो कहना होगा कि उसे पानीके वास्तविक शीतल-स्वभावकी खबर नहीं है। जो पानीको गरम ही मानता है वह उसे ठंडा करनेका उपाय नहीं करेगा, किन्तु पानीका शीतलस्वभाव उष्ण अवस्थाके समय भी बना रहता है यह जान ले तो वर्तमान अग्निके संयोग और उष्ण अवस्थाका लक्ष्य गौण करके सम्पूर्ण शीतलस्वभाव पर दृष्टि कर सकता है। उष्ण अवस्था वर्तमान मात्रके लिये है उसका ज्ञान करे और उष्ण अवस्थाके समय भी पानीमें शीतलता भरी हुई है यों दोनों प्रकार मानकर गर्म पानीको ठण्डा करे तो शीतलस्वभाव ही रहता है। इसप्रकार पानीके शीतल स्वभावको जानना सो परमार्थ दृष्टि है और अग्निके निमित्तसे पानी वर्तमानमें उष्ण है, इसप्रकार परकी अपेक्षासे जानना सो व्यवहार है।

भगवान आत्मा वीतराग ज्ञानानन्दघन है वह स्वयं उसकी वर्तमान अवस्थामें कर्मके संयोगाधीन होता है तब अज्ञानी यह मानता है कि मैं राग-द्वेष पुण्य-पापका कर्ता हूँ, इसलिये वह मिथ्यादृष्टि है किन्तु जो स्वाश्रयी दृष्टिके द्वारा वर्तमान निमित्ताधीन विकारका लक्ष्य गौण करके त्रैकालिक एकरूप निर्मल ध्रुवस्वभावको वर्तमानमें भी पूर्ण सामर्थ्यरूप अभेदरूपसे जानता है सो परमार्थदृष्टि है। इसप्रकार द्रव्यदृष्टिसे आत्मा शुद्ध है, स्वाश्रित स्वभावसे त्रिकाल (वर्तमानमें भी) शुद्ध है और पराश्रयरूप व्यवहारके वर्तमान अवस्थामें अशुद्ध भी है। इसप्रकार एक वस्तुमें दो प्रकार मानना सो स्याद्वाद है। यदि सब एक ही हो—शुद्ध ही हो और वर्तमान अवस्थामें (संसारी जीवों की) भूल-अशुद्धता न हो तो ऐसे उपदेशकी आवश्यक्ता ही न

रहे कि समझको प्राप्त कर, भूलको दूर कर अथवा रागको दूर करके निर्मल होजा ।

व्यवहारनय अभूतार्थ है, इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान अवस्था सर्वथा अयथार्थ है। जो वस्तु है उसका सर्वथा नाश नहीं होता किन्तु मूल वस्तुरूपमें स्थिर रहकर प्रत्येक वस्तु अपनी अवस्थाको वदला करती है । अवस्थाके परिवर्तनको प्रतिक्षण देखकर यदि कोई उसे भ्रम-माया कहे तो वह गलत है । जो यह कहता है कि रस्सी-में सर्पकी मान्यता कर लेना भ्रांति है उसे यह भी स्वीकार करना ही होगा कि रस्सी अलग है, उसमें सर्पकी कल्पना करने वाला अलग है और सर्प अलग है । इसप्रकार तीन भिन्न वस्तुएँ हैं ।

प्रत्येक वस्तु भिन्न-भिन्न है । राग-द्वेष करनेमें पराश्रयरूप अन्य वस्तुकी उपस्थिति होती है। एकसे अधिक वस्तु हो तभी भ्रांति होती है और तभी दूसरी वस्तु निमित्त कहलाती है ।

जैसे अकेला सोना अपने कारणसे अशुद्ध नहीं है किन्तु अन्य धातुके आरोपसे वर्तमान अवस्थामें वह अशुद्ध कहलाता है । इसी-प्रकार आत्माके सम्बन्धमें अनादिकालसे प्रत्येक समयके प्रवाहरूप-से वर्तमानमें विद्यमान अवस्थामें राग-द्वेष अज्ञानरूप भ्रांति होनेका मूल कारण अपना अज्ञान है और उसके निमित्तरूप कर्म अन्य वस्तु है । इसप्रकार पराश्रयसे होने वाले विकारको अपना स्वरूप मानना सो अज्ञान है । 'पुण्य-पाप, राग-द्वेष वर्तमानमें हैं ही नहीं, इन्द्रियों-के विषयको इन्द्रियां ही भोगती हैं' इसप्रकार अपनेको अखण्ड साक्षी-ब्रह्मरूप ही एकान्ततः माने तो भी वह अज्ञानी-स्वच्छन्दी कहलायगा। भेदवस्तु ही नहीं तथा मलिनता आत्माकी अवस्थामें व्यवहारसे भी नहीं है यह कहांसे निश्चय किया ? क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना और राग-द्वेष इत्यादि हैं, इसीलिये तो वर्तमानमें दिखाई देते हैं यदि वे सर्वथा न हों, राग-द्वेष आकुलता वर्तमान अवस्थामें भी न हो तो अतींद्रिय आनन्द प्रगट होना चाहिये किन्तु वर्तमान अव-स्थामें वैसा नहीं है । स्वभावमें शक्तिरूपसे अनन्त आनन्द है किन्तु

वर्तमानमें वह आनन्द प्रगटरूपमें नहीं है। यदि वर्तमानमें पूर्ण निर्मल आनन्द प्रगट हो तो कोई पुरुषार्थ करनेकी, यथार्थ ज्ञान करनेकी अवस्था राग-द्वेषको दूर करनेकी आवश्यकता ही न रहे अर्थात् ऐसी किसी भी बातके लिये अवकाश न रहे।

बहुतसे जीवोंने अनन्तकालमें कभी भी एक क्षणभरके लिये यथार्थ तत्त्वका विचार नहीं किया। जैसे पर्वत पर बिजली गिरनेसे जो दरार पड़ जाती है वह फिर नहीं जुड़ सकती, इसीप्रकार यदि एकबार अपना अनादिकालीन अज्ञान दूर करके ध्रुववस्तुकी प्रतीति करे तो ग्रंथिभेद हो जाय अर्थात् मिथ्यागाँठका नाश हो जाय। राग-द्वेषरूप विकार, परका कर्तव्य और देहादिकी क्रियाका स्वामित्व मानना सो मिथ्यात्व है उसका स्वाश्रयके द्वारा नाश करके त्रैकालिक निर्मल निरपेक्ष अखण्ड स्वभावके लक्ष्यसे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश करे तो फिर कदापि अज्ञान न हो अर्थात् फिर यह कभी नहीं माना जायगा कि आत्मा और राग-द्वेष एक हैं।

यदि वस्तुदृष्टिसे देखा जाय तो आत्मा ध्रुवरूपसे स्थिर रहता है इस अपेक्षासे वह नित्य है। यदि वर्तमान पर्यायदृष्टिसे देखा जाय तो क्रमशः अवस्थाको बदलनेका स्वभाव है, इस अपेक्षासे अनित्य है। इसप्रकार समस्त गुणोंको न मानकर एक ही गुणको माने अथवा सभीमें एक ब्रह्मरूप वस्तुकी सत्तासे अभेदभाव माने तो वह ऐकान्तिक मिथ्या मान्यता है।

सर्वज्ञके उपदेशमें एकपक्षरूप कथन नहीं है अर्थात् सर्वथा एकान्तशुद्ध, एकान्तअशुद्ध अथवा नित्य या अनित्य इसप्रकार सर्वथा एकान्त न कहकर प्रयोजनवश मुख्य-गौणदृष्टि करके प्रत्येक स्वभावको यथार्थ बतलाते हैं। आत्मा त्रैकालिक द्रव्यदृष्टिसे शुद्ध है और वर्तमान अवस्थामें परावलम्बनरूप विकार करता है उतना एक-एक समयकी अवस्थारूपसे अशुद्ध भी है। इसप्रकार जो स्वाश्रित स्वभाव है सो निश्चय है पराश्रित भेद सो व्यवहार है। यह दोनों प्रकार जान लेना चाहिये।

'मैं रागी-द्वेषी हूँ; पुण्य करने योग्य है, देहकी क्रिया करनेसे गुण होता है' इसप्रकार अज्ञानरूप व्यवहारका ग्रहण अर्थात् परावलंबनका मिथ्या आग्रह संसारी जीवोंके अनादिकालसे चला आरहा है। निर्विकारी अभेद ज्ञानस्वभावकी प्रतीति करनेके बाद भी वर्तमान अवस्थामें शुभरागरूप भाव दिखाई तो देता है किन्तु उसे सम्यग्दृष्टि रखने योग्य अथवा आदरणीय नहीं मानता। शुभ-अशुभ विकारका स्वामित्व अथवा कर्तृत्व मानना उसे सर्वज्ञदेवने मिथ्यादर्शन शल्य कहा है।

'स्वतन्त्ररूपसे करे सो कर्ता और कर्ताका इष्ट सो कर्म है। जो आत्माको देहादि परवस्तुकी क्रियाका कर्ता तथा पुण्य-पाप विकारका कर्ता मानता है उसकी मान्यता विकृत है उस विकारका वह माननेवाला स्वयं कर्ता है और विकार उस कर्ताका (कर्म) कार्य है। जिसने अविकारी निर्मल स्वभावको श्रद्धामें स्वीकार नहीं किया वे अनादिकालसे विकारी कर्तव्यका उपदेश देने वाले हैं।

ज्ञानीका इष्टकर्म ज्ञानभाव है इसलिये आत्मा ज्ञानका ही कर्ता है वह सदा अपने अरूपी ज्ञानस्वभावसे ज्ञातास्वरूप है इसलिये ज्ञानके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं कर सकता। जिसे ऐसे स्वभावकी प्रतीति नहीं है वह अज्ञानभावसे यह मानता है कि मैं परका कर्ता हूँ, देहादिकी क्रिया कर्ता हूँ, पुण्यका सहारा चाहिये, ऐसे अशुद्ध व्यवहारको ग्रहण करने वाले मिथ्यादृष्टियोंका संसारपक्ष अनादिसे चला आरहा है और अनन्तकाल तक चला जायगा। आश्चर्य तो यह है कि ऐसा उपदेश देने वाले और सुनने वाले बहुत होते हैं।

बाह्य क्रिया करनेकी बात लोगोंके मनमें जल्दी जम जाती है जैसे इतनी शारीरिक क्रिया करो, जप करो, दान करो तो धर्म होगा और फिर यह लिया वह छोड़ा इत्यादि सब दिखाई देता है यों मानता है क्योंकि अनादि कालसे वैसा परिचय है इसलिये उन बाह्य बातोंका मेल अनादिकालीन मिथ्या मान्यताके पुराने खानेमें झट फिट कर देता है। और जब उससे उल्टी बात सुनता है कि पुण्य-

से, शुभभावसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता, पुण्य विकार, है, विकारसे अविकारी धर्म कदापि नहीं हो सकता तो वह चिल्ला उठता है कि अरे रे! मेरे व्यवहार पर तो पानी फेर दिया। पैसे वालोंको दानादिका अभिमान और देह पर दृष्टि रखने वालोंको उनकी मानी हुई क्रियाका अभिमान है किन्तु जब वे अपनी मान्यतासे विपरीत बात सुनते हैं तब उन्हें बड़े जोरका धक्का लगता है किन्तु फिर भी सत्यको क्यों छुपाया जाय?

जहाँ देखो वहाँ व्यवहारका झगड़ा है और जिससे जन्म-मरण दूर हो सकता है ऐसे तत्त्वज्ञानका विरोध दिखाई देता है। सब अपने भावसे स्वतंत्र हैं। व्यवहारका झगड़ा अनादिकालसे संसार-पक्षमें है और अनन्तकाल तक रहेगा।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि—

परमारथ पंथ जे कहे, ते रंजे एक तंतरे,
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनंतरे।

परमार्थस्वरूप आत्माको अविरोधरूपमें समझने वाले और उसका उपदेश देने वाले विरले ही होते हैं। पराश्रयरूप व्यवहारका पक्ष-देहकी क्रिया हम करें तो हो, समाजमें ऐसा सुधार कर दें, ऐसा न होने दें, अब बातें करनेका समय नहीं है, काम किये बिना बैठे रहनेसे नहीं चलेगा। इसप्रकार मानने वाले और कहने वाले अनादि-कालसे बहुतसे लोग हैं। मानों परवस्तु अपने ही आधीन है और स्वयं परके ही आधार पर अवलम्बित है। जो यह मानता है कि पर मेरा कार्य कर सकता है वह अपनेको अशक्त मानता है; उसे अपनी स्वाधीन अनन्त शक्तिका विश्वास नहीं है, इसलिये वह पराश्रयरूप व्यवहारको चाहता है। व्यवहार करने योग्य है, शुभभावरूप विकार किये बिना अविकारी नहीं हुआ जा सकता, ऐसी विपरीत मान्यतारूप मिथ्या आग्रहको जीवने अनादिकालसे पकड़ रखा है और ऐसे ही उपदेशकोंके द्वारा उन बातोंको पुष्टि मिला करती है।

"बोये पेड़ बँबूल तो, आम कहाँसे खाय"

सर्वज्ञभगवानने भी अशुभसे छूटकर परमार्थ वस्तुको समझनेमें बीचमें आनेवाले शुभ व्यवहारका उपदेश शुद्धनयमें निमित्त-मात्र जानकर बहुत किया है किन्तु उसका फल संसार ही है। जीव अन्तरंग तत्त्वकी सूक्ष्म बातको तो समझता नहीं और जहाँ बाह्यमें व्रत तप आदि शुभभावकी प्रवृत्तिकी बात आती है वहाँ यह अत्यंत प्रसन्न होकर और उत्साहित होकर कहता है कि वह हमारे व्यवहारकी बात आई। बाह्य प्रवृत्तिहीनकी श्रद्धा और स्थिरता क्या है, विकल्प रहित मनके सम्बन्धसे रहित अन्तरंगका धर्म क्या है यह कभी नहीं सुना तो वह समझे कहाँसे ?

भाइयो ! इस मनुष्यभवमें उस ज्ञान प्राप्तिका उत्तम सुयोग मिला है जो अनन्तभवके दुःख दारिद्रको दूर कर सकता है। बारंबार ऐसा संयोग नहीं मिला करता। तू प्रभु है, तुझे अपनी दया नहीं आती ! जन्म-मरणकी पराधीनताका अपार त्रास है। बहुत हो चुका ! अब क्षणभरके लिये भी संसार नहीं चाहिये। राग-द्वेष अज्ञान रहित जो सत्स्वरूप है उसीको समझना है, उसीमें स्थिर होना है, उसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिये; ऐसा निर्णय करके पूर्व मान्यताका आग्रह यथार्थ ज्ञानके द्वारा छोड़कर निर्दोष सत्समागमसे स्वरूपको समझना चाहिये। अपनी तैयारीके बिना, आन्तरिक उत्साहके बिना क्या हो सकता है ? जिनवाणीमें अशुभसे बचनेके लिये शुभका उपदेश दिया गया है किन्तु उस शुभकी मर्यादा पुण्यबन्ध तक ही सीमित है।

व्यवहार भेद करनेके लिये नहीं है किन्तु जो परमार्थस्वरूप वीतरागी, निर्विकल्प, ज्ञायकस्वरूप है उसे पकड़कर उसमें स्थिर होनेके लिए है, ऐसा ध्येय पहलेसे ही होना चाहिये। परनिमित्तके भेदसे रहित अंतरंगमें वस्तु परिपूर्ण है। यदि यह समझले तो यह कहा जा सकता है कि बीचमें आनेवाला व्यवहार (शुभराग) उपचारसे निमित्तरूपसे उपस्थित था, किन्तु शुभराग तो संसार ही है, शुभके फल

से बड़ा देव हो या राजा हो और अशुभके फलसे भले ही नरकका नारकी हो; वे दोनों संसारपक्षकी अपेक्षासे समान ही हैं, इसलिये शुभभावरूप व्यवहारसे भी आत्माको कोई लाभ नहीं ऐसा जान लेने पर भी व्यवहार आयेगा, किन्तु यदि उसमें धर्म माने तो वह श्रद्धा मिथ्या है।

प्रथम भूमिकामें भी साधारण सज्जनके योग्य अच्छा आचरण तो होता ही है। ब्रह्मचर्यके प्रति प्रीति होती है, अनीतिका त्याग होता है, सत्यका आदर होता है, किन्तु यह सब कुछ अपूर्व नहीं है ऐसा तो अनन्तबार चित्तशुद्धिका कार्य करके और उसीमें सब कुछ मानकर जीव अटक गया है तथापि उसका (शुभका) निषेध नहीं है। क्योंकि जो तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभमें फँसा हुआ है उसके अंतरंगमें बिलकुल अविकारी सच्चिदानन्द भगवान आत्माकी बात कैसे जम सकती है? इसलिये पहले अविरोधी तत्त्वको समझनेकी पात्रताके लिये शुभ व्यवहारके आँगनमें आना चाहिये, किन्तु यदि शुभमें ही रत होकर, उसकी अपेक्षासे रहित, निर्मल अविकारी स्वभावकी श्रद्धा न करे तो चित्तशुद्धिके उस शुभव्यवहारका फल संसार ही है जिसे जीव अनन्तबार कर चुका है।

निरावलम्बी तत्त्वकी दृष्टि होनेके बाद जबतक वीतरागी नहीं हो जाता तबतक अशुभसे बचनेके लिये शुद्धदृष्टिके लक्ष्यसे युक्त व्रत, तप, पूजा, भक्ति, प्रभावना इत्यादि शुभभाव सम्बन्धी प्रवृत्तिमें ज्ञानी भी लगता है, परन्तु जो उस शुभभावमें ही धर्म मानता है अथवा यह मानता है कि उसके द्वारा गुण प्रगट होते हैं वह संसारमें परिभ्रमण करता है।

जीवको कभी शुद्धनयका पक्ष नहीं हुआ। परका आश्रय, उपाधि अथवा विकार मुझमें नहीं है, मैं अविनाशी अखण्ड ज्ञाता-दृष्टा हूँ ऐसे शुद्धनयसे जीवने शुद्धस्वभावकी दृढ़ता कभी अनन्तकालमें भी नहीं की। मैं परनिमित्तके सम्बन्धसे रहित अकेला स्वतन्त्रतया पूर्ण

ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ ऐसी श्रद्धाका बल कभी अन्तरंगमें उद्भूत नहीं हुआ।

आचार्यदेव कहते हैं कि हे प्रभु ! तुझे अपनी ही बात समझमें न आये यह कैसे हो सकता है। कभी अन्तरंगमें परमार्थसे हिताहितका निर्णय नहीं किया, उसका उपदेश भी प्राय: नहीं मिलता, क्वचित् कदाचित् परमार्थका उपदेश होता है किन्तु जगत्का बहुभाग बाह्य-प्रवृत्तिमें, पुण्यकी शुभ क्रियामें ही धर्म मानता है।

'इस जगह पर पाँच हजार रुपया खर्च कर दिये जावें तो धर्म-लाभ होगा; यदि रथयात्रा या संघयात्रा निकाली जाय तो महती धर्म प्रभावना होगी' इसप्रकार बाह्यमें रुपये-पैसेसे धर्मकी मान्यता बना लेते हैं अर्थात् आत्माको जड़का कर्ता मान लेते हैं किन्तु सच तो यह है कि बाहरकी एक भी क्रिया अथवा संयोग-वियोग आत्माके आधीन नहीं है क्योंकि दोनों द्रव्य भिन्न-भिन्न हैं। अनन्त पुद्गल परमाणु सब स्वतंत्र हैं और आत्मा भी स्वतंत्र है एक दूसरेका कुछ कर नहीं सकता।

उपसंहार

कोई कहता है कि यदि ऐसा माना जायगा तो दान, सेवा, औषधालय इत्यादि परोपकारके कार्य कोई नहीं करेगा। किन्तु वह यह नहीं जानता कि कोई किसीका कर ही क्या सकता है ? जिस समय जो कुछ होना होता है वह होता ही रहता है उसमें अज्ञानी यह मान लेता है कि मैंने किया। ज्ञानीके तृष्णाको कम करने-का जैसा शुभभाव होता है वैसा अज्ञानी नहीं कर सकता। बाह्य-के संयोगानुसार तृष्णा कम या बढ़ नहीं होती, किन्तु अपने भावमें अपने आपसे ही तृष्णाकी घटाबढ़ी स्वयं होती रहती है।

ऐसी सूक्ष्म बात कोई मनुष्य नहीं समझ पाता इसलिये वह कहता है कि रुपये-पैसे से धर्म होता हो तो बताइये; मैं पच्चीस-पचास हजार रुपया खर्च करनेको तैयार हूँ, क्योंकि वह जानता है कि इतना रुपया खर्च कर देने पर भी मेरे पास उससे कहीं अधिक सम्पत्ति शेष

रह जायगी। किन्तु इससे तो वह परवस्तु मेरी है, मैंने दूसरेको वह दी, इसप्रकार परका स्वामित्व बनाकर कर्ता होता है। जबतक वह परके कर्तृत्वकी मान्यताको नहीं छोड़ेगा तबतक वह अज्ञानभाव-बंधनभाव है। कुछ लोग कहते हैं कि मैं आसक्ति रहित और फलकी इच्छाके बिना यह क्रिया करता हूँ, किन्तु उसने जो यह माना है कि मैं परका कुछ कर सकता हूँ यही परके ऊपरकी अनन्त आसक्ति है।

ज्ञानीके शुभरागका भी आदर नहीं होता तथापि उच्चप्रकारका शुभराग होता है। जहाँ ऐसी भावना होती है कि परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है वहाँ तीव्र तृष्णा हो ही नहीं सकती। गृहस्थ दशामें ज्ञानी होगा तो वह दान, पूजा, प्रभावना इत्यादिमें स्वभावकी प्रतीतिके साथ तृष्णाको कम करके स्वभावके प्रति संतोष बढ़ायेगा; अज्ञानी ऐसा कदापि नहीं कर सकेगा। अज्ञानीके परका स्वामित्व है इसलिए वह यदि पाँच हजार रुपये खर्च करेगा तो परके अभिमानको लेकर वह यही गीत गाया करेगा कि मैंने पाँच हजार रुपया खर्च किये हैं। किन्तु जब ज्ञानी तृष्णाको कम करता है तब यदि कोई उससे कहे कि 'आपने बहुत बड़ा दान किया' तो वह मानेगा कि मुझे तो इसने जड़ पदार्थका स्वामी बना दिया, यह तो उसके लिये गाली देनेके समान हुआ। ज्ञानी समझता है कि रुपया-पैसा मेरा था ही नहीं, जिसे लोग दान कहते हैं वह (रुपया) तो अपने ही कारणसे गया है, वह मात्र जडकी क्रिया हुई है, मैं तो मात्र उसका ज्ञाता हूँ।

मैं निर्ममत्व, ज्ञाता-दृष्टाके रूपमें-ज्ञातास्वरूप हूँ, तृष्णा रहित स्वभावके लक्षसे तृष्णाको कम करके राग हीन करके समता की वह भाव मेरा था। इसीप्रकार ज्ञानी किसी बाह्य प्रवृत्तिमें स्वामित्व नहीं मानता, परकी क्रियाको अपना कर्तव्य नहीं मानता। अशुभभाव दूर करके पर जो शुभभाव रहता है वह भी मेरा भाव नहीं है, इसप्रकार धर्मी तो अविकारी धर्मका ही कर्ता रहता है, वह विकारका कर्ता कभी नहीं होता।

कुछ लोग कहते हैं कि इतनी सूक्ष्म बातें सुन समझकर हमें इतनी गहराईमें उतरनेका क्या काम है, राग-द्वेष ही तो दूर करना है न? तो जिस पर राग होता हो उस वस्तुका त्याग कर दो, इससे राग भी दूर हो जायगा। किन्तु भाई! रागरहित निरावलम्बी तत्त्वके अस्तिस्वभावको यथार्थ जाने बिना 'त्याग करो, रागको दूर करो' ऐसा कहने वाले नास्तिसे (निज लक्ष्यके बिना-पर लक्ष्यसे) अनित्य संयोगाधीन दृष्टि करके सन्नद्ध हुये हैं उनके वास्तवमें रागका अभाव नहीं होगा। बहुत होगा तो मंदकषाय करेंगे, जिससे पुण्यबन्ध होगा। पर लक्ष्यसे रागको कम करना चाहता है अर्थात् बाह्यक्रिया-से गुण मानता है कि मैंने ऐसा किया, इतना त्याग किया, इतनी प्रवृत्ति की इसलिये इतने गुण प्राप्त किये, किन्तु क्या तुझमें गुण नहीं हैं। भीतर पूर्ण शक्तिरूप अनन्तगुण भरे हुए हैं उनका विश्वास कर तो उन अखण्ड गुणोंके बलसे निर्मलता प्रगट होगी।

निरावलम्बी ध्रुव एकरूप परमार्थ ज्ञानस्वरूपकी दृढ़तारूप स्वाश्रयका पक्ष जीवने कभी नहीं किया। लोगोंको अन्तरंग सूक्ष्म-तत्त्वकी रुचि नहीं है इसलिये बाह्यचर्चाको सुननेके लिये बहुतसे लोग इकट्ठे हो जाते हैं किन्तु तत्त्वज्ञान सम्बन्धी बात जल्दी नहीं समझते। 'शुभ करनीके बिना, पुण्यका आधार लिये बिना धर्म नहीं होता, पुण्य तो आवश्यक है ही। साधनकी अनुकूलताके बिना धर्म नहीं होता, ऐसी पराश्रयकी बातें घर-घर सुननेको मिलती हैं, किन्तु उस सब लौकिक व्यवहारको छोड़कर गुण-गुणीका विचार करते हुए मनके सम्बन्धसे शुभ-विकल्प होता है वह भी मेरा नहीं है, इस-प्रकार व्यवहारको गौण करके मात्र अखण्ड परमार्थ ध्रुवस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश बहुत विरल है, क्वचित् कदाचित् ही मिलता है, इसलिये उपकारी श्री गुरुदेवने ऐसे शुद्धनयके ग्रहणका फल मोक्ष जानकर उसका उपदेश मुख्यतासे दिया है।

असुभभावसे बचनेके लिए तो शुभका अवलम्बन ठीक है, किन्तु उस शुभभावके द्वारा तीनलोक और तीनकालमें भी धर्म नहीं

हो सकता। यहाँ तो मान्यताको बदलवानेका उपदेश है। धर्म आत्मा-का अविकारी स्वभाव है, उस स्वभावको गुरुके द्वारा जानकर यथार्थ ज्ञानका अभ्यास करके, विपरीत धारणाका त्याग करके तथा यह मानकर कि मैं विकारका कर्ता नहीं हूँ, पुण्यके शुभ विकल्प मेरे स्वभावमें नहीं हैं तथा वह मेरा कर्तव्य भी नहीं है; ऐसा मानकर निर्मल पर्यायके भेदका लक्ष गौण करके अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभावको श्रद्धा-के लक्षमें लेना सो शुद्धनयका विषय है और उसका फल मोक्ष है। शुद्धनयका आश्रय लेनेसे सम्यग्दर्शन होता है। यह बात श्रावक और मुनि होनेसे पूर्वकी है।

मैं आत्मा तो अखण्ड ज्ञायक ही हूँ, परका स्वामी अथवा कर्ता-भोक्ता नहीं हूँ, शुभ या अशुभ विकार मात्र करने योग्य नहीं है, इसप्रकार स्वभावकी अपूर्व प्रतीति गृहस्थ दशामें हो सकती है। चाहे बड़ा राजा हो या साधारण गृहस्थ, स्त्री हो या पुरुष, वृद्ध हो या आठ वर्षका बालक, किन्तु सभी अपने अपने स्वभावसे स्वतंत्र पूर्ण प्रभु हैं, इसलिये अन्तरंगमें स्वभावकी प्रतीति कर सकते हैं।

जहाँ तक जीव व्यवहारमग्न है और बाह्य साधनसे धर्म मानता है, क्रियाकाण्डकी बाह्य प्रवृत्तिसे गुण मानता है वहाँ तक पर-से भिन्न अविकारी अखण्ड आत्मा निरावलम्बी है ऐसा पूर्ण शुद्ध आत्मा-के ज्ञान श्रद्धानरूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता।

इस विषयका विशेष श्रवण-मनन करना चाहिये और पर-मार्थ निर्मल वस्तुका निरन्तर बहुमान होना चाहिये। अपनी सावधानी उत्साह और पुरुषार्थके विना अपूर्व फल प्राप्त नहीं होता।

बारहवीं गाथाकी भूमिका

जो परमार्थसे आदरणीय नहीं है तथापि परमार्थमें जाते हुये बीचमें आजाता है वह व्यवहारनय किसी-किसीको किसी समय प्रयो-जनवान है, यह बात यहाँ कहते हैं।

पर-निमित्तके भेदसे रहित एकरूप अखण्ड वस्तुको लक्ष्यमें लेना सो निश्चय (परमार्थ) है और वीतराग, अविकारी पूर्णशुद्ध दृष्टि-

के अभेद विषयके बलसे रागको दूर करके अंशतः अन्तरंगमें स्थिरता-लीनता करना सो व्यवहार है। शुभभाव असद्भूत व्यवहार है और जो आंशिक निर्मलता बढ़ती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चयका विषय एकरूप श्रद्धा करना है, उसमें साधक-साध्य जैसे निर्मल पर्यायके भेद नहीं हैं।

पूर्ण निर्मलदशा प्राप्त होनेसे पूर्व अल्प समयके लिये व्यवहार आये बिना नहीं रहता। यदि इसप्रकार न माने तो उसे साधकभावकी खबर नहीं है। किसी भी यथार्थ प्रतीतिके साथ ही यदि अंतर्मुहूर्तके लिये ध्यानमें स्थिर होकर केवलज्ञानको प्राप्त करे तो उसमें भी बीचमें निर्मलताके घोलन–मननका सूक्ष्म विकल्परूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता।

अभेद स्वभावी द्रव्यका बल सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्रके प्रारंभका और पूर्णताका कारण है। जिन्हें मोक्ष जानेमें विलंब होता है वे अकषायदृष्टि सहित शुभरागमें अर्थात् पूजा, भक्ति, स्वाध्याय, ध्यान इत्यादिमें रुक जाते हैं। एतावन्मात्रेण व्यवहार किसी किसीके किसी समय होता है किन्तु वह वीतरागताके लिए कारणभूत नहीं होता। 'किसी समय कहनेका आशय यह है कि सम्यग्दृष्टि आत्मप्रतीतिकी भूमिकामें निरन्तर ध्यानमें नहीं रह सकता, इसलिये यह व्यवहार आये बिना नहीं रहता किन्तु जब अभेद स्व-विषय करके ध्याता, ध्यान और ध्येयके विकल्पसे कुछ छूटकर अन्तरंगमें एकाग्र (स्वभावमें लीन) होता है उस समय शुभभावरूप व्यवहार नहीं होता। अर्थात् अभेददृष्टिमें स्थिरताके समय भेदरूप विकल्प छूट जाते हैं। जब आन्तरिक स्वरूपमें लीनता–स्थिरता है तब व्यवहार नहीं है। निश्चयदृष्टिमें व्यवहार अभूतार्थ है।

सम्यग्दर्शनका विषय अखण्ड ध्रुवस्वभाव है, उसकी यथार्थ प्रतीतिके साथ जब आत्मा एकाग्र होता है तब अभेद आनन्दका अनुभव होता है; उस समय सिद्ध परमात्माके समान अतीन्द्रिय आनन्दका आंशिक स्वाद मिलता है।

सम्यग्दृष्टि पुण्य-पापके कर्तव्यको अपना नहीं मानता। मैं पुण्य-पापके शुभाशुभ विकारका नाशक हूँ, जड़ परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मैं परका स्वामी नहीं हूँ, परमार्थसे मैं पुण्य-पाप रागादिका कर्ता नहीं हूँ, इसप्रकार स्वभावकी अखण्ड प्रतीति अंतरंगसे गृहस्थ-दशामें भी सम्यग्दृष्टिके होती है।

जो शुभवृत्ति उठती है वह आत्माके लिये लाभकारक नहीं है, सहायक नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व और सम्यग्दर्शन होनेके वाद चारित्रमें स्थिर होनेसे पहले अशुभभावोंको दूर करनेके लिये शुभभावोंका अवलम्वन आता है उसे व्यवहार कहा जाता है।

कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, और उनके द्वारा कहे गये मिथ्या धर्म-की श्रद्धाका त्याग तथा सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहे गये धर्मका आदर सर्व प्रथम होना चाहिये। जवतक सत्यकी ओरकी भक्ति जागृत नहीं होती तवतक परमार्थस्वभावकी महिमा नहीं आती। पहले तृष्णा मोह ममताको कम करके रागकी दिशाकी ओर-से करवट वदल लेना चाहिये। तीव्र क्रोधादि कषायको मन्द करके, सच्चे देव-शास्त्र-गुरुकी पहिचान करके, उनके प्रति वहुमान करके, रुचि पूर्वक श्रवण मननके द्वारा अंतरंगमें स्वाधीन परमार्थका विचार करना चाहिये। जो पहले शुभभाव नहीं करता उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता, किन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि शुभभाव सम्यग्दर्शन-का कारण है।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्र और नवतत्त्वोंकी पहिचान करके तथा उस ओर शुभभावको लगाकर रागको सूक्ष्म करके अन्तरंगके आँगनमें आये विना सम्यग्दर्शन नहीं होता। किन्तु शुभभाव-चित्तशुद्धिसे भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। सम्यग्दर्शन होनेसे पूर्व शुभ व्यवहार आता तो है किन्तु यदि श्रद्धामें उसका अभाव करे तो ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है और जव सम्यग्दर्शन प्रगट होता है तव शुभको उपचारसे निमित्त कहा जाता है।

अज्ञानी स्वामित्व रखकर परका कर्ता होता है और ज्ञानी 'मैं परका कुछ नहीं कर सकता' इसप्रकार साक्षीभावसे मात्र ज्ञाता रहता है। सम्यग्दर्शन होनेके बाद ज्ञानी जब निम्न भूमिकामें अधिक कालतक स्वरूपमें स्थिर नहीं रह सकता तब विकल्पदशामें अशुभसे बचनेके लिये तत्त्वके विचार श्रवण मनन इत्यादिमें और संसारके विकल्पमें भी कभी युक्त होता है तथापि यह कभी नहीं मानता कि मैं इस शुभाशुभ प्रवृत्तिका कर्ता हूँ, इससे मुझे लाभ होगा।

जिसे अंतरंगसे तत्त्वको समझनेके प्रति उत्साह नहीं है वह अपनेको शक्तिहीन मानकर कहा करता है कि 'मैं इस तत्त्वको नहीं समझ सकता' किन्तु सर्वज्ञ भगवानने अपने साक्षात् केवलज्ञानमें समस्त जीवोंको सिद्ध समान देखकर स्पष्ट कहा है कि 'तू भी मेरे ही समान सिद्ध है;' इसलिये इन भावोंको हटा दे कि मैं इस तत्त्वको नहीं समझ सकता।

"सर्व जीव हैं सिद्धसम जो समझे सो होय"

अनादिकालीन अज्ञानको दूर करके एक समयमें सबको जान लेनेकी शक्ति प्रत्येक जीवमें प्रतिसमय विद्यमान है, किन्तु उसे प्रगट करनेके लिये पहलेका धारण किया हुआ विपरीत आग्रह छोड़ देना चाहिये।

जैसे नारियल (श्रीफल) में जटा होती है, बक्कल होता है और भीतर ऊपरकी लाल रंगकी पतली छाल होती है किन्तु यह सब उस मीठे सफेद गोलेसे भिन्न है यथार्थमें तो भीतरका वह सफेद गोला ही खोपरा है, इसीप्रकार स्थूल शरीररूपी जटा, तैजसरूपी छाल और कर्मरूपी बक्कल आत्माके नहीं हैं। और वर्तमान राग-द्वेषरूपी ललाई भी दूसरेकी ओरकी है वह आत्माकी नहीं है; भगवान आत्मा तो ज्ञानानंद अनंतगुणका रसकंद है। त्रैकालिक एकरूप, अखण्ड, ज्ञान-शक्तिसे पूर्ण है; इसप्रकारकी श्रद्धा जबतक न करे तबतक धर्मका अंश भी नहीं होता। जबतक नारियलमें गीलापन है तबतक भीतरका गोला उससे पृथक् नहीं होता और तबतक गोलेकी ओरकी चिकास

को गौणरूपसे लक्ष्यमें रखना पड़ता है। इसीप्रकार शुद्ध द्रव्यदृष्टिमें पूर्ण कृतकृत्य परमात्मा हूँ-ऐसा अखण्ड तत्त्वका विषय श्रद्धामें लिया, तथापि उसके साथ ही सम्पूर्णतया राग-द्वेष दूर नहीं होता क्योंकि चारित्रकी अपेक्षासे कचास मौजूद है, इसलिये स्थिर नहीं हो सकता। वहाँ शुभभावका अवलम्बन करना होता है इसलिये उसे असद्भूत व्यवहार कहा जाता है। वह व्यवहार राग है और इसलिये वीतरागता नहीं होती।

सम्यग्ज्ञान होते ही जीव पूर्ण निर्मल नहीं हो जाता; बीचमें विकल्प आते हैं इसलिये पूर्ण निर्मलताको प्रगट करनेकी भावना करना, स्थिरताकी वृद्धि करना, इत्यादि जो व्यवहार-साधकभाव है वह पूर्ण होनेसे पहले न रहे ऐसा नहीं होता।

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥ १२ ॥

अर्थः—जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं उन्हें शुद्ध आत्माका उपदेश देनेवाले शुद्ध-नयको जानना चाहिये। और जो जीव अपरमभावसे अर्थात् श्रद्धा तथा ज्ञान-चारित्रके पूर्णभाव को नहीं पा सके, जो कि साधक अवस्था-में ही स्थिर हैं वे व्यवहारके द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

जो शुद्धनय तक पहुँचकर पूर्ण श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप हो गये हैं उनके लिये शुद्धनय ही प्रयोजनभूत है क्योंकि उनके पूर्ण होनेका विकल्प नहीं रह गया है, किन्तु जिसने पूर्ण निर्मलकी श्रद्धा की है और जो साधकदशारूप मध्यमभावका अनुभव करता है उसे रागको दूर करके क्रमशः आंशिक स्थिरताको बढ़ानेका व्यवहार प्रयोजनभूत है।

पुण्य शुभभाव है और पाप अशुभभाव है, किन्तु वे दोनों (शुभ-अशुभ) अशुद्धभाव हैं। उनसे रहित निर्मल, शुद्ध, अखण्डानंद-

की श्रद्धा करके पूर्ण ध्रुवस्वभावका विषय (लक्ष्य) जिनने किया है, किन्तु जो पूर्ण चारित्रदशाको प्राप्त नहीं हुए, मध्यमदशा (चौथेसे छट्ठे गुणस्थान तक) में वर्तमान हैं वे जब स्वरूपमें स्थिर नहीं हो सकते तब उनके शुभ भावरूप व्यवहार होता है; किन्तु उस शुभभावके अवलम्बनसे गुण प्रस्फुटित नहीं होता। परमार्थकी रुचिसे ही आगे बढ़ा जा सकेगा—ऐसी मान्यतासे गुण प्रस्फुटित होता है। मन-वाणी-देह तथा पुण्यके शुभभावकी अपेक्षासे रहित सम्यक्दर्शन होनेसे पूर्वकी यह बात है। सम्यक्दर्शन होनेसे पहले भी ऐसा अभिप्राय होना चाहिये।

तत्त्वकी यथार्थ प्रतीति होने पर अन्तरंगमें जो आंशिक स्थिरता प्रगट होती है उसे श्रावककी पाँचवीं भूमिका कहते हैं। शुद्ध-दृष्टिके बलसे तीन कषायोंकी चौकड़ीका अभाव करके अन्तरंगमें चारित्रकी विशेष स्थिरता प्रगट करने वाली मुनि दशा छट्ठे गुणस्थान में होती है; और उसमें विशेष स्थिरता, एकाग्रता, निर्विकल्प ध्यानदशा सातवें (अप्रमत्त) गुणस्थानमें मुनिके होती है। उससमय बुद्धि पूर्वक विकल्प नहीं होता, 'मैं अनुभव करता हूँ, आनन्द लेता हूँ' ऐसा विकल्प नहीं होता; वह तो अन्तरंगमें अखण्ड आनन्दस्वरूपका अनुभव करते हैं। वे जब सविकल्प दशामें होते हैं तब (छट्ठे गुणस्थानमें) तत्त्वका मनन, शिष्यको उपदेश देना, शास्त्रोंकी रचना करना इत्यादि शुभ व्यवहार तथा आहारादि सम्बन्धी विकल्प बीचमें आ जाते हैं।

जो पूर्ण वीतरागी हो चुके हैं उनके व्यवहार नहीं होता, विकल्प नहीं होता, किन्तु छद्मस्थको पूर्ण निर्मल दशाके लिये ध्यान करते हुए जब वह सीधा एकाग्र नहीं रह सकता तब शुभभावरूप व्यवहार आजाता है। जैसे किसी मंजिल पर जानेके लिये जब कुछ सीढ़ियां चढ़ लेते हैं तब मंजिल दिखाई देती है और मंजिलमें क्या-क्या है वह सब देखने पर उसका यथार्थ ज्ञान होता है। किन्तु मंजिल पर पहुँचे बिना वहाँकी वस्तुओंका साक्षात् पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता, इसलिये मंजिल पर जाते हुए बीचकी सीढ़ीयोंको छोड़नेके

लिये ही ग्रहण किया जाता है । इसीप्रकार चौथे गुणस्थानमें पहुँचने पर आत्माकी ज्ञान दर्शन सुख समृद्धिकी यथार्थ श्रद्धा और ज्ञान होता है और पूर्ण स्वभावके लक्षसे आंशिक अनुभव होता है; किन्तु पूर्ण साध्यदशा तक पहुँचनेका व्यवहार शेष रह जाता है। चौथे गुणस्थान-में पूर्ण अखण्ड साध्य वस्तुकी सीधी और सच्ची दृष्टि तो होजाती है किन्तु अभी वह प्रगटरूपसे पूर्णसाध्य दशाको नहीं पहुँच सका, इस-लिये वहाँ वीचमें अस्थिरताके भेदोंको उलंघनेके लिये शुभ व्यवहार-का अवलंबन आये विना नहीं रहता। किन्तु वे सव भेद (मलिनताके भाव और निर्मलताके अंश) छोड़ने योग्य हैं । इस प्रकार पहलेसे ही जान लिया था इसलिये ऐसा होते समय भी यथावत् जानता है । दृष्टि अखण्ड निश्चय पर है, उसमें वीचमें साधक भावके और विकारके जो भेद होते हैं वह भेदरूप व्यवहार अभेदका कारण नहीं है। स्थिरता-रूप चारित्रकी निर्मल अभेद दशा उस भेदसे (व्यवहारसे) प्रगट नहीं होती, किन्तु अखण्डके वलसे निर्मलता वढ़ती है । अनन्त आनंद-का रसपिंड भगवान आत्मा है, इसकी यथार्थ श्रद्धा करके, विकल्पसे छूटकर जव अन्तरंगमें स्थिर होता है तव पूर्णका लक्ष होते ही पूर्ण-की जातिके आंशिक आनन्दका अनुभव होता है ।

सिद्ध भगवानको जैसा अतीन्द्रिय पूर्ण आनन्द होता है उसी प्रकारके आनन्दका अंश चतुर्थ गुणस्थानमें सम्यकदर्शनके होते समय ही होता है । उसके वाद भी किसी-किसी समय चौथे-पाँचवें गुणस्थानमें अनुभव करते हुये-अभेद एकाकार होते हुए वैसा आंशिक आनन्द आता है ।

जैसे किसीको उत्तराधिकारमें कोई मकान मिला हो और वह उसका मालिक हो गया हो तव उसे उस मकानका स्वयं उपयोग करनेके लिये वहाँका मात्र कूड़ा-कचरा ही साफ कराना शेष रह जाता है, इसी प्रकार सम्यक्दृष्टि जीवको पूर्ण अखण्ड-निर्मल केवलज्ञानका उत्तराधिकार प्राप्त हुआ है, त्रैकालिक ध्रुव अखंड ज्ञानका स्वामी हुआ है अर्थात् उसने श्रद्धामें इसका निश्चय कर लिया है कि मैं निरावलंबी

निर्मल परिपूर्ण हूँ; किन्तु जबतक वह उसके अनुसार स्थिर नहीं हो जाता तबतक उसे क्रमशः मलिनता (राग-द्वेषरूपी कूड़ा-कचरा) को दूर करनेके लिए अखण्डदृष्टिके बलसे स्थिरता करनी शेष रह जाती है। उसमें जो निर्मलताके अंश बढ़ते हैं वे सब तथा जो बीचमें शुभ भाव आते हैं वह सब व्यवहार है। और समस्त ध्रुव स्वभावको अक्रियरूपसे पूर्णस्वरूपसे लक्षमें लेना सो निश्चय है।

टीका:—जो पुरुष अन्तिम तावसे निकले हुए शुद्ध स्वर्णके समान वस्तुके उत्कृष्ट भावका अनुभव करते हैं उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि अनेक तावोंकी परम्परामें पकाए जानेवाले अशुद्ध स्वर्णकी भाँति अपूर्व साधकभावकी आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध स्वर्णके श्रद्धालुको पहलेसे ही ध्यान होता है कि सोना ताँबारूप अथवा किसी अन्य पर-धातुरूप नहीं हुआ, वर्तमान अवस्थामें पर-धातुके आरोपसे अशुद्धत्व कहलाता है, उस समय भी सौटंची सोनेके शुद्ध स्वभावकी उत्कृष्टता पर लक्ष रखकर मलिनताको दूर कर देता है। जब कि सोना सम्पूर्ण निर्मल-सौटंची हो जाता है तब फिर उसे भट्टीके पाकरूप व्यवहार-की आवश्यक्ता नहीं रहती, इसीप्रकार शुद्ध आत्माकी प्रतीति होनेसे पूर्व वर्तमान अपूर्ण अवस्थाके समय त्रैकालिक पूर्ण ध्रुव स्वभावकी श्रद्धा करके पूर्ण निर्मलता प्रगट करनेके लिये ध्यानरूपी अग्निके द्वारा अन्तरंगमें जो एकाग्र होना पड़ता है सो व्यवहार है। देहकी क्रिया-में, पुण्यमें, शुद्धके लक्षसे रहित मात्र शुभरागमें व्यवहार नहीं है, किन्तु अविकारी अखण्डकी श्रद्धाके बलसे विकल्प टूटकर अंतरंगमें शुद्ध स्थिरताके अंश बढते हैं, वह चारित्र सद्भूत व्यवहार है। श्रद्धाके निश्चय अभेद विषयमें सम्पूर्ण भेदोंका निषेध है।

निश्चय शुद्ध अखण्ड ज्ञायकस्वभाव अविकारी पूर्ण है, उसकी श्रद्धा करके उसमें स्थिर होकर जो पूर्ण वीतराग हो गये हैं वे उत्कृष्ट स्वर्णके अनुभवकी भाँति पूर्ण अभिन्न, रागरहित-वीतराग हैं, किन्तु जिन्हें पूर्णकी श्रद्धा तो है किन्तु चारित्र नहीं है उन्हें पूर्ण निर्मलदशा (जो अपनी निज वस्तुमें ही शक्तिरूपसे विद्यमान है) को प्रगट करने-

के लिये चारित्रकी स्थिरता करनेका व्यवहार ध्यान विचार मननरूप से रहता है।

जैसे शुद्ध स्वर्णके प्राप्त होनेपर सौटंचसे कमके सोनेकी चाह नहीं रहती, उसीप्रकार जिसे पूर्ण केवलज्ञानदशा प्राप्त हुई है उसे अपूर्ण निर्मल अंशोंके भेदकी आवश्यक्ता नहीं रहती।

पूर्ण अविचल एक स्वभावरूप एकभाव केवलज्ञानी वीतरागी-के प्रगट हो चुका है, उनने भी श्रद्धामें पहले ऐसे पूर्ण निर्मल स्वभाव-को लक्षमें लिया था, उनकी मान्यतामें पुण्य-पापके विकारका कर्तृत्व-आश्रियत्व नहीं था, पहलेसे ही व्यवहारका आदर नहीं था, पश्चात् पूर्णदशा प्राप्त होनेपर निमित्तरूपसे भी नहीं रहता; तथापि साधक-भावमें बीचमें व्यवहारका बलपूर्वक अवलम्बन आजाता है, जो कि आगे कहा जायेगा।

आत्मा निरपेक्ष निर्विकार ध्रुव वस्तु है, उसमें बन्ध-मोक्ष आदि अवस्थाभेद तथा दर्शन–ज्ञान–चारित्र आदि गुणभेदोंका ज्ञान-करके ऐसी श्रद्धा करनी चाहिये कि–त्रैकालिक ध्रुव पूर्णस्वरूप वर्तमान-में भी अखण्ड है, यह प्रारंभिक मुख्य धर्म है; पश्चात् पूर्ण स्थिरता करनेमें जितनी भूमिकाकी निर्मलता बढ़े उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है।

जो पुरुष पहले दूसरे तीसरे इत्यादि अनेक तावोंकी परंपरा-से पकनेवाले अशुद्ध स्वर्णके समान वस्तुकी अनुत्कृष्ट मध्यमभाग–साधक-भावकी स्थिरताका अनुभव करते हैं उन्हें अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान पूर्ण केवलज्ञानरूप उत्कृष्ट साध्यभावका अनुभव नहीं होता।

'रागको दूर करके स्थिरता करूँ' इसमें मनका संयोग और परकी अपेक्षा होती है, वह अशुद्ध अवस्था वर्तमानमें होती है। राग-का अमुक अंशमें दूर होना और अमुक अंशमें रहना तथा अंशतः स्थिरताकी वृद्धि होना सो व्यवहार है। भिन्न–भिन्न भूमिकाके अनुसार अनेक प्रकारसे और पूर्व अवस्थासे भिन्न-भिन्न भावरूपसे जिसने

भिन्न-भिन्न (उत्पाद-व्ययरूप) एक-एक भावस्वरूप अनेकभाव दिखाए हैं ऐसा व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाके समान होनेसे, जानने-में आया हुआ उसकालमें प्रयोजनवान* है।

इसप्रकार निश्चयनय और व्यवहारनयके विषयको यथावत् जानना प्रयोजनवान है। जैसे चौदहवें गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थान-में जितने प्रमाणमें मलिनता एवं निर्मलताके अंश हैं उन्हें उतने अंश-में जानना सो व्यवहार है, और पर-निमित्तके भेदसे रहित त्रैकालिक एकरूप अक्रिय आत्माको पूर्ण सामर्थ्यरूप अखण्ड जानना सो निश्चय-नय अथवा परमार्थ है। उसे शुद्धदृष्टिके द्वारा लक्षमें लेकर, भेदको गौण करके पूर्णरूप वस्तुको ध्रुवरूपसे श्रद्धाका अभेद विषय बनाना सो सम्यक्दर्शन है।

सम्यक्दर्शन श्रद्धागुणकी अवस्था है इसलिये वह भी व्यव-हार है। पुण्यके लक्षसे अंशतः स्थिर होनेके लिये जो राग दूर करनेके विकल्प उठते हैं-भेद होते हैं वह असद्भूत व्यवहार है। परवस्तु-में अथवा देहादिकी क्रियामें आत्माका किंचित्मात्र भी व्यवहार नहीं है। शुभरागको आदरणीय मानना सो अज्ञान है।

अपूर्व परमार्थकी श्रद्धा अत्यंत दुर्लभ वस्तु है, तथापि जो समझनेके लिये तैयार होता है उसे सुलभ है। परमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व-से रहित सर्वज्ञके न्यायानुसार यथार्थ तत्वको जानकर जब यथार्थ श्रद्धा करता है तब उसी समय अन्तरंगमें अपूर्व आनन्द आता है। 'मैं आत्मा हूँ, मैं अपूर्व आनन्दका वेत्ता हूँ,' ऐसा विकल्प भी जब बुद्धिमेंसे दूर हो जाता है तब आत्मानुभव सहित निश्चय सम्यक्दर्शन हो जाता है और तब अपूर्व आह्लादका अनुभव होता है। हे भाई! ऐसा वस्तु-स्वभाव अनन्तकालमें कभी नहीं जान पाया; जो जितना जाना वह

* प्रयोजन = प्र+योजन । प्र = विशेषरूप से, अवस्थाभेद । योजन = युक्त करना, जुड़ना। अखण्ड वस्तुके आश्रयसे जितने अवस्थाके भेद हों उनमें ज्ञानको जोड़ना सो प्रयोजन है। त्रैकालिक द्रव्यके साथ वर्तमान अवस्थाकी संधि करना सो प्रयोजन है।

सब परका ही जाना है। परसे कभी किसीको लाभ-अलाभ नहीं होता। पुण्य, दया, दानादिकी जो शुभभावना उत्पन्न होती है वह भी आत्माके लिये लाभकारक नहीं है, प्रत्युत उस भावको अपना माननेसे संसारमें परिभ्रमण करनेका लाभ मिलता है! इस तत्व-को एक-दो दिनमें नहीं समझा जा सकता। जिसे साम्प्रदायिक पक्षपात अथवा मोह है उसे तो यह बात सुननेमें भी कठिन मालूम होती है।

भगवान आत्मा अरूपी सदा ज्ञान-आनन्दका पिण्ड है। उसके गुण भी अरूपी हैं और पर्यायें भी अरूपी हैं। उसमें परवस्तुका ग्रहण या त्याग किसी भी प्रकारसे नहीं है। आत्मा त्रिकाल परसे भिन्न है, परका कर्ता नहीं है, जिसे यह ज्ञान नहीं है वह यह मानता है कि 'मैं परका कुछ कर सकता हूँ और पर मेरा कुछ कर सकता है' किन्तु ऐसा कभी होता नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु एक-दूसरेसे तीनकाल और तीनलोकमें भिन्न-भिन्न है। भिन्न वस्तु परका कुछ नहीं कर सकती। प्रत्येक आत्मा अपने भावमें अनुकूल या प्रतिकूल जान या मान सकता है इतना ही कर सकता है; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता।

आत्माने परको कुछ पकड़ नहीं रखा है कि जिससे उसे छोड़ना पड़े। मात्र उसने विपरीत मान्यता बना रखी है कि मैं पर-पदार्थको ग्रहण करता हूँ, छोड़ता हूँ, परसे मुझे लाभ होता है; और इसप्रकार राग-द्वेषका अज्ञानभावसे ग्रहण कर रखा है, इसलिये स्व-लक्ष करके सम्यक्ज्ञान भावसे उस अज्ञानभावको छोड़ना ही जीव-की क्रिया है। देहकी क्रिया आत्माके आधीन नहीं है, तथापि जो यह मानता है कि मैं देहकी क्रियाको कर सकता हूँ वह देह और आत्माको एक मानता है।

मैं परके कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित अखण्ड ज्ञान-आनन्दसे परिपूर्ण हूँ, परमाणु मात्र मेरा नहीं है, मनके संबन्धसे किंचित् मुक्त होकर जहाँ अन्तरंगमें स्थिर हुआ कि वहाँ मिथ्याश्रद्धा और मिथ्या-ज्ञानका यथार्थ त्याग (व्यय) और निर्मल सम्यक्दर्शन-ज्ञानका

उत्पाद होता है। उस (सम्यकदर्शन) के विना व्रत, तप, चारित्र आदि सच्चे नहीं होते। संसारके माने हुए व्रत, तप, इत्यादि संसारके खातेमें ही जाते हैं। मन वाणी देहकी क्रियासे पुण्य-पाप अथवा धर्म नहीं होता। यदि स्वयं विवेक पूर्वक तृष्णा और रागको कम करे, कषायको सूक्ष्म करे तो पुण्यवन्ध होता है, धर्म नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि हम शुभको छोड़कर अशुभमें प्रवृत्त होनेको कह रहे हैं।

आत्मा अरूपी सूक्ष्म है। उसका सम्पूर्ण विषय अंतरंगमें है। उसका कोई भी कार्य वाह्य प्रवृत्तिके आधीन नहीं है। शुभभाव भी विकार है, उससे अविकारी गुण प्रगट नहीं हो सकता। ऐसा ही स्वरूप त्रिकालमें होने पर भी अज्ञानी उसके द्वारा मानी हुई अनादि-कालीन विपरीत मान्यताके आग्रहको नहीं छोड़ता और स्वभावकी वातको सुनने या उसका विचार करनेमें उसे भारी घवराहट मालूम होती है। किन्तु जिसे वास्तविक सुख-शान्तिकी चाह है उसे तो अपनी समस्त वाह्य मान्यताओंका त्याग करना ही होगा। ज्ञानीकी दृष्टिसे देखा जाय तो तीनोंकाल सम्वन्धी विपरीत मान्यताका सम्यग्दृष्टिमें त्याग हो ही जाता है।

सम्यग्दर्शनका विषय परमार्थ है किन्तु सम्यक्दर्शन अर्थात् श्रद्धा-गुणकी निर्मल अवस्था व्यवहार है। पूर्ण अखण्डको लक्षमें लेना सो परमार्थरूप निश्चय है। स्थिरताके जो भेद होते हैं उन्हें जानना सो व्यवहार है, दूसरा व्यवहार नहीं है। लोग यह मानते हैं कि पर-वस्तु और शरीर इत्यादिकी क्रिया एवं पुण्य इत्यादि व्यवहार है, और उससे निश्चय प्रगट होता है, किन्तु यह सारी मान्यता अज्ञान है। अन्तरंगमें जो शुभभावकी वृत्ति उत्पन्न होती है वह स्वभावमें सहायक नहीं है, इतना ही नहीं किन्तु जो निर्मल पर्यायके भेद होते हैं उसकी सहायतासे भी मोक्षमार्ग प्राप्त नहीं होता। मात्र अखण्ड द्रव्यके आश्रयसे मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। यह वात जीवने कभी नहीं सुनी इसलिये उसे यह नई मालूम होती है और कठिन मालूम

होती है। किन्तु परावलम्बनसे गुण होता है-लाभ होता है, शुभरागके व्यवहारसे निश्चयधर्म होता है, इस प्रकार माननेवाले निज गुणका घात करते हैं। जो यह मानते हैं कि अमुक वस्तुका त्याग करनेसे निज गुणका प्रकाश होगा उन्हें अपने आन्तरिक पूर्ण गुणकी शक्तिका विश्वास नहीं है। तीन लोक और तीन कालमें भी व्यवहारसे परमार्थ प्रगट नहीं हो सकता।

परमार्थ-श्रद्धा होनेके बाद गुणकी निर्मलताकी वृद्धिके अनुसार जिस गुणस्थानमें जैसी स्थिति होती है वहाँ वैसा ही व्यवहार आ जाता है। जबतक पूर्ण केवलज्ञान नहीं होता तबतक जो स्थिरता करनी शेष रहती है वह भी व्यवहार है। अभेदकी दृष्टि सहित गुणकी निर्मलताके जो भेद होते हैं वह व्यवहार है। देहकी क्रियामें, पुण्यमें अथवा बाहर अन्यत्र कहीं व्यवहार नहीं है। बाह्य-मान्यताका आग्रह समझकर छोड़े विना परमार्थरूप अन्तरंग तत्त्वकी अपूर्व बात जगतको नहीं रुचती, किन्तु इसे समझे विना धर्म नहीं होता, वीतरागका धर्म तो यही है। वीतराग अपनी कोई संकुचित हद नहीं बाँधते; वीतरागको किसीका पक्ष नहीं होता। सर्वज्ञ वीतराग कहते हैं कि व्यवहारनय परकी अपेक्षासे होने वाले भेदको ग्रहण करता है इसलिये उस भेदके द्वारा गुणकी निर्मलता नहीं होती। पर-निमित्तके भेदसे रहित परिपूर्ण, निर्मल, अखण्ड ध्रुवस्वभावको जानना सो निश्चय है, और यह समझना कि चौदह गुणस्थान तकके जितने भेद होते हैं वे परमार्थरूप नहीं हैं, सो व्यवहार है।

व्यवहारका यह अर्थ नहीं है कि 'अमुक प्रवृत्ति करना सो व्यवहार है', किन्तु 'पर्यायके भेदको यथार्थ जान लेना' सो व्यवहारनय* है। जो निर्मलता बढ़ती है सो ज्ञानका विषय है। उस खण्ड-खण्डरूप अवस्थाके भेदको देखनेसे छद्मस्थके विकल्प हुए विना

---

* नय = यथार्थतया जाने हुये पदार्थमेंसे एक पहलूको मुख्य और दूसरे पहलूको गौण करके जानने वाला ज्ञान। भेद-पराश्रय, उपचार सो व्यवहार है।

नहीं रहते। ऐसा व्यवहार छद्मस्थके वीचमें आता तो है किन्तु ज्ञानी उसे आदरणीय नहीं मानते।

शुद्ध पारिणामिक भाव कहो, अखण्ड ज्ञायक वस्तु कहो, अथवा परमार्थ स्वभाव कहो, वह सव एक ही है। उस अखण्डकी निर्मल श्रद्धा और निर्मल दशा अखण्ड परमार्थके वलसे प्रगट होती है। भेदके लक्षसे, विकल्पसे, शुभभावसे अथवा किसी भी प्रकारके व्यवहार से निश्चयदृष्टि (परमार्थस्वभाव) प्रगट नहीं होती।

यदि कोई कहे कि—प्रथम भूमिका तो तैयार करनी ही चाहिये? किन्तु इस प्रश्नकी आवश्यक्ता ही नहीं है। लोक-व्यवहारमें भी भले घरके लोग कहते हैं कि स्वप्नमें भी कुशीलका सेवन नहीं करना चाहिये। अनीति, असत्य, परस्त्री-गमन, चोरी इत्यादि हमारे कुल में नहीं हो सकते। इसप्रकार जिसके लौकिक सज्जनताकी महिमा होती है उसके भी अमुक तुच्छ वृत्तियोंका विकार सहज ही छूट जाता है। धर्मात्मा जीव तो लोकोत्तर उच्च-परिवारका है, लोकोत्तर परमार्थमें सर्वोत्कृष्ट सिद्ध परमात्माकी जातिका ही है। मैं उन्हीं जैसा हूँ ऐसी श्रद्धामें उत्कृष्ट स्वभावकी महिमा होने पर अमुक राग-द्वेषके भाव सहज ही छूट जाते हैं।

मेरा स्वभाव, मेरी आत्मजाति पूर्ण उत्कृष्ट स्वभावको प्राप्त परमात्मा जैसी है। मैं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवल इत्यादि अनन्तगुणोंका पिंड हूँ। उस शक्तिके वलसे भ्रांतिका नाश और कुछ राग-द्वेपका सहज ही ह्रास होजाता है।

पर-लक्षसे चाहे जितना करे तो उससे राग-द्वेप मंद हो सकते हैं, किन्तु आत्मप्रतीतिके विना सर्वथा अभाव नहीं हो सकता। अनन्तकाल व्यतीत हो गया उसमें वहुत कठिन साधन अनन्तवार किये किन्तु परमार्थको नहीं समझ पाया। अंधकारको मिटानेके लिये झाडू या सूप इत्यादिकी आवश्यक्ता नहीं होती किन्तु प्रकाश ही आवश्यक होता है। उसीप्रकार अज्ञानरूपी अंधकारको दूर करनेके लिये सम्यक्‌ज्ञानका प्रकाश आवश्यक होता है।

शंका:—शुभभावसे आगे क्यों नहीं बढ़ा जा सकता ?

समाधानः—अनंतबार शुभभाव किये तथापि अंशमात्र भी धर्म नहीं हुआ। जैसे वृक्षकी जड़को सुरक्षित रखकर उसके पत्ते तोड़ लिये जायें तो वे अल्पकालमें पुनः पीक उठते हैं–उग आते हैं; उसी प्रकार अज्ञानरूपी जड़को सुरक्षित रखकर यह माने कि मैंने राग-द्वेषको कम कर लिया है तो उससे कोई लाभ नहीं है, परमार्थसे राग-द्वेष कम नहीं हुआ है क्योंकि वह पुनः अंकुरित हो जाता है और बढने लगता है।

अखण्ड दृष्टिकी ही सच्ची महिमा है, जहाँ न विकार है और न भेद है। त्रैकालिक ध्रुव अखण्ड स्वभावको लक्षमें लेने पर मोक्ष-पर्याय भी उसके अन्तर्गत हो जाती है, इसलिये बन्ध–मोक्षके भेद भी श्रद्धाके अखण्ड विषयमें नहीं हैं, व्यवहारमें ही बन्ध–मोक्ष है। यदि ऐसा न हो तो बन्धको दूर करके मुक्त होनेका उपदेश ही वृथा सिद्ध होगा। दृष्टिके शुद्ध होनें पर दृष्टिके अखण्ड लक्षके बलसे रागको दूर करके स्थिरता होती ही रहती हैं।

इसप्रकार तीर्थ और तीर्थफलकी व्यवस्था है। मोक्षका उपाय (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप अपूर्णपर्याय) तीर्थ और पूर्ण निर्मल अवस्थाकी प्राप्ति तीर्थफल है। परमार्थरूप निश्चय वस्तुमें मोक्षका मार्ग और मोक्ष ऐसे जो दो भंग होते हैं सो व्यवहार है, और अखण्ड वस्तुस्वरूपको लक्षमें लेना सो निश्चय है।

सर्वज्ञ भगवानने एक वस्तुमें व्यवहार और निश्चय दोनों कहे हैं। चनेको भूनने पर कचासका नाश और स्वादका उत्पन्न होता है, और दोनों अवस्थामें चनेका ध्रौव्यत्व बना रहता है, इसीप्रकार आत्मामें भूलरूपी कचास और दुःखरूपी कषायलापन अज्ञानभावसे–अवस्थादृष्टिसे होता है। किन्तु जिसे वह भूल और दुःख मिटाना है उसे भूल और विकारसे रहित आत्माके ध्रुव स्वभावकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होना चाहिये। इससे अपूर्ण अवस्थाका क्रमशः

नाश और पूर्ण निर्मल अवस्थाकी उत्पत्ति[1] होती है, और उन दोनों अवस्थाओंमें आत्मा एकरूप-ध्रुवरूपसे स्थिर रहता है। अज्ञान[2] और दु:खकी अवस्थाके समय भी आत्मामें पूर्णज्ञान–आनन्दस्वभाव भरा हुआ है। उस स्वभावमें अज्ञान और दु:खको नाश करनेकी शक्ति प्रतिक्षण विद्यमान है। उस निरपेक्ष अखण्ड निर्मल स्वभावमें अभेद-दृष्टिका बल होने पर विकारी अवस्थाका नाश और अनुपम आनन्द-की उत्पत्ति हो सकती है। वर्तमान अवस्थाके समय भी त्रैकालिक पूर्ण शक्ति ध्रुवरूपसे भरी हुई है। उसमें दु:ख या भूल नहीं है। भूल और विकाररूप अवस्था तो वर्तमान एक–एक समयमात्रकी (प्रवाहरूपसे–अनादिकी) है। नित्य अखण्ड शुद्धस्वभावके लक्षसे उस भूल और विकारका नाश हो सकता है।

भेदको जाननेवाला व्यवहार है। परमार्थमें वह भेद ग्राह्य नहीं है। व्यवहारसे परमार्थ नहीं पकड़ा जाता। एकरूप अभेद परमार्थका निश्चय करने पर उसके बलसे जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है वही पुरुषार्थरूप व्यवहार है। बाह्यमें कहीं भी व्यवहार नहीं है। जगतको यह रुचे या न रुचे किन्तु तीनलोक और तीनकालमें यह बात अपरिवर्तनीय है। अहो ! यह अपूर्व बात जिसकी समझमें आजाती है उसका तो कहना ही क्या है। किन्तु जिसे यह बात प्रेमसे सुननेको मिलती है उसका भी अहोभाग्य है। जो हीरा सान पर चढ़ता है उसका मूल्य तो अधिक होता है, किन्तु उसकी जो रज खिरती है उसका भी पर्याप्त मूल्य आता है। वीतरागके मार्गमें मात्र परमतत्वके ही गीत गाये हैं। कोई यथार्थको न समझे किन्तु सुननेमें उत्साह रखे तो भी ऐसा उत्तम पुण्यबंध हो जाता है कि जिससे भविष्यमें ऐसा उत्तम तत्त्व सुननेका योग पुनः प्राप्त होता है। यदि वर्तमानमें ही

---

१ मोक्ष = आत्माकी अंतिमसे अंतिम पूर्ण निर्मल अवस्था अथवा विकारसे सर्वथा मुक्त होने पर कर्म-बन्धनसे छूट जाना।

२ अज्ञान = अपने वास्तविक स्वभावको न जाननेवाला मिथ्याज्ञान।

३ दु:ख = अपने सुखगुणकी विपरीत अवस्थारूप विकार।

पुण्यका निषेध करके अपूर्व पुरुषार्थके द्वारा स्वरूपको समझे तो अपूर्व गुण (धर्म) का लाभ होता है। पुण्यका आदर करना अविकारी आत्माका अनादर करना है। अनंत गुणका पिण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा जब अपने गुणसे विपरीत चलता है तब पुण्यादि होता है। पुण्य तो गुणकी जलन है। हे प्रभु! पुण्य-पापसे तेरे गुणोंकी हत्या होती है।

आत्मा अविकारी अखण्ड है। पुण्य-पाप विकारमें युक्त होनेसे बंधन होता है, उसे ठीक मानना वह ऐसा है कि जैसे अपने पैरको कटवाकर कोई हर्ष मानता है। आत्माके गुण जलकर राख हो जाते हैं तब पुण्य होता है। जो क्षणभरमें उड़ जाता है ऐसे पुण्यमें क्या मिठास है! तू तो अपने आनन्दरससे परिपूर्ण प्रभु है; तुझे उसकी महिमाकी प्रतीति क्यों नहीं होती?

माता पुत्रको 'सयाना बेटा' कहकर सुलाती है, तब उससे विपरीत रीतिसे ज्ञानीजन स्वरूपकी अचिंत्य महिमा दिखाकर तुझे अनादिकालीन अज्ञानरूपी नींदमेंसे जगाते हैं। पुण्य-पाप-विकार तेरा स्वरूप नहीं है, किन्तु वर्तमान अवस्थामात्रका विकार है, उसका तथा निर्मल अवस्थाके भेदका लक्ष गौण करके त्रिकाल एकरूप ज्ञायकको लक्षमें ले तो परमार्थ और व्यवहार दोनोंका ज्ञान—सम्यक्ज्ञान होता है; किन्तु वस्तुको यथार्थतया परिपूर्ण नहीं जानता। यदि यथावत् वर्तमान अवस्थाको न जाने तो पुरुषार्थ करके राग-द्वेषका नाश और गुणकी निर्मलताका उत्पाद नहीं हो सकता।

जैसे सोनेको शुद्ध जाननेके बाद ही आँच दी जाती है, इसीप्रकार पहले सर्वज्ञ वीतरागने जैसा स्वरूप कहा है वैसा ही सर्वज्ञके न्याय, युक्ति, प्रमाणसे और सत्समागमसे जाने; पश्चात् त्रैकालिक अभेद एकाकार ज्ञायकरूपसे अंगीकार करे; श्रद्धाके अभेद विषयमें अनुभव करनेके बाद यथार्थ वस्तुमें निःसंदेहता आती है कि मैं त्रिकालमें ऐसा ही हूँ, स्वतंत्र हूँ, पूर्ण हूँ, उसमें अवस्थाके भेद गौण हो जाते हैं। वह यह जानता है कि एकरूप ध्रुव वस्तुके विषयमें अनेक भेद आदरणीय नहीं हैं; किसी समय उसे जानना (व्यवहारनय)

प्रयोजनवान है तथापि साधकको सम्पूर्ण काल (परमार्थ)से अखंड ध्रुवस्वभाव लक्षमें लेना ही मुख्य है।

प्रश्नः—आत्माको जाननेके वाद राग-द्वेष कैसे दूर होता है ?

उत्तरः—मैं पूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ—ऐसे पवित्र स्वभावकी प्रतीतिसे-के बलसे पूर्णकी ओरका झुकाव बढ़ता है, और उससे राग-द्वेपका नाश हुए विना नहीं रहता। लोग यह मानते हैं कि बाहरकी कोई प्रवृत्ति करने पर गुण (लाभ) होता है; ऐसा मानने वाले अपनेमें विद्यमान अनन्तशक्तिसे युक्त अनन्त गुणोंको नहीं मानते। मैं अनन्त गुणोंका पिंड हूँ, परसे तथा विकारसे भिन्न हूँ—ऐसी प्रतीति करे और अन्तरंगमें यथार्थ निर्णय करे कि मैं अनादि अनन्त स्वतंत्र हूँ, ज्ञानानन्दसे परिपूर्ण हूँ, जो क्षणिक विकार दिखाई देता है वह मैं नहीं हूँ, इसप्रकार अखण्ड गुणकी दृढ़ श्रद्धाके बलसे विकार दूर होता है।

विकारकी अवस्था और आंशिक विकारके दूर हो जाने पर जो आंशिक निर्मल अवस्था होती है वह भी अभेददृष्टिमें ग्राह्य नहीं है, मात्र व्यवहारसे ज्ञातव्य है। उस पर्यायके भेद पर लक्ष करके रुकना नहीं चाहिये। मैं अखंड ज्ञायक हूँ, इसप्रकार अभेद श्रद्धाका विषय ही मुख्य है। उसका ज्ञान करके, रागको दूर करके निर्मल गुणमें स्थिरता करना सो चारित्र है। यह तीनों निर्मल गुणकी अवस्थाएें हैं। सम्यक्‌श्रद्धा-ज्ञान-चारित्रको भगवानने व्यवहार कहा है, क्योंकि ज्ञायक वस्तु अनंतगुणोंका एकरूप पिंड है। उसमें अशुद्धताका नाश और शुद्धता (शुद्ध अवस्था)का उत्पाद अथवा दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन भेद करना सो व्यवहार है। आत्माका व्यवहार परमें नहीं है।

एकरूप स्वभावको न मानकर; पुण्य-पाप विकार मेरा कर्तव्य है, मैं परका कर्ता हूँ, पर मुझे हानि-लाभ करता है, इत्यादि मान्यताके साथ राग-द्वेपरूपमें अनेक विकारोंमें परिवर्तन होता है, यही संसार* है। स्त्री, धन, पुत्र, शरीर इत्यादि परमें आत्माका

* "संसार = संसरणं इति संसारः" अर्थात् एकरूप न रहकर भिन्न-भिन्न प्रकारसे परिभ्रमण करना अथवा सम्यक्‌स्वभावसे हट जाना।

संसार नहीं होता, किन्तु उनमें अपनेपनकी जो बुद्धि है सो संसार है। संसार आत्माकी विकारी अवस्था है, और मोक्ष आत्माकी पूर्ण निर्मल अवस्था है। जो संसार-मोक्ष आदि तीनोंकालकी सम्पूर्ण अवस्थाओं-का अभेद पिंड है, वही अनन्त गुणोंका पिंड आत्मा है। उसके अभेद लक्षसे सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है। उस परमार्थ स्वरूपमें जो अभेद निश्चयरूप श्रद्धा है सो व्यवहार है। उस श्रद्धाके द्वारा अभेद स्वरूप-की ओर एकाकार दृष्टिका बल लगाने पर स्वसंवेदन बढ़ता है अर्थात् अन्तरंग अनुभवरूप आनन्दका भोग बढ़ता जाता है।

पुण्य-पाप रहित स्वावलम्वी निर्मल दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी अवस्थाका प्रगट होना सो व्यवहार है, तीर्थ है और अभेद स्वभावकी दृष्टिके बलसे अन्तर गुणकी निर्मलताके द्वारा पूर्ण निर्मल केवलज्ञानका प्रगट होना सो तीर्थका फल है। इसप्रकार पुण्य-पापके भावसे रहित मोक्षका मार्ग और मोक्ष दोनों व्यवहार हैं।

सम्यक्‌दर्शन भी अवस्था है क्योंकि वह श्रद्धा-गुणकी पर्याय है, इसलिये वह व्यवहार है। राग-द्वेष और संकल्प-विकल्पका वेदन करना मेरा स्वरूप नहीं है। मैं अखण्ड ज्ञायकरूपसे एकाकार ध्रुव हूँ, ऐसी अभेददृष्टिके बलसे अभेद स्वसंवेदनरूपसे जो निर्मल अवस्था प्रगट होती है वह व्यवहार है। यह कहना कि-सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन अवस्थाओंके द्वारा निर्मल मोक्ष अवस्था प्रगट हुई है, सो व्यवहार-कथन है, क्योंकि मोक्षमार्ग अर्थात् अपूर्ण पर्यायसे मोक्ष प्रगट नहीं होता किन्तु उसका अभाव होने पर मोक्ष प्रगट होता है। सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग कारण और मोक्ष उसका कार्य है—यह व्यवहार है। मोक्षका निश्चय कारण द्रव्य है। पूर्ण अखण्ड द्रव्यके बलसे मोक्षदशा प्रगट होती है वह अखण्ड सामर्थ्यरूप वस्तुकी ही महिमा है, उस अखण्डका लक्ष करना सो निश्चय—अभेद दृष्टि है। निश्चयका विषय निरपेक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु है।

ऐसी बात अनादिकालसे कहीं कभी सुनी न हो और अनादि-कालसे जिसे मानता आया है उससे भिन्न प्रकारके भाव उत्पन्न

हों तो उनका मेल कहाँ और कैसे बिठाया जाय ! जैसे दुकानमें हल्दी आदि विविध मसालोंके वहुतसे खाने भरे हों और हल्दीकी ही जातिके और मसाले आयें तो उसी खानेमें धर देते हैं किन्तु हल्दीसे भिन्न जातिका उच्चप्रकारका माल आता है तो उसे रखनेके लिये पुराने मसालेके खाने खाली करना पड़ते हैं; और इसके लिये दुकानदार जल्दी निर्णय कर लेता है; उसी प्रकार अपूर्व आत्मधर्मके लिये अनादिकालीन विपरीत मान्यताके खाने खाली करनेका पुरुषार्थ आवश्यक होता है। आत्मा अनादि-अनन्त है, न तो उसका प्रारम्भ है न अन्त है और वह त्रिकाल स्वतंत्ररूपसे बना रहेगा। उसे किसी भी कालमें, किसी भी क्षेत्रमें, अथवा किसी भावमें, पर-सत्ताके आधीन होना नहीं होता। संयोगको जानने वाला सदा असंयोगी ज्ञातास्वरूप है। उसे जाने विना जितना जो कुछ करता है वह सब वृथा है।

अनादिकालसे कभी यथार्थ वस्तुका विचार नहीं किया। 'मैं हूँ' तो मेरे स्वरूपको समझनेका, प्राप्त करनेका उपाय भी होना ही चाहिये-वह तो है ही। प्रत्येक आत्मामें पूर्ण स्वरूपको समझनेकी, सूक्ष्मसे सूक्ष्म वातको ग्रहण करनेकी और परमात्मदशा—सिद्धदशा प्रगट करनेकी शक्ति प्रतिसमय त्रिकाल विद्यमान है, तथापि विपरीत मान्यताकी जड़ें वहुत गहरे तक पहुँची हुई हैं इसलिये वह उसे नहीं मानता। अपने स्वरूपको समझना अपनेको ही कठिन मालूम हो-ऐसा नहीं हो सकता; किन्तु रुचि नहीं है और अनादिकालसे अपने स्वरूपका अनभ्यास वना हुआ है तथा परके प्रति प्रेम है इसलिये उसे कठिन मानता है।

जहाँ पूर्ण स्वरूप निश्चयका आश्रय हो वहाँ भेदरूप व्यवहार होता है। किन्तु यह वात तीनकाल और तीनलोकमें यथार्थ नहीं हो सकती कि व्यवहार करते-करते निश्चय प्राप्त हो जाता है। निश्चय-परमार्थकी श्रद्धासे पूर्व और श्रद्धाके पश्चात् शुभभावरूप व्यवहार होता तो है, किन्तु उससे निर्मलता प्रगट नहीं होती। मैं अनंत-

गुणका पिण्ड हूँ, निर्विकार आनन्दकन्द हूँ, इसप्रकार पूर्णका लक्ष करने पर, निर्मल अखण्डकी महिमाके होने पर सम्यक्‌दर्शन प्रगट होता है, और इस सम्यक्‌दर्शनके साथ प्रत्येक गुणकी आंशिक निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

परमार्थदृष्टिका विषय सम्पूर्ण वस्तु है यह ख्यालमें आये विना व्यवहार सच्चा नहीं होता। व्यवहारका विषय अवस्था है, वह सदा स्थिर रहने वाली नहीं है इसलिये ग्राह्य नहीं है। जहाँ जो जैसा हो वहाँ उसे वैसा जानना मात्र ही व्यवहारका प्रयोजन है। पूर्ण पर भार होनेसे अपूर्ण निर्मल पर्याय पूर्ण हो जाती है। जैसे सोनेकी डली-में उच्च एवं सूक्ष्म कलामय होजानेकी शक्ति है यह निश्चयपूर्वक जानने-के वाद यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि इसमें यह कला प्रगट होगी या नहीं; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव आत्माको यथार्थतया यह जान लेने पर कि मैं सर्वज्ञ भगवानके समान ही हूँ और उन जैसी ही संपूर्ण शक्ति मुझमें भी है, एवं वह पूर्ण दशा मुझसे ही प्रगट होगी-यह चिन्ता नहीं रहती कि शुद्ध स्वभाव कैसे प्रगट होगा। मैं त्रैकालिक अनन्तशक्ति-का पिंड हूँ, उसके वलसे निर्मल दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी अवस्था प्रगट होती है। उस अवस्थाको अखण्डके आश्रय पूर्वक जानना सो निश्चय-व्यवहारकी संधि है।

यह सव अन्तरंगके अरूपी धर्मकी वात है। इसे वही जानता है जिसने अन्तरंग मार्गके रहस्यको प्राप्त किया हो अथवा जो उसे प्राप्त करनेका प्रयास करता है; दूसरा कोई नहीं जान सकता।

आत्मा पर-निमित्तके भेदसे रहित, अनन्त गुणोंका पिण्ड, अनादि-अनन्त, एकरूप है। उसकी संसार-अवस्था (भूल और अशुद्धता) अनादि सांत है, मोक्ष-अवस्था सादि अनन्त है। इसप्रकार एक अखण्ड तत्वमें वन्ध-मोक्ष, मलिनता-निर्मलता इत्यादि दो-दो पहलुओंके भेद-रूप अवस्थाको देखने वाली दृष्टिको गौण करके, त्रैकालिक ध्रुव एकाकार पूर्ण वस्तुका निर्मल अभेद लक्ष करने पर उसके वलसे निर्मल सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग प्रगट होता है, और उस अखंड-

के वलसे क्रमशः वढ़ते-वढ़ते पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट होती है। वह दोनों व्यवहार हैं। मोक्षदशा प्रगट होनेसे पूर्व शुद्धदृष्टि पूर्वक अशुभसे वचनेके लिये शुभका अवलम्बन होता है, वह असद्भूत व्यवहार है। उन (व्यवहार और निश्चय) दोनों नयोंके ज्ञानकी आवश्यक्ता वतलाते हुए कहा है कि:—

"जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं॥"

अर्थः—भगवान कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यदि तुम जिन-मतको प्रवर्तित करना चाहते हो तो अखण्ड परमार्थदृष्टि और तदाश्रित अवस्थामें होने वाले भेदको जानने वाली व्यवहारदृष्टि (व्यवहार और निश्चय दोनों नयों)की अविरोधी संधिको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार-नयके विना तीर्थ-व्यवहारमार्गका नाश हो जायगा और निश्चयनय-के विना तत्त्व (वस्तु)का नाश हो जायगा।

कोई कहता है कि मुझे 'अच्छा' (कल्याण) करना है, तो उसका यह आशय हुआ कि जिसमें बुराईका अंश न आये किन्तु संपूर्ण अच्छा रहे, नित्य स्थिर रहे, उसके उपायमें किसी अन्यका आश्रय न लेना पड़े। जो ऐसा होता है वह यथार्थ हित-'अच्छा' कहलता है।

जिसे हित करना है वह अहितरूप वर्तमान अवस्थाको वदलना चाहता है और हितयुक्त अवस्थाको प्रगट करके उसमें स्थिर होना चाहता है। क्योंकि यदि अपनी अवस्था विकाररूप-अहितयुक्त न हो तो अहितपनसे रहित हितयुक्तता होनेकी अपेक्षा कहाँसे आयेगी? मैं मात्र हितका इच्छुक हूँ इसलिये जो हित है वह वना रहेगा और उस हितमें जो विरोधरूप अहितपन है उसे अलग कर दूँगा, इसप्रकार नित्यस्थायी और अवस्थाको वदलने वाली दो अपेक्षाएँ (निश्चय और व्यवहार इन दोनों नयोंकी दृष्टि) हो गईं। जिसे आत्माका निर्मल स्वभाव प्रगट करना है उसे यह दो नय (ज्ञानकी दो अपेक्षाएँ) जानना चाहिये।

कोई कहता है कि 'मुझे भूल और विकार दूर करना हैं।' जो दूर हो सकता है वह अपने स्वभावमें नहीं है और जिसका नाश करना चाहता है वह रखने योग्य त्रैकालिक स्वभावसे विरोधी है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नित्य एकरूप स्थायी है वह अच्छा है-ग्राह्य है, और विरोधभाव दूर करने योग्य है। इसप्रकार ध्रुवस्वभावके आश्रयसे अविरोधीभावका उत्पाद और विकरीभावका व्यय करना सो हित करनेका उपाय है।

वस्तुमें त्रिकाल सुख है, उसे भूलकर जो विकारके दुःखोंका अनुभव कर रहा था उसकी जगह अविकारी नित्य स्वभावके लक्षसे भूलको दूर करके भूल रहित स्वभावमें स्थिर रहनेका अनुभव करने पर प्रतिसमय अशुद्धताका नाश और निर्मलताकी उत्पत्ति होती है। इसलिये यदि वीतरागके मार्गको प्रवर्तित करना चाहते हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों अपेक्षाओंको लक्षमें रखना होगा।

जो उत्पाद-व्यय है सो व्यवहार है, और जो एकरूप ध्रुव वस्तु है सो निश्चय है-यह दोनों आत्मामें हैं। परद्रव्यमें, देहकी क्रियामें या पुण्यमें व्यवहार और आत्मामें निश्चय, इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुमें नहीं हैं।

अखण्ड ध्रुवस्वभावके अभेद विषयरूपसे यथार्थ श्रद्धा करने पर उसमें खोटी श्रद्धाका नाश, सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप निर्मल स्थिरताकी अंशतः उत्पत्ति और अखण्ड वस्तु ध्रुव। यथावत् अखंड और अखण्डको जानने वाले दो नय वीतराग स्वभावको प्रगट करनेके लिये जानना आवश्यक हैं। नित्य एकरूप वस्तुकी प्रतीति और आश्रयके विना वदलकर कहाँ रहा जायेगा? इसलिये यदि परमार्थरूप ध्रुव निश्चयको नहीं जाना जायगा तो वस्तुका नाश हो जायगा, और वस्तुका नाश माननेसे अवस्थाका भी नाश हो जायगा। और यदि वर्तमान अवस्थाको वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारनयका विषय पुरुषार्थरूप मोक्षमार्ग लोप हो जायगा। क्योंकि अखण्ड वस्तुका लक्ष वर्तमान पर्यायके द्वारा होता है और पर्यायका सुधार द्रव्यके लक्षसे होता है। पर्याय तो वर्तमान वर्तनरूप अवस्था है, उसे

वह जैसी है वैसा न जाने तो व्यवहारधर्म–मोक्षमार्गका लोप हो जायगा ।

आत्मा अनादि–अनन्त वस्तु है, परसे भिन्न और अपने अनंत गुण एवं त्रिकालकी अवस्थासे अभिन्न है, जिसमें प्रतिक्षण अवस्था वदलती रहती है। यदि अवस्था न वदले तो दुःखरूप अवस्थाको दूर करके सुख नहीं हो सकता । सभी जीव आनन्द–सुख चाहते हैं किन्तु उन्हें यह खबर नहीं है कि वह कहाँ है और उसे प्राप्त करनेका क्या उपाय है। सुख और सुखका उपाय अपनेमें ही है किन्तु उसकी सच्ची श्रद्धा नहीं है । परमें कल्पनासे सुख मान रखा है किन्तु वास्तवमें परके आश्रयसे सुख नहीं हो सकता। सवको चिरस्थायी सुख चाहिये है, किसीको दुःख अथवा अपूर्ण सुख नहीं चाहिये । अनन्तकालसे सुखके लिये सभी प्रयत्न करते हैं इसलिये यह स्वतःसिद्ध है कि लोग कहीं सुखके अस्तित्वको स्वीकार तो करते ही हैं, और उसे प्राप्त करनेका उपाय भी अपनी कल्पनाके अनुसार करते हैं । दूसरेको मारकर, परेशान करके, अपमानके प्रसंगमें उसकी हत्या करके भी आई हुई प्रतिकूलताका नाश करना चाहते हैं । अज्ञानी जीव पहले मरणको महात्रासदायक मानता था किन्तु कोई अनादर अथवा वाह्य प्रतिकूलताका प्रसंग आने पर उससे दूर होनेके लिये अव जीनेमें दुःख मानकर मरणको सुखका कारण मानता है । इसप्रकार जगतके प्राणी किसी भी प्रकारसे सुखको प्राप्त करनेके लिये हाथ–पैर खेपते हैं, इसलिये यह सिद्ध है कि वे सुखका और सुखके उपायका अस्तित्व तो स्वीकार करते ही हैं; किन्तु उन्हें यह खवर नहीं है कि वास्तविक सुख क्या है, वह कहाँ है और कैसे प्रगट हो सकता है, इसलिये वे दुःखी ही वने रहते हैं ।

अव यहाँ यह कहते हैं कि निश्चय और व्यवहार किस प्रकार आता है ।

लोग धर्मके नाम पर वाह्य प्रवृत्तिमें व्यवहार मानते हैं । वे यह मानते हैं कि यदि पुण्य करेंगे या शुभभाव करेंगे तो लाभ होगा।

किन्तु वे उसमें नहीं देखते जो आत्मा ही अनन्तगुणका धाम-पूर्ण सुखका सत्तास्थान है। सुखके लिये मृत्युका इच्छुक अज्ञानभावसे वर्तमान समस्त संयोगोंसे छूटना चाहता है, इसलिये परवस्तुके विना अकेला रहूँ तो सुख होगा ऐसा मानकर एकाकी रहकर सुख लेना चाहता है, इसलिये यह स्वीकार करता है कि-मात्र अपनेमें ही अपना सुख है। इसका अर्थ यह हुआ कि जो परके आश्रयसे रहित सुख रहता है वही सच्चा सुख है। इससे तीन बातें निश्चित होती हैं—

(१) सुख है (२) सुखका उपाय है (३) परके आश्रयसे रहित स्वयं अकेला पूर्ण स्वाधीन सुखस्वरूप स्थिर रहने वाला है। ऐसा होने पर भी अपनेको भूलकर दूसरेसे सुख प्राप्त करनेका प्रयत्न करता है। सुखकी पूर्ण प्रगट दशा मोक्ष है और पूर्ण सुखको प्रगट करनेका उपाय मोक्षमार्ग है।

आनन्द आत्मामें है, इसकी खवर न होना सो अज्ञानभाव है। और ज्ञान-आनन्द मुझमें ही है, परके सम्बन्धसे मेरा ज्ञान-आनन्द नहीं है, ऐसी खवर होना ज्ञानभाव है।

मात्र तत्त्व (अपने शुद्धस्वभाव)में विकार (पुण्य-पापके शुभा-शुभभाव) नहीं हो सकते; किन्तु आत्माके साथ कर्म-जड़ रजकणका जो निमित्त है उसके अवलम्वनसे वर्तमान विकार होता है। अशुभ भावको छोड़कर तृष्णाको कम करनेके लिये शुभभाव ठीक हैं, किन्तु उन शुभभावोंसे अविकारी आत्माका धर्म नहीं हो सकता। आत्मस्वरूपको यथार्थतया नहीं समझता और आँखें वन्द करके वैठा रहता है, तव अँधेरा ही तो दिखाई देगा और वाहर जड़की प्रवृत्ति दिखाई देगी। अज्ञानी यह मानता है कि रुपया-पैसा देनेसे धर्म होता है-परमार्थ होता है किन्तु रुपया-पैसा तो जड़ है, उसके स्वामित्वका भाव ही विकारी है। जड़ वस्तु जीवके आधीन नहीं है। जो स्वामित्व-भावसे राग और पुण्यके काम करता है उसे अरूपी, अतीन्द्रिय, साक्षीस्वरूप, ज्ञाता-दृष्टास्वभावकी प्रतीति नहीं है। पहलेसे ही किसी भी ओरसे कोई विरोध न आये ऐसी दृढ़ श्रद्धाके द्वारा सर्वज्ञके

न्यायानुसार आत्मामें अखण्ड पूर्ण वस्तुका निर्णय करना चाहिये; उसके विना परका कर्तृत्व-स्वामित्व माने विना नहीं रहता।

मोक्षरूपी फलके लिये निश्चयनय और व्यवहारनय-इन दो अपेक्षाओंको जानना चाहिये। दहीको विलोकर मक्खन निकालनेके लिये जब मथानी चलाई जाती है तब उसमें रस्सी तो एक होती है किंतु उसके छोर दो होते हैं; उसमेंसे जब एक छोरको खींचते हैं तब दूसरे छोरको छोड़ देनेसे काम नहीं चल सकता, और जब दूसरी ओरके छोरको खींचते हैं तब पहले छोरको नहीं छोड़ देते। और एक ही साथ दोनों छोरोंको खींचनेसे काम नहीं चलता तथा एक ही साथ दोनों छोरोंको छोड़ देनेसे भी काम नहीं बनता, किन्तु एकको खींचते समय दूसरेको ढीला करनेसे मथानी चलती है, दही विलोया जाता है और तब मक्खन निकलता है। इसीप्रकार भगवान आत्मा अनादि-अनन्त है, अपनी अनन्त गुणरूपी शक्तिसे एकरूप है; उसे अभेद ध्रुवरूप जानना सो निश्चय है। उस निश्चयके द्वारा जब अखण्ड वस्तु पर भार देना होता है तब विकार और निर्मल अवस्थाके भेद गौण हो जाते हैं। अवस्थाके विना द्रव्यका लक्ष नहीं होता और वस्तुके लक्षके विना अवस्था निर्मल नहीं होती। ग्यारहवीं गाथामें त्रैकालिक अखण्ड स्वभावकी मुख्यता होनेसे और अवस्थाके जितने भेद होते हैं वे सब क्षणिक होनेसे उन्हें अभूतार्थ कहकर व्यवहारनयको गौण किया था, किन्तु यदि अवस्थाका निषेध करे तो विकारका नाश और अविकारी निर्मल अवस्थाका प्रगट होना कैसे बन सकता है? मोक्षमार्गमें दो प्रकार जिस-जिस भूमिकामें जैसे होते हैं उन्हें यदि वैसा न जाने तो ज्ञानकी भूल होजाती है और ज्ञानकी भूलसे व्यवहार तथा परमार्थ दोनोंमें भूल हो जाती है; इसलिये सच्चा पुरुषार्थ नहीं हो सकता और जिनमार्ग (वीतराग मार्ग) का नाश हो जाता है। इसलिये भगवानने कहा है कि-यदि निर्मल आनन्दकी पूर्ण अवस्था प्रगट करना चाहते हो तो दोनों अपेक्षाओंको लक्षमें रखना।

यदि वर्तमानमें विकार न हो तो दुःखका वेदन किसे हो ? देहको तो कुछ खबर होती नहीं है और ज्ञाताने अपनी वर्तमान अवस्थामें जो परसम्बन्धके लक्षसे भूल तथा विकार किया है वह क्षणिक अवस्था मात्रके लिये है। विकार अविकारकी विपरीत दशा है। वर्तमान अवस्थामें प्रवर्तमान विकार अखण्ड ध्रुवस्वभावके लक्षसे दूर हो जाता है। विकारका नाश और अविकारी अवस्थाका होना तथा उसे जाननेवाली व्यवहारदृष्टि एवं नित्य अखण्ड वस्तुकी लक्षभूत निश्चयदृष्टि दोनों प्रयोजनवान हैं। अर्थात् ज्ञान करने योग्य हैं।

निश्चय और व्यवहार दोनों भीतर अरूपी तत्वमें हैं, उसे जाने बिना निर्मलताका पुरुषार्थ नहीं होता। अखण्ड तत्वके आश्रयपूर्वक जाननेमें हेय-उपादेयका विवेक करने वाला ज्ञान निर्मल होता है; पूर्ण निर्मल होने पर भेदरहित केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान प्रमाण होता है। जैसे मक्खनके तैयार हो जाने पर मथानीकी रस्सीके दोनों छोरको पकड़नेका काम पूरा हो जाता है, उसीप्रकार पूर्ण वीतरागतारूप केवलज्ञानके हो जाने पर पूर्ण प्रमाण हो जाता है, और तब वहाँ दो नयोंका भेद नहीं रहता, उसमें निश्चय-व्यवहारके दो पहलू गौण-मुख्य नहीं होते।

जहाँ पूर्ण वीतरागदशा नहीं होती वहाँ बीचमें शुभभावरूप व्यवहार आये बिना नहीं रहता। वह शुभभाव असद्भूत व्यवहार है। वह वस्तुमें नहीं होता किन्तु परावलम्बनसे नया होता है। अखण्ड निर्मलके लक्षसे जितनी स्थिरता होती है वह सद्भूत व्यवहार है। निश्चयदृष्टिमें भंगकी अपेक्षा नहीं होती। आत्मा अखण्ड, ध्रुव, एकाकार, ज्ञायक है, ऐसे अकषायभावके लक्षसे अमुक अंशमें निर्मलभाव प्रगट होते हैं, उसके साथ जितना शुभभाव होता है उसे उपचारसे शुद्धिमें निमित्त कहना सो असद्भूत व्यवहार कहलाता है। किन्तु जिसकी यथार्थ निरावलम्बी दृष्टि नहीं है उसका शुभभाव उपचाररूप व्यवहार भी नहीं है।

अशुभसे बचनेके लिये शुद्धस्वरूपके सन्मुख रहकर अपनी

भूमिकाके अनुसार ज्ञानीके शुभभाव होता है किन्तु उससे वह लाभ नहीं मानता। वह यह जानता है कि–जितना राग दूर हुआ उतना भाव निर्मल होता है। वह यह कदापि नहीं मानता कि-शुभभावमें युक्त होना रागको दूर करनेका उपाय है; किन्तु वह यह मानता है कि अखण्ड निर्मलस्वभाव पर निर्मलश्रद्धाकी शक्ति लगानेसे, अभेदमें एकाग्र दृष्टिसे उन्मुख होनेसे निर्मल पर्याय प्रगट होती है। शुभकी प्रवृत्तिसे राग मंद होता है किन्तु उसका अभाव नहीं होता। शुभ प्रवृत्ति धर्मका सच्चा उपाय नहीं है किन्तु निवृत्त स्वरूपके अभेद लक्ष-से स्थिर होना सच्चा उपाय है। अन्तरंग विपयका मेल किसी वाह्य प्रवृत्तिके साथ नहीं होता, गुण गुणीसे प्रगट होता है; इसकी विधि अन्तरंग तत्त्वदृष्टि वाले जानते हैं।

भावार्थ—सौटंची सोना प्रसिद्ध है, यदि सौटंचसे किंचित् न्यून हो तो उसमे पर-संयोगकी कालिमा रहती है, इसलिये तांवेके उपचार-से सोना अशुद्ध कहलाता है। वही सोना जब ताव देते देते अन्तिम-तावसे उतरता है तव सौटंची शुद्ध सोना कहलाता है। जिन लोगोंको सौटंची सोनेका ज्ञान, श्रद्धान और प्राप्ति हो चुकी है उन्हें उससे कमके सोनेका कोई प्रयोजन नहीं होता; किन्तु जिन्हें सौटंची शुद्ध सोनेकी प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें सौटंचीसे कमका सोना भी प्रयो-जनवान होता है। इसीप्रकार यह जीव नामक पदार्थ पुद्गलके संयोग-से अशुद्ध-अनेकरूप हो रहा है। सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, एक ज्ञायकत्व मात्रका ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरणरूप प्राप्ति–यह तीनों जिसे हो गये हैं उसे पुद्गल संयोगजनित अनेकरूपताको कहने वाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान (किसी मतलवका) नही होता; किन्तु जहाँतक शुद्ध भावकी प्राप्ति नहीं हुई वहाँतक जितना अशुद्धनयका कथन है उतना यथापद प्रयोजनवान है। जिन जीवोंको सौटंची शुद्ध स्वर्णकी भाँति पूर्ण केवलज्ञान प्राप्त हो गया है उन्हें श्रद्धा, ज्ञान, चारित्रके भेदोंको जानना शेप नहीं रहता, उन्हें उनका ज्ञान तो पहले ही हो चुका है। आत्मामें उन्नतिक्रमकी चौदह भूमिकाएँ हैं। उनमें धर्मका प्रारंभ चौथी भूमिका (चतुर्थ गुणस्थान)से निर्विकल्प अनुभव सहित, श्रद्धा-

के द्वारा पूर्णस्वरूप आत्माकी प्रतीति होने पर होता है। पश्चात् अखण्ड निर्मल वस्तुके लक्षके बलसे क्रमशः निर्मलता बढ़कर पूर्ण निर्मल केवलज्ञान प्रगट होता है। वहाँ पूर्णरूप स्व-वस्तुमें पूर्ण निर्मल पर्यायकी एकता होकर अखण्ड प्रमाण होता है। फिर निश्चय-व्यवहारकी गौणता-मुख्यताके भेद नहीं रहते।

यद्यपि गन्नेमें रस होता है किन्तु छिलकेके संयोगको देखने पर रस अलग नहीं दिखाई देता; तथापि रस और छिलका भिन्न है ऐसे ज्ञानके बलसे रस और छिलका अलग किया जाता है। तिलमें जो खली होती है वह तैलका स्वरूप नहीं है, तथापि उसमें वर्तमानमें तैल है यह जानने पर तैलके लक्षसे खलीको जुदा किया जाता है। इसीप्रकार भगवान आत्माको पुद्गल कर्मके संयोगसे अवस्थामें राग-द्वेष, अज्ञानके विकारीभाव होते हैं वे वर्तमान एक-एक समयमात्रके हैं, और अन्तरंगमें अखण्ड स्वभाव पूर्ण अविकारी ध्रुव है, यह जानले तो विकार दूर किया जा सकता है। भेदके लक्षसे राग होता है, और अखण्ड ज्ञायकके लक्षसे राग दूर होता है।

आचरणका अर्थ इसप्रकार है:-आ = अनादि अनन्त एकाकार ज्ञान-आनन्दस्वरूप आत्मा है, उसकी मर्यादामें चरण = चलना, जमना, स्थिर होना। पुण्य-पापके भेदसे रहित अकषाय भावकी स्थिरताको सर्वज्ञ भगवानने चारित्र कहा है। ऐसा समझे विना मात्र वाह्य प्रवृत्तिको चारित्र मानले और व्यवहार-व्यवहार किया करे किन्तु समझे कुछ भी नहीं तो उसे धर्म कहाँसे होगा ?

स्फटिक मणिमें जैसे अपनी योग्यतासे लाल-काला प्रतिविम्व दिखाई देता है तथापि वह उसका मूल स्वभाव[1] नहीं है, इसीप्रकार आत्मामें अज्ञानभावसे पुण्य-पापरूप अवस्था होनेकी योग्यता है। वह विकारी अवस्था आत्मामें होती है, उसका कर्ता अज्ञानी जीव स्वयं है; उसमें परवस्तु निमित्त कहलाती है। मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, पर-

१. स्वभाव = जो पर-निमित्तके आश्रयके विना एकरूप स्थिर रहे।

का कर्ता हूँ ऐसी मान्यता–भूल करनेकी योग्यता जीवमें न हो और पर–निमित्त बलात् भूल कराये, ऐसा नहीं हो सकता।

क्षणिक विकार मेरा स्वभाव नहीं है, देहादिक कोई परवस्तु मेरी नहीं है, मैं त्रैकालिक एकरूप ज्ञायक हूँ, विकारका नाशक हूँ–ऐसी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है।

मुझमें कर्मका आवरण नहीं है, जड़कर्म अपनी जड़ अवस्थाके रूपमें अपने क्षेत्रमें रहता है; उसके आश्रयसे होने वाला विकार भी परमार्थसे मेरा नहीं है, मैं अज्ञान भावसे उसका कर्ता बन गया था। मेरा स्वभाव त्रिकाल अविकारी है, ऐसे स्वभावकी प्रतीतिमें पर–निमित्तका भेद–विकार दिखाई नहीं देता। आत्माके साथ एक आकाश क्षेत्रमें दूसरी वस्तु है, उसके निमित्तसे अपनी योग्यतासे भूलके कारण पुण्य-पापके भाव वर्तमान अवस्थामात्र तक होते हैं; वे मेरे हैं, करने योग्य हैं, इसप्रकार जो मानता है उसे यह श्रद्धा नहीं है कि आत्मा विकारका नाशक और सदा अविकारी स्वभाव है। मेरे स्वभावमें कमी नहीं है, विकार नहीं है, परका संयोग नहीं है, मेरा स्वभाव किसीके आधीन नहीं है, ऐसी स्वतंत्र ध्रुवस्वभावकी श्रद्धा होने पर निर्विकल्प अनुभव सहित, अखण्ड ध्रुवदृष्टिमें पूर्णकी प्रतीति होती है।

इस यथार्थ समझके विना, दृष्टिमें परिपूर्ण स्वभाव यथार्थतया लक्षमें आये विना निर्मल स्वभावके लक्षसे विकारी अवस्थाका नाश, निर्विकारी अवस्थाका उत्पाद (व्यवहार) और अविनाशी चैतन्य वस्तु ध्रुव है (निश्चय) ऐसी व्यवहार–निश्चयकी अविरोधी संधि नहीं हो सकती।

कोई रजकणकी क्रिया मेरी नहीं है। अंगुलि संचारन भी आत्माके आधीन नहीं है। परवस्तुका कोई कार्य कोई आत्मा व्यवहारसे भी नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्येक आत्मा और प्रत्येक जड़वस्तु भिन्न–भिन्न है स्वतंत्र है। प्रत्येक वस्तुमें अवस्थाकी उत्पत्ति, विनाश और वस्तुत्वके रूपमें स्थिर रहना (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य) निजसे

ही होता है। किसीकी क्रिया किसीके आधारसे नहीं होती। किसीको किसीसे हानि-लाभ नहीं हो सकता। परके अवलम्बनसे आत्मामें होने वाला विकारीभाव क्षणिक अवस्था तक ही है, वह आत्माका ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं विकारका नाशक और गुणका रक्षक हूँ-ऐसी यथार्थ प्रतीतिके विना पूर्ण स्वरूपकी प्रतीतिरूप सम्यक्‌दर्शनकी आत्मानुभव सहित प्राप्ति नहीं होती। जो वाह्य प्रवृत्तिसे और बाह्यमें ही धर्म मान बैठे हैं वे तत्त्वज्ञानका विरोध करते हैं क्योंकि उन्हें पर-से भिन्न अविकारी परमार्थस्वरूपका अनादिकालसे विस्मरण और पर-का स्मरण विद्यमान है। सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कही गई वस्तु अनादि-कालीन अनभ्यासके कारण समझना दुर्लभ हो गई है; वैसे वह स्वभावतः सहज है, यदि स्वतः तैयार होकर समझना चाहे तो दुर्लभ नहीं है। पुण्य-पापकी भावना प्रतिक्षण बदलती रहती है, वह आत्माका ध्रुवस्वभाव नहीं है। ऐसे अविकारी स्वभावकी प्रतीति होनेके बाद जबतक वीतराग नहीं हो जाता तबतक ज्ञानी जीव शुभाशुभभावमें युक्त होकर भी अन्तरंगसे उसका कर्ता नहीं होता और उस भावको करने योग्य नहीं मानता।

जहाँतक आत्मा परसे निराला, अखण्ड, ज्ञायक, असंग है; उसकी परमार्थसे यथार्थ श्रद्धा-ज्ञानकी प्राप्तिरूप सम्यक्‌दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो वहाँतक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन-वचनोंका सुनना और धारण करना आवश्यक है। किन्तु जिसे श्रवण ही नहीं करना है अथवा श्रवण करनेके बाद जिसे सत्य-असत्यकी तुलना नहीं करनी है वह यह क्योंकर निश्चय करेगा कि सच्चा उपदेश कौनसा है। पहले इतनी तैयारीके विना वह न तो सत्यका जिज्ञासु है और न सत्यका शोधक या इच्छुक ही है।

जगतके समस्त धर्म, सभी देव और सभी गुरु सच्चे हैं, यह मानना सत्य और असत्यको एकसा माननेकी मूढ़ताके समान है, अविवेक है। जब बाजारमें दो पैसेकी हण्डी लेने जाता है तब उसे खूब ठोक-बजाकर परीक्षा करके लेता है, तथा बाजारकी अन्य कोई

भी चीज जो जैसी दुकानदार देता है, उसे वैसी ही आँख बन्द करके नहीं ले लेता; तब फिर जो परमहितरूप आत्मा है जिसके यथार्थ स्वरूपको जानने पर अनन्तभवकी भूख मिट जाती है, उसमें अजान क्यों रहता है? अपूर्व वस्तुको समझानेमें सच्चा निमित्त कौन हो सकता है इसकी पहले यथार्थ पहिचान करनी चाहिये। जो श्रोता यथार्थ वस्तुको समझनेकी परवाह नहीं करते और मध्यस्थ रहकर शोधकरूपसे सत्य क्या है इसकी तुलना नहीं करते एवं चाहे जैसा उपदेश सुनकर उसमें 'हाँ जी हाँ' किया करते हैं वे ध्वजपुच्छके समान हैं।

जैसे वर्षाके दिनोंमें बालक धूलके घर बनाते हैं किंतु वे रहनेके काममें नहीं आते, उसी प्रकार चैतन्य अविनाशी स्वभाव क्या है? उसे समझे बिना अपनी विपरीत मान्यताके अनुसार शुभ विकल्पसे, बाह्य क्रियासे, पुण्य-पापमें धर्म माने–मनावे, किन्तु उससे अनित्य, अशरण और दुःखरूप संयोग ही मिलता है। वह असंयोगी शाश्वत शांतिका लाभ प्राप्त करानेके काममें नहीं आता। इसलिये जो सुखस्वरूप आत्मा है उसकी पहिचान स्वयं अपने आप निश्चित करनी पड़ेगी। अवस्थामें भूल करनेवाला मैं हूं, भूलको–दुःखको जानने वाला 'मैं' भूलरूप या दुःखरूप नहीं हूं, संयोगी अवस्था बदलती है किन्तु मैं बदलकर उसीमें मिल नहीं जाता, अथवा नाशको प्राप्त नहीं होता, भूल और विकारी अवस्थाका नाश, अभ्रांत–अविकारी अवस्थाकी उत्पत्ति, और त्रिकाल एकरूप स्थिर रहने वाला मैं ध्रुवरूप हूं। यह उपदेश पूर्वापर विरोध रहित है अथवा नहीं इसका निर्णय जिज्ञासुओंको करना चाहिये।

बहुमतको देखकर खोटेको खरा नहीं कहा जा सकता। 'हमारी देवीके बराबर बड़ा और कोई विश्वमें नहीं है' ऐसा तो भील इत्यादि भी कहा करते हैं। भला, अपनी मानी हुई वस्तुको कौन हलका कहेगा? प्रत्येक दुकानदार अपने मालको ऊँचा कहकर उसकी प्रशंसा करता है किन्तु ग्राहक उसकी परीक्षा किये विना योंही नहीं ले लेता, देख-भालकर ही लेता है। इसीप्रकार जिससे यथार्थ उपदेश मिलता

है ऐसे वीतरागी वचन कौनसे हैं, और उनमें क्या कहा गया है, इसकी परीक्षा करनी चाहिये। वीतरागके वचनमें कहींसे भी कोई विरोध नहीं आसकता। प्रत्येक तत्व भिन्न और स्वतंत्र है। जीव अनादि-कालसे समय-समय पर वर्तमान क्षणिक अवस्थामें भूल और विकार करता चला आया है, वह भूल और विकार त्रैकालिक शुद्धस्वभावके लक्षसे स्वाधीनतया दूर किया जा सकता है। राग-द्वेषकी अवस्थाको जानकर, राग-द्वेष रहित अविनाशी स्वरूपको जाना और उसकी श्रद्धा-के द्वारा रागको दूर करनेका उपाय करके वीतरागदशा प्रगट की; इसमें निश्चय और व्यवहार दोनोंकी अपेक्षा आगई। इसप्रकार एक तत्वमें दो प्रकार हैं–जिसे यह खबर नहीं है उसे वीतरागके वचन-की यथार्थ पहिचान नहीं है।

पहले यह जानना होगा कि–यथार्थ उपदेश कहाँसे प्राप्त होता है, उसकी परीक्षा करनी पड़ेगी। जहाँ अपनेमें अपूर्व तत्वको समझनेकी जिज्ञासा होती है वहाँ सत्यको समझानेवाले मिल ही जाते हैं, समझाने-वालेकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। यदि कदाचित् ज्ञानीका योग न मिले तो सच्ची आंतरिक लगन वाले जीवको पूर्वभवके सत् समागम-का अभ्यास याद आजाता है। उपदेशके सुन लेनेसे तत्वको समझ ही लिया जाता हो सो बात नहीं है, किन्तु जब समझनेकी तैयारी हो तब उपदेशका निमित्त उपस्थित होता है। और जब स्वयं समझता है तब निमित्तका आरोप करके उसे उपकारी कहा जाता है। यदि मात्र सुननेसे ही ज्ञान होजाता हो तो यह सबको होना चाहिये। घड़ेके साथ घीका संयोग होनेसे वह (घीके आरोपसे) व्यवहारसे 'घीका घड़ा' कहा जाता है, और पानीके संयोग-से पानीका घड़ा कहलाता है, किन्तु वास्तवमें वे घड़े मिट्टीके होते हैं। इसीप्रकार जिसमें सत्यको समझनेकी शक्ति थी उसने जब सत्यको समझा तब साथ ही संयोग भी विद्यमान था इसलिये विनय-भावसे व्यवहारमें यह आरोपित करके कहा जाता है कि–उस संयोग-से धर्मको प्राप्त किया है। यदि निश्चयसे ऐसा मानले तो कहना

होगा कि उसने दो तत्वोंको भिन्न नहीं माना है। जब जन्म-मरणके दुःख और पराधीनताकी वेदना मालूम हो और यह श्रद्धामें आये कि कोई अनित्य संयोग मुझे शरणभूत नहीं है; तब शरणभूत वस्तु क्या है, सत् क्या है यह जाननेकी अन्तरंगसे उत्कट आकांक्षा उत्पन्न होती है; इसप्रकार अपूर्व सत् क्या है यह जाननेके लिये तैयार हुआ और सत्को जाना तब जिस ज्ञानीका संयोग होता है वह निमित्त कहलाता है।

प्रश्न:—समझने वाला बिना ही सुने यथार्थ-अयथार्थका निश्चय कैसे करेगा?

उत्तर:—जहाँ आत्माकी पात्रता होती है वहाँ श्रवण करनेको मिलता ही है, किन्तु यथार्थ-अयथार्थका निश्चय करने वाला आत्मा स्वयं ही है। एकबार स्वयं जागृत होने पर संदेह नहीं रहता। जहाँ मुक्त होनेकी तैयारी हुई, अनन्तकालके जन्म-मरणका नाश और अविकारी मोक्षभावकी उत्पत्ति तथा प्रारम्भ हुआ वहाँ संदेह रह ही नहीं सकता। मैं नित्य स्व-रूपसे हूँ पर-रूपसे नहीं हूँ, तब फिर मुझे परवस्तु लाभ या हानि नहीं कर सकती। जो ऐसा निःसंदेह विश्वास करता है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, पूर्ण सामर्थ्यरूप हूँ मुझमें पराधीनता नहीं है, उसके भव शेष नहीं रहता। किन्तु जिसके भवका संदेह दूर नहीं होता उसे निःसंदेह स्वभावका सन्तोष और सर्वसमाधानरूप शान्ति प्रगट नहीं होती। यथार्थ वस्तुकी प्रतीति होनेके बाद चारित्रकी अल्प अस्थिरता रहती है किन्तु स्वभावमें और पुरुषार्थमें संदेह नहीं रहता।

अज्ञात स्थानमें अन्धे आदमीको निधड़क पैर उठाकर चलनेका साहस नहीं होता; क्योंकि उसे यह शंका बनी रहती है कि यह मार्ग सीधा होगा या कहीं कुछ टेढ़ा-मेढ़ा होगा?

प्रश्न:—जब कोई मार्ग बताये तभी तो वह चल सकेगा?

उत्तर:—दूसरा तो मात्र दिशासूचन ही कर सकता है कि भाई! सीधे नाककी सीधमें चले जाओ। यह सुनकर जब अपनेको उसकी

सज्जनताका विश्वास होता है तभी उस दिशामें निःशंक होकर कदम बढ़ाता है। इसीप्रकार सच्चे उपदेशको सुनकर भी यदि स्वयं निःसंदेह न हो तो उसका आंतरिक बल निर्मल स्वभावकी ओर उन्मुख नहीं हो सकता। वह यह मानता है कि बहुत सूक्ष्म बातोंको समझकर और बहुत गहराईमें जाकर क्या लाभ है? अपनेसे जो कोई करनेको कहता है सो किया करो, ऐसा करते करते कभी न कभी लाभ हो जायेगा। किन्तु जबतक अपने स्वाधीन पूर्णरूप स्वभावको जानकर उसमें निःसंदेह दृढ़ता न करे तबतक स्वभावमें स्थिर होनेका काम नहीं हो सकता।

प्रश्नः—कोई विश्वास पूर्वक कहे तभी तो माना जायेगा?

उत्तरः—जब निजको अन्तरंगसे विश्वासका संतोष होता है और जो अपनेको अनुकूल बैठता है उसे मानता है तब निमित्तमें आरोपित होकर कहता है कि मैंने इससे माना है; किन्तु वास्तवमें तो माननेवाला उसे ही मानता है जो अपने भावसे अनुकूल बैठता है। जैसे कोई धनवानकी प्रशंसा करता है तो वह वास्तवमें उस धनिक व्यक्तिकी प्रशंसा नहीं करता, किन्तु अपने मनमें धनका बड़प्पन जम गया है इसलिये उस जमावटके गुण गाता है; इसीप्रकार जब अपने अन्तरंगमें बात जम जाती है तब निमित्तमें आरोपित करके यह कहा जाता है कि—मैंने यह प्रस्तुत व्यक्तिसे समझा है। (जैसे घीका घड़ा कहा जाता है)

जो अनादिकालसे सत्यस्वरूपको नहीं जानता, उसने सत्को समझनेकी जिज्ञासा पूर्वक तैयारी करके यह कहा कि जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है उन वीतराग वचनोंको सुनना चाहिये और धारण करना चाहिये, उसमें जहाँ सत् उपादान होता है वहाँ सत् निमित्त उपस्थित होता है—ऐसा मेल बताया है। असत् उपदेश सत्के समझनेमें निमित्त नहीं होता। सत्समागमकी महिमा बतानेके लिये श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि "दूसरा कुछ मत ढूँढ; मात्र एक सत्

पुरुषको ढूँढकर उसके चरणकमलमें (आज्ञा*में) सर्वभाव समर्पित करके प्रवृत्ति किये जा; फिर भी यदि मोक्ष न मिले तो मेरे पाससे लेना" । त्रिकालके ज्ञानियोंने जिसप्रकार निःशंक स्वभावकी प्रतीति-की है, करते हैं और करेंगे उसीके अनुसार जो निःशंक होकर चला जाय वह वापिस हो ही नहीं सकता—मोक्षको अवश्य प्राप्त करेगा;—ऐसा विश्वास दिलाते हैं ।

जिसे सत्‌की यथार्थ आकांक्षा उत्पन्न हुई है उसे यथार्थ उपदेश मिले विना नहीं रहता । जैसे जंगलमें जो अंकुर बढ़नेके लिये उगे हैं उन्हें वर्षाका निमित्त मिले विना नहीं रहता । इसीप्रकार जिसने अन्तरंग स्वभावसे पूर्ण सत्‌को प्राप्त करनेकी तैयारी की है उसके लिये अनुकूल निमित्त (निमित्तके स्वतंत्र कारणसे) उपस्थित होता ही है । किसीको भी तैयारी होनेके बाद निमित्तके लिये रुकना नहीं पड़ता ऐसा त्रिकाल नियम है । ऐसा वस्तुतत्त्व स्वतंत्र है । निमित्त-की संयोगरूपसे उपस्थित मात्र है, किन्तु वह उपस्थित वस्तु किंचित्-मात्र सहायता नहीं कर सकती, क्योंकि प्रत्येक वस्तु सदा भिन्न-भिन्न है और सम्पूर्ण स्वतंत्र है । स्वतंत्र वस्तुको किसी दूसरी वस्तुकी सहायता नहीं होती ।

जो ऐसे तत्त्वज्ञानका विरोध करते हैं वे वनस्पति आदिक एकेन्द्रिय पर्यायमें उत्पन्न होकर तुच्छदशाको प्राप्त होते हैं; और उसी-में अनन्तकाल तक अनन्त जन्म-मरण करते हैं । तब सत्‌का विरोध करनेसे चैतन्यशक्ति अत्यंत हीन होकर ढक जाती है और वह अनन्त-कालमें दो इन्द्रियके रूपमें भी उत्पन्न नहीं होते ।

जिन्हें सत्‌के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं चाहिये, मात्र ज्ञानीके द्वारा कही गई विधिसे स्वतंत्र सत्‌को ही समझना है और मोक्ष ही प्राप्त करना है ऐसे यथार्थ जिज्ञासाके अंकुर जिनके अन्तरंगमें अंकुरित हुए हैं उन्हें सद्उपदेशकका समागम अवश्यमेव प्राप्त होता है ।

---

* आज्ञा = जैसा स्वतंत्र स्वभाव है उसका ज्ञान । आ = मर्यादा, ज्ञा = ज्ञान ।

अमुक उपदेशमें यथार्थता है या नहीं, इसका यथार्थ निर्णय करनेमें आत्मा स्वयं ही कारण है। वह किसीके आधीन नहीं है- ऐसा अकारण स्वतंत्र द्रव्य है। क्योंकि वह स्वयं अनादि-अनन्त सत्-स्वरूप है। अपनी परवाह करे तो सत् समझमें आये-समझनेका उत्साह निजमेंसे ही आता है और उसमें स्वयं ही कारण होता है। जहाँ यथार्थका निर्णय करनेकी अपनी तैयारी है वहाँ वैसा ही निमित्त उपस्थित होता है। समझनेके वाद उपचारसे विनयके लिये कहा जाता है कि :—

क्या प्रभु चरणनमें धरूँ, आत्मासे सब हीन।
वह तो प्रभुने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

(आत्मसिद्धि पद १२५)

इसप्रकार जिसके गुणका प्रकाश हुआ है वह सत्की पहिचान होनेसे वहुमान करके उसकी महिमाको गाता हुआ कहता है कि-हे प्रभु! आपने मुझे निहाल कर दिया, आपने मुझे तार दिया। किन्तु वह अन्तरंगमें जानता है कि मैं स्वत: करने वाला हूँ और तरनेका उपाय भी मुझमें ही विद्यमान है, तथापि निमित्तमें आरोप करके उसका वहुमान करता है। इसमें अपनी ही स्वतंत्रताकी विज्ञप्ति है।

शास्त्रोंमें व्यवहारसे वहुत कुछ कथन आता है, जो कि घीके घड़े और पानी के घड़ेकी भाँति व्यवहारिक संक्षिप्त कथन-शैली है; उसका परमार्थ अलग होता है। कोई द्रव्य पर-सत्ताके आधीन नहीं है। जिसने अनादिकालसे सत्स्वरूपको नहीं समझा वह भी जव समझनेको तैयार होता है तव सत्को समझाने वाला निमित्त अवश्य उपस्थित होता है। जव स्वयं भीतर लक्ष करके स्वयं-स्वत: समझता है। तव पर वस्तु निमित्तमात्र होती है, तथापि वह उपकारी कहलाती है। समझनेके समय निमित्तको और सुननेकी ओरके रागको भूलकर, अन्तरंगमें स्वलक्षसे ही समझा है, इसका कारण स्वयं अनन्त शक्तिरूप स्वतंत्र द्रव्य है।

इसप्रकार यथार्थ जिनवचन—वीतरागवचनसे समझना चाहिए, उसमें समझने वालेका भाव अपने उपादानका है। वह अपने पुरुषार्थके द्वारा इसका निर्णय करता है कि यथार्थ उपदेशका निमित्त कौन है, वह सच्चे पुरुषार्थसे निजकी अपूर्व जागृति करता है। यह पहले निश्चय करना चाहिये कि किसका वचन सत्य माना जाय। जो कुछ सुननेको मिलता है वह पूर्व-पुण्यका फल है। पुण्य परवस्तु है, वह परवस्तुका संयोग करता है किन्तु उसमें धर्म नहीं होता। वर्तमानमें जीव सत्यको सुननेकी जिज्ञासा करता है तथा ऐसा भाव करता है कि-संसार सम्वन्धी रागको छोडकर सत् समागम करूँ, सत्यको सुनने जाऊँ; इस प्रकारकी सत्की ओरकी रुचि तथा शुभ भावोंका करना पूर्वकृत पुण्यका फल नहीं, किन्तु वर्तमानका नया पुरुषार्थ है।

वर्तमानके अशुभभावको बदलकर नवीन प्रयत्नसे शुभभाव किया जा सकता है। धर्मको सुननेकी ओरकी वृत्ति भी शुभभाव है। अशुभभावको बदलकर नवीन शुभभाव करनेसे नवीन पुण्य-वन्ध होता है तथापि वह कुछ अपूर्व नहीं है, क्योंकि इस जीवने पुण्य तो अनन्तवार किया है। किन्तु यह उपदेश यथार्थ है या नहीं, और उसके कहनेका आशय क्या है, इसे ठीक समझकर वस्तुका यथार्थ निर्णय करना सो वर्तमानमें किया गया अपूर्व पुरुषार्थ है।

ग्यारहवीं-बारहवीं गाथाकी टीकामें कुछ अपेक्षाएँ आती हैं, उनका विवेचन यहाँ किया जारहा है :—

ग्यारहवीं गाथामें कहा है कि-सम्यक्दर्शनका लक्ष अखण्ड ध्रुव वस्तु पर है। उसके वलसे सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्ष-की अवस्था होती है। वह अवस्था है-भेद है। जैसे पानीका सहज स्वच्छ स्वभाव ढक गया है यह कहना व्यवहार-उपचारमात्र है; क्योंकि स्वभावमें अन्तर नहीं पड़ता। अवस्था ढकती है और अवस्था प्रगट होती है; तथापि पर्यायके उपचारमात्रसे कह दिया जाता है कि पानी-का स्वभाव ढ़क गया। इसी प्रकार उपचारसे कहा जाता है कि-प्रबल

कर्मके मिलनेसे आत्माका सहज ज्ञायकभाव ढक गया है, किन्तु सहजभाव नित्य एकरूप स्वभाव है, उसमें ढकने और प्रगट होनेकी अपेक्षा परमार्थसे नहीं होती; मात्र अवस्था (पर्याय) में मलिनता-निर्मलताका भेद होजाता है। वर्तमान अवस्था पर-संयोगके आधीन हुई है वैसा ही जो अपनेको मान लेता है उसे यह खबर नहीं होती कि अपना अखण्ड सहज ध्रुव स्वभाव कैसा है। जिसे सहज वस्तुस्वरूपकी प्रतीति नहीं होती उसका सम्पूर्ण आत्मा ढक गया है-ऐसा पर्यायदृष्टिसे कहा जाता है। जिसे त्रैकालिक वस्तुकी प्रतीति होगई है उसकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई है और उसका द्रव्य प्रगट हुआ है ऐसा उपचारसे कहा जाता है। एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसा अनुभव करता है-ऐसा कहा सो त्रैकालिक ज्ञायकभावका वर्तमान पर्यायमें अनुभव हुआ इस अपेक्षाको लक्षमें रखकर कहा गया है। जिसे निर्मल पर्यायका अनुभव नहीं है उसे अपनी अखण्ड वस्तु-का अनुभव नहीं है ऐसा कहा है।

निश्चय सम्यक्दृष्टि भूतार्थनयके आश्रित है; व्यवहारनय अभूतार्थ है, अर्थात् बन्ध-मोक्षकी अवस्था, सम्यक् और मिथ्याज्ञानकी अवस्था तथा अशुद्ध और शुद्ध इत्यादि अवस्थाके भेद व्यवहारनयका क्षणिक और अनेकरूप विषय है। उस भेदके लक्षसे निर्मलता प्रगट नहीं होती। अल्पज्ञको भेदके ऊपर लक्ष जाने पर राग हुए विना नहीं रहता और अनन्तशक्तिरूप अखण्ड वस्तु ध्रुव है-भूतार्थ है, उसका विषय करने पर निर्मल पर्याय प्रगट होती है, विकल्प दूर होजाता है। इसलिये विकल्प और भेदरूप क्षणिक भावको अभूतार्थ कहा है। भूतार्थ और नित्य स्थायी वस्तुका विषय करनेपर निर्मल श्रद्धा और निर्मल ज्ञानरूप अवस्था प्रगट हुई इसलिये उपचारसे सहज ज्ञायक-भाव वस्तु प्रगट हुई-यह कहा है।

किसी तालावमें वहुत मोटी काई जमी हुई थी। कुछ समय-के वाद काई फट गई; उसमेंसे एक कछुएने जो कि जन्मसे ही काईके नीचे पानीमें रह रहा था ऊपर आकर आकाशकी ओर देखा

तो उसे पहली वार ही तारामण्डल और उसके मध्यमें चमकता हुआ पूर्णिमाका चन्द्रमा दिखाई दिया। इस चमकते हुए दृश्यको देखकर–चन्द्रमाके दर्शन करके कछुएने सोचा कि–आज यह चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है, ऐसा तो पहले कभी नहीं देखा था। इस प्रकार उस कछुएकी दृष्टिसे चन्द्रमा नया ही उदित हुआ है। इसी-प्रकार जव यह जाना कि–आत्मा परसे निराला, अविकारी, त्रिकाल पूर्ण है; तव ऐसा परम अद्भूत द्रव्य रूप पहले कभी नहीं जाना था इसलिये यहाँ कहा जाता है कि सम्पूर्ण आत्मा नया ही जाना है। यहाँ भेदविज्ञान सहित शुद्धनयके द्वारा अखण्ड त्रिकाल पूर्णरूपका लक्ष करनेपर वर्तमान अवस्थामें अखण्ड ज्ञायकस्वभाव ज्ञात होने पर पर्यायका अनुभव हुआ है उसे सम्पूर्ण ज्ञायकस्वभाव ज्ञात हुआ है इसप्रकार अर्थका कथन समझना चाहिये।

जैसे कछुएने कभी चन्द्रमा नहीं देखा था वह दूसरे कछुओं-से कहे कि–मैंने आज सारा चन्द्रमा अपनी आँखोंसे देखा है। किन्तु जिसने कभी चन्द्रमाकी वात भी न सुनी हो और कभी उसके संवंध-में कुछ जाना भी न हो ऐसे उसके कुटुम्वीजन तो यही कहेंगे कि तेरी बात मिथ्या है, तू यह नई गप्प कहाँसे लाया? सच तो यह है कि चन्द्रमा नया नहीं है किन्तु कछुएकी दृष्टि उस पर नहीं थी और अव उसकी दृष्टि चन्द्रमा पर नई पड़ी है, इसलिये वह कहता है कि–मैंने नया चन्द्रमा देखा है। चन्द्रमाको देखनेवाले कछुएकी वातको दूसरे कछुए नहीं मानते। आत्मा स्वभावसे असंग, मुक्त ही है, किन्तु अवस्थादृष्टिसे आवृत या अनावृत (पर–निमित्तके भेदकी अपेक्षासे) कहा जाता है, सो व्यवहार है। वास्तवमें तो अपनी अज्ञान और विकाररूप अवस्थासे हीन परिणमन किया था जो कि आवरण है। परसे आवृत हुआ अथवा सम्पूर्ण आत्माका ढका हुआ है यह कहना उपचार मात्र है; इसीप्रकार उपचारसे कहा जाता है कि:—

क्या प्रभु चरणनमें धरूँ, आत्मासे सव हीन।
वह तो प्रभुने ही दिया, रहूँ चरण आधीन॥

हे प्रभु! आपने मुझे सम्पूर्ण आत्मा दिया है ऐसा विनयसे कहते हैं, किन्तु क्या सचमुच कोई आत्मा दे सकता है अथवा उसकी पर्याय दी जासकती है। कोई किसीको नहीं दे सकता तथापि यहाँ उपचारसे कहते हैं कि-हे प्रभु! अपने मुझे अखण्ड आत्मा प्रदान किया है। इसीप्रकार वर्तमान अवस्थासे अखण्डके लक्षसे पर्यायके प्रगट होने पर कहा जाता है कि सम्पूर्ण द्रव्यस्वभाव प्रगट हुआ है। उस प्रतीतिरूपसे प्रगट निर्मल अवस्थामें उसकी विषयभूत अखण्ड वस्तु-का आरोप करके उस अपेक्षासे यह कहा जाता है कि सम्पूर्ण वस्तु नई ही प्रगट हुई है। जो शुद्धनय तक पहुंचे हैं (यहाँ बारहवीं गाथामें शुद्धनयका विषय केवलज्ञान पर्याय ली है, किन्तु वास्तवमें शुद्धनयका विषय अखण्ड-पूर्ण वस्तु है।) जो पुरुष अन्तिम तावसे उतरे हुए शुद्ध स्वर्णके समान उत्कृष्ट भावका (केवलज्ञानका) अनुभव करते हैं, (शक्तिरूपसे पूर्ण उत्कृष्ट स्वभाव तो था किन्तु शुद्धनयके द्वारा अखण्ड-को लक्षमें लेकर प्रतीति पूर्वक स्थिर होकर जो अंतिम अवस्थारूप पूर्ण केवलज्ञानका अनुभव करते हैं) उनके शुद्धनयका विषय अपूर्ण नहीं रहा, किन्तु वे उसके फल वीतरागताका ही अनुभव करते हैं। केवल-ज्ञान अखण्ड प्रमाणरूप है, उसमें नयभेद नहीं होता इसलिये उसे व्यवहारनयका विषय नहीं माना तथापि केवलज्ञान ज्ञानगुणकी अवस्था है इसलिये व्यवहार है।

सोनेको प्रथम-द्वितीय आदि ताव देने पर-अथवा शुद्ध होने पर सोना शुद्ध हुआ कहलाता है, उसीप्रकार यहाँ शुद्धनयसे अचलित एक स्वभावरूप एक भाव प्रगट हुआ कहा है। वहाँ वस्तु तो शुद्ध ही थी किन्तु शुद्धनयके द्वारा अखण्डका लक्ष करने पर श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र-की क्रमशः पूर्ण पर्याय प्रगट हुई, उस अपेक्षासे सम्पूर्ण आत्मा प्रगट किया ऐसा शुद्धनय केवलज्ञान समान होनेसे जाना हुआ प्रयोजनवान है। (यहाँ जो पूर्ण निर्मल पर्याय प्रगट हुई उसमें सारी वस्तुका आरोप है) शुद्धनयको केवलज्ञानका विषय करनेवाला कहा है और सबसे ऊपरकी एक प्रतिवर्णिकाके समान (सौटंची शुद्ध सोनेके समान)

केवलज्ञानके समान कहा है; इसप्रकार जो केवलज्ञानरूप विषय प्रगट हुआ उसे और विषय करने वाले-दोनोंको समान कहा है। उसमेंसे केवलज्ञानका लक्ष करने वाले शुद्धनयको कारण मानकर उसका कार्य (शुद्धनयका फल) वीतरागता-केवलज्ञान हुआ, उसका कारणमें आरोप करके केवलज्ञानकी अखण्ड अवस्थाको शुद्धनय कह दिया है। शुद्धनय ज्ञानका अंश है, उसके द्वारा जो अखण्ड केवलज्ञान हुआ है वह उसका (शुद्धनयका) प्रगट हुआ विषय है, उसका उपचार करके जो विषय प्रगट हुआ उसे शुद्धनय कह दिया है।

(१) द्रव्य प्रगट नहीं होता, किन्तु पर्यायके द्वारा स्व-द्रव्यके आलम्बनसे निर्मल अवस्था प्रगट होती है, तथापि स्वाश्रयसे जो नवीन अवस्था प्रगट हुई उसे कारणमें कार्यका उपचार करके यह कह दिया है कि द्रव्य प्रगट हुआ है। जैसे वस्तुकी यथार्थ प्रतीति होने पर यह कहा जाता है कि-सम्पूर्ण वस्तुकी प्राप्ति हुई है।

(२) शुद्धनयका विषय अखण्ड द्रव्य होने पर भी केवलज्ञान पर्यायको उपचारसे ही शुद्धनयका विषय कहा है। पर्यायके अनुभवको उपचारसे द्रव्यका अनुभव कहा है।

(३) शुद्धनयने जिस केवलज्ञानको अपना विषय बनाया उसे शुद्धनयके फलरूपसे (विकल्प रहित प्रगट भावको) शुद्धनय कह दिया है। केवलज्ञानमें विकल्प-भेद नहीं है इस अपेक्षासे यद्यपि केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनय कह दिया है।

(४) केवलज्ञान पर्याय है, व्यवहारका विषय है, तथापि उसे प्रमाणकी अपेक्षासे शुद्धनयका विषय कह दिया है।

यद्यपि कथन पद्धति भिन्न है तथापि उसमें अपेक्षाका मेल कैसे है, यह कहते हैं:—यद्यपि यह कहा है कि शुद्धनयको केवलज्ञानमें अनुभव करते हैं किन्तु वहाँ अनुभव तो सम्पूर्ण प्रमाणज्ञानका है; उसमें द्रव्य अथवा पर्यायको विषय करने वाला अंशरूप ज्ञान नहीं है इसलिये केवलज्ञानमें नय नहीं है। नय तो अपूर्ण ज्ञानमें होता है, तथापि वहाँ शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है, अर्थात् तत्सम्वन्धी ज्ञान अखंड

कार्यका

होगया है, उसमें युक्त होना (जुड़ना) शेष नहीं रह गया है; और यह ज्ञात हो गया है कि–केवलज्ञानरूप सम्पूर्ण स्वरूप क्या है; अब कुछ विशेष जानना शेष नहीं रहा, यही प्रयोजन है। केवलज्ञान प्रमाण प्रगट हुआ है, नय प्रगट नहीं हुआ; किन्तु नयका विषय अखण्ड द्रव्यमें अभेदरूपसे जुड़ गया है।

केवलज्ञान प्रमाण है तथापि उसे शुद्धनयका विषय कहा है। जो केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हुई है वह व्यवहार है, उसे शुद्धनयका विषय प्रगट हुआ कहा है, अर्थात् जो पर्याय प्रगट हुई है उसे द्रव्यका प्रगट होना कहा है; इसप्रकार जिसे यथार्थ वस्तुकी प्रतीतिकी प्राप्ति हुई उसे वस्तुकी–ज्ञायकस्वभावकी प्राप्ति हुई ऐसा कहनेमें प्रतीतिरूप प्रगट हुई पर्यायमें पूर्ण वस्तुका विषय किया गया कहलाता है, क्योंकि–द्रव्यका लक्ष करने वाली पर्याय स्व–द्रव्यके आश्रयसे नई प्रगट हुई है, उसमें द्रव्य प्रगट हुआ है अथवा सहज एक ज्ञायकस्वभाव प्रगट हुआ है इसप्रकार कारणमें कार्यका उपचार करके कहा जाता है। द्रव्यका अनुभव नहीं हो सकता किन्तु पर्यायका अनुभव होता है, वस्तु वेदी नहीं जाती। यदि अवस्थाको अपनी ओर करे तो अच्छे–बुरेकी भेदरूप आकुलताका वेदन नहीं होगा; किन्तु परलक्षसे अच्छा–बुरा मानकर मैं सुखी हूँ–मैं दुःखी हूँ यों कल्पना करके आकुलताका वेदन करता है। शुभाशुभ पुण्य-पापकी भावना ही आकुलता है।

सर्वज्ञ भगवानका उपदेश तलवारकी धारके समान है। उसके द्वारा जो यथार्थ वस्तुको समझ लेता है वह भव–बन्धनको काट देता है। अनन्तकालसे सत्यको नहीं समझा था, उसे जब समझा तब अखण्ड ध्रुव वस्तुके लक्षसे निर्मल पर्याय प्रतीति भावसे प्रगट हुई, उसका अभेद स्व–विषय अखण्ड आत्मा है इसलिये उसकी प्रतीतिकी प्राप्तिको स्वरूपकी प्राप्ति कहा जाता है, और यह कहा जाता है कि–सम्पूर्ण आत्माका अनुभव कर लिया किन्तु सम्पूर्ण आत्माका अनुभव नहीं होता, लेकिन वर्तमानमें रहने वाली अवस्थाका अनुभव होता है।

आत्मामें शक्तिरूपसे सदा ध्रुवरूपमें अनन्तगुण विद्यमान हैं, 'गुण प्रगट हुआ' इस कथनका अर्थ यह है कि–गुणकी निर्मल पर्याय प्रगट हुई। शास्त्रोंमें पर्यायका गुणमें और गुणका द्रव्यमें आरोप करके कथन करनेकी पद्धति है। यदि अखण्ड वस्तुकी पहिचान करानी हो तो प्रस्तुत समझनेवाला आत्मा वर्तमान अवस्थाके द्वारा समझता है और वर्तमान प्रगट होने वाली अवस्था द्रव्यके आश्रयसे द्रव्यसे सुधरती है।

बारहवीं गाथामें चारित्रका जघन्य भाव पांचमें गुणस्थानसे लिया है। अनुत्कृष्टका अर्थ मध्यम है। प्रारम्भका चौथे गुणस्थानका जघन्य अंश यहाँ नहीं लेना है। अंशतः जघन्य भाव स्वरूपाचरण चारित्र सम्यक्दर्शनके होते ही चौथे गुणस्थानमें आजाता है; क्योंकि सामान्य अकेला (विशेष रहित) नहीं होता। प्रथम द्वितीय चतुर्थ आदि पाकोंकी परंपरा अर्थात् सम्यक्दर्शनके बाद अन्तर स्थिरता-रूप एकाग्रताकी वृद्धिका प्रारम्भ पाँचवेंके बाद छट्ठें–सातवें गुण-स्थानसे लेकर जहाँतक पूर्ण वीतराग न हो वहाँ तक मध्यम भावकी भूमिका है।

जहाँ यथार्थ अनुभव सहित स्वाश्रित अभेदका लक्ष किया वहाँ विकल्पका ख्याल नहीं होता। फिर जब विकल्प आता है तब साधक भावका व्यवहार अवश्य आता है। अभी चारित्रकी अशक्तिरूप वर्तमान अवस्थामें कमी है, इसलिये पूर्ण निर्मलदशा तक पहुँचनेका व्यवहार (साधक भाव अर्थात् मोक्षमार्ग) है, उसका अनुभव पूर्ण उत्कृष्ट भावको प्राप्त करनेसे पूर्व रहता ही है।

जबतक पूर्वरूप शुद्ध आत्माकी यथार्थ श्रद्धाकी प्राप्तिरूप सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति न हुई हो तबतक जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिन–वचनोंका श्रवण करना आवश्यक है। यथार्थता-का लक्ष होनेमें किसी निमित्त कारणकी अपेक्षा नहीं होती। जब यथार्थ स्वरूपका अंश स्वलक्षसे उदित होता है तब यथार्थ उपदेश अपने भावसे स्वीकृत कहलाता है।

सुननेकी ओरका जो शुभराग है वह भी सम्यक्‌दर्शनका कारण नहीं है। जिससे यथार्थ उपदेश मिलता है उस यथार्थ पर भार है। यथार्थका कारण स्व-द्रव्य स्वयं ही है। जो उपदेश मिलता है सो तो संयोगी शब्द हैं, और उसमें जो आशयरूप यथार्थ उपदेश है अर्थात् जो अपनी यथार्थता, असंग ज्ञायक अविकारीपन लक्षमें आता है वह स्वाश्रित लक्ष निमित्तसे नहीं होता; निमित्त और सुननेके रागको भूलकर जहाँ स्वोन्मुख हुआ और यह ज्ञान किया कि यह वस्तु यथार्थ है वह यथार्थका छोटेसे छोटा अंश है। राग-से आंशिक छूटकर जहाँ यथार्थ निःसंदेहपनकी प्रगट रुचि होती है वहाँ स्व-विषयसे सम्यक्‌दर्शन होता है, उसमें निमित्त कुछ नहीं करता।

धर्मको समझनेके लिये पहले जो व्यवहार आता है वह क्या है, यह यहाँ कहा जाता है। सुननेसे पात्रता नहीं आती, क्योंकि—साक्षात् सर्वज्ञ भगवानके पास जाकर अनन्तवार सुना है तथापि कुछ नहीं समझा। किन्तु जब तत्वका जिज्ञासु होकर, जो कहा जाता है उसका यथार्थ भाव अपने यथार्थपनसे समझ लिया तब अहो! यह अपूर्व वस्तु है, मैं पूर्ण हूँ, निरावलम्बी; अविकारी असंयोगी, ज्ञायक हूँ. ज्ञातास्वरूप हूँ, विकल्पस्वरूप नहीं हूँ इसप्रकार अन्तरंगमें स्व-लक्ष-से प्रतीतिकी तब वाणीमें जो यथार्थता कहना है वह स्वतः निश्चित् करता है।

सम्यक्त्व होनेसे पूर्व पाँच लब्धियाँ होती हैं, उनमेंसे जो यथार्थ उपदेश है सो देशनालब्धि है। इसका नियम यह है कि एकवार पात्र होकर सत्‌समागमसे ज्ञानीके पाससे ऐसा शुद्धनयका उपदेश कानमें पड़ना चाहिये कि मैं अखण्ड ज्ञानानन्द हूँ, असंग हूँ, अविकारी हूँ। इसमें पराधीनता नहीं है किन्तु जहाँ उपादान तैयार होता है वहाँ सच्चे उपदेशका संयोग अवश्य होता है।

आठवीं गाथामें भी पाँच लब्धियोंके रूपमें बातकी गई है। "आँखें फाड़कर टुकुर-मुकुर देखता ही रहता है" इसमें क्षयोपशम, देशना, प्रायोग्य और विशुद्ध यह चार लब्धियाँ हैं और "अत्यंत आनन्द

से सुन्दर बोध तरंग उछलती है" यह पाँचवीं करणलब्धि है। यथार्थता क्या है, आशय क्या है इत्यादि विकल्प उपदेश सुनते हुए यथार्थताको समझनेसे पूर्व उठते हैं जो कि व्यवहाररूप भेद हैं। किन्तु जो वस्तु-स्वभावका यथार्थ लक्ष किया सो अकारण है। संयोगकी ओरके रुख-को भूल गया और स्वाश्रयमें निश्चित् करनेके लिये कुछ रुक गया सो उसमें अपना ही कारण है।

उपादानमें तैयारीका जैसा पुरुषार्थ होता है वैसा ही निमित्त (उसके कारणसे) उपस्थित होता ही है। कोई किसीके आधीन नहीं है। उपादान और निमित्त दोनों स्वतंत्र हैं। जिसकी सत्‌को समझने-की तैयारी होती है उसके ऐसा पुण्य तो होता ही है कि-यथार्थका विचार करने पर यथार्थ संयोग अवश्य मिलता है।

निमित्तका ज्ञान करानेके लिये ऐसा कहनेमें आता है कि निमित्तके बिना कार्य नहीं होता, किन्तु निमित्तसे भी नहीं होता। यदि निश्चयसे यह माने कि निमित्तसे समझा है तो आशयमें बड़ा अन्तर होता है; स्वतंत्र उपादान-निमित्तका ऐसा मेल है। किन्तु उसका अर्थ परमार्थसे जैसा है वैसा ही समझना चाहिये। श्रीमद् राजचन्द्रने कहा है कि:—

"बुझी चहत जो प्यासको, है बूझन की रीति,
पावे नहिं गुरुगम बिना, यही अनादि स्थीति।
यही नहीं है कल्पना, ये ही नहीं विभंग,
कयि नर पंचम कालमें, देखी वस्तु अभंग।"

साक्षात् ज्ञानीके पाससे सुनना ही चाहिये-यह कल्पना नहीं है, किन्तु जिसके उपादानमें सत्‌की तैयारी हो चुकी है उसे ऐसा साक्षात् निमित्त अवश्य मिलता है। जब तृषातुरको पानीकी चाह होती है और उसे पानीकी तीव्र आकांक्षा होती है तब यदि उसका पुण्य हो तो उसे पानी मिले बिना नहीं रहता, इसीप्रकार जहाँ अन्त-रंगसे परमार्थ तत्वको समझनेकी अपूर्व आकांक्षा होती है, सत्‌की ही तीव्र आकांक्षा होती है वहाँ सत् उपदेशका निमित्त उसके स्वतंत्र

कारणसे उपस्थित होता है। जो प्रत्यक्षमें सद्गुरुके आशयको समझकर स्व-लक्ष करता है वह यथार्थ तत्वके रहस्यको इस कालमें भी प्राप्त कर लेता है, इसप्रकार उपादान और निमित्तका सहज संयोग तो होता ही है ऐसी अनादिकालीन मर्यादा है। अन्तरंगमें यथार्थता है इसलिये उसके आदरसे जो सत्की वात रुचती है वह अपने भावसे ही रुचती है, परसे नहीं।

प्रश्नः—इसमें व्यवहार क्या है ?

उत्तरः—जिनसे उपदेश सुना उनपर शुभरागसे भक्ति-बहुमान होता है। कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र और मिथ्या आचरणका आदर दूर करके रागकी दिशा बदली जाती है। संसारके स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा कुटुम्ब, तथा देहादिका राग कम करके, संसारपक्षके रागसे अधिक राग देव, गुरु, शास्त्र और धर्म सम्बन्धी रहता है। जितना अशुभराग कम किया जाता है, उतना शुभराग होता है। वहाँ शुभरागका भी निषेध करके यथार्थ तत्वको समझे तो शुभभावको व्यवहार कहा जाता है किन्तु उस शुभरागकी सहायतासे यथार्थता नहीं आती। अशुभसे बचनेके लिये शुभ राग करे किन्तु मात्र राग ही राग रहे और यथार्थ कुछ भी न करे तो रागसे बांधा हुआ पुण्य भी अल्पकालमें छूट जाता है।

यदि जिन-वचनोंके आशयका विचार करते हुए यथार्थताका अंश प्रगट करे और अपनी ओर अंशतः आये तो उस यथार्थताको निश्चय कहा जासकता है। उपदेशको सुना तथा सुननेका शुभराग किया उसे व्यवहार (उपचारसे निमित्त) कहा जाता है।

इसमें 'यथार्थ'के गूढ़ अर्थकी बात है, वह समझने योग्य है। यद्यपि उपादानसे काम हुआ है निमित्तसे नहीं हुआ तथापि निमित्तकी उपस्थिति थी। मनसे आत्माका खूब विचार करनेसे यथार्थ प्रतीति नहीं होती। आत्मा तो मन, वाणी, देह शुभराग और उसके अवलम्बनसे पृथक् उस पार है। उसको ग्रहण करनेका विषय गम्भीर है। एक वस्तुका दूसरी वस्तुके साथ परमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु अज्ञानसे परके साथ सम्बन्ध मान लिया है। जो स्वतंत्र सत् स्वभाव-

को परसे लाभ हुआ मानता है वह परको और आत्माको एक हुआ मानता है, और वह अपनेको अशक्त मानता है—अपनेमें शक्ति नहीं मानता। किन्तु जो 'नहीं' है उसे कहाँसे लायेगा? यथार्थताका अर्थ पराधीनता नहीं किन्तु पूर्ण स्वाधीनता है। उसमें कभी हीनता या विकारिता नहीं होती।

साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर और उनकी दिव्यध्वनि भी परवस्तु है सुनने वाले और समझने वालेको उसका निमित्तमात्र संयोग है, तत्सम्वन्धी सुननेका राग पराश्रित विकारभाव है। उससे असंयोगी अविकारी तत्वको लाभ कैसे हो सकता है? यदि निमित्त पर दृष्टि रखे तो निमित्तके लक्षसे होने वाला ज्ञान संयोगाधीन कहलायगा। और संयोग तथा राग क्षणिक है। क्षणिक संयोग (परवस्तु) के आश्रयसे होने वाला परावलम्वी ज्ञान भी नाशवान है।

लोगोंकी ऐसी धारणा है कि किसी दूसरेकी सहायतासे लाभ हो सकता है, कोई मुझे देदे, किसीके आशीर्वादसे कल्याण हो जाये, इसप्रकार जीव परसे आत्माका लाभः चाहता है किन्तु यदि अपनी निजकी अनन्त शक्ति पर विश्वास न करे तो कोई सत्समागम-में रहकर भी क्या कर करेगा? किसीको दूसरेसे तीनलोक और तीन-कालमें भी कोई हानि-लाभ नहीं हो सकता। यदि अपनी सावधानीसे सत्के प्रति आदरभाव लाकर, सत्समागम करे तथा सच्चे देव, गुरु, शास्त्रका आदर स्थिर रखकर कुगुरु-कुदेव-कुशास्त्रका किंचित्मात्र भी आदर न करे तो उसे सत्के निमित्त की ओरका शुभराग होता है। यथार्थ उपदेश सुनने पर भी जव निजको निजरूप मानता है अंतरंगमें अनुभव द्वारा यथार्थता ग्रहण की जाती है तब देव, गुरु, शास्त्रका शुभराग तथा उपदेश निमित्त कहलाता है।

जिन–वचनको सुनकर उसके आशयको ग्रहण करनेके वाद यथार्थकी धारणा होती है। जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे वीतराग वचनोंका श्रवण करना चाहिये; जहाँ ऐसा कहा है वहाँ स्वाधीन वीतरागता पर भार दिया है। किसीका तत्व किसीके

आधीन होकर प्रगट होता है ऐसा बताने वाले वीतरागके वचन नहीं होसकते। इसमेंसे अनेकानेक सिद्धान्त निकलते हैं। प्रत्येक आत्मा तथा अपने आत्माके अतिरिक्त प्रत्येक चेतन तथा जड़वस्तु अनादि-अनन्त, स्वतंत्र वस्तु है। किसीका द्रव्य-गुण-पर्याय किसी अन्यके आधीन नहीं है। कोई किसीके गुण अथवा किसी पर्यायको नहीं बनाता, कोई किसीका कर्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तुकी सम्पूर्ण शक्ति स्वतंत्रता-से सदा परिपूर्ण बनी रहती है, उस शक्तिको प्रगट करनेके लिये किसी संयोग, क्षेत्र, काल या आश्रयकी आवश्यकता नहीं होती। गुणके लिये किसी निमित्तकी प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। अपने गुणकी दूसरेसे आशा रखना अपनेको अकिंचित्कर मानना है। वीतरागके निस्पृहता होती है, वे सबको पूर्ण स्वतंत्र प्रभुरूप घोषित करते हैं।

यदि कोई यह कहे कि-मैं तुमको समझाये देता हूँ तो समझना चाहिये कि-उसने उस व्यक्तिको परतंत्र माना है और उसकी स्वतंत्रताका अपहरण किया है। लोगोंकी परोपकारकी बातें करने वाला बहुत अच्छा मालूम होता है किन्तु वास्तवमें तो अपना उपकार या अपकार अपने भावोंसे अपनेमें ही होता है। उसे पर-संयोगसे हुआ कहना घीका घड़ा कहनेके समान व्यवहारमात्र है, इसलिये वह परमार्थसे बिल्कुल अयथार्थ है। लोग व्यवहारमें घीके संयोगसे मिट्टी-के घड़ेको घीका घड़ा कहते हैं, तथापि वे उसके वास्तविक अर्थको समझते हैं।

इसीप्रकार शास्त्रमें कहीं-कहीं निमित्तसे कथन होता है किंतु उसका परमार्थ भिन्न होता है। उस कथनको समझते हुये यह निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये कि किसीसे किसीका कोई कार्य नहीं होता।

कोई विचार करता है कि-जिसका सत् स्वत: स्वभाव है ऐसी पूर्ण वस्तुको समझने वालोंके अभिप्रायका निष्कर्ष निकाल लेना चाहिये, जैसा वे समझे हैं वैसा ही हमें भी समझना है; इसप्रकार अपनेको ग्रहण करनेके आदर-भावसे सत्-समागम करे तो वह सत्-समागम व्यवहारसे निमित्त कहलाता है।

सत्समागममें स्वतंत्र सत्की घोषणा होती है कि–अनन्त आत्मा प्रत्येक परसे भिन्न है। मैं सदा निजरूपसे हूँ और पररूपसे नहीं हूँ, तथा परवस्तु मेरेपनसे त्रिकालमें भी नहीं है। प्रत्येक वस्तुमें अपने आधारसे स्वतंत्रतया स्थिर रहकर पर्यायसे बदलना होता है। प्रतिसमय वर्तमान पर्यायका व्यय, नई पर्यायकी उत्पत्ति और वस्तुका अपनेरूपमें त्रिकाल स्थिर रहना; इसप्रकार प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, गुण, पर्यायसे है और परकी अपेक्षासे नहीं है। सत्समागम और केवलीकी वाणी भी परवस्तु है मेरी वस्तु नहीं है; वह अपनी अपेक्षासे सत् है और परकी अपेक्षासे असत् है।

देव, गुरु, शास्त्र वीतरागस्वरूप हैं; वे क्या कहते हैं यह सुनकर अपने यथार्थ अस्तित्वको स्वीकार करनेमें यथार्थका आंशिक बल परमार्थकी ओर उन्मुख होता है। वहाँ सत् तथा सच्चे निमित्तका बहुमान होनेसे अशुभराग दूर होकर देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभ भाव हुये बिना नहीं रहते।

पं० भागचन्द्रजी कृत 'सत्तास्वरूप'में अरहन्तका स्वरूप बताकर गृहीत मिथ्यात्वको दूर करनेका उपाय भलीभाँति समझाया है परमार्थ तत्वके विरोधी कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको ठीक मानना सो गृहीत मिथ्यात्व है। मैं परका कर्ता हूँ, कर्मोंसे घिरा हुआ हूँ, परसे भिन्न–स्वतंत्र नहीं हूँ, शुभरागसे मुझे लाभ होता है, इसप्रकारकी जो विपरीत मान्यता अनादिकालसे चली आरही है, सो अगृहीत अथवा निश्चय मिथ्यात्व है। उस निश्चय–मिथ्यात्वको दूर करनेसे पूर्व गृहीत मिथ्यात्व अथवा व्यवहार–मिथ्यात्वको दूर करना चाहिये।

एकेन्द्रियसे लेकर असैनी पंचेन्द्रियके जीव कुगुरु, कुदेव आदिके कदाग्रहको- ग्रहण नहीं कर सकते, किन्तु सैनी पंचेन्द्रिय होकर वीतराग अथित तत्त्वोंसे विरुद्ध कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रको मानने लगता है। व्यवहारमें भी ऐसी विपरीत धारणा बना लेता है कि–अमुककी मानताकी जाय तो सन्तान होगी, शीतलाकी पूजा करनेसे बालक नहीं मरेगा, अमुक देव हमारी रक्षा कर सकता है इत्यादि। इतना ही

नहीं किन्तु जो लोकोत्तर वीतराग धर्मके नाम पर सर्वज्ञ भगवानसे विरुद्ध दर्शन, ज्ञान, चारित्रका उपदेश देते हैं और परिग्रहको भी मुनि मानते हैं वे सब गृहीत मिथ्यात्वके कीचड़में फँसे हुए हैं, उनकी विनयका परित्याग करना चाहिये। इसमें द्वेष नहीं किन्तु सत्यका ही समादर है।

जो जीव धर्मके नाम पर उत्कृष्ट पुण्यबन्ध करके अनन्तबार नवमें ग्रैवेयक तक गया और नग्न दिगम्बर मुनि होकर निरतिचार महाव्रतोंका पालन किया तथा गृहीत मिथ्यात्वका त्याग किया तथापि 'शुभरागसे लाभ होता है' ऐसे पराश्रयरूप व्यवहारका सूक्ष्म पक्ष होनेसे उसके निश्चय-मिथ्यात्व बना रहा। उसे अन्तरंगसे अपने ऐसे स्वतंत्र स्वभावकी वात नहीं रुची कि-मैं परसे भिन्न, निरावलम्बी, अविकारी हूँ; इसलिये उसका भव-भ्रमण दूर नहीं हुआ।

मैं जन्म-मरणको दूर करने वाला अखण्ड गुणस्वरूप हूँ इस-प्रकारकी रुचिसे होने वाला सत्का आदर यथार्थ है-निश्चय है, और उपदेश व्यवहार है। यथार्थ की देशनाको ग्रहण करने वाला यथार्थको ग्रहण करता है तब पहले प्रारंभिक अंश (यथार्थका अंश) निरावलम्बीरूपसे प्रगट होता है; वह यथार्थ चारित्ररूप निर्मलभावका कारण है।

जिससे जन्म-मरण और भ्रान्तिका नाश होता है ऐसे यथार्थ जिन-वचनोंको सुनना, धारण करना तथा उनके कथनके आशयका निर्णय करके ऐसी दृढ़ता करना चाहिये कि-कोई कुतर्कवादी धर्मके नाम पर अन्यथा कथन करेगा तो उसका तत्काल ही स्पष्ट निषेध कर देंगे। परसे, शुभभावसे, शुभरागकी क्रियासे अथवा इसीप्रकार बाह्यसे कोई लाभ होना बताये अथवा झूठे तर्कसे कोई यह कहे कि शुभ कार्य करते-करते क्रमशः गुण प्रगट होंगे तो उसका भी स्पष्ट निषेध कर देना चाहिये; और नित्य-सत्य वस्तुके बोधको ऐसी दृढ़ताके साथ धारण कर रखे कि कालान्तरमें किसी भी संयोगमें स्वयं संशयमें न पड़े।

मतिज्ञानके चार भेद हैं:—

(१) अवग्रह—वस्तुके बोधको ग्रहण करना।

(२) ईहा—वस्तु क्या है इसके निश्चय करनेका विचार करना।

(३) अवाय—यह वस्तु ऐसी ही है, अन्यथा नहीं है ऐसा निर्णय करना।

(४) धारणा—जिस ज्ञानसे जाने हुए पदार्थमें कालान्तरमें संशय तथा विस्मरण न हो।

इसप्रकार नित्य स्वभावाश्रित जिस स्वतत्वकी धारणासे धारण किया उस सत्के निर्णयकी अस्ति है, यदि उससे विरोधी असत् बातको सुने तो उसे उसकी नास्ति होती है अर्थात् निषेध होता है। इसप्रकार यथार्थ वस्तु क्या है इसका बोध मतिज्ञानमें धारण कर रखे।

जबतक निःसंदेह होकर यथार्थ तत्वको न जाने तबतक बारम्बार उसी बातको अस्ति-नास्ति पूर्वक सुने और अस्ति की ओर भार देकर लक्षको स्थिर करे तो वहाँ सहज ही शुभराग होजाता है। लोग कहते हैं कि यदि "शुभ व्यवहार न किया जाय अथवा शुभराग न करें तो धर्म कैसे किया जायेगा?" किन्तु अस्तिस्वभावकी ओर लक्ष और भार दिया कि वहाँ रागकी दिशा बदल ही जाती है।

यहाँ जिस वस्तुको सुना है उसे अविरोधी रूपमें ऐसा दृढ़ करे कि उसमें कदापि संशयरूप विरोध न आये इसप्रकार भलीभाँति परिचय करके, विरोधको दूर करके अविरोधी तत्वको भलीभाँति समझना चाहिये, और परमार्थ तत्व क्या है तथा उसे बताने वाले सच्चे देव, गुरु, शास्त्र एवं नव तत्वका यथार्थ स्वरूप क्या है यह जानना चाहिये; क्योंकि यह प्रारम्भसे ही प्रयोजनभूत तत्व है।

जैसे दूर देशमें मालका लेनदेन करनेके लिये आढ़तिया रखा जाता है, उसके साथ थोड़ासा परिचय होनेके बाद यह विश्वास जम जाता है कि वह ईमानदार है—उसने न तो किसीको ठगा है और

न हमें ही धोखेमें डाल रहा है। इसके बाद बहुत लम्बे समय तक वह विश्वास बना रहता है और उसके प्रति कोई शंका नहीं होती। इसीप्रकार सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको अविरोधरूपसे जानने पर अल्प परिचयसे ही यह निश्चय होजाता है कि उनमें कहीं किसी भी प्रकारसे कोई विरोधी तत्व नहीं है। इसके बाद कोई मिथ्यात्यागी साधुवेशी अथवा कोई भी चाहे जैसी युक्तिपूर्वक विरोध भावको लेकर धर्म सम्बन्धी तर्क करे तो भी स्वतत्वमें और देव, गुरु, शास्त्रमें किंचित्-मात्र भी शंका नहीं होती, तथा किसीभी प्रकार मन नहीं उलझता। किन्तु जिसे सत्यका मूल्य नहीं है और जिसे सत्यके प्रति सुदृढ़ श्रद्धा नहीं है वह कहता है कि 'हम क्या करें? हमें तो त्यागी–साधु युक्ति और तर्क द्वारा जो जैसा समझाते हैं अथवा कहते हैं वह हमें स्वीकार करना ही होता है।' किन्तु उन्हें यह खबर नहीं होती कि इससे तो उनका सम्पूर्ण स्वतंत्र तत्व ही लुट जाता है। इसलिये सद्गुरु की ठीक परीक्षा करनी चाहिये। यह कहना घोर अज्ञान है कि हमारी तो कुछ समझमें ही नहीं आता और अज्ञान कोई भला बचाव-नहीं है।

सद्गुरुको यथार्थतया पहिचाननेके बाद उनके प्रति सच्ची भक्ति होती है। जिनसे यथार्थ वस्तु सुननेको मिली है उनके प्रति भक्ति-का शुभराग होता ही है। तत्वको यथार्थ समझनेके बाद भी उसको विशेष दृढ़तासे रटते हुए उसे बारम्बार रुचिपूर्वक सुने और उस सच्चे निमित्तको उपकारी जानकर उसका बहुमान किया करे। उसमें परमार्थसे अपने गुणका बहुमान है, इतना ही नहीं किन्तु व्यवहारसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्रको यथार्थ तत्वका कहने वाला जानकर उनकी ओर भक्ति विनय बहुमान होता है, अर्थात् भक्ति-का शुभराग हुए बिना नहीं रहता। अविकारी यथार्थ स्वभावका जो लक्ष है और उसका जो रटन है, उसके बलसे जितना राग कम होता है उतना अपने लिये लाभ मानता है, और जो राग-द्वेष है उसे बन्धका कारण जानकर अन्तरंगसे समस्त रागको त्याज्य मानता है।

यदि कोई देव, गुरु, शास्त्र सम्बन्धी शुभरागको ग्राह्य मानें अथवा उस शुभरागको लाभकारक माने या उसे करने योग्य समझे तो वह वीतरागके प्रतिका राग नहीं किन्तु रागका राग है। क्योंकि उसे वीतरागताके गुणकी प्रतीति नहीं है कि मैं रागका नाशक हूँ।

वीतरागका उपदेश आत्माको पर-सम्बन्धसे रहित, अविकारी, पूर्ण निर्मल स्वतंत्र बताने वाला होता है। आत्माके साथ जो संयोगी कर्म (एक क्षेत्रमें) है उससे आत्मा बद्ध नहीं है, किन्तु परमार्थसे अपनी भूलके बन्धनभावसे बद्ध है। बन्ध और मोक्ष किसी की पराधीनतासे नहीं होते, किन्तु आत्माके भावसे होते हैं। यहाँ ऐसे यथार्थ वचन हैं या नहीं इसप्रकार श्रवण करने वालेको अपनी निजकी तैयारी और उपदेशकी परीक्षा करनेका उत्तरदायित्व लेना होगा।

आत्माका ऐसा पराधीन और शक्तिहीन स्वरूप नहीं है कि किसी परसे लाभ हो अथवा कोई दूसरा समझाये तो तत्त्व प्रगट हो। तत्त्वको श्रवण करनेका भाव भी शुभविकल्प या शुभराग है। उस पर-संयोगसे और रागसे असंयोगी, अविकारी, वीतराग स्वरूप प्रगट नहीं होता। किन्तु स्वतन्त्रता यथार्थता क्या है इसके अंशको जब स्वयं उमंगपूर्वक अनुभवपूर्वक प्रगट करे तब उपदेश और उसे सुननेकी ओर-के शुभराग पर आरोप करके उसे निमित्त कहा जाता है।

जो वचन आत्माको परसे बन्धनयुक्त बतलाते हैं उनका अर्थ यह हुआ कि जब पर-पदार्थ मुक्त करे तब आत्मा मुक्त होगा। और ऐसा होनेसे आत्मा पराधीन एवं शक्तिहीन कहलायेगा। जो शक्तिहीन होता है या पराधीन होता है वह स्वतन्त्र पृथक् तत्त्व नहीं कहा जासकता। कोई यह मानते हैं कि समस्त आत्मा एक परमात्माके अंश हैं, सब मिलकर एक ब्रह्मरूप वस्तु हैं, किन्तु ऐसा माननेसे स्वाधीन सत्ताका अभाव होजायेगा। वास्तवमें तो इस मान्यतामें प्रत्यक्ष विरोध आता है, क्योंकि संसारमें रहकर भी प्रत्येक आत्मा अलग-अलग अकेला ही दुःख भोगता है।

कोई कहता है कि "देहसे मुक्त होने पर आत्मा पर-

परमात्माकी सत्तामें मिल जाता है" किन्तु यदि यह सच हो तो–अर्थात् दुःखोंके भोगनेमें अकेला और सुखदशामें किसीकी सत्तामें मिल जाने वाला हो तो उसमें स्वतंत्रता कहाँ रही? इसलिये उपरोक्त मान्यता मिथ्या है। इसप्रकार यथार्थ स्वतंत्र स्वरूपमें विरोधरूप मान्यताओंको दूर करके यथार्थ परिपूर्ण स्वतंत्र वस्तुका निर्णय करनेके लिये आत्मामेंसे निश्चयका अंश प्रगट करना होता है। अविकारी निरालम्बी, असंग स्वभावकी श्रद्धा विकारका नाश करने वाली है; ऐसे यथार्थ तत्त्वको बताने वालेका निर्णय करने वाला भी आत्मा ही है।

प्रथम उपदेश सुननें पर परमार्थकी अप्रगट रुचि की है, उस उपदेशमें यथार्थता कैसे आशय की है, मैं किसप्रकार असंग, अविकारी, निरावलम्बी हूँ; यह परमार्थसे सुनकर जो निराला स्वतत्वकी ओर झुकने वाला निश्चयका अंश है सो परमार्थसे श्रद्धाका कारण है।

मैं परसे बद्ध नहीं हूँ, परवस्तु मेरा हानि–लाभ नहीं कर सकती, मैं रजकण तथा रागसे पृथक् हूँ, मात्र अज्ञानसे (अपनी भूलसे) बन्धा हुआ था। विकार क्षणिक है, वह मेरा नित्यस्वभाव नहीं है, मैं नित्य ज्ञायक हूँ, इसप्रकारका अप्रगट आशय जब अंतरंगमें आता है तब भाव–बंधनको दूर करनेका आंशिक उपाय प्रारम्भ होता है। जब अव्यक्त रुचि यथार्थ तत्वकी ओर प्रारम्भ हुई तब सुननेका अवलम्बन छोड़कर अपनी ओर लक्ष किया और सत्को स्वीकार करने वाले यथार्थको स्वीकार किया; उतना ही अयथार्थसे भिन्नरूपको समझनेका यथार्थ उत्तरदायित्व आजाता है। इसप्रकार श्रवण होने पर अपने भावसे स्वतः लाभ निकाल लेता है, रागसे लाभ नहीं होता। जहाँ परवस्तु पर लक्ष होता है वहाँ रागका विषय होता है, वह राग विकार है। मैं रागरूप नहीं हूँ, ज्ञानरूप हूँ; इसप्रकार अविकारी असंगभाव उपदेशमें कहना चाहते हैं, ऐसा अभिप्राय वह अन्तरंग लक्षसे निश्चित् करता है।

अहो! यह वस्तु ही निराली है, पूर्ण है, अविकारी है, इसप्रकार

यथार्थको जिस भावसे निश्चित् करता जाता है वह भाव यथार्थ निश्चयका अंश होनेसे यथार्थ निर्विकल्प परमार्थका कारण है। किंतु रागसे, परसे अथवा साक्षात् त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभुकी वाणीसे परमार्थत: अंशमात्र धर्म नहीं होता। किन्तु परावलम्बनसे छूटकर अंतरंगसे निर्णय करे कि वे जो कुछ कहते हैं सो ऐसा ही है; और जब यह समझ लेता है तब देव, गुरुके प्रति बहुमान उत्पन्न होता है, तथा वह उनकी भक्ति करता है। उसको गुणके प्रति भक्ति है अर्थात् यथार्थ स्वतंत्र तत्वकी पहिचानयुक्त गुणरूप होनेका लक्ष है। राग-द्वेष, अज्ञान, पराश्रयसे होता है, जो कि क्षणिक है वह मेरा स्वरूप नहीं है। इसप्रकार जो प्रतीतिपूर्वक राग-द्वेष और अज्ञानका नाश करता है वह जिन (जीतने वाला) है। इसमें अनेक अर्थोंका समावेश होजाता है; जैसे-विकार जीतने योग्य है, उसे जीतने वाला अविकारी है; विकार क्षणिक और एक समयकी अवस्था वाला है तथा उसका नाश करने वाला स्वभाव विकार रहित त्रिकाल-स्थायी है। यद्यपि विकारमें अनन्तकाल व्यतीत होगया है तथापि स्वभावमें ऐसी अपारशक्ति है कि वह एक समयमें ही उस विकार अवस्थाको बदलकर अनन्त अविकारी शुद्ध शक्तिको प्रगट कर सकता है। विकारी अवस्थामें परके आश्रयसे अनन्त विकार कर रहा था, उसे दूर करके जब स्वतंत्र स्वाश्रयके द्वारा ध्रुवस्वभावकी ओर जाता है तब जो अनन्त अविकारी भाव अपनेमें पहलेसे ही विद्यमान था वही भीतरसे प्रगट होजाता है; वह कहीं परसे अथवा बाहरसे नहीं आता। विकारके होनेमें अनेक प्रकारसे निमित्त होते हैं शुभराग भी परके लक्षसे होता है। मुझमें परवस्तुकी नास्ति है। परके द्वारा मुझे त्रिकालमें भी कोई गुण-दोष या हानि-लाभ नहीं होसकता और मैं भी परका कुछ नहीं कर सकता। शुभराग भी विकार है, विकार अविकारी गुणके लिये सहायक नहीं होसकता। इसप्रकार पूर्ण स्वतंत्रताको बताने वाला यथार्थ ज्ञानी है। अपनेमें यथार्थको स्वीकार करने वाले, समझाने वाले वीतरागी गुरुको उपकारी निमित्त माननेसे शुभ-

रागरूप भक्ति-भाव उछले विना नहीं रहता। अभी रागदशा विद्यमान है इसलिये उसे कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी ओर न लेजाकर सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति परिचयके वहुमानमे शुभ-भक्ति और विनय करता है। इसप्रकार सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेसे पूर्व सच्चे निमित्तकी ओरका शुभ-व्यवहार अवश्य होता है। किन्तु यदि दूसरा समझा दे अथवा दूसरेसे समझा हुआ माने तो स्वयं पराधीन सिद्ध होगा, किंतु त्रिकालमें भी आत्मा पराधीन नहीं है, उसे कोई दूसरा सहायक नहीं हो सकता।

परमार्थ जिनेन्द्रके स्वरूपको वताने वाला वीतरागी गुरु कौन है, क्या जीतना है, जीतने वाला कौन है, अवगुणका नाश करके सदा गुणरूप स्थिर रहने वालेका क्या स्वरूप है, इत्यादिका यथार्थ निर्णय न करे और मात्र सुनता रहे तो कोई वाहरसे कुछ नहीं दे देगा। स्वयं जैसा भाव करेगा वैसा फल मिलेगा। मैं निरावलम्वी, अविकारी, स्वतंत्र हूँ, असंग हूँ ऐसी प्रतीतिके विना पुण्य-पाप करके अनन्तवार चौरासीमें जन्म-मरण किया। धर्मके नाम पर शुभभावसे अनेक क्रियायें करके अनन्तवार देवलोकमें गया। पाप करके देवलोकमें नहीं जाया जाता किन्तु पुण्य करके ही जासकते हैं, इसलिये उस पुण्यके शुभभाव नवीन (अपूर्व) नहीं हैं। अपूर्व क्या है यदि ऐसी यथार्थको समझनेकी उमंग हो तो यथार्थ सत्को समझाने वाले वीतरागी गुरुको पहिचान ले और उनका आदर करे, किन्तु यदि अपनी शक्तिको स्वीकार करके स्वयं न समझे तो उसे निमित्त नहीं समझा सकता। जो समझता है वह अपने आप समझता है, तव वह अपनी पहिचानका वहुमान करनेके लिये गुरुको उपकारी मानकर उनकी विनय करता है। समझनेके वाद जवतक राग दूर नहीं हो जाता तवतक सत्के निमित्तोंकी ओर शुभराग रहता ही है। जिसे अपने स्वरूपको समझनेकी रुचि होती है उसे मुमुक्षु रहकर सत्समागमको ढूंढना होता है और सत्की पहिचान होने पर देव, गुरु, शास्त्रके प्रति शुभरागका होना इतना सुनिश्चित होता है जैसे प्रातःके वाद सन्ध्याका

होना। क्योंकि उसमें स्व-लक्षसे चिदानन्द सूर्यका अखण्ड अनन्त प्रकाश प्रगट होता है।

वीतरागके वचनोंको धारण कर रखनेका अर्थ है कि-वे जो कुछ कहते हैं उसे यथार्थ समझना। परवस्तुसे, पुण्य-पापसे त्रिकालमें भी धर्म नहीं हो सकता। अन्यकी सहायतासे आत्माके गुण प्रगट नहीं होते। अन्यसे कोई लाभ-हानि नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक वस्तु त्रिकाल भिन्न है। लाभ-अलाभ अपने भावसे होता है। ऐसी प्रतीति गृहस्थ और त्यागी दोनोंके लिये है। अन्य पदार्थसे अथवा द्रव्य दान आदिसे पुण्य नहीं होता किन्तु यदि तृष्णा कम करे तो अपने भावसे पुण्य होता है। मात्र परकी हिंसा पापका कारण नहीं है किन्तु अपना हिंसारूप प्रमादभाव ही वास्तवमें हिंसा है, वह अपने ही गुणका घात है। इसमें स्वतंत्र तत्वका निर्णय होता है। वीतराग मार्गमें कोई पक्षपात नहीं है, वीतराग सबको वस्तुरूपमें स्वतंत्र घोषित करते हैं।

किसीकी कृपासे स्वतंत्र आत्मतत्वके गुण प्रगट होते हैं, ऐसे पराधीनताको बतानेवाले वीतरागके वचन नहीं हैं। पुण्यसे, शुभरागसे अथवा शरीरादि परवस्तुसे लाभ होता है, आत्मधर्म होता है, आत्माके गुणके लिये वैसा व्यवहार करना चाहिये ऐसा कथन करनेवाले वीतरागके वचन नहीं होते। पुण्य-पाप और धर्म अपने भावानुसार ही होता है।

संसारमें दूसरेके लिये कोई कुछ नहीं करता। कोई पुरुष अच्छे वस्त्राभूषण अपनी स्त्रीके लिये नहीं लाता किन्तु स्त्रीके प्रति ममता है, राग है इसलिये उस रागको पुष्ट करनेके लिये जिसे लक्ष बनाया है उस स्त्री आदिमें (रागके खिलौनेमें) इच्छित शोभा न होनेसे वह अपनेको अनुकूल नहीं लगती। और जब अपना इच्छित पहनाव-उढ़ाव दिखाई देता है तब उस पर आँखें रुकती हैं; इसलिये वह जो कुछ करता है अपने रागको पुष्ट करनेके लिये करता है। इसीप्रकार लोग अपने पुत्रको पढ़ाते हैं, उसका ब्याह रचाते हैं और उसके नाम

पर बैंकमें रुपया जमा कराते हैं, यह सब अपने उस लड़केके लिये नहीं किया जाता किन्तु अपनेको तत्सम्बन्धी ममतामें उसके अतिरिक्त कोई दूसरा समाधान दिखाई नहीं देता इसलिये स्वयं उसके नामसे अपनी मोह-ममताको पुष्ट करनेकी सम्पूर्ण चेष्टायें अपने ही रागको पुष्ट करनेके लिये करता है। घरमें, समाजमें मान-प्रतिष्ठा और प्रभाव बना रहे इसलिये मैं दूसरोंका कुछ काम करूँ और दूसरोंके साथ अनुकूल सम्बन्ध बनाये रखूँ, ऐसा भाव करके बड़प्पनके रागको पुष्ट करनेके लिये यह सब चेष्टायें करता है। कोई परके प्रति कर्तव्य पालन नहीं करता, किन्तु विपरीतदृष्टिसे परमें अपने रागको आरोपित करता है; अर्थात् वह परवस्तुको अपने रागका विषय बनाकर उसकी रुचिके अनुसार सब कुछ अनुकूल करना चाहता है।

जन्म-मरण इत्यादि सब पराधीनता है। आत्मा परसे भिन्न है, वही आदरणीय है, इसप्रकार जिसे परमार्थमें प्रीति होती है वह यथार्थकी रुचिको पुष्ट करनेमें निमित्तरूप सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी भक्तिके बिना नहीं रहता। स्मरण रहे कि-भगवानकी भक्ति भगवानको अच्छा लगानेके लिये नहीं होती। सत्की पहिचानके बाद सम्पूर्ण गुणका बहुमान होनेसे वीतरागकी भक्ति उमड़े बिना नहीं रहती।

मैं स्वतंत्र, अविनाशी, पूर्ण परमात्माके समान हूँ; विकल्प अथवा परमाणुमात्र मेरे स्वरूपमें नहीं हैं; यह बताने वाले श्री जिनगुरु और प्रगट परमात्माकी प्रतिमाके प्रति अपने गुणोंके स्मरणके लिये तथा अशुभभावसे बचनेके लिये बहुमान, स्मरण, भक्ति इत्यादि होते हैं। उन देव, गुरुके लिये कोई कुछ नहीं करता, किन्तु विनयसे देवकी भक्ति आदि कही जाती है। जैसे कोई मनुष्य राजाकी प्रशंसा इसलिये करता है कि-उसे निजको वह राजत्व अनुकूल लगता है, इसीप्रकार जन्म-मरणका अंत कैसे होता है यह बताने वालेकी पहिचान होने पर उसके बहुमानमें भक्ति प्रवाहित हुये बिना नहीं रहती।

जब किसी धनवानके यहाँ इकलौते पुत्रका विवाह होता है तब उसका वैभव और उमंग -तरंग उछले बिना नहीं रहती (इस दृष्टांत-का एक अंश सिद्धान्तमें लागू होता है) इसीप्रकार आत्माके यथार्थ स्वरूपकी ओर अप्रगट लक्ष हुआ है किन्तु अभी निश्चय अनुभव सहित सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं किया है, वहाँ भी निर्दोष वीतराग गुरु मेरी स्वतंत्रताको प्रगट करनेवाले हैं. मुझे मोक्ष देने वाले हैं, इसप्रकार अत्यन्त विनय पूर्वक बहुमानसे भक्ति किये विना नहीं रहता।

जिसे परमार्थकी रुचि पुष्ट करनी है वह सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति शुभराग करके यह पहले जान लेता है कि-सच्चे गुरु कौन हैं। सच्चे गुरु परमार्थ स्वरूपको बताने वाले हैं (निश्चयसे तो आत्मा ही अपना गुरु है) वे (गुरु) शिष्यको बतलाते हैं कि सिद्ध और अरहन्त केवलज्ञानी परमात्मा कैसे होते हैं, उनका स्वरूप क्या है, जिनसे आत्माकी प्रतीति होती है। इसलिये प्रत्यक्ष सद्गुरु विशेष उपकारी हैं। श्रीमद् राजचन्द्रजीने आत्मसिद्धिमें कहा है कि:—

"प्रत्यक्ष सद्गुरु सम नहीं, परोक्ष जिन उपकार;
ऐसा लक्ष हुए विना, उगे न आत्म-विचार।"

सद्गुरुके प्रत्यक्ष उपकारका निर्णय किये विना वास्तवमें आत्माके विचारका उद्भव नहीं होता। यह बताने वाले प्रत्यक्ष श्री सद्गुरु ही हैं कि-परोक्ष उपकारी श्री जिनदेव कैसे थे और उन्होंने क्या कहा था। यदि सम्पूर्ण स्वभावको बताने वाले साक्षात् श्री सद्गुरुको न पहिचाने और उनका बहुमान न करे तो पूर्णानन्द परमात्माके स्वरूप-को नहीं जाना जा सकता, और उनके यथार्थ स्वरूपको समझे विना पर-मार्थ स्वरूप नहीं समझा जासकता, इसलिये साक्षात् ज्ञानीको पहिचान-कर उनकी विनय करनेको पहले कहा है। यदि साक्षात् उपकारी श्रीगुरुकी विनय न करे तो अपने परिणामोंका अवलम्बन करना नहीं आसकता, जो कि विवेक की अपनी बहुत बड़ी भूल है। जो साक्षात् ज्ञानीको नहीं पहिचानता, उनकी विनय नहीं करता, और परोक्ष

जिनेन्द्र भगवानके गुणोंके नाम पर भक्ति-पूजामें ही लगा रहता है उसके अपूर्व आत्मविचारका उद्भव नहीं हो सकता।

साक्षात् गुरुसे यथार्थताको समझने और माननेमें असत्को न माननेका उत्तरदायित्व और यथार्थको धारण करनेकी अपनी तत्परता परिज्ञात होजाती है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञानीको परम-उपकारी कहा है। जैसे लोक-व्यवहारमें सब कहते हैं कि-हमारी दुकानका माल उत्कृष्ट है, इसीप्रकार यदि कोई अपने माने हुए धर्मको अनेक तर्कोंसे सच्चा कहे,—तो इससे जो जड़ है वह कहीं सच्चा नहीं हो सकता।

मुझे कोई दूसरा समझा दे, दूसरा तार दे, पुण्यादिक परकी सहायता मिले तो धर्म हो, इसप्रकार परसे धर्मकी आशा रखनेवाला सत्का जिज्ञासु नहीं है। किन्तु जिसे स्वतः सुधरना है, परसे कुछ निश्चित् नहीं करना है और इसप्रकार जो अपने उत्तरदायित्वसे सत्-की जिज्ञासामें यथार्थता लाता है वह सत्का सच्चा शोधक है, वह ज्ञानीको भलीभांति पहिचान लेता है। इसके पास अविरोधी सत् है, यही यथार्थ ज्ञानी है, ऐसा यथार्थ निर्णय किये बिना यदि भगवानकी प्रतिमांके समक्ष भक्ति करे तो समझना चाहिये कि वह मात्र रागकी भक्ति करता हैं। जिसे सच्चे गुरुकी और पूर्णानन्द परमात्माकी पहिचान है उसे पूर्णकी महिमा परिज्ञात होती है, इसलिए वह निर्वि-कार शान्त वीतराग मूर्तिको देखकर अपनेमें पूर्णकी रुचिका स्मरण करके, वीतरागी देव, गुरुके प्रति बहुमानसे भक्तिमें डूब जाता है। उसमें सत्की रुचि होती है और बाहर सच्चे निमित्तका बहुमान-भक्ति करता है। ऐसा शुभराग एक तो पूर्ण वीतरागके नहीं होता और दूसरे अज्ञानी, अविवेकीके नहीं होता। जहांतक अरागी पूर्ण तत्वकी रुचि है और राग दूर नहीं हुआ वहांतक ज्ञानीके अनेक-प्रकारका राग बना रहता है, और उससे रागके निमित्त भी अनेक प्रकारके होते हैं। उसमें सच्चे देव, गुरु, शास्त्रके प्रति होने वाली

भक्तिका शुभराग मुख्यतासे रहता है। जिनप्रतिमा शुभभावमें निमित्त है तथा वीतरागका स्मरण करनेमें निमित्त है ऐसा जो नहीं मानते उन्हें यह खबर नहीं होती कि पूर्ण साध्य एवं प्रारम्भ और बीचका मोक्ष कैसा होता है तथा वह कैसे प्राप्त किया जाता है।

क्योंकि अभी साधकदशामें राग है इसलिये वहाँ शुभरागके निमित्तका आदर और बहुमान रहता ही है। जिसे रजकणके भी रागसे रहित, विकल्प रहित पूर्ण वीतरागके स्वरूपको पहिचाननेकी रुचि है उसे सत्‌को रुचिका मंथन करनेमें वीतरागो जिनप्रतिमा निमित्त होती है, यह जानकर पूर्ण वीतरागकी महिमा गाते हैं। पूर्ण वीतराग साक्षात् परमात्माके विचारमें अपनी रुचि है, इसलिये उनके विरहमें उनका स्मरण करनेमें भगवान जिनेन्द्रकी प्रतिमा निमित्त होती है। अपने अभिप्रायमें परवस्तु लाभ-हानिका कारण नहीं है। अपनी रुचि और तत्परताके अनुसार स्वयं ही अपने आप हिताहितरूप भाव कर सकता है। इसप्रकार जो न समझे और भगवानकी मूर्तिके पास ही बैठा रहे, स्वतंत्र निरालम्बी अकषायदृष्टिसे, अपने स्वरूपकी सँभाल न करे तो भगवान कुछ दे ऐसा आरोप भी नहीं आता।

सम्यक्‌दर्शन होनेसे पूर्व भी वीतरागके वचनोंका श्रवण, जिनप्रतिमाका दर्शन, पूजा, प्रभावना इत्यादि शुभभावमें जीवकी प्रवृति होती है क्योंकि पापसे बचनेके लिये शुभभाव योग्य हैं, और यथार्थ तत्वदृष्टि होनेके बाद भी जब आत्मा निर्विकल्प स्थिरतामें नहीं रह सकता तब सच्चे देव-गुरुकी भक्ति और सच्चे उपदेशका श्रवण इत्यादि शुभभावका अवलम्बन अशुभभावसे बचनेके लिये आये बिना नहीं रहता। किन्तु दृष्टिमें उस शुभरागका भी आदर नहीं है, मात्र अखण्ड निर्विकारी गुणका ही बहुमान है। वह पूर्ण अविकारी-की रुचि आत्माको आगे बढ़ाती है।

चार ज्ञानके धारी श्री गणधरदेव भी निरन्तर निर्विकल्प ध्यानमें स्थिर नहीं रह सकते इसलिये अशुभसे बचनेके लिये विशेष ज्ञानका मनन करनेको बारम्बार साक्षात् तीर्थंकर प्रभुका उपदेश

सुनते हैं और अपने पदके अनुसार (जब कि–छट्ठे गुणस्थानमें होते हैं तब) शुभभावमें भी प्रवृत्ति करते हैं। गृहस्थोंको अशुभरागके अनेक निमित्त हैं अतः अशुभरागसे बचनेके लिये बारम्बार यथार्थ तत्त्वका उपदेश तथा उपरोक्त शुभ व्यवहार आता है किन्तु उस शुभरागकी मर्यादा पुण्य-बन्ध जितनी ही है, उससे धर्म नहीं होता। तथापि परमार्थ रुचिमें आगे बढ़नेके लिये बारम्बार धर्मका श्रवण एवं मनन करते रहते हैं। जिसे संसारकी रुचि है वह बारम्बार नाटक-सिनेमा देखता है, उपन्यास–कहानियाँ पढ़ता है–सुनता है, नई बातको जल्दी जान लेता है, इसीप्रकार जिसे धर्मके प्रति रुचि है वह धर्मात्मा बारम्बार यथार्थ तत्त्वका परिचय करके अशुभसे बचने और स्वरूपकी ओरकी स्थिरता–रुचि रखनेके लिये बारम्बार शास्त्र–स्वाध्याय करता है, उपदेश सुनता है, जिनप्रतिमाके दर्शन करता है, पूजा करता है और गुरुभक्ति इत्यादि शुभभावमें युक्त रहता है तथा रागको दूर करनेकी दृष्टि रखकर उसमें प्रवृत्ति करता है। विशेष रागको दूर करनेके लिये परद्रव्यके अवलम्बनके त्यागरूप अणुव्रत महाव्रतादिका ग्रहण करके समिति–गुप्तिरूप प्रवृत्ति, पंचपरमेष्ठीका ध्यान, सत्संग और शास्त्राभ्यास इत्यादि करता है। यह सब अशुभसे बचने और विशेष राग-रहित भावकी ओर जानेके लिये है।

व्रतादिका शुभभाव आस्रव है, और अविकारी श्रद्धा, ज्ञान तथा निर्विकल्प स्थिरताका भाव बन्ध–रहित निरास्रव है। दृष्टिमें पूर्ण वीतराग निरावलम्बिता है। वर्तमान अवस्थामें जितना परद्रव्यका अवलम्बन छोड़कर निरावलम्वी स्वरूपमें रागरहित स्थिरता रखे उतना चारित्रभाव है। तत्त्वज्ञानके यथार्थ होनेपर भी गृहस्थदशामें स्त्री, कुटुम्ब, धन, देहादिकी ओर अशुभभाव होता है। यथार्थ प्रतीति होते ही सबके त्यागीपन नहीं होता, इसलिये अशुभ अवलम्बनरूप पाप-रागसे बचनेके लिए और पुण्य–पापरहित अखण्ड स्वभावकी ओर रुचि बढ़ानेके लिये अकषाय निर्मल दृष्टिका प्रबल आन्दोलन करने पर विशेष राग टूटकर जो अणुव्रत–महाव्रतके शुभभाव आते हैं–उसे

व्यवहार मोक्षमार्गमें व्रत कहा है। परवस्तुको छोड़ना या त्यागना व्रतका वास्तविक अर्थ नहीं है। परवस्तुको छोड़ने-त्यागनेका व्यवहार आत्मामें त्रिकालमें भी नहीं होता। किसी भी अपेक्षासे परवस्तुका लेनदेन आत्माके आधीन नहीं है; क्योंकि आत्मा सदा अरूपी है। दृष्टिके बलसे जो परवस्तुकी ओरका राग छूटता है वह व्यवहारसे यों कहा जाता है कि आत्माने परवस्तुका त्याग किया है। जहाँ परवस्तुका अवलम्बनरूप राग नहीं रहता वहाँ उसके स्वतंत्र कारणसे परवस्तुका संयोग छूट जाता है। आत्माके परका कर्तृत्व या स्वामित्व किसी भी प्रकारसे नहीं होता, जिसे ऐसी प्रतीति नहीं होती वह देहादिक पराश्रित प्रवृत्तिमें या रागमें लीन होकर रुक जाता है।

जो यह मानता है कि परवस्तु छूट गई इसलिये राग छूट गया, अथवा देहकी या पुण्यकी इतनी प्रवृत्ति हुई इसलिये लाभ हो गया, उसे पृथक् आत्मतत्त्वके स्वतंत्र गुणकी प्रतीति नहीं है। तत्त्वदृष्टि सहित रागको दूर करने पर रागकी निमित्तभूत परवस्तु अपने ही कारणसे छूट जाती है। शुभाशुभ रागका निमित्त प्राप्त करके जड़-रजकण पुण्य-पापरूपसे अपनेआप अपने ही कारण पुराने कर्मोंके साथ बँधते हैं, और रागरहित स्वरूपमें जितनी स्थिरता की जाती है उस वीतरागभावका निमित्त पाकर जड़-रजकण उसके ही कारण छूट जाते हैं। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है, किन्तु किसीकी अवस्था किसी अन्यके आधीन नहीं होती, इसलिये ज्ञानी देहादिकी प्रवृत्तिसे अपने परिणामका माप नहीं निकालते। ज्ञानीकी दृष्टि अखण्ड ज्ञायकस्वरूप पर है, उसके बलसे जितना राग दूर होता है उतना लाभ मानता है। राग और परद्रव्य कुछ मेरा नहीं है इसप्रकार परका कर्तृत्व और स्वामित्व छोड़कर एकरूप अविकारी ज्ञानानन्द स्वभावका स्वामित्व रखता है। दृष्टिमें (श्रद्धामें) परकी ओरके रागकी आसक्ति छूटने पर चारित्रकी स्थिरताके बलसे विशेष रागका

त्याग करे तो गृहस्थदशा छूटकर बाह्यमें पंच महाव्रतादि शुभ-व्यवहार सहित नग्न-दिगम्बर मुनिपद और अन्तरंगमें रागको दूर करके भाव-मुनिपद ग्रहण करता है। किन्तु यथार्थ दृष्टिके होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण जो विशेष राग कम नहीं कर सकता वह गृहस्थदशामें रहकर आंशिक राग कम करके, अकषायदृष्टि सहित, अंशतः स्वरूप-स्थिरताको बनाये रखता है। उसके अशुभरागमें न जानेके लिये दान, पूजा, भक्ति, प्रभावना, अणुव्रत आदि शुभभावका व्यवहार हुये विना नहीं रहता। वास्तवमें अकषाय अखण्ड ज्ञायककी दृष्टिके वलसे संवर होता है, व्रतादिके शुभभाव संवर नहीं, धर्म नहीं हैं किन्तु आस्रव हैं। किन्तु उस शुभभावका व्यवहार अशुभभाव-को दूर करनेमें निमित्त होता है, और रागके दूर होने पर जो निर्मलता होती है उसे शुभरागमें आरोपित करके व्रतादिको व्यवहार-से (उपचारसे) मोक्षमार्ग कहते हैं, किन्तु यदि निरावलम्बी अवि-कारीकी प्रतीति न हो तो वह उपचारसे भी व्यवहार नहीं कहलाता।

ज्ञानीके निम्नदशामें प्रशस्त राग हुए विना नहीं रहता किंतु *दृष्टिमें वह शुभरागका भी कर्ता नहीं होता। जो रागके स्वामित्व*-को मानकर शुभरागको करने योग्य समझता है, उससे लाभ मानता है उसे रागके प्रति आदर है, और निरावलम्बी वीतरागी गुणके प्रति आदर नहीं है।

दृष्टिमें शुभव्यवहारका अभाव करके (स्वामित्वको छोड़-कर,) शुभरागको भी करने योग्य न मानकर, परमार्थसे अखण्ड ज्ञान-स्वभावी हूँ, इसप्रकार स्वभाव पर भार देना परमार्थ-श्रद्धाका कारण है। जो उत्पन्न हुई शुभाशुभवृत्तिका अपनेको कर्ता मानता है वह अज्ञानी है। ज्ञानी रागादिका मात्र ज्ञाता होता है; वह रुचिपूर्वक विकारका कर्ता नहीं किन्तु उसका नाशक होता है। वर्तमान पुरुषार्थ-की अशक्तिसे यद्यपि राग रहता है तथापि वह उसका स्वामी नहीं होता और न उसके प्रति आदर होता है। हाँ, वह विल्कुल निर्विकल्परूपसे

स्थिर नहीं रह सकता इसलिये अशुभमें प्रवृत्त न होनेके लिये शुभभावका अवलम्बन होता है।

यदि कोई यह माने कि मैं समझ-बूझकर शुभभाव करता हूँ इसलिये शुभभावसे मुझे सम्यक्दर्शन हो जायगा–उससे आगे वढ़ सकूँगा तो यह मान्यता विल्कुल विपरीत है–गुणकी हत्या करनेके समान है। कोई ज्ञानी शुभभावको छोड़कर अशुभमें जानेको नहीं कहता।

सम्यक्दर्शन होनेके वाद भी शुभ व्यवहार होता है, और विषय–कषायका अशुभराग दूर करके, अकषायदृष्टिके वलसे स्वरूप-स्थिरताके वढ़ने पर पाँचवें गुणस्थानमें वारह व्रतकी शुभवृत्ति हुए विना नहीं रहती; इसप्रकार रागके छेदते–छेदते शुभराग रह जाता है; वहाँ परद्रव्यका अवलम्बन छोडनेके लिये सहज ही अणूव्रत–महाव्रत होते हैं, जो किसीकी देखादेखीसे अथवा आग्रहसे व्रत धारण करता है और यह मानता है कि–मैं व्रत कर रहा हूँ उसे मात्र व्रतका अभिमान ही समझना चाहिये। वीर होकर, मध्यस्थ होकर यह समझना चाहिये कि सर्वज्ञ वीतरागने क्या कहा है। संसार तो अनन्तकाल तक रहेगा। अपनी चिन्ता करके सत्के प्रति उत्साहित होकर जो यह भाव करता है कि–अव भव नहीं चाहिये, इतना ही क्यों किन्तु कुछ भी नहीं चाहिए, मुझे तो मात्र सत्यको ही समझना है; जिसके ऐसा भाव है वही सत्को समझ सकता है। सत् सत्से प्रगट होता है, किसी क्रियाकाण्डसे अथवा वाह्य प्रवृत्तिसे प्रगट नहीं होता। अन्धकारको दूर करनेके लिये प्रकाश ही आवश्यक होता है, इसीप्रकाश अज्ञानको दूर करनेके लिए यथार्थ ज्ञान आवश्यक है।

निर्मल दृष्टिके वाद रागको दूर करने पर जो शुभराग रह जाता है सो असद्भूत व्यवहार है. और जितनी निर्मल स्थिरता होती है सो सद्भूत व्यवहार है। असंग, अविकारी, ध्रुव, अखण्ड, ज्ञायकस्वरूपी आत्माकी श्रद्धा करना सो निश्चय है। श्रद्धाके अखण्ड विषयमें निर्मल पर्यायरूप मोक्षमार्ग और मोक्षका भी भेद नहीं होता; ऐसी शुद्ध निरावलम्वी दृष्टिके वलसे जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है

वह संवर-निर्जरा है। व्रतादिका शुभ-व्यवहार आस्रव है-बन्धका कारण है, क्योंकि एकरूप ज्ञायक स्वभावका आश्रय छूटनेसे रागका उत्थान होता है जो कि स्वाश्रित गुणका अविकारी भाव नहीं है। जहाँ शुद्धमें स्थिर नहीं हुआ जासकता वहाँ यदि शुभका अवलम्बन न हो तो अशुभमें प्रवृत्त हो जाता है। जबतक पुण्य-पापसे रहित अविकारी निरावलम्वी स्वभावकी दृढता सहित विकारके नाशकी प्रतीतिरूप अखण्डकी श्रद्धा और ज्ञान नहीं होता वहाँ तक व्रत-चारित्र सच्चे नहीं होते। श्रीमद् राजचन्द्रजीने कहा है कि:—

लिया स्वरूप न वृत्तिका, व्रतका कर अभिमान।
गहे नहीं परमार्थको, लेने लौकिक मान॥

(आत्मसिद्ध पद २८)

मध्यस्थ होकर सर्वज्ञ वीतराग कथित अविरोधी तत्त्वको न समझे और वाह्य-प्रवृत्तिमें धर्म माने एवं शुभ विकारसे लाभ माने; किन्तु देहकी क्रियासे तो कहीं पुण्य होता नहीं है। यदि शुभभाव हो तो पापानुवंधी पुण्यका वन्ध होता है। साथ ही मिथ्यादर्शन-शल्यकी पुष्टि करके, तत्त्वज्ञानका विरोध करके, पुण्यकी स्थिति पूरी करके अनन्तकालके लिये निगोदमें जाता है।

निमित्तकी उपस्थिति मात्र होती है, किन्तु वह निमित्त मुझे कहीं सहायक नहीं हो सकता; पुण्यसे-शुभसे कोई लाभ नहीं है, ऐसी अविकारी पूर्ण स्वभावकी अविरोधी श्रद्धा जिसे नहीं है वह सम्यक्-दृष्टि नहीं है, तव फिर वह श्रावक अथवा मुनि तो हो ही कहाँसे सकता है।

यदि अच्छे निमित्तसे लाभ होता हो तो ऐसी उत्कृष्ट संगति अनन्तवार प्राप्त हुई है किन्तु किसीको परके आश्रयसे लाभ क्यों नहीं हुआ? जिसने स्वावलम्वी तत्त्वकी दृष्टि प्राप्त की है, निमित्तका और रागका श्रद्धामें अभाव किया है उसके सम्यक् प्रतीति प्रगट होती है। जिसने यथार्थको समझा है वह वास्तवमें निजसे ही समझा है, तथापि वह गुरुका बहुमान किये विना नहीं रहता। वह सत्-

समागमको प्राप्त करके भी यह मानता है कि मेरी जितनी अपनी तैयारी होगी उतनी ही शक्ति मुझसे प्रगट होगी । अशुभसे बचनेके लिए शुभभाव निमित्त है; उस शुभरागसे मुझे लाभ नहीं है, किन्तु मेरे स्वरूपमें जितनी स्थिरता और निराकुलता होगी उतना ही लाभ होगा । ऐसा जानने पर भी जबतक निर्विकल्प स्थिरता न कर सके तबतक शास्त्राभ्यास और विशेष ज्ञानके लिए उपदेश श्रवण करे, इन्द्रिय-संयममें विशेषता करे और ऐसे ही शुभभावमें लगे, तथापि यह न माने कि उससे लाभ होगा । किन्तु अविकारी तत्त्वकी रुचि और उसके बलसे जो राग दूर होता है तथा स्थिरता बढ़ती है उससे लाभ माने ।

यदि अपनी तैयारी हो तब शास्त्र दिशासूचन करता है । यदि शास्त्रोंसे अथवा अक्षरोंसे ज्ञान होता हो तो क्या आत्मामें ज्ञान नहीं था ? आत्मा अनन्तज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य इत्यादि अनन्तगुणोंकी शक्तिका अखण्ड पिंड प्रतिसमय परिपूर्ण है; उसकी यथार्थ पहिचान करके, अशुभसे बचनेके लिये रागको मन्द करके व्रत, भक्ति आदि शुभका अवलम्बन लिया जाता है, इतने मात्रके लिये शुभभाव ठीक होता है, किन्तु वह धर्ममें सहायक नहीं है ।

व्यवहारनयको कथंचित् अभूतार्थ कहा है । कर्मके निमित्तमें युक्त होनेसे जो राग होता है वह सर्वथा अविद्यमान नहीं है। यदि पर्यायको सर्वथा असत्य माना जाय तो पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही न रहे । अशुभ रागको दूर करनेके लिये शुभभावरूप व्यवहार पुरुषार्थसे होता है, अपनेआप नहीं होता । भूतार्थ-शुद्धदृष्टिकी प्रतीतिसे अखण्डकी रुचिके बल द्वारा स्थिरता करने पर राग दूर हो जाता है । उस अपेक्षासे रागको अभूतार्थ कहा है । अभूतार्थका अर्थ आत्माके स्वभावमें न होना है । यहाँ पर शुभभावको असद्भूत व्यवहारनयका विषय कहा है । आत्माका स्वरूप नहीं है इसलिये असद्भूत और अवस्थामें कर्मके संयोगसे होता है सो एक

समयकी अवस्था मात्रको होता है, नित्यस्थायी नहीं है इसलिये व्यवहार है।

अखण्ड ध्रुव स्वभावके लक्षसे स्थिरताके अंश बढ़ते हैं सो दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी अवस्था सद्भूत है अथवा आत्मामें शक्तिरूपसे जो अनन्त निर्मल गुण हैं वे अखण्डके लक्षसे निर्मलताके अंश प्रगट हुए हैं, इसलिये शक्तिमेंसे व्यक्त होने वाली पर्याय सद्भूत है; और अखण्ड स्वभावके लक्षसे भेद होते हैं इसलिये वह व्यवहार है।

यदि अकषायदृष्टि न हो और मात्र शुभरागरूप महाव्रतादि हों तो उसे असद्भूत व्यवहार भी नहीं कहा जासकता। यद्यपि शुभभाव वन्धन है तथापि अशुभभावको छोड़नेके लिये शुभभाव ठीक है, यदि ऐसा न माने और शुभभावको छोड़ दे तो, अभी वीतराग तो हुआ नहीं है इसलिये पापवन्ध करके नरकादि गतियोंमें होकर परम्परासे निगोदमें जायेगा।

शुभराग करते-करते धीरे-धीरे लाभ होता हो सो भी नहीं है। शुभाशुभ राग मेरा स्वरूप नहीं है, मैं निरावलम्वी ज्ञायक हूँ, ऐसी दृष्टि करके पहले रागका श्रद्धामें अभाव करे और पूर्ण निर्मल ज्ञायकस्वभावको ही आदरणीय माने तो अन्तरंगमें यथार्थकी ओरकी रुचि होनेसे सम्यक्दर्शन प्रगट होता है।

छट्ठे गुणस्थान तक शुभ व्यवहार कैसा होता है यह बात उसकी क्रमिक भूमिकाके अनुसार वारहवीं गाथामें कही है। सातवें गुणस्थानमें व्रतादिका शुभ-व्यवहार भी नहीं होता; वहाँ तो बुद्धिपूर्वक विकल्प छूटकर अखण्ड रुचिमें लीनता-एकाग्रता होती है। छट्ठे गुणस्थानसे ही कषायत्रयकी चौकड़ीका अभाव होता है, इसलिये सातवें और उससे ऊपरके गुणस्थानवर्ती मुनिके उपदेश ही नहीं होसकता। आचार्य महाराज कहते हैं कि चौथे-पाँचवें और छट्ठे गुणस्थानमें गुणकी रुचिसे वीतरागी उपदेश सुननेके सहज शुभभाव होते हैं। जिसे यह खवर नहीं है वह वाह्य-प्रवृत्तिको शुद्धिका साधन मानकर उसमें लग जाता है। बाह्य-प्रवृत्तिसे अन्तरंग परिणाम नहीं

सुधरते, क्योंकि किसीकी अवस्था किसीके आधीन नहीं है। गृहस्थ-दशामें परवस्तुके संयोग अधिक हैं, किन्तु उन संयोगोंसे भाव नहीं बिगड़ते। किन्तु स्वयं उनमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करके अशुभभाव कर रहा है; उन्हें बदलकर अपने पुरुषार्थसे शुभभाव होते हैं वे अपने-आप नहीं होते।

जिसे सम्यक्दर्शनकी खबर नहीं है और न जो यह जानता है कि सच्चे देव, गुरु, शास्त्र कौन हैं तथा वे जन्म-मरणको दूर करनेके उपायको समझनेमें किसप्रकार निमित्त होते हैं, और जिसे सत्योन्मुख होकर शुभभाव नहीं करना है वह अपने परिणामको भूलता है, वह मात्र पाप करके नरकमें और परम्परासे एकेन्द्रिय निगोदमें जाता है। जो तत्त्वज्ञानका विरोध करता है वह निगोदको प्राप्त करके संसारमें परिभ्रमण करता है।

आलू आदि कन्दमूलमें उत्पन्न होने वाले एकेन्द्रियधारी जीव निगोदिया हैं। राईके छोटेसे टुकड़ेके बराबर भागमें असंख्यात शरीर होते हैं और ऐसे एक शरीरमें अनंत जीव होते हैं, जो कि तीव्र मूढ़ता और आकुलतावश एक श्वासोच्छ्वासमें अठारह वार जन्म-मरण करते हैं। उन्हें नारकीय जीवोंसे भी अनन्तगुना अधिक दुःख होता है। बाह्य-संयोग दुःख नहीं है किन्तु अज्ञान और आकुलता दुःख है। पहले तत्त्वज्ञानका विरोध किया था इसलिये ज्ञानकी अनन्तशक्ति कम होगई और गुणकी अनन्त हीनदशा प्राप्त हुई, उसीमें आकुलताका दुःख है। ज्ञायकस्वरूपमें जो सावधानी है सो सुख है और विकारी भावमें जो सावधानी है सो दुःख है।

लोग बाहरके संयोगोंको लेकर सुख-दुःखका नापतौल करते हैं, किन्तु वह झूठा है। किसीके पास लाखों रुपयोंका संयोग हो और शरीर निरोगी हो किन्तु भीतर इच्छाके प्रतिकूल होनेसे कोई खटका लगा हो, अपमान हुआ हो, भाई-भाईके बीच क्लेश होगया हो, स्त्री कहनेमें न चलती हो-जिसे कि बाहर नहीं कहा जासकता, तथा ऐसे ही और अनेक कारण होसकते हैं जिनकी परेशानीको लेकर भीतर

ही भीतर अनेक कल्पनायें करके आकुलित होकर जलता रहता है। वाहरसे अनुकूल संयोग दिखाई देते हों तथापि भीतरी मान्यतामें आकुलताका दुःख खटकता रहता है। तात्पर्य यह है कि बाह्य-संयोग-से सुख-दुःख नहीं होता। यदि भ्रमको छोड़कर यथार्थ ज्ञान करे तो सुखी हो सकता है। किसीको वाहरसे प्रतिकूलताका संयोग हो तथापि मैं परसे भिन्न हूँ, परके साथ मेरा कोई सम्वन्ध नहीं है, मैं पवित्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, परवस्तु मुझे हानि-लाभका कारण नहीं है, इसप्रकार यदि शान्त ज्ञानस्वभावको देखे तो चाहे जिस देशमें अथवा चाहे जिस कालमें दुःख नहीं है। नरकमें भी संयोग दुःखका कारण नहीं है, किन्तु भ्रमसे परमें अच्छा-वुरा माननेकी जो बुद्धि है वही दुःख है। नरकमें भी आत्मप्रतीति करके शान्तिका अनुभव किया जासकता है, क्योंकि आत्मा किसी भी कालमें और किसी भी क्षेत्रमें अपने अनन्त आनन्द गुणसे हीन नहीं है। वह सदा अपनेमें ही रहता है। आत्माको परक्षेत्रगत कहना व्यवहारमात्र है।

एकेन्द्रिय दशाको प्राप्त जीवोंने पहले तत्त्वज्ञानका उग्र-विरोध किया था इसलिये उनकी अवस्था अनन्तगुनी हीन हो गई है, वहाँ पर जीव तीव्र कषाय और मोहकी तीव्रतामें अनन्ती आकुलताका अनुभव करता है। शरीरके प्रति जो मोह है सो दुःख है। जो शरीर है सो मैं नहीं हूँ, इसप्रकार स्वाधीन अविनाशी पूर्ण स्वरूपकी प्रतीति करके जितना स्वभावोन्मुख होता है उतने ही अंशमें सुखानुभव होता है-दुःखानुभव नहीं होता।

शुद्धनयका विषय साक्षात् शुद्ध आत्मा है उसे पहले यथार्थ रीतिसे जानकर पूर्ण-निर्मल स्वरूपकी श्रद्धा करनेके वाद जवतक पूर्ण नहीं होजाता तबतक भूमिकाके अनुसार प्रयोजनभूत अवस्था समझनी चाहिये। सराग और वीतराग अवस्था जैसी हो उसे उसप्रकार जानना सो व्यवहार है और पूर्ण अखण्ड स्वरूपको जानना सो निश्चय है; इन दोनोंका यथार्थ ज्ञान करने वाला सच्चा ज्ञान प्रमाण कहलाता है, किन्तु वह परोक्ष-प्रमाण है। कोई भी राग मेरे लिये सहायक नहीं

है वह त्याज्य है। मेरा अखण्ड ज्ञायक ध्रुवस्वभाव सहायक है इसप्रकार प्रथम श्रद्धामें आनेके वाद निश्चय और व्यवहार अर्थात् अखण्ड वस्तु और भेदरूप अवस्था–दोनोंका ज्ञान करता है। व्यवहारसे निश्चय प्रगट नहीं होता किन्तु निश्चयमें व्यवहार गौणरूपसे आजाता है; लेकिन वह व्यवहार निश्चयमें सहायक नहीं होता।

लोगोंको व्यवहारका यथार्थ ज्ञान नहीं है इसलिये व्यवहारसे धर्म मानते हैं; जो कि मिथ्या है। जहाँ यथार्थ निश्चय वस्तुदृष्टि है, वहाँ निचली दशामें रागके दूर करने पर शुभराग रहता है और निर्मल अवस्थाके अंश बढ़ जाते हैं। उसे यथावत् जानना सो व्यवहार है। शुभरागरूप व्यवहारसे धीरे-धीरे परमार्थ प्राप्त हो जाता है, ऐसी श्रद्धा त्रिकालमें भी यथार्थ नहीं है।

व्यवहारदृष्टि—निमित्ताधीनदृष्टि—रागदृष्टिका आश्रय करने वाला मिथ्यादृष्टि है। निरावलम्वी नित्य स्वभावदृष्टिका अर्थ है भूतार्थदृष्टि या निश्चयदृष्टि, उसके आश्रित सम्यक्दृष्टि है, इस वातको ग्यारहवीं गाथामें कहकर वारहवीं गाथामें व्यवहारका यह ज्ञान करने को कहा है कि निश्चयके यथार्थ आश्रयमें कहाँ–कहाँ कैसी अवस्था होती है। यदि अवस्थाको भुला दिया तो निर्मलता करनेका पुरुषार्थ नहीं होगा; और यदि अवस्था पर–व्यवहार पर ही दृष्टि रखी तो निर्मल अवस्था नहीं होगी। यदि निश्चयका लक्ष नहीं रखा तो निरावलम्वी अखण्ड तत्त्वका नाश हो जायेगा।

निरपेक्ष, निर्विकारी ज्ञायकस्वभावको यथार्थ न्यायसे लक्षमें लेने पर उसके वलसे विकारका नाश होता है, और विकारके लक्षसे अथवा निर्मल अवस्थाके लक्षसे रागका नाश नहीं होता। जिसे ऐसी श्रद्धामय यथार्थ स्वरूपका निश्चय होता है उसे वर्तमान अवस्थाका यथार्थ विवेक अवश्य होता है, तथापि यहाँ पर व्यवहारनयका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिये उपदेशमें व्यवहारसे कहना पड़ता है कि तू अशुभरागको छोड़नेके लिये शुभभावका आश्रय ले। और फिर दूसरा आशय यह है कि कोई ग्यारहवीं गाथाका आशय न समझे

और यह मानकर कि मात्र अखण्डतत्त्व है, अवस्था नहीं है-व्यवहारका ज्ञान न करे तो पुरुषार्थ नहीं कर सकेगा; इसलिये निश्चय और व्यवहारकी अविरोधी संधिको लेकर दोनों गाथाओंमें मोक्षमार्गका स्वरूप समझाया है।

इसे समझे विना यदि व्यवहारसे चिपका रहे तो तत्त्वकी श्रद्धाका नाश होजायेगा, और अवस्थाके प्रकारको न जाने तो मोक्ष-मार्गका नाश होजायेगा; अर्थात् जो व्यवहारको न मानता हो उसे स्पष्ट समझानेके लिये यह बारहवीं गाथा है।

पराश्रयसे होने वाला विभावभाव वर्तमान अवस्थामात्रके लिये क्षणिक है, और उसका नाश करने वाला स्वभावभाव त्रिकाल-स्थायी भूतार्थ है। उस निरावलम्बी, असंग, अविकारी ज्ञायकस्वभाव को जीवने अनादिकालसे नहीं जाना इसलिये वह वर्तमान अवस्थामें विकारमें स्थिर हुआ है। शरीर, मन, वाणी तो पर हैं, उनके साथ आत्माका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आत्मा अविकारी ज्ञायक एकरूप वस्तु है, उसमें परके सम्बन्धरूप विकल्पवृत्ति होती है सो विकार है। फिर चाहे वह दया, दान, पूजा भक्ति इत्यादिका शुभराग हो या हिंसा, चोरी इत्यादिका अशुभभाव हो, किन्तु वे दोनों विकार हैं। वे क्षणिक अवस्थामात्र तक होनेसे बदले जासकते हैं-नष्ट किये जासकते हैं। दोषका नाश, निर्मल अवस्थाकी उत्पत्ति और उस निर्मल अवस्था-को धारण करने वाला नित्य ध्रुव है। यदि वह नित्य एकरूप स्थिर न रहता हो तो विकारको दूर करूँ और विकार रहित सुखी होजाऊँ यह कथन ही नहीं हो सकता। स्वतन्त्र अर्थात् विकार रहित, पराश्रय रहित एकरूप निर्मल पूर्ण ज्ञानानन्दभावसे रहना, यही स्वभावभावरूप मोक्ष है। पूर्ण निर्मल पवित्र दशा मोक्ष है और उसकी कारणरूप हीन निर्मलदशा मोक्षमार्ग है।

विकारी अशुद्धभाव जीवकी वर्तमान अवस्थामें नये होते हैं, किन्तु वह अपना स्वाश्रित ध्रुवस्वभाव नहीं है। मैं अविकारी पूर्ण हूँ, पर-के कारणसे मेरा बनना-बिगड़ना नहीं होता इसलिये मैं स्वतंत्र हूँ, इस-

प्रकाश त्रैकालिक पवित्र स्वभावका निश्चय करके अखण्ड स्वाश्रितदृष्टि-के बलसे क्षणिक विकारका नाश होसकता है, और जो निर्मल अवस्था शक्तिरूपसे है वह प्रगट होसकती है। इसमें दो पक्ष आते हैं-मैं पूर्ण हूँ सो निश्चय और उसकी वर्तमान अवस्थाके विकार-अविकाररूप दो भंगोंको देखना सो व्यवहार है। उन भेदों पर दृष्टि डालनेसे विकल्प होता है और नित्यस्थायी, अखण्ड भूतार्थस्वभाव पर लक्ष करने-से रागका भेद छूट जाता है और अवस्था निर्मल होकर द्रव्यमें मिल जाती है।

श्रद्धाके बलसे पूर्णदशा प्रगट नहीं होती क्योंकि श्रद्धा तो आत्माके गुणकी पर्याय है। उस अपूर्ण अवस्थाके बलसे पूर्ण निर्मल मोक्षदशा प्रगट नहीं हो सकती, किन्तु सर्वशक्तिकी पूर्ण सामर्थ्य-रूप स्ववस्तुकी ओर बलवती एकाग्रता करने पर पहले अपूर्ण निर्मल अवस्था और फिर पूर्ण निर्मल अवस्था प्रगट होती है।

एकरूप स्वभाव पर यथार्थ निश्चयकी दृष्टिका जोर देने पर भ्रम और विकारी अवस्थाका नाश, निःशंक सम्यक्दर्शन और आंशिक निर्मलताकी उत्पति होती है तथा वस्तु एकरूप ध्रुव रहती है। वर्त-मान होने वाली अवस्थाको देखने वाली व्यवहारदृष्टिको गौण करके निर्मल, निरपेक्ष, निरावलम्बी असंग एकरूप सदृश स्वभावको अखण्ड-रूपसे लक्षमें लेना सो सम्यक्दर्शन है। श्रद्धाका विषय अभेद है; किन्तु जैसी अवस्थायें होती हैं उन्हें यदि ज्ञानसे वैसा न जाने तो ज्ञानमें भूल होती है और ज्ञानमें भूल होने पर दृष्टिमें भूल होती है इसलिये सम्पूर्ण निर्मल, निरपेक्ष स्वभावको देखना सो निश्चय और अवस्थाको देखना सो व्यवहार है। इसप्रकार दोनोंको एक वस्तुमें जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। विकार उपादेय नहीं है, ज्ञेयमात्र है।

इसप्रकार ग्यारहवीं और बारहवीं गाथामें निश्चय और व्यव-हारकी अविरोधी संधि किसप्रकार है सो चतुर्थ कलशमें कहते हैं:—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एवं ॥४॥

अर्थः—निश्चय और व्यवहार-इन दो नयोंमें विषयके भेद-से परस्पर विरोध है; इस विरोधका नाश करने वाले 'स्यात्' पदसे चिह्नित जिनेन्द्र भगवानके वचनमें जो पुरुष रमते हैं (प्रचुर प्रीति-के साथ अभ्यास करते हैं) वे पुरुष अपने आप (अन्य कारणोंकी सहायताके बिना) मिथ्यात्व कर्मके उदयका वमन करके इस अति-शयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्ध आत्माको तत्काल ही देखते हैं। कैसा है वह समयसाररूप आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, पहले कर्म-से आच्छादित था जो कि प्रगट व्यक्तिरूप होगया है। और फिर कैसा है? सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निरबाध है।४

पराश्रितरूपसे होने वाला भाव एक प्रकारका नहीं होता, इसलिये आत्मामें जो भूल होती है वह भी अनेक प्रकारकी होती है और आत्माका ध्रुवस्वभाव एक प्रकारका है।

आत्मा व्यवहारसे निर्मल अवस्थाका कर्त्ता-भोक्ता है। व्यवहारका विषय भेदरूप होनेसे निश्चयनयके अभेद विषयसे उसका विषय विरोधरूप है तथापि व्यवहार है जिसका निषेध नहीं है, किन्तु उसका लक्ष अभेददृष्टिमें गौण है।

जो पर-लक्षसे शुभाशुभ वृत्ति करता है, अर्थात् रूप, रस, गंध स्पर्श और शब्दमें रागको लेकर अच्छे-बुरे भावसे लक्ष करने पर उसमें जो लीनता होती है सो विषय है। धर्मके नामसे परमें जो अच्छी वृत्ति होती है वह भी पर-विषयमें-रागमें जाती है। मैं पर-संयोग तथा रागादिरूप नहीं हूँ, किन्तु त्रिकाल एकरूप ज्ञायक हूँ, इस-प्रकार स्वलक्ष करे तो भूल और मलिन अवस्थाका नाश तथा (यथार्थ प्रतीतियुक्त) निर्मल श्रद्धा और अविकारी प्रतीतिकी प्राप्ति होती है।

(प्राप्ति होनेका अर्थ यह है कि निजमें जो शक्ति थी वह स्वभावके बलसे व्यक्त होती है।)

जो अवस्था जैसी है उसे वैसी ही जाननी चाहिये। यदि वस्तु बिल्कुल अखण्ड एकरूप ध्रुव हो और उसमें अवस्थाका वदलना न हो-कूटस्थ ही रहे तो विकारका और भ्रान्तिका नाश तथा अविकारी अवस्थाका प्रादुर्भाव नहीं होसकेगा। तथापि जिसे दोनों अपेक्षाओंके प्रकारकी खवर नहीं है उसे एक तत्त्वका ज्ञान करनेमें खण्ड-अखण्ड-रूप दो विषयोंके भेदसे दो अपेक्षाओंमें परस्पर विरोध मालूम होता है, किन्तु उस विरोधका नाश करने वाली स्यात्पद लक्षण वाली वीतरागकी स्याद्वाद वाणी न्यायसे स्वतंत्र वस्तुको अविरोधरूपसे निश्चित् करती है। जिस अपेक्षासे वस्तु नित्य है उसी अपेक्षासे अनित्य नहीं है, किन्तु वस्तुदृष्टिसे नित्य और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। विकार मेरा स्वरूप नहीं है, मैं विकारका नाशक हूँ, इसप्रकार अविकारके लक्षसे भेददृष्टिको (व्यवहारको) गौण करके पूर्ण अखण्ड वस्तुको लक्षमें न ले तो त्रिकाल एकरूप स्वभावका आश्रय नहीं होता। और यदि अवस्था भेदको न माने तो पुरुषार्थ नहीं होगा; क्योंकि वस्तुका लक्ष अवस्थाके द्वारा होता है और वस्तुके आश्रयसे निर्मलता प्रगट होती है।

यदि व्यवहारनयका विषय अवस्था न हो तो यह उपदेश मिथ्या सिद्ध होगा कि तू राग-द्वेषको दूर करके निर्मल हो; भ्रांतिको छोड़कर अभ्रान्त हो। संसार अवस्थाके समय भी आत्मामें त्रिकाल वस्तुस्वभावकी दृष्टिसे शुद्धत्व ही है, और पर-सम्बन्धसे वर्तमान अवस्थादृष्टिसे अशुद्धत्व है। सर्वज्ञ भगवानने जिस अपेक्षादृष्टिसे जिस-प्रकार वस्तुका वर्णन किया है उसीप्रकार वस्तुको जाने तो मोहका अवश्य नाश होता है। इस वातको समझनेके लिये जो प्रेमपूर्वक और ध्यानसे सुनेगा वह उच्च पुण्यवन्ध करेगा और जो समझेगा वह कृत-कृत्य होजायगा।

आत्मा परमार्थतः परसे और विकारसे भिन्न है तथा पूर्ण

निरावलम्बी है । उसकी महिमाको सुनकर वस्तुके प्रति बहुमान करे, अन्तरंगसे उमंगपूर्वक स्वीकार करे कि अहो ! यह बात अपूर्व है । इसप्रकार यथार्थकी ओर जाते हुए सहज स्वीकृति हो तो स्वभावोन्मुख हुए विना नहीं रहेगा । यदि किसीको यह बात जल्दी समझमें न आये तो भी उसके प्रति आदरभाव रखकर वह समझनेकी जिज्ञासा रखे कि यह क्या कहा जारहा है, तो मन ऐसा एकाग्र होजाता है कि जिससे महान पुण्यवन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप इसीप्रकार तत्त्वको सुननेका योग पुनः-पुनः मिलता है । जो यह जानते हैं कि हमें यथार्थ तत्त्व सुननेको मिला है वे पुण्यवन्धके लिये नहीं सुनते । जिस अपेक्षासे अथवा जिस न्यायसे वस्तुस्थिति कही जाती है उसमें यदि शब्द आगे पीछे समझमें आये तो मेल नहीं खाता ।

स्यात् पदसे चिह्नित जो श्री जिनेन्द्र भगवानके वचन हैं वे अनेक धर्म स्वरूप स्वतंत्र वस्तुको परसे भिन्न तथा अपने ज्ञानादि अनंत गुण और पर्यायोंसे अभिन्न बतलाते हैं । जब नित्य अभिन्न वस्तु स्वभावको मुख्य बताया जाता है तब वर्तमान अनित्य अवस्थाका लक्ष गौण समझना चाहिये; इसप्रकार सर्वज्ञ वीतरागकी स्याद्वाद वाणी अविरोधी वस्तुको दो अपेक्षाओंसे बतलाती है ।

जो वस्तुको एकान्त अखण्ड शुद्धरूप मानकर अवस्थाको उड़ा देना चाहते हैं वे अवस्थाको-पर्यायको समझे ही नहीं इसलिये उनका ज्ञान मिथ्या सिद्ध होता है । अवस्था वदलती है तथापि वह भ्रम है यह कहने वाला स्वयं ही भ्रमरूप सिद्ध होता है । अशुद्धता अपने ध्रुवस्वभावमें नहीं है, किन्तु यदि यह माने कि वर्तमान अपूर्ण अवस्था-में विकार नहीं है तो विकारको दूर करनेका पुरुषार्थ ही नहीं हो सकेगा ।

सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीके न्यायसे जो निश्चय और व्यव-हार-दोनों नयोंके द्वारा यथार्थ वस्तुस्थितिका निर्णय करके एकरूप स्वाधीन वस्तुको जाने कि मैं निश्चयसे त्रिकाल एकरूप निर्मल हूँ, पूर्ण हूँ, और व्यवहारदृष्टिसे वर्तमान अवस्था ऐसी है तथा जो पराश्रयसे

विकारी एवं स्वलक्षसे निर्मल पर्याय होती है वह अवस्था मुझमें होती है-इसप्रकार दोनों नयोंको जाने और एकको मुख्य तथा दूसरेको गौण करके वस्तुको लक्षमें ले तो यथार्थता निश्चित होती है ।

मिथ्या-व्यवहारके भेदके आग्रहकी बात घर-घर सुनाई देती है । मैं पुण्य-पापका कर्ता हूँ, शुभविकारसे मुझे लाभ होगा, हम देहकी क्रिया कर सकते हैं तथा दूसरेको बना या बिगाड़ सकते हैं ऐसा लोक-व्यवहार आत्माको सिखाना नहीं पड़ता, उसका तो अनादि-कालसे परिचय चला आरहा है । किन्तु मैं चिदानन्द निर्विकार ध्रुव हूँ, विकारका या परका कर्त्ता-भोक्ता नहीं हूँ, मेरा स्वभाव मलिन अवस्थारूप नहीं है यह जानकर भेदको गौण करके, यथार्थ शुद्धदृष्टिके विषयका ज्ञान कराने वाले और उसका उपदेश देने वाले वहुत विरल हैं ।

कोई आत्माको सर्वथा अखण्ड-अविकारी मानकर अवस्थाके भेदोंको उड़ाना चाहता है अर्थात् जो यह मानता है कि-परावलम्बन-से अनित्यतया होने वाले परिणाम सर्वथा जड़के ही हैं, इन्द्रियाँ अपने (इन्द्रियोंके) विषयको भोगती हैं, मैं नहीं भोगता वह स्वच्छन्दी है, और इसीलिये संसारमें परिभ्रमण करता है । जड़-इन्द्रियविषयको आत्मा नहीं भोग सकता तथापि स्वयं अपनेको भूलकर परमें सुखकी कल्पना करता है, और अच्छा-बुरा मानकर रागमें एकाग्र होकर आकुलताका वेदन करता है । जड़में विकार नहीं है किन्तु आत्मा स्वयं विकारी भावसे विकारी अवस्थाको धारण करता है; उस विकारमें परवस्तु निमित्त होती है । रागकी वृत्ति पर-लक्षसे होती है जो कि नित्यस्वभावके लक्षसे दूर होती है; इसलिये जो दूर होती है वह अभूतार्थ है, मेरे ध्रुवस्वभावमें वह नहीं है; यह जानकर अभेद स्वभावको लक्षमें लेना सो सच्ची दृष्टिका विषय है ।

जो पुरुष सर्वज्ञकी वाणीके न्यायानुसार यथार्थ तत्त्वका निर्णय करनेके लिये निश्चय और व्यवहारके अविरोधी न्यायमें रमते

रहते हैं, अर्थात् प्रचुर प्रीति सहित—वास्तविक तीव्र रुचिके साथ अभ्यास करते हैं वे जहाँ—जहाँ जिस—जिस अपेक्षाके भावका कथन होता है वहाँ उसप्रकार समझते हैं, और दूसरे *भावकी अपेक्षा गौण* समझते हैं।

निश्चयसे स्वभावको देखना और व्यवहारसे अवस्थाको यथावत् जानना चाहिये; इसप्रकार यथार्थ वस्तुका निर्णय करनेके लिये उसका अभ्यास करना चाहिये। संसारकी रुचिके लिये जागरण करता है, उपन्यास पढ़ता है, नाटक देखता है किन्तु सर्वज्ञ वीतरागके शास्त्रमें क्या कथन है और सच्चा हित कैसे होसकता है उसकी चिंता नहीं करता। उसके लिये कोई किसीसे न तो कुछ पूछता है और न याद करता है। लोक-व्यवहारमें पुत्र अपने पितासे यह नहीं पूछता कि आप मरकर कहाँ जायेंगे? आपने यथार्थ हित क्या समझा है? क्योंकि देखने वाला स्वयं भी बाह्य परिस्थितिमें ही विश्वास करता है इसलिये वह न तो यह देखता है और न यह जानता है कि भीतर ज्ञातास्वरूप कौन है! उसे देह पर राग है इसलिये वह अपने बीमार पितासे पूछा करता है कि आपको जो कैन्सर रोग हुआ है वह अब कैसा है? इसप्रकार दूसरेकी खबर पूछता है किन्तु अनादिकालसे जो अपनेको ही अज्ञानरूपी केन्सर हुआ है, जन्म—मरणका कारणभूत विपरीत मान्यताका महारोग लगा हुआ है उसके लिये कोई नहीं पूछता। बाजारमेंसे चार पैसेकी वस्तु लेते समय बड़ी सावधानीसे देखता हैं कि—कहीं ठगे तो नहीं जारहे हैं; क्योंकि घर पर उस सम्बन्धमें पूछने वाले बैठे हैं। किन्तु अन्तरंगमें भूलकी चिन्ता कौन करता है? कौन पूछता है? न तो पिताको पुत्रकी भलाईकी खबर है और न पुत्रको पिताके हितका ध्यान है। मरकर पशु—पक्षी अथवा नारकी होंगे इसलिये अपूर्व ज्ञान प्राप्त करनेका यह सच्चा अवसर है; यदि इसप्रकार निजको चिन्ता हो तो अपनेको जो अनुकूल पड़े उसका दूसरेको भी आमंत्रण दे, किन्तु वह तो अनादिकालसे देहादिक बाह्य—संयोगोंको

आत्मा मानता आया है और उसे वह अनुकूल पड़ता है इसलिये उसी-को बारम्बार याद करता है।

लड़का मर गया है यह मानकर अज्ञानी जीव रोता है किन्तु वह यह नहीं जानता है कि शरीरके परमाणुओंका अथवा आत्माका-किसीका भी नाश नहीं होता, मात्र पर्याय बदलती है। क्योंकि संयोग-में सुख-दुःख मान रखा है इसलिये असंयोगी भाव नहीं रुचता। देह पर राग है इसलिये देहकी सुविधाके लिये जिस संयोगको अनुकूल मानता है उसका आदर करके राग करता है और जिस संयोगको प्रति-कूल मानता है उसका अनादर करके द्वेष करता है। यह सब अपने भावमें ही करता है परमें कुछ नहीं कर सकता, तथापि परका करने की आकुलता होती है, यही दुःख है। संयोगसे सुख नहीं होता किन्तु वह अपनी स्वाधीन सत्तामें ही विद्यमान है। आश्चर्य तो यह कि-कोई आत्माकी नाड़ी देखकर उसका यह निदान नहीं करना चाहता कि उसे सच्चा सुख कैसे प्रगट हो।

यदि निजको सच्चे धर्मकी रुचि हो तो उसकी भावना भाये और धर्मके प्रति राग उत्पन्न हो यदि अनन्त भाव-मरणोंको दूर करना हो तो इसे समझना ही चाहिये; इसे समझनेके लिए तीव्र इच्छा और सम्पूर्ण सावधानी होनी चाहिये। जिसे सत्यको सुननेका प्रेम जागृत होजाता है उसे स्वप्नमें भी वही मन्थन होता रहता है। वह अन्य चिन्ताओंको छोडकर मात्र एक आत्माकी ही रुचिमें रमता रहता है।

जो निश्चय-व्यवहारके अविरोधी पहलुओंका ज्ञान निश्चित् करके सर्वज्ञ न्याय-वचनसे यथार्थ तत्त्वका बारम्बार अभ्यास करता है उसका मिथ्यात्व-मोह (परमें सुख-दुःखकी बुद्धि, कर्तृत्वरूप अज्ञान और उसका निमित्त मोहकर्म) स्वयं नष्ट होजाता है। अपने अखण्ड स्वभावमें वास्तविक रुचिसे एकाग्र होने पर अयथार्थ श्रद्धा-के निमित्त-कारण दर्शन-मोहका स्वयं बमन (नाश) होजाता है। जिसका बमन कर दिया उसे कोई भी ग्रहण नहीं करना चाहता।

दूजके चन्द्रमाके उदित होने पर वह बढ़कर पूर्णिमाका चन्द्र अवश्य होगा, उसीप्रकार यथार्थ पूर्ण स्वभावके लक्षसे सम्यक्दर्शनका निर्मल अंश प्रगट होने पर वह पूर्ण निर्मल हुये विना नहीं रहेगा। मैं पूर्ण अखण्ड निर्मल स्वभाव वाला हूँ ऐसी रुचिकी प्रबलतासे जो बारम्बार यथार्थ अभ्यास करता है वह अस्तिके बलसे मिथ्यात्व मोह-कर्म और उसमें संयुक्त विपरीत मान्यताका वमन करके अपने ध्रुव-स्वभावकी महिमासे पूर्ण अतिशयरूप परमज्योति निर्मल ज्ञायकरूप पूर्ण प्रकाशमान अपने शुद्ध आत्माको तत्काल ही देखता है।

निश्चयसे अर्थात् नित्य स्वभावदृष्टिसे देखने पर आत्मा अखण्ड शुद्ध है और वर्तमान अवस्थासे देखने पर पर-सम्बन्धसे होने-वाला विकार (पुण्य-पापकी वृत्ति) भी है। अज्ञानभावसे आत्मा विकारका राग-द्वेषका कर्ता है, और ज्ञानभावसे अज्ञान तथा विकारका नाशक है। परमार्थसे आत्माका स्वभाव त्रिकाल एकरूप शुद्ध ही है। ऐसा स्वरूप समझे विना लौकिक समस्त नीतिका पालन करे अथवा धर्मके नाम पर पुण्यबन्ध करे किन्तु उससे परमार्थ तत्त्वको कोई लाभ नहीं होता। किसी बाह्य क्रियासे पुण्य नहीं होता किन्तु यदि अंतरंगसे शुभभाव रखे, अभिमान न करे और तृष्णाको कम करे तो पुण्य-बंध होता है किन्तु उससे भव कम नहीं होते। अज्ञानपूर्वकके शुभभावसे पापनुबंधी पुण्यका बंध करके उसके फलसे कभी देव होता है, किन्तु अज्ञानके कारण वहाँसे मरकर पशु और फिर नरकादिक पर्यायमें परिभ्रमण करता है। किन्तु यहाँ तो भव न रहनेकी बात है।

कैसा है समयसाररूप शुद्ध आत्मा? नवीन उत्पन्न नहीं हुआ, प्राप्तकी ही प्राप्ति है, अखण्ड स्वभावके लक्षसे निज वस्तुमेंसे यथार्थ श्रद्धा ज्ञान आनन्दकी प्राप्ति होती है। जैसे चनेका स्वाद स्वभावसे मीठा है किन्तु वर्तमान अवस्थामें कचाईके कारण वह अप्रगट है। कच्चे चनेको (पक्व मानकर) खानेसे वास्तविक स्वाद नहीं आता, चनेकी वर्तमान कच्ची अवस्था प्रगट है और भीतर स्वाद-युक्त गुण शक्तिरूपसे विद्यमान है, इसप्रकार एक चनेमें दोनों अवस्थाओं-

को न जाने तो कोई चनेको भूँजकर उसका स्वाद प्रगट करनेका प्रयत्न ही न करे; इसीप्रकार भगवान आत्मा चिदानन्द नित्य एकरूप है, उसमें वर्तमान अवस्थामें राग-द्वेष-अज्ञानरूपी कचास है और शक्तिरूपसे निराकुल आनन्दका स्वाद वाला पूर्ण स्वभाव है, उन दोनों प्रकारोंको जाने तथा सम्पूर्ण अखण्ड ध्रुव ज्ञायकस्वभावके लक्षसे भार देने पर जैसा शुद्ध पूर्ण स्वभाव है वैसा ही प्रगट होता है, यथार्थकी प्रतीति होने पर विपरीत मान्यतारूप अवस्थाका नाश और सच्ची मान्यताकी उत्पत्ति होती है, तथा वस्तु तो ध्रुवरूपसे स्थायी है ही।

प्रश्नः—गुणके लिये हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तरः—तू स्वयं ही गुणको जानने वाला गुणस्वरूप है. उसकी जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। आत्माके ज्ञानकी जानकारी और ज्ञानकी स्थिरतारूप क्रिया करनी चाहिये। आत्मा देहकी क्रिया अथवा परका कोई कार्य नहीं कर सकता।

मध्यस्थ होकर इस वस्तुको ज्योंकी त्यों समझनी चाहिये। पुण्य-पापादिके अंशको मिलाये बिना अविकारी ज्ञायकस्वभावकी दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये और व्यवहारनयके विषयको ज्यों का त्यों जानकर, उसे गौण करके, निर्मल अखण्डस्वभावके लक्षसे एकाग्र होना ही प्रारंभका-पूर्ण निर्मलताको प्रगट करनेका उपाय है। निजको भूलकर परको विषय बनाकर जो राग-द्वेष तथा अज्ञानरूप परिणाम किये सो ही अज्ञानभावका कार्य है विपरीत मान्यतासे अपना परसे भिन्नत्व भूल गया है और इसलिये सम्पूर्ण आत्मा अज्ञानसे आच्छादित हो गया है। किन्तु मेरे स्वभावमें विकार नहीं है, विकार परके सम्बन्धसे वर्तमान एक-एक समयकी अवस्थामात्रके लिये होता है, उसका स्वभावके बलसे नाश हो सकता है. इसप्रकार नित्यस्वभावके लक्षसे एकाग्र होने पर जिसे आच्छादित माना था वह प्रगट हो गया अर्थात् उसकी यथार्थ प्रतीति प्रगट हो गई।

आत्माका स्वभाव किसी परवस्तुसे रुका हुआ अथवा बद्ध नहीं है तथापि जहाँ तक अवस्थामें जैसा विकार होता है वैसा ही जड़कर्म निमित्त होता है और उससे व्यवहारदृष्टिसे आत्मा बँधा हुआ कहलाता है, किन्तु जड़वस्तु आत्मामें त्रिकालमें भी नहीं है। प्रत्येक वस्तु परकी अपेक्षासे नास्तिस्वरूप है। जो अपनेमें है ही नहीं वह क्या हानि कर सकती है। यह दृष्टि विपरीत है कि परका कर्मका वन्धन दूर हो जाये तो सुखी हो जाऊँ, अथवा मैं इस वन्धनके आनेसे दुःखी हो रहा हूँ। विकार करनेकी आत्माकी योग्यता है, उसमें निमित्तरूपसे जड़कर्म अपने स्वतंत्र कारणसे उपस्थित होता है। यदि आत्मा अपनी ओर लक्ष रखे तो अपनेमें विकार न हो किन्तु जब स्वयं निजको भूलकर परकी ओर लक्ष करता है तव विकार होता है, उसमें जड़कर्म निमित्त होता है, वह विकार वर्तमान एक अवस्थामात्रके लिये होता है। यदि स्वभावका लक्ष करे तो विकारी अवस्थाको वदलकर अविकार अवस्था प्रगट कर सकता है। भीतर स्वभावमें गुणकी पूर्ण शक्ति भरी हुई है, उसके लिये वाह्यमें कुछ नहीं करना पड़ता। जैसे लेंडीपीपरमें चरपराहटकी शक्ति भरी हुई है, जो कि उसके घोंटनेसे उसीमेंसे प्रगट होती है। वर्तमानमें उसकी चरपराहट प्रगट नहीं है तथापि उसकी शक्ति पर विश्वास किया जाता है कि इसमें वर्तमानमें चौंसठ पुटवाली चरपराहट शक्तिरूपसे विद्यमान है, जो कि सर्दीको दूर कर देगी। इसप्रकार पहले विश्वास किया जाता है पश्चात् उसे घोंटकर उसका गुण प्राप्त किया जाता है। इसी-प्रकार आत्मामें वर्तमान अपूर्ण अवस्थाके समय भी अनन्तज्ञान और अनन्तसुख इत्यादि अनन्तगुणोंकी पूर्ण अखण्ड शक्ति भरी हुई है, उसका विश्वास करके उसमें एकाग्र होने पर वह प्रगट होती है। निज-स्वभावका विश्वास नहीं किया अर्थात् जो देह है सो मैं हूँ, राग-द्वेष मेरे काम हैं, इसप्रकार अज्ञानके द्वारा आत्माके स्वभावको ढक दिया और यह मान लिया कि मैं ऐसा पूर्ण नहीं हूँ, किन्तु यथार्थ स्वभावके द्वारा जब पूर्ण स्वभावकी प्रतीतिकी तब कहा जाता है कि शुद्ध

आत्मा प्रकाशित हुआ है–प्रगट हुआ है।

कैसा है शुद्ध आत्मा ! सर्वथा एकान्तरूप कुनयके पक्षसे खण्डित नहीं होता, निरवाध है। यदि सर्वथा एक पक्षसे आत्माको नित्य कूटस्थ ही माना जाये तो राग-द्वेषकी विकारी अवस्था नहीं बदली जा सकती। यदि कोई आत्माको क्षणिक संयोगमात्र तक ही सीमित माने तो पापका भय न रहे और नास्तिक स्वच्छन्द हो जायेंगे। किन्तु द्रव्यस्वभावकी दृष्टिसे नित्य शुद्ध, अखण्ड स्वतंत्र वस्तुरूपसे जाने और व्यवहारदृष्टिसे भेदरूप अवस्था जाने; इसप्रकार यथार्थतासे यदि आत्माकी प्रतीति करे तो एकान्तपक्षका खण्डन किया जा सकता है।

भावार्थः—सर्वज्ञ वीतरागकी स्याद्वाद वाणी अविरोधी स्वरूपको बतलाने वाली है। वस्तुमें दो अपेक्षाओं (निश्चय और व्यवहार)को यथावत् न जाने तो एक वस्तुमें भेद और अभेद दोनों माननेमें विरोध आएगा; किन्तु वीतरागकी वाणी कथंचित् विवक्षासे वस्तुस्वरूपको कहकर विरोधको मिटा देती है।

सत् = होना; प्रत्येक आत्मा अपनी अपेक्षासे त्रिकाल है।

असत् = न होना; प्रत्येक आत्मा परकी अपेक्षासे असत् है, अर्थात् परकी अपेक्षासे आत्मा नहीं है–असत् है।

इसप्रकार तत्त्व जैसा है उसे उसीप्रकार अविरोधी दृष्टिसे न जाने तो यथार्थ निःसंदेहताकी शान्ति नहीं होगी और स्वरूपमें स्थिर होनेकी शक्ति प्रगट नहीं होगी।

प्रश्नः—सत् और असत् दोनों एक ही वस्तुमें कैसे हो सकते हैं ?

उत्तरः—एक ही वस्तुमें सत् और असत् एक ही साथ रहते हैं। जैसे चाँदी चाँदीके रूपमें है सोनेके रूपमें नहीं है; इसीप्रकार प्रत्येक वस्तु अपनेरूपसे सत् और पररूपसे (परकी अपेक्षासे) असत् है, वस्तुको स्वतंत्रतया देखने पर वह वस्तु ही यह बताती है कि मैं पररूपसे नहीं हूँ। पर के कारण

प्रश्नः—जब कि वस्तु सत् है तब उसमें अस्ति ही मानना चाहिये, उसमें असत्का-नास्तिका क्या काम है ?

उत्तरः—परसे पृथक्त्व-असत्भाव मानने पर ही प्रत्येक वस्तुका सत्भाव, नित्यत्व और असंयोगीपन सिद्ध होता है। अपनेरूपमें होना और पररूपमें न होना ऐसा सत्-असत्पनका गुण प्रत्येक वस्तुमें एक साथ रहता है। परवस्तुका अपनेरूपसे न होना और अपना परवस्तुरूपसे न होना सभी वस्तुओंका स्वभाव है।

स्वयं जिसरूपसे है उसरूपसे अपनेको नहीं समझा, नहीं माना इसलिये परमें निजत्व मानकर देहदृष्टिसे यह मान लेता है कि-पुण्य-पाप, राग-द्वेष मेरे हैं और मैं देहादिरूप हूँ, मैं देहादिकी क्रिया करता हूँ, इत्यादि। बोलता है, चलता है, दिखाई देता है सो यह सब जड़की क्रिया है; उसकी जगह मैं वही हूँ, इसप्रकार अनादिकालसे परमें अपनापन मानता आया है, तथापि आत्मामें न तो विकार घुस गये हैं और न ही कम हो गये हैं; वर्तमान प्रत्येक समयकी अवस्थामें भूल और विकार करता आया है। यदि स्वाधीन अस्तिस्वभावको जानले तो भूल और अविकारका नाश करके निर्मल दशाको प्रगट कर सकता है।

प्रत्येक वस्तु अपनेरूपसे है और पररूपसे नहीं है। स्वयं पररूपसे असत् है परवस्तु दूसरी वस्तुमें (आत्मामें) असत् है, इसलिये कोई तेरे आधीन नहीं है और तू किसीकी अवस्थाका कर्त्ता नहीं है। किसी एक वाक्यके कहने पर उनमें दूसरी अपेक्षाका ज्ञान आजाता है; एकके कहने पर दूसरेकी अपेक्षा निश्चयसे आजाती है। नित्य कहने पर अनित्यकी अपेक्षा आजाती है। प्रत्येक वस्तु एक दूसरेसे भिन्न है। एक आत्मामें नित्यत्व, अभेदत्व, एकत्व, शुद्धत्व कहने पर उसमें अनित्यत्व, भेदत्व, अनेकत्व और अशुद्धत्व अपनी अपेक्षासे आजाता है, इसलिये परसे भिन्नरूपमें एक-एक आत्मामें निश्चयदृष्टि तथा व्यवहारदृष्टिसे दो प्रकार देखे जाते हैं।

परवस्तुरूपसे यह वस्तु नहीं है, यह कहने पर परकी अपेक्षा आती है। इसलिये परवस्तु उसरूपसे है और परस्वरूपसे नहीं है। जब कोई नहीं समझता तब कोई समझाने वाला उससे अलग है ऐसा साबित होता है। आत्मा देहादि संयोगसे रहित है, इससे इन्कार करने वाला वर्तमानमें इन्कार भले ही करे तथापि वह संयोग-रहित ही है। जैसे अनन्त ज्ञानीजन ज्ञानका स्वभाव समझकर पुरुषार्थ करके मोक्षको प्राप्त हुए हैं उसीप्रकार यदि श्रद्धा न करे, अविरोधी वस्तुको न समझे तो स्वभावकी शान्ति नहीं मिल सकती। 'यह सत् है' यह कहते ही उसमेंसे यह अर्थ निकलता है कि–'यह पररूप नहीं है' इसप्रकार अस्तिमें परकी नास्ति आजाती है।

यदि कोई एकान्त पक्षको पकड़कर कहे कि–जो एक है उसे अनेकरूपसे नहीं कहा जासकता, एक वस्तुमें दो विषयोंका विरोध है; तो वह विरोधको सम्यक्ज्ञान नष्ट कर देता है। जैसे स्वर्णमें पीलापन, चिकनाहट, भारीपन और स्निग्धता इत्यादि अनेक गुण तथा उन समस्त गुणोंकी पर्यायें एक साथ रहती हैं तथापि यदि उसे अनेक गुणरूप तथा पर्यायरूप देखें तो सोना अनेकरूप है और यदि सम्पूर्ण सोना ही सामान्यरूपसे लक्षमें लिया जाये तो वह एकरूप है इसीप्रकार आत्मा उसके अखण्ड स्वभावसे एकरूप है और ज्ञानादिक गुण तथा पर्यायकी दृष्टिसे अनेकरूप है। यदि एक-अनेकरूपसे सम्पूर्ण तत्त्वको न जाने तो यथार्थता ध्यानमें नहीं आती, और यथार्थका पुरुषार्थ भी प्रगट नहीं होता।

वस्तु सत् है ऐसा जानना सो निश्चयदृष्टि अथवा द्रव्यार्थिकनयका विषय है; असत्-पररूपसे नहीं है ऐसा जानना सो व्यवहारनयका विषय है।

एकत्व:—यदि त्रिकाल अनन्तगुण और अवस्थारूप अखण्ड पिण्ड एकाकार वस्तुरूपसे देखा जाये तो निश्चयदृष्टिसे आत्मा एकरूप है।

अनेकत्व:—व्यवहारदृष्टिसे अनन्त गुण-पर्यायको लेकर

अनेकरूप है ।

निश्चयसे उसका लक्ष करके पूर्ण एकत्वके लक्षसे स्थिर होने पर संसारकी विकारी अवस्थाका नाश, मोक्षकी अविकारी अवस्थाकी उत्पत्ति और वस्तुका एकरूप ध्रौव्यत्व बना रहता है। जो इसप्रकार यथार्थरूपसे समझ लेता है वह एकान्तपक्षका विकल्प और विरोध मिटाकर एक वस्तुमें एकत्व-अनेकत्वका ज्ञान एक साथ कर लेता है, परमें अपना एकत्व नहीं मानता ।

नित्यत्वः—आत्मा चिदानन्द एकरूप बना रहता है, इसप्रकार वस्तुदृष्टिसे नित्य है ।

अनित्यत्वः—प्रत्येक द्रव्य स्थिर रहकर प्रतिसमय अपनी पर्यायको बदलता रहता है इसलिये पर्यायदृष्टिसे अनित्य है ।

जिस अपेक्षासे नित्यत्व है उस अपेक्षासे अनित्यत्व नहीं है । इसप्रकार नित्यत्व और अनित्यत्व अर्थात् वस्तुदृष्टिसे स्थिर रहना और पर्यायदृष्टिसे बदलना-यह दोनों मिलकर एक स्वरूप है। यदि बिल्कुल एकरूप अखण्ड हो तो विकारी अवस्था बदलकर अविकारी नहीं हो सकेगा । कर्त्ता-कर्म अथवा क्रिया कुछ भी नही रहेगा । और यदि वस्तु अनित्य ही हो तो नित्यत्वके आधारके बिना अनित्यत्व ही नहीं कहा जा सकेगा ।

अभेदत्वः—प्रत्येक आत्मा अपने वस्तुस्वभावसे अभिन्न है। आत्मा और गुणोंमें प्रदेशभेद नहीं है ।

भेदत्वः—व्यवहारदृष्टिसे आत्मामें भिन्नता है । नाम, संख्या, लक्षण और प्रयोजनसे भेद किये जाते हैं ।

(१) नामभेद—(संज्ञाभेद) आत्मा ज्ञानरूपसे है इसप्रकार वस्तु और गुणके नामभेद न किये जायें तो आत्मा किसप्रकार बताया जायेगा ? इसलिये अखण्ड स्वरूप बतानेके लिये नामभेद होता है ।

(२) संख्याभेद—आत्मा एक है, उसमें ज्ञानादिक अनेक गुण हैं; इसप्रकार संख्याभेद है किन्तु प्रदेशभेद नहीं है ।

(३) लक्षणभेद—अनन्त गुणोंको धारण करना आत्माका लक्षण है। ज्ञानका लक्षण जानना, श्रद्धाका लक्षण प्रतीति करना, चारित्रका लक्षण स्थिर होना, वीर्यका लक्षण आत्मबलको स्थिर रखना, इत्यादि अनन्तगुण हैं, उनके लक्षण (चिह्न-स्वरूप) भिन्न-भिन्न हैं इसलिये लक्षणभेद है। पर्यायका लक्षण प्रतिसमय अवस्थाका बदलना है।

(४) प्रयोजनभेद—आत्माका प्रयोजन सम्पूर्ण स्व-द्रव्यका कार्य करना है। ज्ञानका प्रयोजन हिताहितका निर्णय करके हितरूपसे प्रवृत्ति करना है, चारित्रका प्रयोजन राग-द्वेषरूप न होकर निर्मल स्थिरतारूप रहना है इत्यादि।

इसप्रकार एक वस्तुमें अभिन्नता-भिन्नता और निश्चय-व्यवहार, इन दोनों दृष्टियोंसे यथावत् जाने तो एक पक्षका विरोध मिट जाता है।

शुद्धत्व:—पर-निमित्तकी अपेक्षासे रहित, नित्यस्वभावको देखने वाली निश्चयदृष्टिसे देखा जाये तो आत्मा शुद्ध ही है।

अशुद्धत्व:—पर-निमित्तकी अपेक्षासे वर्तमान अवस्थामें अशुद्धता, (पुण्य-पाप, राग-द्वेष) क्षणिक विकारीभाव जीवमें होते हैं। परको अपना मानकर ऐसी विपरीत धारणा बना लेना कि मैं राग-द्वेषका कर्ता हूँ और शुभाशुभ भाव करने योग्य हैं सो अशुद्ध अवस्था है, और यही संसार है।

अज्ञानी जीवके पर-संयोगाधीन विकारभावका कर्तृत्व-भोक्तृत्व व्यवहारसे है; किन्तु विकार मेरा स्वरूप नहीं है, स्वभावकी प्रतीति पूर्वक स्थिरतासे वह विकार दूर किया जा सकता है। संयोगाधीन विकारी अवस्था वर्तमानमें है ऐसा जानना सो व्यवहारनयकी अपेक्षा है। जब स्वयं विकारीभाव करता है तब विकार होता है। वह विकार क्षणिक अवस्थामात्रके लिये है। जो नित्यस्वभावकी दृष्टिसे उसका स्वामी नहीं होता और उसे अपना स्वभाव नहीं मानता वह ज्ञानी है। अवस्थादृष्टिको गौण करके एकरूप यथार्थ

वस्तुस्वभावको लक्षमें ले तो निश्चय सम्यक्दर्शनकी प्राप्ति होकर अपूर्व आत्मप्रतीति होती है और एकान्तपक्षकी मान्यता दूर होजाती है।

यदि वस्तुस्वभावको यथार्थ समझले तो उसके प्रति बहुमान हुए बिना नहीं रहता। इल्ली अथवा केंचुआ जैसा दोइन्द्रिय प्राणी भी शरीरकी ममताके बलसे पत्थरके नीचे दबकर उससे अलग होनेके लिये इतना प्रयत्न करता है कि पत्थरके नीचे दबे हुए शरीरका एक भाग टूट तक जाता है, तथापि वह पत्थरके उस भारसे हटकर स्वतंत्र रहना चाहता है, इसीप्रकार जिसने परसे भिन्नरूप असंयोगी ज्ञानस्वरूपको ही अपना माना है वह उसे विपरीत मान्यता और परावलम्बन-रूप विकारसे दबा हुआ नहीं रहने देगा। जिसे अपना माना है उसे परिपूर्ण स्वतंत्र रखना चाहता ह। मैं त्रिकाल निर्मल असंग हूँ. इसप्रकार शुद्ध स्वतत्र स्वभावकी दृष्टिके बलसे वर्तमान संयोगाधीन विकारी झुकावसे और विपरीत दृष्टिसे स्वयं अपनेको बचा लेता है। मैं शुद्ध स्वतंत्र ज्ञानानन्दरूप हूँ, ऐसी प्रतीति नहीं थी, तब स्वयं कहीं अन्यत्र अशुद्धरूप अथवा संयोगरूप अपनेको मानता था यदि अपने अस्तित्वको नित्यस्थायीरूप न माने तो कोई सुखके लिये प्रयत्न ही न करे। जिसे अवगुण इष्ट नही है वह अवगुणोंको दूर करनेकी शक्तिका लक्ष करके अवगुणोंको दूर करके, गुणरूपसे स्वतंत्र रहना चाहता है।

जैसे यह मानना मिथ्या है कि-यदि विकार करेंगे तो उसके निमित्तसे गुण प्रगट होंगे, इसीप्रकार यह मानना भी मिथ्या है कि पुण्य-पापकी भावनामेंसे पुण्यकी भावनाको बढ़ायें तो लाभ होगा। पापमें प्रवृत्त न होनेके लिये अथवा अशुभरागसे बचनेके लिये शुभभाव करे सो तो ठीक है, किन्तु यह मान्यता मिथ्या है कि उससे पवित्र गुण प्रगट होंगे; क्योंकि जिस भावसे बन्धन होता है उस भावसे अविकारी भाव-(शुद्धभाव) नहीं होसकते।

जो व्यवहारनय अर्थात् पर्यायदृष्टिका आश्रय लेता है वह यह भूल जाता है-कि वस्तुस्वभाव अखण्ड निर्मल अनन्त शक्तिसे पूर्ण है,

इसलिये उसे रागके अभाव करनेका पुरुषार्थ प्रगट नहीं होता। यदि वह अशुभरागको दूर करे तो वर्तमान मात्रके लिए राग मंद होजाता है, परमार्थतः शुभभावसे राग कम नहीं होता। निश्चय अखण्ड निर्मल वस्तुमें पूर्ण शक्ति जैसी है वैसी ही उसे पहिचानकर, अवस्थाको गौण करके यदि अखण्ड स्वभावके लक्ष पर भार दे तो रागका सहज ही अभाव होता है और निर्मल आनन्दकी वृद्धि होती है, विरोधमात्र दूर होजाता है।

सर्वज्ञ वीतरागकी वाणीमें कथंचित् विवक्षाके भेदसे एक-एक वस्तुमें (एक अपेक्षाको मुख्य करके और दूसरी अपेक्षाको गौण करके) अस्तित्व, एकत्व, नित्यत्व और शुद्धत्व इत्यादि निश्चयदृष्टिकी अपेक्षाका विषय और नास्तित्व, अनेकत्व, अनित्यत्व, भेदत्व तथा अशुद्धत्व इत्यादि व्यवहारदृष्टिकी अपेक्षाका विषय होता है। यदि दोनोंको मिलाकर सम्पूर्ण वस्तुका ज्ञान करे तो प्रमाणज्ञान-यथार्थ ज्ञान होता है। सत्यमेंसे सत्य आता है। इसप्रकार वीतरागकी वाणीके न्यायसे जानने पर विरोधी अभिप्राय दूर हो जाता है। वीतरागकी वाणीमें मिथ्याकी कल्पना तक नहीं है।

परद्रव्यके आश्रयरूप उन्मुखता होनेसे पुण्य-पापकी विकारी अवस्था होती है, वह व्यवहारदृष्टि मुख्य करनेकी आवश्यक्ता नहीं है; उसे गौण करके अनादि-अनन्त एकरूप निर्मल, असंग, अविकारी, निरावलम्बी पूर्ण ज्ञानानन्द स्वभावको निश्चयदृष्टिसे लक्षमें लेना, और उस स्वाश्रित अखण्ड दृष्टिसे स्वभावका बारम्बार मनन करना सो यही प्रयोजनभूत-मुख्य करने योग्य कहा है। अनादिकालसे संसारका बहुभाग पराश्रित व्यवहारके पक्षको मान रहा है और यह मानता है कि-राग-द्वेषके कार्य करने योग्य हैं, परवस्तु और शुभभावका स्वामित्व रखकर हमें व्यवहार नहीं छोड़ना चाहिये; तथा ऐसा कहनेवालेकी बातको जल्दी मान लेता है कि यदि पुण्य करोगे और देहकी क्रिया करोगे तो धर्म होगा; और वह मानता है कि हम देव होकर सुख प्राप्त करेंगे। इसप्रकार जिसकी दृष्टि बाह्य-संयोग पर

जाती है उसे पुण्यमें मिठास मालूम होती है, क्योंकि उसे तत्त्वज्ञानरूप अविरोधी सत्की खवर ही नहीं है; तत्त्वसे द्वेष और विकारके आदरका फल एकेन्द्रियमें जाना है।

आचार्यदेव कहते हैं कि इन ग्यारहवीं और बारहवीं गाथामें जिस अपेक्षासे जिसप्रकार कहा गया है उसे समझकर जो अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप निश्चय स्वभावको मुख्य करके भेदरूप व्यवहारकी दृष्टिको गौण करेगा उसके समस्त विरोधरूप संसारका नाश हो जायेगा।

जो यह मानता है कि मैं परका कुछ सकता हूँ वह परवस्तुको पराधीन मानता है, और ऐसा माननेसे कि अन्य मेरा कुछ कर देगा—स्वयं भी अकर्मण्य-पराधीन सिद्ध होता है। समस्त तत्त्व इसप्रकार स्वतंत्र हैं कि किसीको किसीकी आशा नहीं रखनी चाहिये। सब आत्मा भी स्वतंत्र हैं, अपनी अनन्त शक्तिसे प्रत्येक आत्मा पूर्ण है। जो इसप्रकार नहीं समझता और जैसे उपचारसे लोक-व्यवहारमें घड़ेको 'घी का घड़ा' कहा जाता है, इसीप्रकार इसने इसका भला किया अथवा उपकार किया है, इत्यादि व्यवहारकी लौकिक भाषामें कहा जाता है; यदि उसके अर्थको उस भाषाके शब्दोंको ही पकड़कर किया जाये तो वह मिथ्यादृष्टि है।

आचार्यदेव कहते हैं कि—मैं परका कर्त्ता-भोक्ता हूँ, विकार मेरा कार्य है ऐसी विपरीत दृष्टिको दूर करके अखण्ड ध्रुवस्वभावको मुख्य करो! और व्यवहारके भेदविकारकी दृष्टिका त्याग करो। परवस्तु तुझरूप नहीं है, इसलिए परके लक्षसे होने वाले विकार (पुण्य-पापके शुभाशुभभाव) भी तेरे नही हैं, वे तुझमें स्थायीरूपसे रहनेवाले नहीं हैं; इसलिए उस व्यवहारका विषय भेदरूप विकार आवश्यक नहीं हैं; इसलिये उसमें नहीं लगना चाहिये। एकरूप ध्रुव विषयको मुख्य करके बारम्बार अखण्ड स्वभावके बलसे पूर्ण ज्ञानानन्द

स्वभावका आश्रय करके, शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टि[1]का करना सो निश्चयनय है; अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयको शुद्धद्रव्यार्थिकदृष्टिसे पर्यायार्थिकनय[2] अथवा व्यवहार कहते हैं।

तुझमें जो विकार होता है सो अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय है।

तेरी पर्यायमें जो विकार होता है हो पर्यायार्थिकनय है।

पराश्रयसे विकार होता है इसलिए व्यवहारनय है।

ऐसे वीतराग कथित न्याय-वचनोंके द्वारा जो अविरोधी तत्त्वका अभ्यास करता है सो वह योग्य जीव शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है, यथार्थदृष्टिको प्राप्त करता है, यथार्थ प्रतीतिको प्रगट करता है। यह समस्त विषय अन्तरंगका है, इसमें नयका विषय सूक्ष्म है जो कि यहाँ सरल भाषामें कहा जाता है; किन्तु जो अन्तरंगसे उसकी चिंता नहीं करता और उसे स्मरण करके उनका मनन नहीं करता वह उसे नहीं समझ सकता। यदि स्वाधीन होकर उसे समझे तो अनेक प्रकार की विपरीत मान्यताएँ दूर हो जाती हैं। जैसे शरीरके रोगग्रसित होने पर उसे दूर करनेका सावधानी पूर्वक प्रयत्न किया जाता है, इसीप्रकार आत्माको अनादिकालसे आकुलतारूपी रोग लगा हुआ है उसे दूर करनेकी अपूर्व विधि यहाँ कही जा रही है, उसे सावधानी पूर्वक समझना चाहिये।

सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कथित अविरोधी न्यायसे जैसा कहा जाता है वैसा ही समझना चाहिये; यथार्थको सुनकर स्वयं यथार्थताका निश्चय करना और पूर्ण निर्मल अखण्ड ज्ञानानन्द स्वभावको निश्चय-दृष्टिके बलसे मुख्य करके उसका मनन करना चाहिये; वर्तमान विकारी अवस्थाको जो कि आत्मामें है जड़में नहीं जानना और

१—द्रव्यार्थिक = (द्रव्य+अर्थ) द्रव्य = वस्तु, अर्थ = प्रयोजन। वस्तुको द्रव्यस्वभावसे बताना सो द्रव्यार्थिकनय है।

२—पर्यायार्थिक = पर्याय (अवस्था)को बतानेका जो प्रयोजन है सो पर्यायार्थिकनय है।

अवस्था दृष्टिको गौण करना चाहिये; ऐसे प्रयोजनको जानकर अवस्था और अखण्ड वस्तु दोनोंका यथार्थ ज्ञान करके, अन्तरंगमें निर्मल ध्रुवस्वभावकी रुचिसे उसकी दृढ़ताका अभ्यास बढ़ाना चाहिये। इसप्रकार तत्त्वज्ञानके विषयमें रमणता करनेसे मोहका नाश होकर स्वभावकी प्रतीति होनेसे निर्मलदशाका अनुभव होता है।

इसे समझे विना छुटकारा नहीं है। ऊपरसे ऐसा मानता है कि मैंने समझ लिया है, मेरे समभाव है, मुझे बुरा नहीं करना है किन्तु अच्छा ही करना है और इसप्रकार अपने मनको समझाया करता है; किन्तु सर्वज्ञ वीतरागके न्यायानुसार अच्छा क्या है यह निश्चय न करे तो यह मालूम नहीं हो सकता कि विपरीत मान्यता कहाँ पुष्ट हो रही है। जैसे गर्मीके दिनोंमें किसी छोटे बालकको पतला दस्त हो जाये और वह उसे चाटने लगे तो वह उसकी ठंडकसे संतुष्ट होता है, यह उसकी मात्र अज्ञानता ही है; इसीप्रकार चैतन्यमूर्ति भगवान अविकारी आत्मा मनके विकल्पोंसे पृथक् है, उसे भूलकर अपनी कल्पनासे (विपरीत मान्यतासे) माने गये धर्मके नाम पर और अपने हित करनेके नाम पर शुभभाव (चैतन्यस्वभावके गुणकी विकाररूपी विष्टा)को ठीक मानकर संतुष्ट होता और मानता है कि इससे कुछ अच्छा होगा; वह उस बालकके समान अज्ञानी है जो विष्टाको अच्छा मान रहा है। सर्वज्ञके न्यायसे, सत्समागमसे, पूर्वापर विरोधसे रहित, यथार्थ हित क्या है इसकी परीक्षा करना सो अज्ञान है, और अज्ञान कोई बचाव नहीं है।

संसारकी रुचिके लिये बुद्धिका विलोड़न कर रहा है, उसमें (संसारमें) अच्छे-बुरेका निश्चय कर सकता है किन्तु यदि उस रुचिको बदलकर अपनी ही रुचि करे और भलीभाँति निश्चय करे कि यही सच्चा हित है तो यथार्थ हित हो इसलिये परीक्षा करनी चाहिये, किन्तु अन्ध-श्रद्धासे उसे नहीं मान लेना चाहिये।

समयसारमें जो विविध न्याय निहित हैं वे अत्यंत बहुमूल्य हैं। इस कालमें वैसी यथार्थ बात कानोंमें पड़ना दुर्लभ है। यह

निवृत्तिका मार्ग है। अपूर्व आत्मधर्ममें संसारका अभाव है, उस धर्म-की रुचिमें समस्त संसारको उड़ा देना है। अपूर्व स्वभावकी रुचिमें संसारकी रुचि नहीं पुसा सकती।

लोकोत्तर पात्रताके विना अन्तरंगके सूक्ष्मभाव समझमें नहीं आते और न वस्तुके प्रति बहुमान ही होता है। अनन्तकालसे न तो परमतत्त्वकी संगति की है और न परिचय ही किया है तथा जब ज्यों-त्यों करके यथार्थ तत्त्वको समझनेका अवसर आता है वहाँ उसकी प्रीति नहीं करता; इसका कारण यह है कि उसे सामाजिक-लौकिक मोह रुचिकर है और इसलिये वह उसमें लगा रहता है।

यह ऐसा सुअवसर है कि जब जन्म-मरण कैसे दूर हो इसकी स्वयं चिन्ता करके अपना सुधार कर लेना चाहिये; सबको एक साथ लेनेका अथवा परमें लग जाने या रुक जानेमें हितका उपाय नहीं है। यह तो परम आध्यात्मिक विषय है, इसमें जीवको अत्यंत सावधानी रखनी चाहिये। दूसरा सब कुछ भूलकर तत्त्वका परिचय करनेके लिये अत्यन्त पुरुषार्थकी आवश्यकता है। तत्त्वकी भाषा ही अति गूढ़ होती है, और उसका भाव बहुत गम्भीर होता है। यथार्थ पात्रता-के विना यथार्थ समझ नहीं जमती। पात्रताके अभावमें यह सब बातें ऊपरी सी मालूम होती हैं और वस्तुकी महिमा प्रतीत नहीं होती।

जो पुरुष निर्दोष वीतरागके वचनोंमें रमण करता है, अभ्यास करता है वह यथार्थतया शुद्ध आत्माको प्राप्त करता है। दूसरे सर्वथा एकान्तपक्ष वाले लोग यथार्थ स्वरूपको प्राप्त नहीं होते। कोई आत्मवस्तुको सर्वथा एक पक्षसे ही मानते हैं कि आत्मा बिल्कुल अखण्ड शुद्ध है, पर्यायमें भी विकार नहीं है अथवा पर्याय ही नहीं है, मात्र नित्यता ही है, राग-द्वेप विकार जड़कर्मकी प्रवृत्तिको करता है और भोगता है, ऐसा कहने वालेकी बात मिथ्या है।

आत्माके ध्रुवस्वभावमें पुण्य-पापके विकार प्रविष्ट नहीं होगये हैं यह बात सच है, किन्तु वर्तमान अवस्थामें विषय-भोगरूप तृष्णा और राग-द्वेष स्वयं करता है इसे न मानकर दूसरे पर डालता

है, उसे सामान्य त्रिकाल एकरूप शुद्ध द्रव्यत्व और विशेष वर्तमान अवस्थाभाव दोनों मिलकर पूर्ण वस्तु है इसकी यथार्थ प्रतीति नहीं होती। यदि कोई ऐसा माने कि त्रिकाल नित्यता ही है और वर्तमान अनित्य अवस्थाका परिवर्तन न माने तो वास्तवमें ऐसा स्वरूप नहीं है अर्थात् उसकी मान्यता मिथ्या है।

मिर्च और कालीमिर्चकी चरपराहटका अन्तर ज्ञानमें प्रतीत होता है, किन्तु स्वादका वर्णन वाणी द्वारा संतोष पूर्वक नहीं किया जासकता; इसीप्रकार अखण्ड ध्रुव ज्ञानानन्द एकाकार स्वभावको लक्षमें लेने पर सहज निर्मल अवस्थाका आनन्द प्रगट होता है; उसका भेद नहीं करना पड़ना तथापि वह ज्ञानमें प्रतीत होता है। वर्तमान पर्यायमें भेददृष्टि करने पर राग-द्वेष-विकल्प होता है, यदि उसमें शुभभाव करे तो मन्द आकुलता और पापभाव करे तो तीव्र आकुलताका स्वाद आता है, उसके अन्तरको ज्ञानी जानता है। स्थिरताका लक्ष करने पर वीचमें व्यवहारके भेद आते हैं, तथापि उन्हें मुख्य नहीं करते। इसप्रकार अखण्ड ध्रुवस्वभावकी श्रद्धाके वलसे क्रमशः निर्मल अवस्था वढ़ती जाती है और राग कम होता जाता है। शुद्धनयका फल वीतरागता है, भेदरूप व्यवहारमें अटकने वाली अशुद्ध दृष्टिका फल संसार है; ज्ञानी उसका आदर नहीं करते।

किसी वाह्य पदार्थकी शरण लेनेसे गुण प्रगट नहीं होते। सच्चे देव, गुरु, शास्त्रकी शरणसे भी अन्तरंग तत्त्वको लाभ नहीं होता। देव-गुरु वीतराग हैं, तुझसे पररूप हैं, वे तुझमें नास्तिरूप हैं; जो अपना होता है वह काम आता है, मन और मनके सम्बन्धके योगसे विचार करनेमें विकल्प होता है, किन्तु यदि उसकी ओरके लक्षको भूल जाये तव स्वाश्रय अखण्डदृष्टि होती है। अन्तरंगका मार्ग ऐसा परम अद्भुत है, उसे यथार्थ समागमके द्वारा अपूर्व पात्रतासे जागृत होकर समझना चाहिये। श्रवणके वाद यथार्थ क्या है इसका मनन करना सो लाभका कारण है। भवके भयसे मुक्त होनेके लिये जिसे निर्भय सत्की शरण चाहिये हो और अविकारी, अविनाशी,

स्वतंत्रताकी नींव डालना हो उसे पहलेसे ही ऐसी यथार्थकी श्रद्धा करनी होगी कि जिसमें किसी ओरसे विरोध न रहे, उसके बाद ही चारित्र हो सकेगा।

लौकिक व्यवहारके साथ इस बातका मेल नहीं खाता। अखण्ड ज्ञायकस्वरूपको समझनेके विचारमें भेद (विकल्प) होता है तथापि यह सहायक नहीं है, उसमें कोई गुण-लाभ नहीं होता। अखण्डके यथार्थ लक्षसे अखण्डका ज्ञान, श्रद्धा और स्थिरतारूप चारित्र होता है। भेदरूप व्यवहार गौण हो जाता है किन्तु ज्ञानमें भेदरूप अवस्था खयालसे बाहर नहीं जाती। इस सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अधिकाधिक मनन करना चाहिये। इसप्रकार बारह गाथाओं तक सम्पूर्ण समयसारकी भूमिका हुई। जैसे वृक्षकी रक्षाके लिये उसके तनेके चारों ओर चबूतरा बनाया जाता है इसी-प्रकार आत्माके सारको संक्षेपमें समझनेके लिये आचार्यदेवने भूमिका-रूपी चबूतरा बाँधा है। विशेपरूपसे, विविध पहलुओंसे दृढ़ता पूर्वक समझानेका अधिकार इसके बाद कहा जायेगा।

शंका:—समयसारमें तो मुनियोंके लिये उपदेश हैं, बहुत उच्च भूमिकाकी बात है?

समाधान:—ऐसा नहीं है, किन्तु प्रथम धर्मके प्रारम्भकी ही बात है, यह तो वीतराग मार्गकी सबसे पहली इकाई है। सीढ़ी

अब आचार्यदेव शुद्धनयको प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं। जीव-अजीव आदिक नवतत्त्वकी श्रद्धाको व्यवहार-से सम्यक्त्व कहा है। नवतत्त्वके भेद-विकल्पसे रहित, एकरूप, अखण्ड, ज्ञानस्वरूप पूर्ण वस्तुको शुद्धदृष्टिके द्वारा जाननेसे विकल्प टूटकर अखण्डके लक्षसे सम्यक्दर्शन होता है, तथापि बीचमें नव-तत्त्वके भेद करने वाले शुभविकल्पका व्यवहार आता है, किन्तु वह कहीं सहायक नहीं होता। एकरूप यथार्थताका निश्चय करनेके लिये भेदरूप व्यवहारनय द्वारा शुभविकल्पोंसे नवतत्त्वोंको जानना सो

व्यवहार-सम्यक्त्व कहा है। उन नवतत्त्वोंका स्वरूप यहाँ कहा जारहा है:—

(१) जीवः—जीव = आत्मा। वह सदा ज्ञाता, परसे भिन्न और त्रिकालस्थायी है। (जब पर-निमित्तके शुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तव शुभभाव (पुण्य) होता है और अव अशुभ अवलम्बनमें युक्त होता है तब अशुभभाव (पाप) होता है; और जब स्वावलम्बी होता है तब शुद्धभाव होता है।)

(२) अजीवः—जिनमें चेतना-ज्ञातृत्व नहीं है ऐसे पाँच द्रव्य हैं। उनमेंसे धर्म, अधर्म, आकाश और काल अरूपी हैं तथा पुद्गल रूपी—वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श युक्त है।

अजीव वस्तुएँ आत्मासे भिन्न हैं तथा अनन्त आत्मा भी एक-दूसरेसे स्वतंत्र-भिन्न हैं। परसंयोगसे रहित एकाकी तत्त्व हो तो उसमें विकार नहीं होता। परोन्मुख होनेपर जीवके पुण्य-पापकी, शुभाशुभ विकारकी भावना होती है। जव जीव रागादिक करता है तव जड़कर्मकी सूक्ष्म धूल जो क्षणिक संयोग-सम्बन्धसे है निमित्त होती है।

(३) पुण्यः—दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत इत्यादिके भाव जीवके होते हैं सो अरूपी विकारीभाव हैं, जो कि भावपुण्य हैं और उसके निमित्तसे जड़ परमाणुओंका समूह स्वयं (अपने कारणसे-स्वतः) एकक्षेत्रावगाह-सम्बन्धसे जीवके साथ बँधता है सो द्रव्यपुण्य है।

(४) पापः—हिंसा, झूठ, चोरी, अव्रत इत्यादिका अशुभभाव भावपाप है और उसके निमित्तसे जड़की शक्तिसे परमाणुओंका जो समूह स्वयं बँधता है सो द्रव्यपाप है।

परमार्थसे पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है। आत्मामें क्षणिक अवस्थामें पर-सम्वन्धसे विकार होता है, वह मेरा नहीं है।

(५) आस्रवः—विकारी शुभाशुभभावरूप जो अरूपी अवस्था

जीवमें होती है सो भावास्रव है; और नवीन कर्म-रजकणोंका आना (आत्माके साथ एक क्षेत्रमें रहना) सो द्रव्यास्रव है।

(६) संवर:—पुण्य-पापके विकारी भावों (आस्रव) को आत्माके शुद्ध भावोंसे रोकना सो भावसंवर है और तदनुसार नवीन कर्म बँधनेसे रुक जायें सो द्रव्यसंवर है।

(७) निर्जरा:—अखण्डानन्द शुद्ध आत्मस्वभावके बलसे स्वरूपस्थिरताकी वृद्धिके द्वारा अशुद्ध (शुभाशुभ) अवस्थाका आंशिक नाश करना सो भावनिर्जरा है और उसका निमित्त पाकर जड़कर्म-का अंशतः खिर जाना सो द्रव्यनिर्जरा है।

(८) बन्ध:—आत्माका राग-द्वेष पुण्य-पापके भावमें अटक जाना सो भावबन्ध है और उसके निमित्तसे पुद्गलका उसकी शक्ति से कर्मरूप बंधना सो द्रव्यबन्ध है।

(९) मोक्ष:—अशुद्ध अवस्थाका सर्वथा सम्पूर्ण नाश होकर पूर्ण निर्मल पवित्रदशाका प्रगट होना सो भावमोक्ष है।

इसप्रकार जैसा नवतत्त्वका स्वरूप है वैसा शुभभावसे विचार करता है, उस शुद्धका लक्ष हो तो व्यवहार-सम्यक्त्व है। व्रतादिके शुभभावको संवर-निर्जरामें माने तो आस्रव तत्त्वकी श्रद्धामें भूल होती है। व्यवहारश्रद्धामें किसी भी ओरसे भूल न हो इसप्रकार नवभेदोंमेंसे शुद्धनय* के द्वारा एकरूप अखण्ड ज्ञायक स्वभावी आत्मा-को परख लेना सो परमार्थश्रद्धा-सम्यक्दर्शन है। धर्मके नाम पर लोगोंमें अपना माना हुआ सम्यक्त्व दूसरेको देते हैं या कहते हैं, किन्तु वैसा सम्यक्त्व नहीं हो सकता, क्योंकि किसीका गुण तथा गुणकी पर्याय किसी दूसरेको नहीं दी जासकती।

---

* वर्तमान अवस्थाके भेदको लक्षमें न लेकर (गौण करके) त्रिकाल एकरूप वीतराग स्वभावको अभेदरूपसे लक्षमें लेना सो शुद्धनय है।

प्रथम व्यवहारश्रद्धामें किसी भी ओरसे कोई विरोध न आये ऐसी समझ होनी चाहिये। जो मिथ्या देव, गुरु, शास्त्रसे अपना हित मानता है-शंकर, हनुमान और ऐसे ही अन्य देवी-देवताओंकी मनौती मनाता है, इनसे सन्तान प्राप्ति होगी, धन मिलेगा, रोग दूर होगा ऐसी विविध धारणाएँ बना लेता है उसके तीव्र तृष्णाका पाप होता है। बाह्य अनुकूलता-प्रतिकूलताका संयोग तो पूर्वकृत पुण्य-पापके अनुसार होता है, देवी-देवता किसी भी प्रकारकी अनुकूलता या प्रतिकूलता करनेमें समर्थ नहीं हैं। यदि ऐसा विश्वास अपनेमें लाये तो व्यवहारसे शुभ-भाव है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वीतराग कथित सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और उनके स्वरूपको पहिचानकर माने तो जब शुद्धका लक्ष होता है तब वह व्यवहारसे सच्ची श्रद्धा कहलाती है, वह भी वास्तवमें निमित्तमात्र है।

शुभभावरूप नवतत्त्वोंकी श्रद्धासे निश्चयसम्यक्दर्शन नहीं होता, तथापि प्रथम निश्चयस्वरूपकी यथार्थताको जाननेके लिये शुभ-विकल्प आते तो हैं किन्तु सम्यग्दर्शन और धर्म उससे भिन्न वस्तु है। जैसे किसी मंजिल पर जाते हुए बीचमें सीढ़ियाँ आती हैं किन्तु उनसे ऊपर नहीं चढ़ा जाता, किन्तु जब सीढ़ियोंको छोड़ते हैं (छोड़नेकी दृष्टिसे पैर रखते हैं) तब ऊपर पहुँचा जाता है; इसीप्रकार यथार्थ वस्तुका निर्णय करनेके लिये श्रवण-मननके द्वारा अनेक पहलुओंसे विचार करनेके लिये पहले शुभभाव आता है, तथा अशुभसे बचनेके लिये दया, दान, व्रत, तप, पूजा भक्ति इत्यादि शुभभाव आते हैं किन्तु वह कर्म-निमित्तक शुभ उपयोगका भेद है। नवतत्त्वके भेदोंका विचार करना भी मनके सम्बन्धसे होनेवाले शुभभावके विकल्प हैं, अखण्ड स्वभाव नहीं हैं। नवतत्त्वके भेदसे-विकल्पसे आत्माका विचार करना सो शुभराग है, व्यवहार है, उसमें धर्म नहीं है।

आत्मा वस्तु त्रिकालमें ऐसी ही है। सत्य बदल नहीं सकता किन्तु जिसे सत्य समझना हो उसे बदलना होगा। पहले अनन्तकालमें अनंत-बार व्यवहारके विकल्प जीवने किये हैं; भगवानके द्वारा कही गई

व्यवहारश्रद्धा अभव्य जीव भी करता है, किन्तु उस भेदसे लाभ नहीं होता ।

जो अज्ञानी पहले समझना चाहता है उससे मात्र आत्मा अथवा "अखण्ड आत्मा" कह देनेसे नहीं समझ सकेगा, इसलिये उसे समझानेके लिये व्यवहारसे नवतत्त्वके भेद करके विकल्पके द्वारा अखण्डका लक्ष कराते हैं। मैं जीव हूँ, अजीव नहीं, पुण्य-पाप मेरा स्वरूप नहीं है इत्यादि प्रकार नवतत्त्वोंके शुभविकल्परूप श्रद्धाके भेद-मेंसे आत्माको भिन्न करके एकत्व ग्रहण करके, त्रिकाल एकरूप स्थायी ज्ञायकरूपसे पूर्ण स्वभावको शुद्धनयसे श्रद्धामें लेना सो सम्यक्-दर्शन है।

समझने वाला किसी प्रस्तुत वस्तुसे अथवा विकल्प करनेसे नहीं समझता किन्तु स्वतः समझता है। जो जानता है सो जीव है उसमें पररूप न होने वाले अनन्त गुणोंकी अनन्त शक्ति है, इसका विश्वास करने वालेके शुभभावकी प्रधानता नहीं है। तत्त्वका विचार करने पर जितने भेद होते हैं उनमेसे अभेद वस्तुकी ओर झुककर अभेदत्व-का निश्चय करता जाता है; वह परसे या मनके द्वारा निश्चय नहीं करता किन्तु स्वयं ज्ञाता होनेसे स्वयं निश्चय करता है। जब तक मन के सम्बन्धसे शुभविकल्पसे श्रद्धा करता है तबतक निश्चयसम्यक्-दर्शन नहीं है, किन्तु जब विकल्पका श्रद्धामें अभाव करके, अखण्ड स्वभावके लक्षसे व्यवहारके भेदको गौण करके एकरूप स्व वस्तुमें एकाग्रता द्वारा अभेद स्वरूपका अनुभव करता है तब निश्चयसम्यक्-दर्शन होता है।

शुभभाव राग है। रागके द्वारा आत्माको मानना सो पुण्य-रूप व्यवहार है, धर्म नहीं। जीवादिक नौ तत्त्वोंके लक्षसे श्रद्धा करना सो व्यवहारसम्यक्त्व है।

व्यवहारका अर्थ है एकका दूसरेमें उपचार। बिल्लीको सिंह कहना सो उपचार है। जिसने कभी सिंहको न देखा हो उसे समझानेके लिये बिल्लीमें सिंहका उपचार करके सिंहकी पहिचान कराई जाती

है, किन्तु बिल्ली वास्तवमें सिंह नहीं है। जिसे उपचारकी–व्यवहारकी प्रतीति नहीं है वह बिल्लीको ही वास्तविक सिंह मान लेता है; इसी प्रकार सर्वज्ञ भगवानने अखण्ड आत्माकी पहिचान करानेके लिये उपचारसे–व्यवहारसे नवतत्त्वके भेद कहे हैं। यदि वह नवतत्त्वोंके विकल्प वाली श्रद्धाके भेदको ही यथार्थ आत्माका स्वरूप मान बैठे तो उसे व्यवहारकी ही खबर नहीं है। व्यवहार किसी परवस्तुमें या देहादिकी क्रियामें नहीं है। कोई जीव शरीरादिक परवस्तुकी क्रियाका या परवस्तुका व्यवहारसे भी कर्ता नहीं है। आत्मा त्रिकालमें भी न तो पररूप होसकता है और न परकी पर्यायरूप होसकता है। अज्ञानी जीव पुण्य–पापके विकारी शुभाशुभभावका कर्ता है। ज्ञानीके अखण्ड स्वभावकी प्रतीति होने पर भी वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिसे राग होता है किन्तु वह उसका स्वामिभावसे कर्ता नहीं होता।

जो जीव यथार्थ तत्त्वोंका विचार करता है और यथार्थ स्वभावका निश्चय करना चाहता है उसे नवतत्त्वोंकी श्रद्धा निमित्तभूत होती है, किन्तु निर्विकल्प एकाकार ध्रुवरूपसे ज्ञायक वस्तुकी निर्मल श्रद्धा न करे तो शुभभावसे मात्र पुण्य होनेसे बाह्य फल देकर छूट जाता है। व्यवहारनयाश्रित निमित्त सम्बन्धो जो वृत्ति उद्भूत होती उसकी शुभराग पर्यन्त मर्यादा है, किन्तु भेदका निषेध करके शुद्ध अखण्ड वस्तुकी यथार्थ दृष्टिसे अन्तरंगमें स्थिर हो तो भेदका लक्ष गौण होकर एकाकार पूर्ण स्वभावके लक्षसे निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है, वहाँ उपचारसे नवतत्त्वोंकी श्रद्धा व्यवहारसे निमित्त कहलाती है। जहां निश्चयश्रद्धा नहीं होती वहाँ शुभ–व्यवहाररूप श्रद्धाको निमित्त भी नहीं कहा जाता।

नवतत्त्वके भेदको जानने वाला आत्मा ज्ञायकरूपसे त्रिकाल अखण्ड है। शुभाशुभ विकल्पकी जो वृत्ति उत्पन्न होती है उसका ज्ञायकस्वभावमें अभाव है। मैं असंग एकरूप ज्ञायक हूँ, इसप्रकार निर्विकार निरावलम्बी निरपेक्ष स्वभावको अखण्डरूपसे श्रद्धाका

विषय बनाये तो यथार्थ सम्यक्दर्शन होता है। जो अनन्तकालमें कभी प्रगट नहीं हुई ऐसी श्रद्धा यथार्थके बलसे प्रगट होती है और नवतत्त्वोंके भेद तथा पर-निमित्तका बुद्धिपूर्वक विचार छूट जाता है; ऐसी यथार्थ वस्तुस्थितिमें क्या है सो यह बतानेके लिये तीन श्लोक कहते हैं।

प्रथम श्लोकमें कहते हैं कि व्यवहारनयको कथंचित् प्रयोजनवान कहा है तथापि वह कहीं वस्तुभूत नहीं है सहायक भी नहीं है, क्योंकि निश्चय परमार्थके अनुभवमें वह छूट जाता है इसलिये अभूतार्थ है।

प्रश्नः—कहीं तो व्यवहारका विधान है और कहीं उसका निषेध है, एकबार तो व्यवहारको स्वीकार किया जाता है और दूसरे ही क्षण उसका निषेध कर दिया जाता है; ऐसी स्थितिमें किसे यथार्थ समझा जाये ?

उत्तरः—जिस अपेक्षासे व्यवहारका विधान है उस अपेक्षासे वह वैसा है और जिस अपेक्षासे उसका निषेध है उस अपेक्षासे वह नहीं है, इसप्रकार वह जैसा है वैसा ही कहा जाता है। ध्रुवज्ञायकस्वभाव तो त्रिकाल एकरूप अखण्ड है उसे निश्चयसे स्वीकार किया जाता है और वर्तमान अवस्थामें पर-सम्बन्धसे विकार होता है तथा ज्ञायकस्वभावका संबन्ध करनेसे निर्मल अवस्था होती है उसे व्यवहारसे स्वीकार किया जाता है; अखण्डस्वभावको ध्रुव एकाकार देखने वाले निश्चयनयके बलसे स्वभावमें विकल्प-राग-द्वेष नहीं हैं, निमित्ताधीन होनेसे निषेध किया जाता है, भूतार्थदृष्टिमें व्यवहारभेद नहीं है।

शंकाः—राग-द्वेष, अज्ञान जड़ प्रकृति कराती है ?

समाधानः—स्वयं उसका कर्ता होकर जड़कर्मके सिर पर थोपता है, किन्तु जड़ तो अन्ध-अचेतन है, उसे कुछ खबर नहीं है। यदि कोई माने कि हम तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा ही हैं और इन्द्रियोंके विषयको इन्द्रियाँ ही भोगती हैं तो यह ठीक नहीं है। विषयोंके भोगनेका विकारीभाव स्वयं ही करता है, अर्थात् दोष स्वयं करता है और उसे

दूसरे पर डालता है; ऐसा 'अन्धेर नगरी बेबूझ राजा' का राज्य वीतराग मार्गमें नहीं है।

जहाँ गुण हैं वहाँ गुणोंकी विपरीत अवस्था (विकार) हो सकती है और विकारका नाश भी वहीं हो सकता है। मुझमें न तो विकार है और न उसकी अवस्था ही; मैं तो शुद्ध ही हूँ, ऐसा एकान्तको मानने वाला दोनों पहलुओंको नहीं समझा है। यदि त्रिकालस्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनोंको यथावत् मानकर स्वभावको मुख्य करे तो अविकारी-स्वभावका आनन्द प्रगट हो।

सम्यक्दर्शन होनेसे पूर्व सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी पहिचान, श्रद्धा, पूजा, भक्ति तथा तत्त्वविचार इत्यादि शुभभाव आते हैं। यथार्थ-में जाते हुए बीचमें व्यवहारका आश्रय दृढ़तापूर्वक आजाता है जो कि खेदका विषय है; वह सारभूत वस्तु नहीं है। अब वह कलश द्वारा करते हैं:—

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या-
मिह निहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

आचार्य देव कहते हैं कि:–जो व्यवहारनय है सो यद्यपि इस पहली पदवीमें (जबतक शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति न हो जाये तबतक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषोंको, यथार्थ स्वरूपका अविरोध निर्णय करनेके लिये खेद है कि हस्तावलम्बन तुल्य कहा है, तथापि जो पुरुष चैतन्य–चमत्कारमात्र, परद्रव्य भावोंसे रहित (शुद्धनयके विषय-भूत) परम 'अर्थको' अन्तरंगमें अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा तद्रूप लीन होकर चारित्रभावको प्राप्त होते हैं उनके लिये यह व्यवहारनय किंचित्मात्र भी प्रयोजनवान नहीं है।

जबतक यथार्थ वस्तुका निश्चय करके आत्मामें स्थिर नहीं हुआ जाता तबतक व्यवहारनय हस्तावलम्बन तुल्य कहा गया है, वास्तवमें उसका अवलम्बन नहीं है। किसी मंजिल पर चढ़ते हुए जीनेकी

सीढ़ियों पर पैर रखते हैं और दीवालका सहारा लेते हैं किन्तु वह छोड़नेके लिये ही होता है; इसीप्रकार यथार्थ स्वरूपके विरोधसे रहित निर्णय करनेके लिये शुभविकल्पमें लगना पड़ता है सो व्यवहार है, किन्तु खेद है कि निमित्ताश्रित भेदमें रुकना पड़ता है। परमार्थमें जाते हुए वीचमें तत्त्वके विकल्पका आँगन आता तो है किन्तु उसे लेकर आगे नहीं वढ़ा जाता। अपने वलसे जव स्वयं उसे लाँघ जाता है तव वहाँ जो विकल्पका अभाव है सो निमित्त कहलाता है। जव मंजिल पर चढ़ने वाला कूदकर अन्तिम सीढ़ीको छोड़ देता है तव यह कहा जाता है कि जो छूट गया है वह निमित्त था; इसीप्रकार अनादिकालसे पराश्रयरूप व्यवहारकी पकड़से राग-द्वेष, पुण्य-पाप, परका स्वामित्व-कर्तृत्व मान रहा था वहाँसे कुलाँट खाकर अखण्ड अविकारी निरावलम्वी स्वभावके वलसे विकल्पका अंश टूटकर प्रारम्भके तीन गुणस्थानोंको लाँघकर सीधा चौथे गुणस्थानमें पहुँचता है।

विकारका नाशक स्वभाव नित्य एकरूप ज्ञायक है, उसका ऐसा स्वरूप नहीं है कि विकारमें अटक जाये। आचार्यदेव कहते हैं कि जीवको परमार्थमें ही जाना है तथापि नवतत्त्वके और गुण-गुणीके भेदविचार और शुभविकल्परूप व्यवहार आये विना नहीं रहता, तथापि वह कोई प्रयोजनवान नहीं है। जैसे कोई माल-मिठाई लेते समय उसकी किस्म तय की जाती है, भाव तय किया जाता है और फिर तौल कराई जाती है; इसप्रकार लेते समय यह सव कुछ करना पड़ता है, किन्तु माल लेनेके वाद उसे खाते समय (स्वाद लेते समय) तराजू वाँट और भाव इत्यादि साथमें नहीं रखे जाते, इसीप्रकार परमार्थस्वरूप आत्माका निर्णय करनेके लिये पहले जीवादि नवतत्त्व क्या है यह जाननेका तथा विकल्परहित यथार्थ तत्त्व क्या है इसका माप करनेका विचार गुरुज्ञानसे यथावत् करना पड़ता है, किन्तु उसके एकरूप अनुभव-स्वादके लिये नवतत्व और माप लेनेका विकल्प आदि सव छोड़ देना पड़ता है, क्योंकि उस शुभविकल्पसे आत्मानुभव प्रगट नहीं होता।

वास्तविक सम्यक्दर्शन ही धर्मका प्रथम प्रारम्भ है। यदि नवतत्त्वका यथार्थ ज्ञान न करे तो आत्माका पूर्ण स्वभाव ज्ञात नहीं होता। जीवादिक नवतत्त्वोंको यथावत् शुद्धताके लक्षसे जानना सो व्यवहार है। अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव और बंध एकदम त्याज्य हैं, तथा शुद्ध, जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष व्यवहारसे आदर योग्य हैं। ऐसा व्यावहारिक यथार्थ विवेक करने पर शुभभाव होता है। नवतत्त्वोंको यथार्थतया जाने तो वह सम्यक्दर्शनके लिये हस्तावलम्बन—आधार कहलाता है। उस अवस्थाके आधारसे सम्यक्दर्शन नहीं होता किन्तु वह पुरुषार्थसे होता है। जो इतना नहीं समझता वह धर्मके निकट भी नहीं पहुँच पाया, ऐसा समझे बिना धर्म नहीं होता। धर्म तो मन और इन्द्रियोंसे परे (बिल्कुल भिन्न) मात्र अन्तरंग ज्ञानदृष्टिसे अनुभवगम्य है। उसकी प्रतीति करनेसे बाह्यदृष्टि एवं दशा बदल जाती है। प्रतीति करना सर्वप्रथम कर्तव्य है, वह चतुर्थ गुण-स्थान सम्यक्दर्शन है, उसीसे धर्मका, आनन्दका प्रारम्भ होता है। तत्पश्चात् श्रावक और मुनिदशा होती है और अंशतः निर्मलता—स्वरूपस्थिरता होती है, जो कि बहुत ऊँची बात है।

सुखका प्रारम्भ करनेके लिये पहले यथार्थ ज्ञान करना होता है। निराकुल स्वाधीन सुखरूप आत्माको जाननेके लिये पहले नव-तत्त्वके यथार्थ भेद जानने पड़ते हैं। वह विकल्प रागका अंश है। नवतत्त्वको गुरुज्ञानसे यथार्थतया जानने पर परमार्थस्वरूपके निकट पहुँचा जाता है। वह जीव स्वरूपके आँगनमें आकर उपस्थित है, घरमें-स्वभावमें प्रविष्ट नहीं हुआ, स्वभावकी ऋद्धि ही अलग है। पहलेसे ही उन समस्त विकल्पोंको त्याज्य समझकर यथार्थतया नवतत्त्वोंको न जाने तो निर्विकल्प अनुभव सहित अखण्डतत्त्वकी श्रद्धा नहीं होती, निज-परकी भिन्नताका विवेक करने वाला यथार्थ ज्ञान नहीं होता और अन्तर रमणतारूप चारित्र नहीं होता।

निर्विकल्प पूर्ण परमार्थस्वभावको प्रगट करनेके लिये, तत्त्व-सम्बन्धी विशेष ज्ञान करनेके लिये नवतत्त्वोंके विचारमें रुकना पड़ता

है, इसका भी आचार्यको खेद है। किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सच्चे देव-गुरु कौन हैं और मिथ्या कौन हैं उनकी तो यहाँ बात ही नहीं है। जो सच्चे देव-गुरुका विपरीत स्वरूप मानते हैं, पुण्यसे धर्म करते हैं, पापसे बचनेके लिये जो पूजा-भक्ति इत्यादिके शुभभाव होते हैं उस पुण्यबंधके कारणको (आस्रव तत्त्वको) गुणका कारण मानते हैं अथवा पापकी अशुभ भावनाको धर्म मानते हैं और आकुलतामें सुख मानते हैं उन अज्ञानियोंको तो व्यवहारसे भी नवतत्त्वोंकी खबर नहीं है।

देह पर दृष्टि रखकर क्रियाकाण्ड-तपस्या करे और यह माने कि मैंने कष्ट सहन किया है, तथा एक ओर तो उस कष्ट सहनेका खेद करे और दूसरी ओर उसमें धर्म माने कि अहो! धर्म बहुत कठिन है, लोहेके चने चबानेके समान है। और यह माने कि-मैंने बहुत कष्ट सहन किया है इसलिये बहुत धर्म हुआ है, किन्तु उसमें जो खेद होता है सो तो अशुभभाव है, आर्त्तध्यान है, पाप है। जीवकी अंतरंग महिमा ज्ञात नहीं हुई और यह मालूम नहीं होसका कि वास्तविक शुभ क्या है इसलिये समझे विना तपस्या उपवास आदिमें लगा रहता है और तज्जन्य खेद-अरुचि-उपेक्षाको धर्म मानता है, आकुलता और अनाकुलताकी प्रतीतिके विना हठ, कष्ट एवं अशुभभावसे किये गये क्रियाकाण्डमें धर्म मानता है और यह मानता है कि अधिक कष्ट होगा तो अधिक धर्म होगा; किन्तु धर्म तो आत्माका पूर्ण निराकुलस्वभाव है, उसमें दुःख हो नहीं सकता और जहाँ दुःख है वहाँ धर्म नहीं है। धर्म सुख-शान्ति देने वाला हो या दुःख देने वाला हो, और वह निजमें हो या परमें हो इसकी जिसे खबर नहीं है वह परको देखता है और यह मानता है कि शरीर अधिक सूख गया है इसलिये धर्म बहुत हुआ है। और इसप्रकार बाह्यमें दुःख पर खेद प्रगट करके उल्टा असातावेदनी कर्मकी उदीरणा करता है। भावना

आत्माके जिस भावसे शुभाशुभ विकारका भाव रुकता है वह संवर है; पंच महाव्रतादिके शुभभाव आस्रव (नवीन कर्मबन्धका

कारण) है। जो उसे धर्म मानता है उसे व्यवहारसे भी नवतत्त्वोंका ज्ञान नहीं है। पापमें प्रवृत्त न होनेके लिये शुभभावका होना ठीक है, किन्तु यह वात त्रिकाल असत्य है कि शुभविकारसे धीरे-धीरे सम्यक्‌दर्शन इत्यादि गुण प्रगट होते हैं।

जिसे यथार्थ आत्मस्वरूपका अनुभव-आत्मसाक्षात्कार करना है, निर्विकल्प श्रद्धाके विषयमें स्थिर होना है उसे पहले तो नवतत्त्वोंको और देव, शास्त्र, गुरुको यथार्थतया जानना होगा किन्तु उसी समय यह ध्यान रखना होगा कि उस विकल्पसे (भेदके लक्षसे) सम्यक्‌दर्शन प्रगट नहीं होता। व्यवहाररूप भेद अभेदका कारण नहीं होता। जिसे यथार्थ आत्महितकी खवर नहीं है और जिसे नवतत्त्वोंके नाम तक नहीं आते उसे आत्मस्वरूपकी प्रतीति अथवा आत्माका धर्म कहाँसे प्राप्त होसकता है ?

मनके सम्वन्धसे, विकल्पसे, नवतत्त्वोंका यथार्थ विचार करनेके वाद अवस्थाके भेदके लक्षको गौण करके पूर्णरूप शुद्धात्माकी ओर उन्मुख होकर, मनसे भी किंचित् पृथक् होकर अखण्डकी श्रद्धाके विपयमें स्थिर हो और निरावलम्वी, असंग, अविकारी, ज्ञायकस्वरूपमें तद्रूप एकत्वकी श्रद्धा लाये सो यथार्थ सम्यक्‌दर्शन है। जन्म-मरणके दुःखको दूर करनेका यह एक उपाय है। विपरीत दृष्टिको दूर करनेके वाद जहाँतक स्थिर न हुआ जासके वहाँ तक अशुभसे वचनेके लिये; नवतत्त्व सम्वन्धी विशेष ज्ञानकी निर्मलता करनेके लिये शुभभावमें रुकना पड़ता है, किन्तु ज्ञानी उस भेदका आदर करके उसमें अटकता नहीं है। आगे कहा गया है कि मात्र नवतत्त्वकी भेदरूप श्रद्धाका होना मिथ्यादृष्टि है। चिदानन्द पूर्ण स्वरूपको यथार्थ प्रतीतिपूर्वक न माने तवतक शुभ विकारकी श्रद्धा है, किन्तु अविकारी अखण्ड स्वभावकी श्रद्धा नहीं है।

सर्वप्रथम यह समझने योग्य है। चाहे जितनी सांसारिक सावधानी रखे किन्तु उसका परिणाम शून्यसे अधिक नहीं होता। जब प्रारम्भमें शून्य होता है तब उसके योगफलमें भी शून्य ही आता है,

किन्तु उसके हर्षका तो पार नहीं होता और जिससे अविनाशी हित पूरा होता है उसकी वह चिन्ता नहीं करता।

आचार्यदेवने परम अद्भुत रहस्यको प्रगट कर दिया है। जिसे इस अपूर्व वस्तुका ध्यान नहीं है वह उसका विचार कहाँसे करेगा? यदि सावधानीके साथ तत्त्वाभ्यास न करे तो स्थिर होनेका कहीं भी ठिकाना नहीं मिल सकता, वह तो मात्र परिभ्रमण ही करता रहेगा। गत् अनन्तकालमें एक क्षणभरको भी यथार्थ सम्यक्दर्शन प्रगट नहीं हुआ। वस्तुका यथार्थ निर्णय करनेके लिये उसका अधिक समयका अभ्यास और यथार्थ श्रवण होना चाहिये। एकाधवार थोड़ा-बहुत सुनकर चले जानेसे दोनों अपेक्षाओंका मेल नहीं वैठता। यदि अपनी बुद्धिसे एक अपेक्षासे अर्धसत्यको पकड़ रखे तो यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आसकता। जैसे किसी महिलाने अपनी पड़ौसिनके बच्चेको जीने पर चढ़ते हुऐ देखकर कहा कि 'यदि गिरेगा तो मर जायेगा,' उस बालककी माँ ने इतना ही सुना कि 'मर जायेगा' और इस अधूरी बातको सुनकर वह अपना पड़ौसिनसे लड़ने लगी कि तूने मेरे बालकसे मरनेकी बात क्यों कही? उत्तरमें उस महिलाने कहा कि तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी, मैंने तो यह कहा है कि यदि 'गिर जायगा तो मर जायेगा' और इसप्रकार मैंने तुम्हारे बालकसे मरनेकी नहीं किन्तु जीनेकी बात कही है, तुमने मेरी पूरी बात नहीं सुनी इसमें तुम्हारी ही भूल है। इसीप्रकार पूर्वापर विरोधसे रहित सर्वज्ञ वीतरागके वचनोंमें क्या कथन है उसे भलीभाँति सम्पूर्ण सुनकर न्यायको संधिपूर्वक न समझे और एक ओरकी ही अपूर्ण एकान्त बातको पकड़ रखे तो विरोधका होना स्वाभाविक ही है।

जिसे व्यवहार तत्त्वकी भी कोई खबर नहीं है और पुण्य-पापरूप आस्रवको जो नहीं समझता वह उससे भिन्न संवर-निर्जरारूप धर्मको भी नहीं समझ सकता। जहाँ प्रथम व्यवहारमें ही भूल हो वहाँ परमार्थके आंगन तक कहाँसे आसकता है? परमार्थसे तो शुभास्रवभाव भी त्याज्य हैं; नवतत्त्वके भेद-विकल्प भी परमार्थदृष्टिसे

त्याज्य हैं। नवतत्त्वोंकी श्रद्धाको परमार्थ नहीं कहा है तथापि वीचमें हस्तावलम्बनकी भाँति आजानेसे उसमें रुक जानेका खेद है। सीधा ही परमार्थमें जा सकता हो तो व्यवहारमें रुकनेकी कोई वात नहीं है।

भावार्थः—आत्माकी निर्मल श्रद्धा होनेके वाद श्रद्धाके लिये नवतत्त्वोंके विकल्परूप व्यवहारका कोई प्रयोजन नहीं रहता। निश्चय-श्रद्धाके साथ आंशिक स्वरूपाचरण चारित्रके प्रगट होने पर फिर श्रद्धा-के लिये अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं होता। व्यवहारसे नव-तत्त्वोंको जानकर शुभभाव करे और उस शुभ व्यवहारमें लगा रहे तो उसे परमार्थसे कोई लाभ नहीं होता।

अव निश्चयसम्यक्त्वका स्वरूप कहते हैं:—

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यांतरेभ्यः पृथक् ।
सम्यक्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं
तन्मुक्त्वा नवतत्त्व संततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

[आचार्यदेवने सर्वज्ञ वीतरागके कथनका रहस्य उद्घाटित करके जगत्के समक्ष प्रस्तुत किया है। किसीको यह वात जम सकती है अथवा नहीं भी जम सकती। सव अपने-अपने भावमें उल्टा-सीधा करनेके लिये स्वतंत्र हैं। सत्को स्वीकार या अस्वीकार करनेके लिये भी सव स्वतंत्र हैं। प्रभु ! तेरी अशुद्धताकी विपरीतता भी वहुत वड़ी है। श्रीमद् राजचन्द्रने लिखा है कि-"भगवान परिपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न कहलाते हैं, तथापि उनमें भी कुछ कम अपलक्षण नहीं हैं" इसप्रकार आत्माको संवोधित करके पुरुषार्थ करनेको कहा है।]

कोई कर्मके संयोगमें रत होकर यह माने कि राग-द्वेष मेरे हैं, करने योग्य हैं, और मैं परका कर्ता हूँ, तथा अविकारी शुद्धतत्त्वसे इन्कार करे तो उसे स्वीकार करानेके लिये कोई समर्थ नहीं है। यदि कोई औंधा गिरता है तो उसमें भी वह स्वतंत्र है। जैसे किसी वालक-

के हाथसे उसकी चुसनी लेकर दूसरे वालकको दे दी जाय तो वह ऊँ-ऊँ करके रोना प्रारम्भ करता है और फिर वरावर रोता रहता है; यदि उसके हाथमें पेड़ा दे दिया जाये तब भी वह चुप नहीं रहता और यदि उसे वह चुसनी लाकर दे दी जाये तो भी वह रोना वन्द नहीं करता, क्योंकि उसे यही घ्यान नहीं रहता कि मैंने क्यों रोना प्रारम्भ किया था, इसीप्रकार चिदानन्द भगवान आत्मा पुण्य-पापसे भिन्न है, पुण्यसे भी आत्माका धर्म नहीं होता, आत्माका आनन्द प्रगट होनेकी श्रद्धा अलग ही है, इसे सुनकर निषेध करनेकी धुन लगी सो उसके पुण्य-पापके कर्तृत्वको और परका स्वामित्व रखनेकी मान्यतारूप अज्ञान (स्वभावसे इन्कार) छुड़ानेके लिये ज्ञानियोंने पुण्य-पापरहित परमार्थकी वात की तथापि उसे सत्य-असत्यकी खवर ही नहीं और न यही खवर है कि मैंने कहाँ भूल की है, इसलिये उसके भावमेंसे उसका विरोध नहीं मिटता। जैसे (उपरोक्त दृष्टांतमें) वालकका पिता वालकको चाहे जिस रीतिसे और चाहे जितना समझाता है किन्तु वह नहीं मानता और फिर अपनेआप चुप रह जाता है; इसीप्रकार औंधे पड़े हुए जीवोंको अनन्त ज्ञानी समझाते हैं किन्तु वह नहीं मानते; सच तो यह है कि अपना स्वतंत्र पुरुषार्थ हो तभी समझा जा सकता है।

[आचार्य महाराज कहते हैं कि हम किसी दूसरेके लिये नहीं कहते, किन्तु यह तो हमारी रुचिका निमंत्रण है, जो सत् अनुकूल पड़ा है उसीकी घोषणा है किसीका कोई विरोध नहीं है। जैसे अपने घर कोई अतिथि आये तो उसे अपनी रुचिकी उत्तमसे उत्तम वस्तु परोसी जाती है उसीप्रकार ज्ञानीजन जगतके समक्ष निस्पृह करुणासे सत्की घोषणा करते हैं क्योंकि वही उनकी रुचिकी वस्तु है। कोई दूसरा सत्के मूल्यको आंके या न आंके—उसे यह अनुकूल पड़े या न पड़े, उसपर उनकी दृष्टि नहीं है, किन्तु वे तो अपनी अनुकूलताके गीत गाते हैं]

परद्रव्योंसे तथा पुण्यके विकारी भावोंसे भिन्न आत्माके

त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानमय अखण्डानन्द स्वरूपको श्रद्धामें लेनेकी रीति जानकर, व्यवहारदृष्टिको गौण करके एकरूप अखण्ड स्वभावके लक्षसे मिथ्या मान्यताका निषेध और यथार्थ मान्यताका स्वीकार एवं मैं अखण्ड ज्ञायक परमानन्दरूपसे पूर्ण हूँ इसप्रकार ध्रुवस्वभावकी यथार्थ श्रद्धामें जो स्वीकृति है सो सम्यक्‌दर्शन है।

भगवान आत्माको परद्रव्यसे सदा भिन्न देखना, परसम्बन्धरहित—विकाररहित मानना अर्थात् प्रतिष्ठा, धन, स्त्री, पुत्र, मन, वाणी देह तथा देव, गुरु, शास्त्र इत्यादि सब अपनेसे भिन्न हैं, पुण्य-पापके विकार भी अपने स्वभावरूप नहीं हैं; इसप्रकार सर्वथा परसे भिन्न एकरूप शुद्ध आत्माको मानना, श्रद्धामें लेना सो नियम*से सम्यक्‌दर्शन है। जब दूसरेसे अपनेको भिन्न माना और यह माना कि त्रिकालमें भी किसीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तब परसे लाभ-हानि नहीं होसकती ऐसी श्रद्धा होनेसे परवस्तु सम्बन्धी भ्रांतिसे छूटकर मात्र स्वाधीनभावमें ही (स्वभावमें ही) स्थिर होता रह जाता है। पुण्य-पापका स्वामित्व छूट गया, (अखण्ड स्वरूपकी प्रतीतिमें विकारकी नास्ति है) किसीके साथ एकमेक करनेकी बात न रही, किसीमें कर्तृत्वकी मान्यता न रही इसलिये अनन्त राग-द्वेष तो दूर हो गया और आंशिक निराकुल आनन्द प्रगट होगया; इसप्रकार एकरूप निरावलम्बी आत्माकी प्रतीति करना सो धर्मके प्रारम्भका मूल सम्यक्‌दर्शन है।

भगवान आत्मा परसे तो भिन्न है किन्तु अपनेपनसे कैसा है ? सदा अपने गुण-पर्यायोंमें व्याप्त रहने वाला है, और वह रागादिमें नहीं रहता। स्वयं ज्ञान-दर्शन-आनन्दसे पूर्ण त्रिकाल एकरूप ध्रुवभावसे स्थिर होकर अपने गुणरूपसे रहकर अपने गुणोंकी अवस्थामें व्याप्त होकर रहनेवाला है। उसे परसे भिन्न अविकारी ज्ञानानन्दरूप मानकर, परमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे रहित मानना ही प्रारम्भसे आत्माके लिये लाभदायक है।

* नियम कदापि नहीं बदलता, और यदि बदले तो वह नियम नहीं कहा जासकता।

और फिर कैसा है वह आत्मा ? शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित् किया गया है। शुद्धनयके द्वारा तत्त्वके नव-भेदोंमेंसे एक ज्ञायक स्वरूपसे अखण्डरूपमें आत्माको लक्षमें लेकर अपने त्रिकाल ध्रौव्यत्व-में निश्चित् किया गया है। यद्यपि गुण अनन्त हैं किन्तु अखण्डकी श्रद्धामें भेदविकल्प छोड़ दिया जाता है। जैसे सोनेमें पीलापन, चिकनापन इत्यादि अनेक गुण एक साथ होते हैं, किन्तु मात्र सोनेको ही खरीदने वाले स्वर्णकारको उसके विभिन्न गुणों पर अथवा उसकी रचना इत्यादि पर लक्ष नहीं होता, उसका लक्ष तो एकमात्र सोने पर ही होता है, वह तो यह देखता है कि उसीमें समस्त अवस्थाएँ तथा गुणोंकी शक्ति वर्तमानमें एक ही साथ विद्यमान है। भेदको लक्षमें न लेकर अखण्ड ध्रुव एकरूप पूर्ण स्वभावको लक्षमें लेना, उसमें किसी निमित्तकी अपेक्षाको न मिलाना सो सच्चा धर्म–सम्यक्दर्शन है। इसमें ऐसी बात नहीं है कि यदि हमारी बातको मानो तो ही सम्यक्दर्शन होगा, किन्तु स्वयं निश्चित् करके अपने स्वतंत्र–पूर्ण एकत्व-स्वरूपको अपनेसे ही मानो तो सम्यक्दर्शन होता है। देव–गुरु–शास्त्र और वीतरागकी साक्षात् वाणी भी परवस्तु है। तू उसके आश्रय-से रहित पूर्ण है, ऐसे एकरूप अखण्ड स्वरूपकी प्रतीति तुझसे ही होती है।

परमाणुमात्र मेरा नहीं है, रागद्वेष मेरा कर्तव्य नहीं है, मैं पर-का कर्ता–भोक्ता नहीं हूँ, किन्तु अखण्ड ज्ञायक हूँ, ऐसी यथार्थ प्रतीति (सम्यक्दर्शन) गृहस्थदशामें (सधन या निर्धन चाहे जिस अवस्था-में) होसकती है। गृहस्थदशाके अनेक संयोगोंके बीच रहते हुए भी अपने अविकारी स्वभावकी प्रतीति होसकती है। यदि वह रागको दूर करके विशेष स्थिरता करे तो मुनि होसकता है; वह वर्तमान पुरुषार्थ की अशक्तिको जानता है और अन्तरंगमें उदास रहकर परावलंबनके सम्पूर्ण रागको छोड़ना चाहता है। वह संसारमें रहता हुआ भी संसारके संयोगोंमें अनुरक्त नहीं है किन्तु अपने स्वरूपमें ही ज्ञानानंद साक्षीरूपसे आत्मामें ही विद्यमान है। जैसे अछूतोंके किसी मेलेमें

कोई वणिक अपनी दूकान लेकर जाता है तो उसे ऐसी शंका कदापि नहीं होती कि मैं इन सब अछूतोंके साथ एकमेक होगया हूँ? उसके मनमें यह निःशंक निर्णय होता है कि मैं अग्रवाल अथवा श्रीमाली वणिक ही हूँ। इसीप्रकार मैं आत्मा पुण्य-पापरूप विकारका नाशक, स्वरूपका रक्षक, अखंड अविकारी स्वभावका स्वामी हूँ, विकल्प-संयोग का स्वामी नहीं हूँ, मैं संयोगमें एकरूप नहीं होजाता। ऐसी यथार्थ श्रद्धा होनेके बाद वर्तमान पुरुषार्थसे वीतरागी अबंध ही हूँ। आत्मा अछूत-हरिजन अथवा वणिक नहीं है, तथा आत्मा सधन अथवा निर्धन नहीं है, वह तो मात्र ज्ञायकस्वभाव ही है।

परसे भिन्नरूप सिद्ध-परमात्माके समान पूर्ण पवित्र आत्मामें परमार्थसे एकत्वका निर्णय करना सो उसे भगवानने सम्यक्दर्शन कहा है। जिसके अविकारी अखण्डके बलसे एकबार ही आंशिक निर्मलदशा प्रगट होगई है वह बारम्बार निर्मल एकत्वस्वभावमें एकाग्रताके बलसे पूर्ण निर्मलदशा प्रगट करता है।

और वह परसे भिन्न आत्मा कैसा है? पूर्ण ज्ञानानंदघन है। उसमें विकल्प पुण्य-पापकी रज प्रवेश नहीं कर सकती। जैसे निहाई (ऐरन) में लोहेकी कील प्रवेश नहीं कर सकती उसीप्रकार निरपेक्ष, एकरूप, ज्ञानघन आत्मामें पुण्य-पापकी क्षणिक वृत्ति प्रवेश नहीं कर सकती। विकल्पका उत्थान निमित्ताधीन अवस्थासे होता है जो कि गौण है। त्रिकाल एकरूप द्रव्यस्वभाव परमार्थमें विकारके कर्तृत्वका किंचित्मात्र अवकाश नहीं है।

प्रथम श्रद्धामें पूर्ण हूँ, कृतकृत्य परमात्मा ही हूँ, ऐसी प्रतीतिके बलसे कोई विकारकी प्रवृत्तिका स्वामित्व नहीं होने देता तथापि वर्तमान पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण शुभाशुभ वृत्ति होती है, अशुभसे बचनेके लिये शुभमें प्रवृत्त होता है किन्तु उसमें गुणका होना नहीं मानता। श्रद्धामें प्रत्येक विकार (परावलम्बन) का निषेध है। जैसे अग्नि ईंधनकी नाशक है—रक्षक नहीं और सूर्यका स्वभाव अन्धकारको उत्पन्न करना नहीं किन्तु उसका नाश करना है, इसीप्रकार

मेरा अखण्ड ज्ञायकस्वभाव एकरूप सतत ज्ञायकस्वरूप है, किसीमें अच्छा-बुरा मानकर रुकनेरूप नहीं है। ऐसे वीतरागी भावकी प्रतीतिके बलमें रागका स्वामित्व-कर्तृत्व नहीं है, तथापि पुरुषार्थकी अशक्तिके कारण जो राग होता है उसे मात्र जानता है किन्तु करने योग्य नहीं मानता। वह विकल्पको तोड़कर स्थिर होना चाहता है, और यह मानता है कि अखण्डस्वभावके बलसे अन्तरोन्मुख होना ही उसका उपाय है, विशेष स्थिरता होनेपर अशुभराग टूटकर सहज ही व्रतादि आते हैं उसमें जितना राग दूर होता है उतना ही गुण मानता है और जो राग रहता है उसका किंचित्‌मात्र भी आदर नहीं करता।

सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कथित न्यायानुसार नवतत्त्वोंको जानकर परसे और विकारसे आत्मा भिन्न है, उसे शुद्धनयसे जानना सो सम्यक्‌दर्शन है जो कि अनन्तकालमें जीवने कभी भी प्रगट नहीं किया। उससे रहित पुण्यभावमें मिथ्यादर्शनका महा-पाप बन्धता है। भक्ति, पूजा, दान, व्रत, तप, त्यागमें रागको कम करे तो पुण्यबन्ध होता है, जिसके फलसे कभी बड़ा राजा अथवा निम्नकोटिका देव होता है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील इत्यादिके अशुभभाव करनेसे पाप-बन्ध होता है, जिसके फलसे तिर्यंच और नरक इत्यादि गतिमें परि-भ्रमण करता है। पुण्य-पापकी उपाधिसे रहित अविकारी, असंग, एकरूप स्वभावकी श्रद्धा और स्व-परके भेदरूप ज्ञानके बिना सच्चा चारित्र नहीं होसकता और वीतराग चारित्रके बिना केवलज्ञान या मोक्ष नहीं होसकता।

जितना सम्यक्‌दर्शन है उतना ही आत्मा है। जितनेमें मिठास है उतनेमें मिश्री है, इसीप्रकार पूर्णरूप शुद्ध आत्माको लक्षमें लेने वाला सम्यक्‌दर्शन उतना ही है जितना आत्मा है, क्योंकि वह (सम्यक्‌दर्शन) आत्मामें आत्माके आधारसे है, मन, वाणी, देह अथवा पुण्य-पापकी शुभाशुभ वृत्तिके आधार पर अवलंबित नहीं है। यदि कोई मात्र शास्त्रसे आत्माकी बातको मनमें धारण करले

तो वह भी सम्यक्‌दर्शन नहीं है। पूजा, भक्ति, व्रतादि तथा नवतत्त्वों के शुभभावकी वृत्ति करे तो भी वह संयोगाधीन क्षणिकभाव है-कृत्रिम भाव है, वह शाश्वत, अकृत्रिम, अविकारो, एकरूप, ज्ञायकस्वभाव का नहीं है। कुछ भी करने-धरनेकी हाँ या नाके रूपमें जितनी वृत्ति उत्पन्न होती है वह सब उपाधिभाव है, उस उपाधिभावके भेदसे रहित यथार्थ श्रद्धा सम्पूर्ण आत्माके स्वरूपमें फैली हुई है, आत्मासे भिन्न नहीं है। ऐसे निरुपाधिक शुद्ध पूर्ण स्वभावका जो निश्चय किया गया उसे सर्वज्ञभगवानने सम्यक्‌दर्शन कहा है।

आचार्यदेव प्रार्थना करते हैं कि "इस नवतत्त्वकी परिपाटी-को छोड़कर, हमें यह एकमात्र आत्मा ही प्राप्त हो।" अन्यत्र रुक जाना हमें नहीं पुसाता। उसे नवतत्त्वके विचारमें मनके सम्बन्धसे विकल्प करनेको रुक जाना भी ठीक नहीं है। आत्माका स्वरूप ऐसा नहीं है कि नवतत्त्वके विकल्पसे उसका पूरा पड़ सके। समझे बिना अपनो कल्पनासे शास्त्र पढ़े अथवा चाहे जितने अन्य प्रयत्न करे किन्तु अन्तरंगका मार्ग गुरुज्ञानके बिना हाथ नहीं आता। यथार्थ निःसंदेह ज्ञान जब स्वयं करे तब स्वतः होता है, किन्तु एकबार यथार्थ गुरुज्ञान होना आवश्यक है।

आत्मामें मात्र आनन्द भरा हुआ है। उसकी श्रद्धामें यथार्थ समझपूर्वक स्थिर होना सो निर्विकल्प चारित्रकी क्रिया है। उसीमें आनन्द है। जो कष्टमें धर्म मानता है वह कहता है कि "देहे दुःखं महाफलं" अर्थात् यदि कष्ट सहन करो तो गुण प्राप्त होगा। जो यह कहता है कि उपवास तो धूलका ग्रास है उसे उपवास पर अरुचि। उस अरुचि (द्वेष) भावको भगवानने आर्त्तध्यान कहा है। शारीरिक प्रतिकूलता सहन नहीं होती इसलिये जो यह मानता है कि क्षुधा-तृषासे या शरीरके कष्टसे धर्म होता है वह पापको गुणरूप मानता है। वहाँ व्यवहारसे भो नवतत्त्वोंकी श्रद्धा नहीं है। जो धर्म करते हुए कष्ट मानता है उसे निराकुल स्वभावके प्रति अरुचि है

जो कि द्वेष है, और द्वेष पाप है, उससे धर्म नहीं होता, पुण्य भी नहीं होता।

प्रश्नः—इतने-इतने कष्ट सहन करने पर भी धर्म नहीं होता ?

उत्तरः—हे भाई! देहकी क्रियासे धर्म तो क्या किन्तु पुण्य-पाप भी नहीं होता। स्वयं अपने परिणामोंको सुधारे और कषायको जितना सूक्ष्म करे उतना ही शुभभाव होता है, उस भावसे पुण्य होता है धर्म नहीं। पर सम्बन्धी विकल्पको तोड़कर स्वरूपमें स्थिर होना सो निराकुल स्थिरता है और उसीमें सुख है। परसे किसीको कष्ट नहीं होता किन्तु परके ऊपर जितना राग करता है उतना ही दुःख होता है।

प्रश्नः—तपस्या न की जाये तो लड्डू खाकर क्योंकर मोक्ष जाया जासकता है ?

उत्तरः—कोई (आत्मा) लड्डू खा ही नहीं सकता। अज्ञानी जीव लड्डूके रागकी आकुलताको भोगता है और ज्ञानी निराकुल स्व-भावके लक्षमें अपने परिणामका माप निकालता है। शरीरकी अनुकूलता या प्रतिकूलता पर उसका लक्ष ही नहीं है। अखण्ड स्वभावकी रुचिके मंथनमें आहारकी इच्छा सहज ही टूट जाती है, इसप्रकार इच्छाका निरोध करके, स्वरूपमें लीनताका होना सो भगवानने तप कहा है और वही तप मोक्षका कारण है। जो उसे कष्टदाता मानता है वह धर्मका-स्वभावका अनादर करता है, उसे वीतराग कथित नवतत्त्वोंकी व्यवहारसे भी श्रद्धा नहीं है।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि यथार्थ नवतत्त्वोंकी परिपाटीकी पकड़में लग जाना नहीं पुसाता। जो परमार्थतत्त्वको समझनेके लिये तैयार होकर आया है उसे इतनी व्यवहार-श्रद्धाकी खबर तो होगी ही ऐसा मान लिया है। यहाँ तो व्यवहारके भेदको उलंघन कर जानेकी बात है। मात्र व्यवहारतत्त्वसे और पुण्यसे धर्म मनवाने वाली दुकानें बहुत-सी हैं। जैसे कालेज वाले यह समझ लेते हैं कि यहाँ पढ़नेको आने वाले पहली कक्षासे लेकर मैट्रिक तक तैयार

होकर ही आये हैं, उसीप्रकार अनन्त जन्म-मरणको टालनेके लिये जो परमार्थतत्वके निकट आया है उसे नवतत्त्वोंके यथार्थ ज्ञानको खबर तो होनी ही चाहिये। यह धर्ममार्गकी सर्वप्रथम इकाईकी बात है। सर्वप्रथम वास्तविक इकाई निश्चयसम्यक्दर्शन है।

कितने ही लोग यह कहकर कि समयसारमें बहुत ही उच्च-कक्षाकी बात है, उसे समझने या उसका परिचय प्राप्त करनेसे इन्कार करते हैं; किन्तु सर्वप्रथम धर्मका मूल्य परमार्थ सम्यक्त्व क्या है, यह पूर्वापर विरोध रहित समझना हो तो उसके लिये यह बात है।

अनन्तकालमें स्वरूपको पहिचाननेके अतिरिक्त आत्मा अन्य सब कुछ कर चुका है। "पहले जो कभी नहीं समझा था वह पर-मार्थ स्वरूप कैसा है" यही समझनेके लिये जो आये हैं उन्हें आचार्य-देव कहते हैं कि—यथार्थ नवतत्त्वोंके शुभविकल्पकी प्रवृत्तिसे छूटकर इस ज्ञानानन्द अविकारी आत्माकी प्राप्ति करो। परसे भिन्न और निज-से अभिन्न स्वभावकी श्रद्धा-ज्ञान प्राप्त करो।

भावार्थः—सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप त्रैकालिक गुण-पर्यायके भेदोंमें व्याप्त यह आत्मा एकाकार ज्ञायकरूप-से शुद्धनयसे बताया है, उसे सर्व अन्य द्रव्योंसे तथा अन्य द्रव्यके निमित्तसे होने वाले विकारी भावोंसे भिन्न देखना और अनुभव सहित यथार्थरूपमें श्रद्धा करना सो नियमसे सम्यक्दर्शन है। भगवान आत्मा परसे निराला त्रिकाल स्वभावसे निर्मल ही है, वर्तमान प्रत्येक समय-की अवस्थामें कर्मके संयोगकी अपेक्षासे अशुद्धताका अंश है, उसे देखनेवाली व्यवहारदृष्टिको गौण करके त्रैकालिक एकाकार सामान्य ज्ञायक स्वभावको शुद्धनयसे अपने एकत्वमें निश्चित किया गया है अर्थात् निःशंक श्रद्धा की गई है और वही जन्म-मरणको दूर करनेका निश्चित उपायरूप प्रथम गुण है। (गुण=लाभ)

नवतत्त्वोंके जो विचार मनमें होते हैं उनके विकल्पोंमें अटक-कर आत्माको अनेक भेदरूप कहकर व्यवहारनय सम्यक्दर्शनको अनेक भेदरूप कहता है वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, एकरूप नियम

नहीं रहता। आत्मा एकस्वभावी है, उसे नवतत्त्वोंमें रोकना अर्थात् एक तत्त्वको अनेक तत्त्वोंमें रोकना सो व्यभिचार है।

यहाँ कहनेका तात्पर्य यह है कि अविरोधरूपसे सच्चे देव, गुरु, शास्त्र और नवतत्त्वोंकी श्रद्धाके भेदोंको जाननेके बाद भी उसके अनेक प्रकारमें—शुभरागमें रुकना पड़ता है सो गुण नहीं है, किन्तु निर्दोष एकरूप स्वभावका निश्चय करके उसमें शुद्धनयसे श्रद्धाके निर्मल विषयमें रुकना सो गुण है। देव गुरु शास्त्र भी परवस्तु है, उसके आश्रयसे तथा नवतत्त्वोंके शुभविकल्पमें रुकनेसे एकरूप निर्विकल्प अनुभव नहीं होता, किन्तु पूर्ण ज्ञानानन्द निर्विकार, त्रिकाल स्वभावका लक्ष करके अन्तरंगमें उन्मुख हो तो अभेद, शान्त आनन्दका अनुभव होता है। जिसे परावलम्बनसे तथा शुभरागसे गुण प्रगट होनेका विश्वास जमा हुआ है उसके धर्मका प्रारम्भ भी नहीं हुआ है।

समयसारमें तो पहले धर्मके प्रारम्भकी बात है। जो अनादिकालका अत्यंत अप्रतिबुद्ध-निरा अज्ञानी है वह परमार्थस्वरूपके रहस्यको जान सके इसलिये सर्वप्रथम परमार्थ सम्यक्दर्शनकी बात कही है। समयसारमें प्रत्येक बात स्पष्ट कही है। जो यथार्थको समझता है उसके सम्पूर्ण भ्रमका नाश हो जाता है और जैसा परमानन्द पूर्ण स्वाधीन स्वभाव है वैसा ही प्राप्त होता है।

तीनोंकालमें मनुष्य भव महादुर्लभ है, उसमें भी पाँचों इन्द्रियोंकी पूर्णता और उत्तमधर्मका श्रवण दुर्लभ है। और जब ऐसा अमूल्य सुयोग प्राप्त हुआ है तब यदि जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय न करे तो फिर अनन्तकालमें भी ऐसा सुयोग मिलने वाला नहीं है। सांसारिक कार्योंमें भी पिता पुत्रसे कहता है कि यदि इस भर मौसममें नहीं कमायेगा तो कैसे चलेगा ? इन दो महीनोंमें बारह महीनोंकी रोटी पैदा करनी है। इसीप्रकार आचार्यदेव कहते हैं कि अब तुझे यह सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हुआ है, एक-एक क्षण एकलाख वर्षके समान जारहा है इसलिये आत्मकल्याण कर ले। ऐसा महामूल्य मनुष्य भव प्राप्त करके भी यदि अपूर्व श्रद्धा नहीं करेगा तो यह प्राप्त

किया हुआ सब व्यर्थ जायेगा, इसलिये पहले पूर्वापर विरोध रहित आत्माकी यथार्थ पहिचान करना चाहिये। यह तो प्रथम भूमिकाकी रीति है।

शुद्धनयकी सीमा तक पहुँचने पर अथवा पवित्र स्वभावकी मर्यादामें पहुँचने पर, नवतत्त्वका भेदरूप व्यवहार गौण होजाता है। तब विकल्पके आश्रयरूप दोषमें रुकना नहीं होता; परमार्थदृष्टिमें एकरूप निश्चयका नियम रहता है।

कैसा है वह शुद्धनयका विषयभूत आत्मा ? पूर्ण ज्ञानघन है, सर्व लोकालोकको एक ही साथ सहज जानने वाला ज्ञानरूप है। जैसे दर्पणमें जितना दिखाई देता है वह उसकी स्वच्छताकी शक्ति है, दिखाई देनेवाली परवस्तु उस दर्पणमें प्रविष्ट नहीं होती, इसीप्रकार आत्मा अरूपी पूर्ण ज्ञायकस्वभाव है। जिसका स्वभाव ही जानना है वह किसे न जानेगा ? और कब न जानेगा ? वह सबको जानता है और एक ही साथ जानता है इसलिये मैं पूर्ण ज्ञायक हूँ, किंचित्मात्र हीन नहीं हूँ; मेरा स्वभाव विकारी या उपाधिमय नहीं है। ऐसे स्वाधीन आत्माकी पहिचान होने पर अनादिकालीन मिथ्या-मान्यताका नाश होकर निर्मल श्रद्धा प्रगट होती है। श्रद्धा कहीं आत्मासे पृथक् पदार्थ नहीं है, वह आत्माका ही परिणाम है, इसलिये आत्मा ही है। इसलिये जो सम्यक्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

इसे समझे बिना धर्मके नाम पर जो कुछ करता है वह सब व्यर्थ जाता है, क्योंकि जिस भावसे भव होता है उस भावसे भवका नाश कदापि नहीं होता। जिस भावसे पुण्य-पापके विकारी भावका नाश होता है। वैसी श्रद्धा और स्थिरतारूप अविकारी भावसे धर्मका प्रारम्भ होता है। प्रतिक्षण भयंकर भावमरण करके विपरीत भावसे अनन्त भव धारण किये तथापि तुझे अपनी दया नहीं आती ! अब भव धारण नहीं करना है, इसप्रकारका भाव यदि अन्तरंगमें उदित हो तो भवरहित अविनाशी असंयोगी स्वरूपको पहिचाननेका पुरुषार्थ करे, किंतु जिसे परभवकी श्रद्धा ही नहीं है और जिसे अभी इतनी सामान्य

आस्तिकता भी नहीं है कि आत्मा नित्य होगा या नहीं, अथवा आत्मा एकाकी रहे तो उसमें क्या सुख है, और जो वर्तमान संयोगको ही मानता है तथा जिसकी ऐसी धारणा है कि मरनेके बाद चाहे जो होता रहे इसकी हमें चिन्ता क्यों होनी चाहिये, उसके लिये आचार्यदेव कहते हैं कि तू प्रभु है, तेरी विपरीत मान्यतासे तेरे गुणोंमें क्षयरोग लग गया है और तू अपने स्वभावके विरोधभावसे चौरासीके अवतारमें परिभ्रमण कर रहा है, इसका खेद होना चाहिये। मुझे संसारका कुछ भी नहीं चाहिये और किसीके साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है यह जानकर असंग, अविकारी, स्वाधीन-स्वभावकी श्रद्धा कर।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि जो नय है सो श्रुत-ज्ञान-प्रमाणका अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतज्ञान-प्रमाणका ही अंश हुआ। त्रिकालस्थायी सामान्य एकरूप स्वभाव और वर्तमान अवस्था दोनों मिलकर संपूर्ण वस्तु है, इसप्रकार ध्यानमें लेना सो अपूर्ण अवस्थामें 'परोक्षप्रमाण' अथवा श्रुतज्ञान-प्रमाण कहलाता है, और केवलज्ञानरूप पूर्ण अवस्थाको 'प्रत्यक्षप्रमाण' रूप ज्ञान कहते हैं।

जैसे कोई पुरुष सौ वर्षका है, उसे वर्तमान रोगी-निरोगी अवस्थाके भेदरूपसे न देखकर एकरूप सौ वर्षका देखना सो शुद्धनय अथवा निश्चयदृष्टि है; उस निश्चयकी ओरके लक्षको गौण करके वर्तमान अवस्थाको देखना सो व्यवहारनय है और उन दो अपेक्षाओंका भेद न करके पुरुषको जानना सो श्रुतप्रमाण है। इसीप्रकार आत्मामें त्रिकालस्थायी ज्ञायक एकरूप भावको देखना सो निश्चयनय है, अखण्डताके लक्षको गौण करके वर्तमान अवस्थाका देखना सो व्यवहार-नय है और त्रिकाल अखण्डस्वरूप एवं वर्तमान अवस्थाके दोनों पहलुओंका एक साथ अखण्ड वस्तुरूपसे ज्ञान करना सो प्रमाण अर्थात् श्रुतप्रमाण कहलाता है। एक पहलूका ज्ञान नयज्ञान है और दोनों पहलुओंका एकसाथ जो ज्ञान है सो प्रमाणज्ञान है।

प्रश्नः—जब केवलज्ञान होता है तब आत्मा कैसा मालूम होता है ?

उत्तर—जैसा यहाँ है वैसा ही वहाँ है। यहाँ परोक्षप्रमाण-रूप श्रुतज्ञानमें भलीभाँति आगम-शास्त्र द्वारा स्वयं निजको जान सकता है। जो पंचेन्द्रियोंके विषयमें सुख माना है सो कहीं परमें देखकर नहीं माना है; यथेच्छ मिष्टान्न आदिके रसमें जो मिठास मान रखी है उसे स्वाद परसे निश्चित् नहीं किया है। मैं कहाँपर सुखका निश्चय कर रहा हूँ इसकी खबर निश्चित् करने वालेको ही नहीं है। परमें सुख है ऐसी कल्पना स्वयं ही भीतरसे उत्पन्न की है, यह अरूपी भाव आँखोंसे दिखाई नहीं देता तथापि अनादिकालसे उसका ऐसा दृढ़ विश्वास है कि उसमें वह शंका नहीं करता। यद्यपि परवस्तुमें सुख नहीं है किन्तु स्वयं अपनी विपरीत कल्पनासे मिष्टान्न आदि जड़ वस्तुके स्वादमें सुख मान रखा है। यह ज्ञानकी विपरीतदशा है। यदि परकी ओरसे दृष्टिको बदलकर अपनी ओर करे तो स्वयं अपना निर्णय कर सकता है। सराग अवस्थामें आत्माको परोक्ष श्रुतज्ञान-प्रमाणसे जैसा जानता है उसी स्वरूप केवलज्ञानमें प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, मात्र दोनोंमें निर्मलता-मलिनताका (-प्रत्यक्ष-परोक्षका) भेद है।

प्रश्नः—वर्तमान प्रत्यक्ष अनुभव किसप्रकार होता है ?

उत्तरः—अन्धा मनुष्य मिश्रीको नहीं देख सकता किन्तु, वह देखने वाले मनुष्यके समान ही स्वाद ले सकता है। इसीप्रकार वर्तमान-में परोक्षज्ञानी अपने सम्पूर्ण आत्माको अनन्त शक्तिरूप प्रत्यक्ष न देखे तथापि उसका स्वसंवेदन ज्ञान तो कर ही सकता है। जब यथार्थ श्रद्धाके समय बुद्धिपूर्वक विकल्परहित निजमें एकाग्र होता है तब और उसके बाद जब-जब ऐसे अनुभवमें स्थिर होता है तब-तब केवलज्ञानी अपने आनन्दका पूर्ण स्वाद अनुभवमें लेता है, उसी प्रकारके आनन्दका आंशिक स्वाद श्रुतज्ञानके उपयोगके समय लिया जासकता है।

वीतराग कथित शास्त्रज्ञानसे मति, श्रुतज्ञानी आत्माको पूर्णतया शुद्धनयसे परोक्ष जानता है, और अखण्डस्वभावमें एकाग्र होनेपर बुद्धिपूर्वकके विकल्पसे छूटकर सम्यक्दर्शनकी निर्मल अवस्थाको उत्पत्ति होनेके साथ ही आत्माके निराकुल आनन्दका आंशिक अनुभव होता है।

धर्मोमें पहला धर्म सम्यकदर्शन है। धर्म आत्माका स्वभाव है, वह कहीं बाहरसे नहीं आता। श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, अविकारी गुण आत्मामें हैं, कर्मोंके निमित्ताधीन शुभाशुभ विकार आत्माका मूल स्वभावभाव नहीं है। आत्माका अविकारी अखण्ड मूलस्वभाव जिस भावके द्वारा माना जाता है वह भाव निर्मल सम्यकदर्शन है।

'जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि' के अनुसार जिसकी निमित्ताधीन विपरीत दृष्टि है उसके विकारी अवस्थाकी उत्पत्ति होती है, और निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती, ऐसा मिथ्या-दृष्टिका फल है। सम्यकदृष्टि त्रिकाल ध्रुव अखण्डस्वभावको लक्षमें लेता है। यथार्थ ज्ञान अविकारी स्वभावको और वर्तमान विकारी अपूर्ण अवस्थाको यथार्थतया जानता है, किन्तु उसमें विकारको नहीं रखना चाहता। जिसकी जैसी दृष्टि होती है उसकी वैसी सृष्टि (–पर्याय) होती है। मेरा स्वभाव त्रिकालमें पूर्ण निर्मल शाश्वत अनन्तशक्तिसे भरा हुआ है, उसकी प्रतीतिके वलसे एक समयमें पूर्ण आनन्द प्रगट करनेकी शक्ति है; उसकी यथार्थ स्वीकृति करनेवाला केवली होजाता है, क्योंकि अविकारी पूर्ण केवलज्ञानघन हूं ऐसी पूर्ण स्वभावकी श्रद्धाके वलसे पूर्ण स्वभाव तक पहुँचने वाली प्रतिक्षण निर्मलपर्याय प्रगट होती है। पहले यथार्थ स्वरूपका वहुमान करके यदि उसके लक्षकी रुचिको बढ़ाये तो यथार्थता प्रगट हुए विना नहीं रहती।

ज्ञानी राज्यादिके कार्यमें लगा हो, वाह्यमें वहुत-सी प्रवृत्ति हो तथापि वह आत्माकी यथार्थ प्रतीति होनेके कारण स्वभावकी निःसंदेहतामें प्रवृत्तमान रहता है। वर्तमान अशक्तिसे शुभाशुभ रागमें

युक्त होता है तथापि उसे आदरणीय नहीं मानता, पुण्य-पापकी क्रियामें स्वामित्व या कर्तृत्व नहीं मानता। निरावलम्बी अविकारी स्वभाव पर ही उसकी दृष्टि है इसलिये निर्मलताकी उत्पत्ति क्रमशः होती रहती है। जिसकी वर्तमान पर्याय पर दृष्टि है, शुभाशुभ विकारमें कर्तृत्वकी दृष्टि है और जो बाह्यप्रवृत्तिको अपनी मानता है वह भले ही मुनि होकर ध्यानमें बैठा हो तथापि उसकी परमें कर्तृत्वबुद्धि होनेसे प्रतिसमय अशुद्धताकी उत्पत्ति और गुणकी अवस्थाका नाश होता रहता है।

शुभाशुभ विकारके भावको अपना स्वरूप मानना सो मिथ्यात्व है। सम्पूर्ण आत्माका लक्ष करना सो प्रमाण है। एक वस्तुको एक पहलूसे लक्षमें लेकर दूसरे पहलूको गौण करना सो नय है। अखण्ड-शुद्ध पहलूसे देखना सो शुद्धनय-निश्चयनय है, और मलिन-अपूर्ण अवस्थाके पहलूसे देखना सो व्यवहारनय है। यह दोनों नय श्रुत-प्रमाणरूप सम्पूर्ण ज्ञानके एक-एक अंश-भाग हैं। सम्यक् श्रुतज्ञानके द्वारा अवस्थाको और त्रिकालपूर्ण स्वभावको एक साथ ज्ञानमें माप लेना सो श्रुतज्ञान है। शुद्धनय भी श्रुतज्ञानप्रमाणका अंश है। श्रुत-प्रमाण परोक्षप्रमाण है, क्योंकि वस्तुको सर्वज्ञ वीतरागके वचनरूप आगम द्वारा जाना है, इसलिये यह शुद्धनय सर्वद्रव्योंसे भिन्न, आत्मा-की सर्वपर्यायोंमें व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप-सर्वलोकालोकको जानने वाला, असाधारण चैतन्यधर्मको परोक्ष दिखाता है। श्रुतज्ञान-में आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता किन्तु वह प्रत्यक्षका कारण है। शुद्धनयसे, स्वाश्रित लक्षसे अविकारी ध्रुव एकाकार स्वभावको मानना सो सम्यक्दर्शन है।

यह बात समझने योग्य है। एक आत्माकी यथार्थ समझके बिना अनन्तकाल व्यतीत होगया जिसमें पशु नारक आदिके घोर दुःख अनन्तबार भोगे हैं, अब अनन्तकालमें यह दुर्लभ मनुष्य भव मिला है, मुक्त होनेका सुयोग प्राप्त हुआ है, इसलिये यथार्थ मनन करना चाहिये। यदि कोई यह कहे कि अभी मेरे पास साधन नहीं है या

निर्वृत्ति नहीं है तो वह झूठा है। यदि सच पूछा जाय तो इसी समय सर्व सुयोग हैं, क्योंकि आत्मा वर्तमानमें अन्तरंगके सर्वसाधनोंसे परिपूर्ण है। अन्तरंग साधनसे ही सब कुछ हो सकता है। देह, मन, वाणीकी प्रवृत्तिरूप आत्मा नहीं होगया है, नरकमें भयंकर प्रतिकूलताओंके संयोगमें रहने पर भी आत्मामें कोई प्रतिकूलता नहीं आगई है, ऐसी प्रतीति करके वहाँ भी प्रतिकूलताके संयोग होने पर भी आत्मा शांति भोग सकता है। अनन्त जन्म-मरणका नाश करने वाले यथार्थ सम्यक्‌दर्शनको प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवनका वास्तविक कर्तव्य है, यही मोक्षका बीज है।

शुद्धनय पूर्ण केवलज्ञान स्वरूपको परोक्ष दिखाता है। यदि पहले परोक्ष प्रतीति न करे तो प्रत्यक्ष प्रतीति भी न हो। जो यह कहता है कि जो कुछ अपनी आँखोंसे देखा जाय वही मानना चाहिये, तो वह नास्तिक है। अनुभवसे तो प्रत्यक्ष है ऐसा ज्ञानी कहते हैं; किन्तु जो यह कहता है कि मैं तो प्रत्यक्ष देखने पर ही मानूँगा तो वह नास्तिक ही है, क्योंकि पूर्ण प्रत्यक्ष होनेके बाद माननेको क्या शेष रह जाता है।

इस समयसार शास्त्रमें किसी वस्तुका स्वभाव शेष नहीं है। "ग्रन्थाधिराज तुझमें हैं भाव ब्रह्माण्डके भरे"। विश्वकी जितनी विपरीत मान्यताएँ हैं वे सब और स्वभावकी ओरकी अनुकूल बाजू एवं तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण प्रश्नोंका स्पष्टीकरण इस महान् ग्रन्थमें है। धैर्यपूर्वक अपूर्व पात्रताके द्वारा सुने, क्रमशः श्रवण-मननकी पद्धतिसे अभ्यास करे तो कुछ कठिन नहीं है। इस समय तो लोगोंने बाह्य-क्रियामें और पुण्य-पापकी प्रवृत्तिमें धर्म मानकर और मनवाकर वीतरागके शासनको छिन्न-भिन्न कर डाला है, और समयसारमें अन्तरंग तत्त्वकी जो प्राथमिक बात सम्यक्‌दर्शन सम्बन्धी कही है उसे उच्च भूमिकाकी बात मानते-मनवाते हैं; इसलिये तटस्थ भावसे विचार करना चाहिये।

प्रश्नः—जब यह सब बुद्धिमें जमेगा तभी तो माना जायगा?

उत्तरः—किसी साहूकारके यहाँ पचास हजार रुपया ब्याज पर रखना हों और वहाँ जाकर वह उस साहूकारसे कहे कि पहले यह बताइये कि आपके पास कितनी जायदाद है, तथा उसके लिये अपने बही-खाते भी दिखाओ, साथ ही यह भी कहे कि अपने घरके गहने आदि भी दिखाओ एवं अपनी प्रतिष्ठाका भी प्रमाण दो; तभी मैं आपके यहाँ अपने रुपये ब्याज पर रखूँगा। ऐसा कहने वालेको साहूकार स्पष्ट सुना देगा कि मुझे तेरे रुपयोंकी आवश्यक्ता नहीं है, तू अपना रास्ता नाप। यदि उस साहूकारके मुनीमसे पूछा जाये तो वह भी कहेगा कि सब कुछ नहीं बताया जासकता, किन्तु तू स्वयं आकर दूकान पर बैठ, यह देखकर प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें स्वतः जानकारी करले कि यहाँ हुंडियाँ कैसी चल रही हैं; इसप्रकार कुछ दिन परिचय करके जान ले, इसके बाद यदि तुझे स्वयं विश्वास आये तो रुपये जमा करा देना। इसके बाद ऐसा करने पर जब विश्वास जमता है तो रुपया जमा कराता है; तथापि संसारके विश्वासमें कहीं अन्तर पड़ सकता है, किन्तु परमार्थमें सत्‌मेंसे सत् ही आता है, उसमें अन्तर नहीं पड़ता। किसीकी ऋद्धि अपनी आँखोंसे देखकर ही विश्वास करूँगा ऐसा कभी नहीं बनता; उसीप्रकार आत्मामें कितनी ऋद्धि भरी हुई है यह दिखाओ तभी मानूँगा, तो ऐसा कभी नहीं हो सकता। किन्तु विचार करे कि जो वस्तु है सो नित्य है, ज्ञायकस्वभावको कोई नहीं रोक सकता, कोई नहीं दे सकता इसलिए स्वभाव स्वतंत्र है। जिसका स्वभाव सतत जाननेरूप है वह अपूर्ण, हीन अथवा परमें अटकने वाला नहीं होसकता, यही निश्चित् होसकता है। ज्ञायकरूपसे अरूपी आत्मा और उसका अरूपी ज्ञान परोक्षप्रमाणसे बराबर जाना जासकता है। जिनके अल्प और अपूर्ण अवस्था या विकार नहीं है वे पूर्ण केवलज्ञानी ही हैं ऐसा निर्णय करना चाहे तो निश्चय होसकता है। इसलिये सत्‌समागममें रहकर परिचय करके ध्यान रखकर सुनना चाहिये और अन्तरंगसे समझना चाहिये।

जो वस्तु नित्य है उसमें पूर्ण स्वाधीन शक्ति भरी हुई है।

यदि स्वाधीनतया पूर्णशक्ति न हो तो वह वस्तु ही नहीं है। जो 'है' उसे 'नहीं' कैसे कहा जासकता है? जो 'है' सो स्वाधीन है, उसे पराधीन कैसे कहा जासकता है? स्वयं नित्य जैसा है वैसा अपनेको जानना चाहिये और पररूपसे-उपाधिरूपसे नहीं है ऐसा जानना चाहिये। इसप्रकार त्रिकाल पूर्ण एकत्वका निर्णय करके अल्पज्ञानमें पूर्ण ज्ञानकी श्रद्धा करे तो प्रत्यक्ष केवलज्ञानी होसकता है।

जैसे साहूकारकी पेढ़ीमें हुंडियोंके लेन-देनमें किसी प्रकारका कोई विरोध न देखे तो फिर उसके घरकी सब बात जाननेसे पूर्व ही उसका विश्वास कर लिया जाता है, इसीप्रकार केवलज्ञानीके वचनोंके अविरोधी न्यायरूप आगमका सत् समागमके द्वारा परिचय करके, श्रवण करके निजको अविरोधीपनसे तत्त्वका जो एक न्याय जम जाता है उसे अपने आत्मामें परिपूर्ण विश्वास होता है। वह श्रुतज्ञान-प्रमाण परोक्ष है तथापि प्रत्यक्ष स्वभावकी प्राप्तिका कारण है, यह जानकर छद्मस्थ-मतिश्रुतज्ञानी जीव वीतराग द्वारा कथित आगमको प्रमाण करके, शुद्धनयसे ज्ञात अविकारी पूर्ण आत्माका श्रद्धान करता है सो निश्चयसम्यक्दर्शन है।

जहाँतक केवल (मात्र) व्यवहारनयके विषयभूत नवतत्त्वके विचारमें जीव रुकता है वहाँतक सम्यक्दर्शन नहीं होता। निमित्ताधीन अवस्थामें शुभाशुभ विकारीभावके द्वारा मुझे गुण प्राप्त होगा ऐसा माने, अथवा नवतत्त्वके शुभरागको करने योग्य माने, हितकर माने, अपना माने तो उससे मिथ्यादृष्टिता दूर नहीं होती। सर्वज्ञ भगवान कहते हैं कि जितने शुभाशुभ भाव हैं वे सब व्यवहारके पक्षमें जाते हैं। पश्चात् उन नवतत्त्वोंकी श्रद्धा हो तो भी वह केवल व्यवहारका पक्ष होनेसे वहाँ मिथ्यादृष्टि ही है। पूर्णस्वभावकी यथार्थ श्रद्धाके बाद धर्मात्माको जहाँ स्थिर नहीं होसकता वहाँ नवतत्त्वके विचारकी शुभवृत्ति उत्पन्न होती है किन्तु उसे उसका अन्तरंगसे आदर नहीं होता। इसलिये आचार्यदेवने कहा है कि नवतत्त्वोंकी परिपाटीको छोड़कर शुद्धनयका विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो, हम दूसरा

कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्थाकी प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयोंका पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, इतना ही अनुभवमें आये तो इतनी श्रद्धा सम्यक्दर्शन है या नहीं? इतना सब समझनेका कष्ट क्यों किया जाय? दो अपेक्षाओंका ज्ञान करना, और फिर प्रमाण करना, और उसमें भी अवस्थादृष्टिको गौण करना एवं निश्चयदृष्टिको मुख्य करना, इतना सब समझनेकी अपेक्षा 'आत्मा चैतन्य है' इतना माननेमें निर्मलताकी उत्पत्ति और मलिन अवस्थाका नाश करने वाला सम्यग्दर्शन आया या नहीं?

समाधानः—नहीं, नास्तिक मतावलम्बियोंके अतिरिक्त सभी आत्माको चैतन्य मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धाको सम्यक्दर्शन कहा जाये तो सभीको सम्यक्त्व सिद्ध होजायेगा। सर्वज्ञ वीतरागने तीनकाल और तीनलोकका यथार्थ स्वरूप अपने ज्ञानसे साक्षात् जानकर आत्माका जैसा स्वतंत्र पूर्ण स्वरूप कहा है वैसा ही सत्समागमसे जानकर स्वभावसे निश्चय करके वैसा ही श्रद्धान करनेसे यथार्थ सम्यक्त्व होता है। सर्वज्ञके ज्ञानको स्वीकार करने वालेने यह निश्चय किया है कि अल्पज्ञ जीव भी अपूर्ण अवस्थाके समय भी सर्वज्ञ परमात्माके रूपमें पूर्ण होनेकी शक्ति वाले हैं, मेरे ज्ञानगुणकी एक समयकी अवस्थामें तीनकाल और तीनलोकको एक ही साथ जाननेकी अपारशक्ति है। पूर्णको स्वीकार करने वाला प्रतिसमय पूर्णतक पहुँचनेकी शक्ति रखता है। परोक्षज्ञानमें भी यथार्थ निर्णय आये कि यह वस्तु वर्तमानमें भी स्वतंत्र त्रिकाल अखण्ड अविकारीरूपसे परिपूर्ण है, इसप्रकार शुद्धनयसे जानना सो निश्चयसम्यक्त्व होनेका कारण है।

किन्तु जिसे यही खबर नहीं है कि सर्वज्ञ वीतराग कौन हैं, उन्होंने क्या कहा है, उन्ने नवतत्त्व और देव-गुरु-शास्त्रका स्वरूप क्या है, उसकी तो बात ही क्या की जाये? यदि सर्वज्ञ वीतराग परमात्माके

यथार्थ स्वरूपको जाने तो उनके कहे हुएको स्वयं यथार्थ समझे और जाने । जैसा सर्वज्ञ भगवानका पूर्ण स्वभाव है वैसा ही परमार्थसे प्रत्येक आत्माका स्वभाव है । ऐसी श्रद्धा शुद्धनयके आश्रयसे होती है । यह बात चौथे श्लोकमें टीकाकार आचार्यने कही है:—

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुंचति ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् शुद्धनयाधीन जो सर्व परद्रव्योंसे भिन्न, पर-निमित्तके विकारी भावोंसे भिन्न तथा मनके विकल्पोंसे परे ऐसी चैतन्य-चमत्कार मात्र आत्मज्योति है सो प्रगट होती है, क्योंकि वर्तमान अवस्थामें नवतत्त्वोंके विकल्पोंमें व्यवहारसे अटकने पर अनेक-प्रकारसे दिखाई देती है, तथापि शुद्धनयसे देखने पर अपने एकरूप ध्रुवस्वभावको नहीं छोड़ती । इसप्रकार आत्माको परिपूर्ण माने और न्यायसे बराबर जानकर शुद्धनयके द्वारा पूर्णस्वभावकी श्रद्धा करे तो विकारका नाश, निर्मल अवस्थाकी उत्पत्ति और अल्पकालमें मोक्षको प्रगट करनेका सच्चा कारणभूत निश्चय-सम्यक्दर्शन प्रगट होता है ।

शुद्धि–पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२	१०	लक्ष्मीको	लक्ष्मीकी
"	१८	को पूर्ण	जो पूर्ण
४०	१३	धर्मो	धर्मी
४२	१२	विरो	विरोध
४५	१३–१५	धव	ध्रुव
"	२७	किन्त	किन्तु
६५	२१	णण	णाण
७१	४	अर्थका अय	अयका अर्थ
७५	२७	स्वतरूपमें निय	स्वरूपमें नित्य
८१	२६	निर्मल	पूर्ण निर्मल
८२	११	ह	ही
९७	७	पम्वस्तु	परवस्तु
१०२	२०	प्रदेश	प्रदेशमें
"	"	अर्य	अर्थ
१२४	१	जीव खाते है	× ×
"	अंतिम	अजान	अंजान
१४०	१८	मायन्ता	मान्यता
१७१	२६	वतमान	वर्तमान
"	२८	सामध्य	सामर्थ्य

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१७३	११	आकर	आकार
१९६	अंतिम	शभाशभ	शुभाशुभ
२३२	२४	यर्थाय	यथार्थ
२७२	१२	प्रत्यनमें	प्रयत्नमें
२७९	१७	वस्तु है,	वस्तु है,)
२८३	५	निकल्पसे	विकल्पसे
२८५	अंतिम	पसा	पैसा
२९२	७	परमाण	परमाणु
३४२	१८	दशन	दर्शन
३७०	२१	असग	असंग
३८३	१४	गुरुको	गुरुकी